ग्रन्थ-परीक्षा

तृतीय भाग

अर्थात्

सोमसेन-त्रिवर्णाचार, धर्मपरीक्षा (श्वेताम्बरी), अकलंक-प्रतिष्ठापाठ और पूज्यपाद-उपासकाचारके परीक्षा-लेखोंका संग्रह ।

लेखक—

श्रीयुत पंडित जुगलकिशोर मुख्तार

सरसावा जि० सहारनपुर

[ग्रन्थ-परीक्षा प्रथम द्वितीय भाग, उपासनातत्त्व, जिनपूजाधिकार-मीमांसा, विवाहसमुद्देश्य, विवाह-क्षेत्र-प्रकाश, स्वामीसमन्तभद्र (इतिहास), वीर-पुष्पांजलि, जैनाचार्योंका शासनभेद, आदि अनेक ग्रन्थोंके रचयिता, और जैनहितैषी आदि पत्रोंके भूतपूर्व सम्पादक]

प्रकाशक—

जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,

हीराबाग, पो० गिरगांव-बम्बई ।

भादों, सं० १९८५ विक्रम

सितम्बर, सन् १९२८

मूल्य १॥)

प्रकाशक
छगनमल बाकलीवाल
जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय
हीराबाग, पो० गिरगांव—बम्बई।



मुद्रक
बाबू दुर्गाप्रसाद
दुर्गा प्रिन्ट [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

भूमिका ।

—:o:—

वर्षाका जल जिस शुद्ध रूपमें बरसता है, उस रूपमें नहीं रहता; आकाशसे नीचे उतरते उतरते और जलाशयोंमें पहुँचते पहुँचते वह विकृत हो जाता है और इसके बाद तो उसमें इतनी विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि उनके मारे उसके वास्तविक स्वरूपका हृदयंगम कर सकना भी दुष्कर हो जाता है। फिर भी जो वस्तुतत्वके मर्मज्ञ हैं, पदार्थोंका विश्लेषण करनेमें कुशल या परीक्षाप्रधानी हैं, उन्हें उन सब विकृतियोंसे पृथक् वास्तविक जलका पता लगानेमें देर नहीं लगती है। परमहितैषी और परम वीतराग भगवान् महावीरकी वाणीको एक कविने जलवृष्टिकी उपमा दी है, जो बहुत ही उपयुक्त मालूम होती है। पिछले ढाई हजार वर्षोंका उपलब्ध इतिहास हमें बतलाता है कि भगवान्‌का विश्वकल्याणकारी समीचीन धर्म जिस रूपमें उपदिष्ट हुआ था, उसी रूपमें नहीं रहा, धीरे धीरे वह विकृत होता गया, ज्ञात और अज्ञातरूपसे उसे विकृत करनेके बराबर प्रयत्न किये जाते रहे और अब तक किये जाते हैं। सम्प्रदाय, संघ, गण, गच्छ, आम्नाय, पन्थ आदि सब प्रायः इन्हीं विकृतियोंके परिणाम हैं। भगवानका धर्म सबसे पहले दिगम्बर और श्वेताम्बर दो सम्प्रदायोंमें विभक्त हुआ, और उसके बाद मूल, यापनीय, द्रविड़, काष्ठा, माथुर, आदि नाना संघों और उनके गणों तथा गच्छोंमें विकृत होता रहा है। यह असंभव है कि एक धर्मके इतने भेद प्रभेद होते जायँ और उसकी मूल प्रकृतिपर विकृतियोंका प्रभाव नहीं पड़े। यद्यपि सर्वसाधारण जन इन सम्प्रदायों और पन्थोंके विकारसे विकृत हुए धर्मका वास्तविक शुद्ध स्वरूप अवधारण नहीं कर सकते हैं; परन्तु समय समयपर ऐसे विचारशील विवेकी महात्माओंका जन्म अवश्य होता रहता है जो इन सब विकारोंका अपनी रासायनिक और विश्लेषक बुद्धिसे पृथक्करण करके वास्तविक धर्मको स्वयं देख लेते हैं और दूसरोंको दिखा जाते हैं।

जो लोग यह समझते हैं कि वर्तमान जैनधर्म ठीक वही जैनधर्म है जिसका उपदेश भगवान् महावीरकी दिव्यवाणीद्वारा हुआ था, उसमें जरा भी परिवर्तन, परिवर्द्धन या सम्मेलन नहीं हुआ है—अक्षरशः ज्योंका त्यों चला आ रहा है, उन्हें धर्मात्मा या श्रद्धालु भले ही मान लिया जाय; परन्तु विचारशील नहीं कहा जा सकता। यह संभव है कि उन्होंने शास्त्रोंका अध्ययन किया हो, वे शास्त्री या पण्डित कहलाते हों; परन्तु शास्त्र पढ़ने या परीक्षायें देनेसे ही यह नहीं कहा जा सकता है कि वे इस विषयमें कुछ गहरे पैठ सके हैं। जो लोग यह जानते हैं कि मनुष्य रागद्वेषसे युक्त हैं, अपूर्ण हैं और उनपर देश-कालका कल्पनातीत प्रभाव पड़ता है, वे इस बातपर कभी विश्वास नहीं करेंगे

कि ढाई हजार वर्षके इतने लम्बे समयमें, इतने संघों और गण-गच्छोंकी खींचातानीमें पड़ कर भी उनके द्वारा भगवान्‌के धर्ममें जरा भी रूपान्तर नहीं हुआ है।

हमारे समाजके विद्वान् तो अभी तक यह माननेको भी तैयार नहीं थे कि जैनाचार्योंमें भी परस्पर कुछ मतभेद हो सकते हैं। यदि कहीं कोई ऐसे भेद नजर आते थे, तो वे उन्हें अपेक्षाओंकी सहायतासे या उपचार आदि कह कर टाल देते थे; परन्तु अब 'ग्रन्थपरीक्षा'के लेखक पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपनी सुचिन्तित और सुपरीक्षित 'जैनाचार्योंका शासनभेद' * नामकी लेखमालामें इस बातको अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है कि जैनाचार्योंमें भी काफी मतभेद थे, जो यह विश्वास करनेके लिए पर्याप्त हैं कि भगवानका धर्म शुरूसे अब तक ज्योंका त्यों नहीं चला आया है और उसके असली रूपके सम्बन्धमें मतभेद हो सकता है।

संसारके प्रायः सभी धर्मोंमें रूपान्तर हुए हैं और बराबर होते रहते हैं। उदाहरणके लिए पहले हिन्दू धर्मको ही ले लीजिए। बड़े बड़े विद्वान् इस बातको स्वीकार करते हैं कि जैनधर्म और बौद्धधर्मके जबर्दस्त प्रभावोंमें पड़कर उसकी 'वैदिकी हिंसा' लुप्तप्राय हो गई है और वैदिक समयमें जिस गौके बछड़ेके मांससे ब्राह्मणोंका अतिथिसत्कार किया जाता था, (महोजं वा महोक्षं वा श्रोत्रियाय प्रकल्पयेत्) वही आज हिन्दुओंकी पूजनीया माता है और वर्तमान हिन्दू धर्ममें गोहत्या महापातक गिना जाता है। हिन्दू अब अपने प्राचीन धर्मग्रन्थोंमें बतलाई हुई नियोगकी प्रथाको व्यभिचार और अनुलोम-प्रतिलोम विवाहोंको अनाचार समझते हैं। जिस बौद्धधर्मने संसारसे जीवहिंसाको उठा देनेके लिए प्रबल आन्दोलन किया था, उसीके अनुयायी तिब्बत और चीनके निवासी आज सर्वभक्षी बने हुए हैं—चूहे छँछूदर, कीडे व मकोड़े तक उनके लिए अखाद्य नहीं हैं। महात्मा बुद्ध नीच ऊँचके भेदभावसे युक्त वर्णव्यवस्थाके परम विरोधी थे; परन्तु आज उनके नेपालदेशवासी अनुयायी हिन्दुओंके ही समान जातिभेदके रोगसे ग्रसित हैं। महात्मा कबीर जीवन भर इस अध्यात्मवाणीको सुनाते रहे कि—

जात पाँत पूछे नहिं कोई,
हरिको भजै सो हरिका होई।

परन्तु आज उनके लाखों अनुयायी जातिपाँतिके कीचड़में अपने अन्य पड़ौसियोंके ही समान फँसे हुए हैं। इस ऊँच-नीचके भेदभावकी बीमारीसे तो सुदूर यूरोपसे आया हुआ ईसाई धर्म भी नहीं बच सका है। पाठकोंने सुना होगा कि मद्रास प्रान्तमें ब्राह्मण ईसाइयोंके गिरजाघर जुदा और शूद्र ईसाइयोंके गिरिजाघर जुदा हैं और वे एक दूसरेको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। ऐसी दशामें यदि हमारे जैनधर्ममें देशकालके प्रभा-

* यह लेखमाला अब मुख्तारसाहबके द्वारा संशोधित और परिवर्द्धित होकर जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बईद्वारा पुस्तकाकार प्रकाशित हो गई है।

वसे और अपने पड़ोसी धर्मोंके प्रभावसे कुछ विकृतियाँ घुस गई हों, तो इसपर किसीको आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इन विकृतियोंमें कुछ विकृतियाँ इतनी स्थूल हैं कि उन्हें साधारण बुद्धिके लोग भी समझ सकते हैं। यथा—

१—जैनधर्मसम्मत वर्णव्यवस्थाके अनुसार जिसका कि आदिपुराणमें प्रतिपादन किया गया है, प्रत्येक वर्णके पुरुष अपनेसे बादके सभी वर्णोंकी कन्याओंके साथ विवाह कर सकते हैं; बल्कि धर्मसंग्रहश्रावकाचारके अनुसार तो पहलेके तीन वर्णोंमें परस्पर अनुलोम और प्रतिलोम दोनों ही क्रमोंसे विवाह हो सकता है और पुराणग्रन्थोंके उदाहरणोंसे इसकी पुष्टि भी होती है *; परन्तु वर्तमान जैनधर्म तो एक वर्णकी जो सैकड़ों जातियाँ बन गई हैं और जैनधर्मका पालन कर रही हैं, उनमें भी परस्पर विवाह करना पाप बतलाता है और इसके लिए उसके बड़े बड़े दिग्गज पण्डित शास्त्रोंसे खींच तानकर प्रमाण तक देनेकी धृष्टता करते हैं! क्या यह विकृति नहीं है?

२—भगवज्जिनसेनके आदिपुराणकी 'वर्णलाभक्रिया' के अनुसार प्रत्येक अजैनको जैनधर्मकी दीक्षा दी जा सकती है और फिर उसका नया वर्ण स्थापित किया जा सकता है, तथा उस नये वर्णमें उसका विवाहसम्बन्ध किया जा सकता है। उसको उसके प्राचीन धर्मसे यहाँ तक जुदा कर डालनेकी विधि है कि उसका प्राचीन गोत्र भी बदल कर उसे नये गोत्रसे अभिहित करना चाहिए। परन्तु वर्तमान जैनधर्मके ठेकेदारोंने भोली भाली जनताको सुधारकोंके विरुद्ध भड़कानेके लिए इसी बातको एक हथियार बना रक्खा है कि देखिए, ये मुसलमानों और ईसाइयोंको भी जैनी बनाकर उनके साथ रोटी-बेटी व्यवहार जारी कर देना चाहते हैं। मानो मुसलमान और ईसाई मनुष्य ही नहीं हैं! क्या यह विकृति नहीं है? क्या भगवान् महावीरका विश्वधर्म इतना ही संकीर्ण था? लब्धिसारकी १९५ वीं गाथाकी टीकासे† स्पष्ट मालूम होता है कि म्लेच्छ देशसे आये हुए म्लेच्छ पुरुष भी मुनिदीक्षा ले सकते थे और इस तरह मुक्तिप्राप्तिके अधिकारी बनते थे।

---

* इस विषयको अच्छी तरह समझनेके लिए पंडित जुगलकिशोर मुख्तारकी लिखी हुई 'विवाहक्षेत्रप्रकाश' नामकी पुस्तक और मेरा लिखा हुआ 'वर्ण और जातिभेद' नामका निबन्ध देखिए। यह निबन्ध शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है।

† म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं संभवतीति नाशंकितव्यं। दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जातवैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात्॥ १९५॥ पृष्ठ २४१।

३—सारत्रयके प्रसिद्ध टीकाकार श्री जयसेनसूरिके कथनानुसार सत्-शूद्र भी मुनि-दीक्षा ले सकते हैं *। परन्तु वर्तमान जैनधर्म तो शूद्रोंको इसके लिए सर्वथा अयोग्य समझता है। शूद्र तो खैर बहुत नीची दृष्टिसे देखे जाते हैं; परन्तु उन दक्षिणी जैनियोंके भी मुनिदीक्षा लेने पर कोलाहल मचाया जाता है जिनके यहाँ विधवाविवाह होता है। उदार जैनधर्मपर इस प्रकारकी विकृतियाँ क्या लाञ्छनस्वरूप नहीं हैं?

जैसा कि प्रारंभमें कहा जा चुका है, इन विकृतियोंको पहिचान करके असली धर्मको प्रकाशमें लानेवाली विभूतियाँ समय समय पर होती रहती हैं। सारत्रयके कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द ऐसी ही विभूतियोंमेंसे एक थे। वर्तमान दिगम्बर संप्रदायके अधिकांश लोग अपनेको कुन्दकुन्दकी आम्नायका बतलाते हैं। मालूम नहीं, लोगोंका कुन्द-कुन्दाम्नाय और कुन्दकुन्दान्वयके सम्बन्धमें क्या खयाल है; परन्तु मैं तो इसे जैनधर्ममें उस समय तक जो विकृतियाँ हो गई थीं उन सबको हटाकर उसके वास्तविक स्वरूपको आविष्कृत करके सर्व साधारणके समक्ष उपस्थित करनेवाले एक महान् आचार्यके अनु-यायियोंका सम्प्रदाय समझता हूँ। भगवान् कुन्दकुन्दके पहले और पीछे अनेक बड़े बड़े आचार्य हो गये हैं, उनकी आम्नाय या अन्वय न कहलाकर कुन्दकुन्दकी ही आम्नाय या अन्वय कहलानेका अन्यथा कोई बलवत्कारण दृष्टिगोचर नहीं होता है। मेरा अनुमान है कि भगवत्कुन्दकुन्दके समय तक जैनधर्म लगभग उतना ही विकृत हो गया था, जितना वर्तमान तेरहपन्थके उदय होनेके पहले भट्टारकोंके शासन-समयमें हो गया था और उन विकृतियोंसे मुक्त करनेवाले तथा जैनधर्मके परम वीतराग शान्त मार्गको फिरसे प्रवर्तित करनेवाले भगवान् कोण्डकुण्ड ही थे। परन्तु समयका प्रभाव देखिए कि वह संशोधित शान्तमार्ग भी चिरकाल तक शुद्ध न रहा, आगे चलकर वही भट्टारकोंका धर्म बन गया। कहाँ तो तिल-तुष मात्र परिग्रह रखनेका भी निषेध और कहाँ हाथी घोड़े और पालकियोंके ठाठबाट! घोर परिवर्तन हो गया!

जब कुन्दकुन्दान्वयी शुद्ध मार्ग धीरे धीरे इतना विकृत हो गया—विकृतिकी पराकाष्ठापर पहुँच गया, तब कुछ विवेकी और विश्लेषक विद्वानोंका ध्यान फिर इस ओर गया और जैसा कि मैंने अपने 'वनवासियों और चैत्यवासियोंके सम्प्रदाय या तेरह-पन्थ और बीसपन्थ' +शीर्षक विस्तृत लेखमें बतलाया है, विक्रमकी सत्रहवीं शताब्दिमें स्वर्गीय पं० बनारसीदासजीने फिर एक संशोधित और परिष्कृत मार्गकी नीव डाली, जो पहले 'वाणारसीय' या 'बनारसी-पन्थ' कहलाया और आगे चल कर तेरहपन्थके

---

* ...एवंगुणविशिष्टपुरुषो जिनदीक्षाग्रहणे योग्यो भवति। यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि —प्रवचनसारतात्पर्यवृत्ति, पृष्ठ ३०५।

+ देखो, जैनहितैषी भाग १४, अंक ४।

नामसे प्रसिद्ध हुआ † । इस पन्थने और इसके अनुयायी पं० टोडरमलजी, पं० जयचन्दजी, पं० दौलतरामजी, पं० सदासुखजी, पं० पन्नालालजी दूनीवाले आदि विद्वानोंने जो साहित्य निर्माण किया और जिस शुद्धमार्गका प्रतिपादन किया, उसने दिगम्बरसम्प्रदायमें एक बड़ी भारी क्रान्ति कर डाली और उस क्रान्तिका प्रभाव इतना वेगशाली हुआ कि उससे जैनधर्मके शिथिलाचारी महन्तों या भट्टारकोंके स्थायी समझे जानेवाले सिंहासन देखते देखते धराशायी हो गये और कई सौ वर्षोंसे जो धर्मके एकच्छत्रधारी सम्राट् बन रहे थे, वे अप्रतिष्ठाके गहरे गढ़ेमें फेंक दिये गये ।

भट्टारकोंका उक्त विकृत मार्ग कितना पुराना है, इसका अनुमान पण्डितप्रवर आशाधरद्वारा उद्धृत इस वचनसे होता है—

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैः वठरैश्चतपोधनैः ।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥

अर्थात् भ्रष्टचरित्र पण्डितों और वठर साधुओं या भट्टारकोंने जिन भगवान्का निर्मल शासन मलीन कर डाला । पं० आशाधरजी विक्रमकी तेरहवीं शताब्दिके अन्तमें मौजूद थे और उन्होंने इस श्लोकको किसी अन्य ग्रन्थसे उद्धृत किया है । अर्थात् इससे भी बहुत पहले भगवान् महावीरके शासनमें अनेक विकृतियाँ पैठ गई थीं ।

तेरहपन्थके पूर्वोक्त मिशनने जैनधर्मकी विकृतियोंको हटाने और उसके शुद्ध स्वरूपको प्रकट करनेमें जो प्रशंसनीय उद्योग किया है, वह चिरस्मरणीय रहेगा । यदि इसका उदय न हुआ होता, तो आज दिगम्बर जैनसमाजकी क्या दुर्दशा होती, उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती है । बागड़ प्रान्तमें दौरा करनेवाले बम्बई जैन प्रान्तिक सभाके एक उपदेशकने कोई १०–१२ वर्ष हुए मुझसे कहा था कि कुछ समय पहले वहाँके श्रावक शास्त्रस्वाध्याय आदि तो क्या करेंगे, उन्हें जिन भगवान्की मूर्तिका अभिषेक और प्रक्षाल करनेका भी अधिकार नहीं था । भट्टारकजीके शिष्य पण्डितजी ही जब कभी आते थे, यह पुण्यकार्य करते थे और अपनी दक्षिणा लेकर चले जाते थे । कहते थे, तुम बाल-बच्चोंवाले अब्रह्मचारी लोग

---

† सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर साधु श्रीमेघविजयजी महोपाध्यायने अपना 'युक्तिप्रबोध' नामका प्राकृत ग्रन्थ स्वोपज्ञ संस्कृतटीकासहित इस 'बाणारसीय' मतके खण्डनके लिए ही विक्रमकी अठारहवीं शताब्दिके प्रारंभमें बनाया था—"वोच्छं सुयणहितत्थं वाणारसियस्स मयमेयं ।'—सुजनोंके हितार्थ बाणारसी मतका भेद कहता हूँ । इस ग्रन्थमें इस मतकी उत्पत्तिका समय विक्रमसंवत् १६८० प्रकट किया है । यथा—

सिरिविक्कमनरनाहागएहिं सोलहसएहिं वासेहिं ।
असि उत्तरेहिं जायं वाणारसिअस्स मयमेयं ॥ १८ ॥

भगवान्की प्रतिमाका स्पर्श कैसे कर सकते हो ? और यह तो अभी कुछ ही वर्षोंकी बात है जब भट्टारकोंके कर्मचारी श्रावकोंसे मारमारकर अपना टैक्स वसूल करते थे तथा जो श्रावक उनका वार्षिक टैक्स नहीं देता था, वह बँधवा दिया जाता था! हम आज भले ही इस बातको महसूस न कर सकें; परन्तु एक समय था, जब समूचा दिगम्बर जैन समाज इन शिथिलाचारी साथ ही अत्याचारी पोपोंकी पीडित प्रजा था और इन पोपोंके सिंहासनको उलट देनेवाला यही शक्तिशाली तेरहपन्थ था। यह इसीकी कृपाका फल है, जो आज हम इतनी स्वाधीनताके साथ धर्मचर्चा करते हुए नजर आ रहे हैं।

तेरहपन्थने भट्टारकों या महन्तोंकी पूजा-प्रतिष्ठा और सत्ताको तो नष्टप्राय कर-दिया; परन्तु उनका साहित्य अब भी जीवित है और उसमें वास्तविक धर्मको विकृत कर देनेवाले तत्त्व मौजूद हैं। यद्यपि तेरहपन्थी विद्वानोंने अपने भाषाग्रन्थोंके द्वारा और ग्राम ग्राम नगर नगरमें स्थापित की हुई शास्त्रसभाओंके द्वारा लोगोंको इतना सजग और सावधान अवश्य कर दिया है कि अब वे शिथिलाचारकी बातोंको सहसा माननेके लिए तैयार नहीं होते हैं और वे यह भी जानते हैं कि भेषी पाखण्डियोंने वास्तविक धर्मको बहुतसी मिथ्यात्वपोषक बातोंसे भर दिया है; फिर भी संस्कृत ग्रन्थोंके और अपने पूर्व-कालीन बड़े बड़े मुनि तथा आचार्योंके नामसे वे अब भी ठगाये जाते हैं। बेचारे सरल प्रकृतिके लोग इस बातकी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं कि धूर्त लोग आचार्य भद्रबाहु, कुन्दकुन्द, उमास्वाति, भगवज्जिनसेन आदि बड़े बड़े पूज्य मुनिराजोंके नामसे भी ग्रन्थ बनाकर प्रचलित कर सकते हैं! उन्हें नहीं मालूम है कि संस्कृतमें जिस तरह सत्य और महान् सिद्धान्त लिखे जा सकते हैं, उसी तरह असत्य और पापकथायें भी रची जा सकती हैं!

अतएव इस ओरसे सर्वथा निश्चिन्त न होना चाहिए। लोगोंको इस संस्कृतभक्ति और नामभक्तिसे सावधान रखनेके लिए और उनमें परीक्षाप्रधानताकी भावनाको दृढ बनाये रखनेके लिए अब भी आवश्यकता है कि तेरहपन्थके उस मिशनको जारी रक्खा जाय जिसने भगवान् महावीरके धर्मको विशुद्ध बनाये रखनेके लिए अब तक निःसीम परिश्रम किया है। हमें सुहृद्वर पण्डित जुगल किशोरजी मुख्तारका चिर कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने अपनी 'ग्रन्थ-परीक्षा' नामक लेखमाला और दूसरे समर्थ लेखों-द्वारा इस मिशनको बराबर जारी रक्खा है और उनके अनवरत परिश्रमने भट्टारकोंकी गद्दियोंके समान उनके साहित्यके सिंहासनको भी उलट देनेमें कोई कसर बाकी नहीं रक्खी है।

लगभग १२ वर्षके बाद 'ग्रन्थपरीक्षा' का यह तृतीय भाग प्रकाशित हो रहा है जिसका परिचय करानेके लिए मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ। पिछले दो भागोंकी

अपेक्षा यह भाग बहुत-बड़ा है, और यही सोचकर यह इतने विस्तृत रूपमें लिखा गया है कि अब इस विषयपर और कुछ लिखनेकी आवश्यकता न रहे। भट्टारकी साहित्यके प्रायः सभी अंग प्रत्यंग इसमें अच्छी तरह उघाड़कर दिखला दिये हैं और जैनधर्मको विकृत करनेके लिए भट्टारकोंने जो जो जघन्य और निन्द्य प्रयत्न किये हैं, वे प्रायः सभी इसके द्वारा स्पष्ट हो गये हैं।

'मुख्तारसाहबने इन लेखोंको, विशेषकरके सोमसेन त्रिवर्णाचारकी परीक्षाको, कितने परिश्रमसे लिखा है और यह उनकी कितनी बड़ी तपस्याका फल है, यह बुद्धिमान् पाठक इसके कुछ ही पृष्ठ पढ़कर जान लेंगे। मैं नहीं जानता हूँ कि पिछले कई सौ वर्षोंमें किसी भी जैन विद्वानने कोई इस प्रकारका समालोचक ग्रन्थ इतने परिश्रमसे लिखा होगा और यह बात तो विना किसी हिचकिचाहटके कही-जा सकती है कि इस प्रकारके परीक्षालेख जैनसाहित्यमें सबसे पहले हैं और इस बातकी सूचना देते हैं कि जैनसमाजमें तेरहपन्यद्वारा स्थापित परीक्षाप्रधानताके भाव नष्ट नहीं हो गये हैं। वे अब और भी तेजीके साथ बढ़ेंगे और उनके द्वारा मलिनीकृत जैनशासन फिर अपनी प्राचीन निर्मलताको प्राप्त करनेमें समर्थ होगा।

विद्वज्जनबोधक आदि ग्रन्थोंमें भी भट्टारकोंके साहित्यकी परीक्षा की गई है और उसका खण्डन किया गया है; परन्तु उनके लेखकोंके पास जाँच करनेकी केवल एक ही कसौटी थी कि अमुक विधान वीतराग मार्गके अनुकूल नहीं है, अथवा यह अमुक बड़े आचार्यके मतसे विरुद्ध है और इससे उनका खण्डन बहुत जोरदार न होता था; क्योंकि श्रद्धालु फिर भी कह सकता था कि यह भी तो एक आचार्यका कहा हुआ है, अथवा यह विषय किसी ऐसे पूर्वाचार्यके अनुसार लिखा गया होगा जिसे हम नहीं जानते हैं; परन्तु ग्रन्थ-परीक्षाके लेखक महोदयने एक दूसरी अलभ्यपूर्व कसौटी प्राप्त की है जिसकी पहलेके लेखकोंको कल्पना भी नहीं थी और वह यह कि उन्होंने हिन्दुओंके स्मृतिग्रन्थों और दूसरे कर्मकाण्डीय ग्रन्थोंके सैकड़ों श्लोकोंको सामने उपस्थित करके बतला दिया है कि उक्त *ग्रन्थोंमेंसे चुरा चुरा कर और उन्हें तोड़-मरोड़कर सोमसेन आदिने ये अपने अपने 'भानमतीके कुनबे'* तैयार किये हैं। जाँच करनेका यह ढंग बिल्कुल नया है और इसने जैन–धर्मका तुलनात्मक पद्धतिसे अध्ययन करनेवालोंके लिए एक नया मार्ग खोल दिया है।

ये परीक्षालेख इतनी सावधानीसे और इतने अकाट्य प्रमाणोंके आधारसे लिखे गये हैं कि अभीतक उन लोगोंकी ओरसे जो कि त्रिवर्णाचारादि भट्टारकी साहित्यके परम पुरस्कर्त्ता और प्रचारक हैं, इनकी एक पंक्तिका भी खण्डन नहीं किया गया है और न अब इसकी आशा ही है। ग्रन्थपरीक्षाके पिछले दो भागोंको प्रकाशित हुए लगभग एक युग (१२ वर्ष) बीत गया। उस समय एक दो पण्डितमन्योंने इधर उधर घोषणायें की थीं कि हम उनका खण्डन लिखेंगे; परन्तु वे अब तक लिख ही रहे हैं। यह तो असंभव है कि लेखोंका

खण्डन लिखा जा सकता और फिर भी पण्डितोंका दलका दल चुपचाप बैठा रहता; परन्तु बात यह है कि इनपर कुछ लिखा ही नहीं जा सकता। थोड़ी बहुत पोल होती, तो वह ढँकी भी जा सकती; परन्तु जहाँ पोल ही पोल है, वहाँ क्या किया जाय? गरज यह कि यह लेखमाला प्रतिवादियोंके लिए लोहेके चने हैं, यह सब तरहसे सप्रमाण और युक्तियुक्त लिखी गई है।

मुझे विश्वास है कि जैनसमाज इस लेखमालाका पूरा पूरा आदर करेगा और इसे पढ़ कर जैनधर्ममें घुसे हुए मिथ्या विश्वासों, शिथिलाचारों और अजैन प्रवृत्तियोंको पहिचाननेकी शक्ति प्राप्त करके वास्तविक धर्मपर आरूढ़ होगा।

मेरी समझमें इस लेखमालाको पढ़कर पाठकोंका ध्यान नीचे लिखी हुई बातोंकी ओर आकर्षित होना चाहिए:—

१—किसी ग्रन्थपर किसी जैनाचार्य या विद्वान्का नाम देखकर ही यह निश्चय न कर लेना चाहिए कि वह जैनग्रन्थ ही है और उसमें जो कुछ लिखा है वह सभी भगवानकी वाणी है।

२—भट्टारकोंने जैनधर्मको बहुत ही दूषित किया है। वे स्वयं ही भ्रष्ट नहीं हुए थे, जैनधर्मको भी उन्होंने भ्रष्ट करनेका प्रयत्न किया था। यह प्रायः असंभव है कि जो स्वयं भ्रष्ट हो, वह अपनी भ्रष्टताको शास्त्रोक्त सिद्ध करनेका कोई स्पष्ट या अस्पष्ट प्रयत्न न करे।

३—भट्टारकोंके पास विपुल धनसम्पत्ति थी। उसके लोभसे अनेक ब्राह्मण उनके शिष्य बन जाते थे और समय पाकर वे ही भट्टारक बनकर जैनधर्मके शासक पदको प्राप्त कर लेते थे। इसका फल यह होता था कि वे अपने पूर्वके ब्राह्मणत्वके संस्कार ज्ञात और अज्ञात रूपसे जैनधर्ममें प्रविष्ट करनेका प्रयत्न करते थे। उनके साहित्यमें इसी कारण अजैन संस्कारोंका इतना प्राबल्य है कि उसमें वास्तविक जैनधर्म बिल्कुल छुप गया है।

४—सुना गया है कि भट्टारक लोग ब्राह्मणोंको नौकर रखकर उनके द्वारा अपने नामसे ग्रन्थरचना कराते थे। ऐसी दशामें यदि उनके साहित्यमें जैनधर्मकी कलई किया हुआ ब्राह्मण साहित्य ही दिखलाई दे, तो कुछ आश्चर्य न होना चाहिए।

५—इस बातका निश्चय करना कठिन है कि भट्टारकोंके साहित्यका कबसे प्रारंभ हुआ है; इसलिए अब हमें इस दूधसे जलकर छाँछको भी फूँक फूँककर पीना चाहिए। हमें अपनी एक ऐसी विवेककी कसौटी बना लेनी चाहिए जिसपर हम प्रत्येक ग्रन्थको कस सकें। जिस तरह हमें किसी बड़े आचार्यके नामसे भुलावेमें न पड़ना चाहिए, उसी तरह प्राचीनताके कारण भी किसी ग्रन्थपर विश्वास न कर लेना चाहिए।

६—संस्कृतके विद्यार्थियों, पण्डितों तथा शास्त्रियोंका ध्यान इन लेखमालाओंके द्वारा तुलनात्मक पद्धतिकी ओर आकर्षित होना चाहिए और उन्हें प्रत्येक विषयका अध्ययन खूब परिश्रमसे करनेकी आदत डालनी चाहिए। ये परीक्षा लेख बतलाते हैं कि परिश्रम करना किसे कहते हैं।

७—अभी जरूरत है कि और अनेक विद्वान्, इस मार्गपर काम करें। भट्टारकोंके रचे हुए कथाग्रन्थ और चरितग्रन्थ बहुत अधिक हैं। उनका भी बारीकीसे अध्ययन किया जाना चाहिए और जिन प्राचीन ग्रन्थोंके आधारसे वे लिखे गये हैं, उनके साथ उनका मिलान किया जाना चाहिए। भट्टारकोंने ऐसी भी बीसों कथायें स्वयं गढ़ी हैं जिनका कोई मूल नहीं है।

अन्तमें सुहृद्वर पण्डित जुगल किशोरजीको उनके इस परिश्रमके लिए अनेकशः धन्यवाद देकर मैं अपने इस वक्तव्यको समाप्त करता हूँ। सोमसेन-त्रिवर्णाचारकी यह परीक्षा उन्होंने मेरे ही आग्रह और मेरी ही प्रेरणासे लिखी है, इस लिए मैं अपनेको सौभाग्यशाली समझता हूँ। क्योंकि इससे जैनसमाजका जो मिथ्याभाव हटेगा, उसका एक छोटासा निमित्त मैं भी हूँ। इति।

मुलुण्ड (ठाणा)
भाद्रकृष्ण २, सं० १९८५

निवेदक—
नाथूराम प्रेमी।

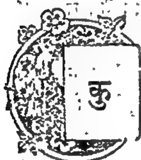
विषय-सूची



ग्रन्थ परीक्षा।

(तृतीय भाग)

सोमसेन-त्रिवर्णाचार की परीक्षा।



छ वर्ष हुए मैंने 'जैन हितैषी' में 'ग्रन्थ परीक्षा' नाम की एक लेखमाला निकालनी प्रारम्भ की थी, जो कई वर्ष तक जारी रही और जिसमें (१) उमास्वामि श्रावकाचार (२) कुन्दकुन्द श्रावकाचार (३) जिनसेन त्रिवर्णाचार, (४) भद्रबाहु संहिता और (५) धर्म परीक्षा (श्वेताम्बर) नामक ग्रंथों पर विस्तृत आलोचनात्मक निबन्ध लिखे गये* और उनके द्वारा, गहरी खोज तथा जाँच के बाद, इन ग्रंथों की असलियत को खोल कर सर्व साधारण के सामने रक्खा गया और यह सिद्ध किया गया कि ये सब

---

* अकलंक-प्रतिष्ठा पाठ, नेमिचन्द्र संहिता (प्रतिष्ठा तिलक) और पूज्यपाद-उपासकाचार नाम के ग्रन्थों पर भी छोटे छोटे लेख लिखे गये, जिनका उद्देश्य प्रायः ग्रन्थ कर्ता और ग्रन्थ के निर्माण-समयादि-विषयक नासमझी को दूर करना था और उनके द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि ये ग्रन्थ क्रमशः तत्वार्थ-राजवार्तिक के कर्ता भट्टाकलंकदेव, गोम्मटसार के प्रणेता श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती और सर्वार्थसिद्धि के रचयिता श्री पूज्यपादाचार्य के बनाये हुए नहीं हैं।

ग्रंथ जाली तथा बनावटी हैं और इनका अवतार कुछ क्षुद्र पुरुषों अथवा तस्कर लेखकों द्वारा आधुनिक भट्टारकी युग में हुआ है। इस लेखमाला ने समाज को जो नया सन्देश सुनाया, जिस भूल तथा ग़फ़लत का अनुभव कराया, अन्धश्रद्धा की जिस नींद से उसे जगाया और उसमें जिस विचारस्वातंत्र्य तथा तुलनात्मक पद्धति से ग्रंथों के अध्ययन को उत्तेजित किया, उसे यहाँ बतलाने की ज़रूरत नहीं है, उसका अच्छा अनुभव उक्त लेखों के पढ़ने से ही सम्बंध रखता है। हाँ इतना ज़रूर बतलाना होगा कि इस प्रकार की लेखमाला उस वक्त जैन समाज के लिये एक बिलकुल ही नई चीज थी, इसने उसके विचार वातावरण में अच्छी क्रान्ति उत्पन्न की, सहृदय विद्वानों ने इसे खुशी से अपनाया, इसके अनेक लेख दूसरे पत्रों में उद्धृत किये गये, अनुमोदन किये गये, मराठी में अनुवादित हुए और अलग पुस्तकाकार भी छपाये गये *। स्याद्वादवारिधि पं० गोपालदासजी वरैय्या ने, जिनसेन त्रिवर्णाचार की परीक्षा के बाद से, त्रिवर्णाचारों को अपने विद्यालय के पठनक्रम से निकाल दिया और दूसरे विचारशील विद्वान् भी उस वक्त से बराबर अपने कार्य तथा व्यवहार के द्वारा उन लेखों की उपयोगितादि को स्वीकार करते अथवा उनका अभिनंदन करते आ रहे हैं। और यह सब उक्त लेखमाला की सफलता का अच्छा परिचायक है। उस वक्त—जिनसेन त्रिवर्णाचार की परीक्षा लिखते समय मैंने यह प्रगट किया था कि 'सोमसेन-त्रिवर्णाचार की परीक्षा भी एक स्वतंत्र लेख द्वारा की जायगी'। परंतु खेद है कि अनवकाश के कारण इच्छा रहते भी, मुझे आज तक उसकी परीक्षा

---

* बम्बई के जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय ने 'ग्रन्थ परीक्षा' प्रथम भाग और द्वितीय भाग नाम से, पहले चार ग्रन्थों के लेखों को दो भागों में छाप कर प्रकाशित किया है और उनका लागत मूल्य क्रमशः छह आने तथा चार आने रक्खा है।

लिखने का कोई अवसर नहीं मिल सका। मैं उस वक्त से बराबर ही दूसरे ज़रूरी कामों से घिरा रहा हूँ। आज भी मेरे पास, यद्यपि, इसके लिये काफ़ी समय नहीं है—दूसरे अधिक ज़रूरी कामों का ढेर का ढेर सामने पड़ा हुवा है और उसकी चिंता हृदय को व्यथित कर रही है—परंतु कुछ अर्से से कई मित्रों का यह लगातार आग्रह चल रहा है कि इस त्रिवर्णाचार की शीघ्र परीक्षा कीजाय। वे आज कल इसकी परीक्षा को ख़ास तौर से आवश्यक महसूस कर रहे हैं और इसलिये आज उसी का यत्किंचित् प्रयत्न किया जाता है।

इस त्रिवर्णाचारका दूसरा नाम 'धर्म-रसिक' ग्रंथ भी है और यह तेरह अध्यायों में विभाजित है। इसके कर्ता सोमसेन, यद्यपि, अनेक पद्यों में अपने को 'मुनि', 'गणी' और 'मुनीन्द्र' तक लिखते हैं * परन्तु वे वास्तव में उन आधुनिक भट्टारकों में से थे जिन्हें शिथिलाचारी और परिग्रहधारी साधु अथवा श्रमणाभास कहते हैं। और इसलिये उनके विषय में बिना किसी संदेह के यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे पूर्णरूप से श्रावक की ७ वीं प्रतिमा के भी धारक थे। उन्होंने अपने को पुष्कर गच्छ के भट्टारक गुणभद्रसूरिका पट्टशिष्य लिखा है और साथ ही महेन्द्रकीर्ति गुरु का जिस रूप से उल्लेख किया है उससे यह जान पड़ता है कि वे इनके विद्या गुरु थे। भट्टारक सोमसेनजी कब हुए हैं और उन्होंने किस सन् सम्वत् में इस ग्रंथ की रचना की है, इसका अनुसन्धान करने के लिये कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं है। स्वयं भट्टारकजी ग्रंथ के अंत में लिखते हैं—

---

* यथा:—

····श्रीभट्टारक सोमसेन मुनिभिः ···॥ २-११५ ॥
···श्रीभट्टारक सोमसेन गणिना····॥ ४-२१७ ॥
···पुण्याब्धिर्दैः सोमसेनैर्मुनीन्द्रैः····॥ ६-११८ ॥

अब्दे तत्त्वरसर्तुचन्द्रकलिते श्रीविक्रमादित्यजे
मासे कार्तिकनामनीह धवले पक्षे शरत्संभवे ।
वारेभास्वति सिद्धनामनि तथा योगेसुपूर्णातिथौ।
नक्षत्रेऽश्विनिनाम्नि धर्मरसिको ग्रन्थश्च पूर्णीकृतः ॥२१७॥

अर्थात्-यह धर्म रसिक ग्रंथ विक्रम सं० १६६५ में कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को रविवार के दिन सिद्ध योग और अश्विनी नक्षत्र में बनाकर पूर्ण किया गया है ।

इस ग्रंथ के पहले अध्याय में एक प्रतिज्ञा-वाक्य निम्न प्रकार से दिया हुआ है—

यत्प्रोक्तं जिनसेनयोग्यगणिभिः सामन्तभद्रैस्तथा ;
सिद्धान्तेगुणभद्रनाममुनिभिर्भट्टाकलंकैः परैः
श्रीसूरिद्विजनामधेय विबुधैराशाधरैर्वाग्वरै—
स्तद्दृष्ट्वा रचयामि धर्मरसिकंशास्त्रंत्रिवर्णात्मकम् ॥६॥

अर्थात्—जिनसेनगणी, समंतभद्राचार्य, गुणभद्रमुनि, भट्टाकलंक, विबुध ब्रह्मसूरि और पं० आशाधर ने अपने २ ग्रंथों में जो कुछ कहा है उसे देखकर मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नाम के तीन वर्णों का आचार बतलाने वाला यह 'धर्मरसिक' नामका शास्त्र रचता हूँ।

ग्रंथ के शुरू में इस प्रतिज्ञा वाक्य को देखते ही यह मालूम होने लगता है कि इस ग्रंथ में जो कुछ भी कथन किया गया है वह सब उक्त विद्वानों के ही वचनानुसार–उनके ही ग्रंथों को देखकर–किया गया है। परन्तु ग्रंथके कुछ पत्र पलटने पर उसमें एक जगह ज्ञानार्णव ग्रंथ के अनुसार, जो कि शुभचंद्राचार्य का बनाया हुआ है, ध्यान का कथन करने की और दूसरी जगह भट्टारक एकसंधि कृत संहिता (जिनसंहिता) के अनुसार होमकुण्डों का लक्षण कथन करने की प्रतिज्ञाएँ भी पाई जाती हैं। यथा—

" ध्यानं तावदहं वदामिविदुषांज्ञानार्णवे यन्मतम् ॥१—२८ ॥ "

" लक्षणं होमकुण्डानां वक्ष्ये शास्त्रानुसारतः ।
भट्टारकैकसंधेश्च दृष्ट्वा निर्मलसंहिताम् ॥ ४—१०४ ॥

इसके सिवाय कहीं २ पर खास तौर से ब्रह्मसूरि, अथवा जिनसेनाचार्य के महापुराण के अनुसार कथन करने की जो पृथक् रूप से प्रतिज्ञा या सूचना की गई है उसे पहली प्रतिज्ञा के ही अंतर्गत अथवा उसी का विशेष रूप समझना चाहिये, ऐसी एक सूचना तथा प्रतिज्ञा नीचे दी जाती है—

श्रीब्रह्मसूरिद्विजवंशरत्नं श्रीजैनमार्गप्रविबुद्धतत्वः
वाचंतु तस्यैचविलोक्यशास्त्रंकृतंविशेषान्मुनिसोमसेनैः॥३-१५० ॥
जिनसेनमुनिं नत्वा वैवाहविधिमुत्तमम् ।
वक्ष्येपुराणमार्गेण लौकिकाचारसिद्धये ॥ ११—२ ॥

इन सब प्रतिज्ञा वाक्यों और सूचनाओं से ग्रंथ कर्ता ने अपने पाठकों को दो बातों का विश्वास दिलाया है—

(१) एक तो यह कि, यह त्रिवर्णाचार कोई संग्रह ग्रंथ नहीं है बल्कि अनेक जैनग्रंथों को देखकर उनके आधार पर इसकी स्वतंत्र रचना कीगई है।*

(२) दूसरे यह कि इस ग्रंथ में जो कुछ लिखा गया है वह उक्त जिनसेनादि छहों विद्वानों के अनुसार तथा जैनागम के अनुकूल

---

* ग्रन्थ के नाम से भी यह कोई संग्रह ग्रन्थ मालूम नहीं होता और न इसकी संधियों में ही इसे संग्रह ग्रन्थ प्रकट किया गया है। एक संधि नमूने के तौर पर इस प्रकार है—

इति श्री धर्मरसिक शास्त्रे त्रिवर्णाचार निरूपके भट्टारक श्री सोमसेन विरचिते स्नानवस्त्राचमन संध्या तर्पण वर्णनो नाम तृतीयोऽध्यायः ।

लिखा गया है और जहाँ कहीं दूसरे (शुभचन्द्रादि) विद्वानों के ग्रंथानुसार कुछ कहा गया है वहाँ पर उन विद्वानों अथवा उनके ग्रंथों का नाम देदिया गया है।

परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। ग्रंथ को परीक्षादृष्टि से अवलोकन करने पर मालूम होता है कि यह ग्रंथ एक अच्छा खासा संग्रह ग्रंथ है, इसमें दूसरे विद्वानों के ढेर के ढेर वाक्यों को ज्यों का त्यों उठा कर या उनमें कहीं कहीं कुछ साधारणसा अथवा निरर्थकसा परिवर्तन करके रक्खा गया है, ये वाक्य ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय को पुष्ट करने के लिये 'उक्तं च' आदि रूप से नहीं दिये गये, बल्कि वैसे ही ग्रंथ का अंग बना कर अपनाये गये हैं और उनको देते हुए उनके लेखक विद्वानों का या उन ग्रंथों का नाम तक भी नहीं दिया है, जिनसे उठाकर उन्हें रक्खा है! शायद पाठक यह समझें कि ये दूसरे विद्वान् वेही होंगे, जिनका उक्त प्रतिज्ञा-वाक्यों में उल्लेख किया गया है। परन्तु ऐसा नहीं है—उनके अतिरिक्त और भी बीसियों विद्वानों के शब्दों से ग्रंथ का कलेवर बढ़ाया गया है और वे विद्वान् जैन ही नहीं किन्तु अजैन भी हैं। अजैनों के बहुत से साहित्य पर हाथ साफ़ किया गया है और उसे दुर्भाग्य से जैन साहित्य प्रकट किया गया है, यह बड़े ही खेद का विषय है! इस व्यर्थ की उठा धरी के कारण ग्रंथ की तरतीब भी ठीक नहीं बैठसकी—वह कितने ही स्थानों पर स्खलित अथवा कुछ बेढंगेपन को लिये हुए होगई है और साथ में पुनरुक्तियाँ भी हुई हैं। इसके सिवाय, कहीं २ पर उन विद्वानों के विरुद्ध भी कथन किया गया है जिनके वाक्यानुसार कथन करने की प्रतिज्ञा अथवा सूचना की गई है और बहुतसा कथन जैन सिद्धांत के विरुद्ध अथवा जैनादर्श से गिरा हुआ भी इसमें पाया जाता है। इस तरह पर यह ग्रंथ एक बड़ा ही विचित्र ग्रंथ जान पड़ता है और 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा' वाली

कहावत को भी कितने ही अंशों में चरितार्थ करता है। यद्यपि यह ग्रंथ उक्त जिनसेन त्रिवर्णाचारादि की तरह का जाली ग्रंथ नहीं है-- इसकी रचना प्राचीन बड़े आचार्यों के नाम से नहीं हुई--फिर भी यह अर्धजाली जरूर है और इसे एक मान्य जैन ग्रंथ के तौर पर स्वीकार करने में बहुत बड़ा संकोच होता है। नीचे इन्हीं सब बातों का दिग्दर्शन कराया जाता है, जिससे पाठकों को इस ग्रन्थ के विषय में अपनी ठीक सम्मति स्थिर करने का अवसर मिल सके।

सब से पहले मैं अपने पाठकों को यह बतला देना चाहता हूँ कि उक्त प्रतिज्ञा पद्य नं० ८ में जिन विद्वानों के नाम दिये गये हैं उनमें 'भट्टाकलंक' से अभिप्राय राजवार्तिक के कर्ता भट्टाकलंक देव से नहीं है बल्कि अकलंक-प्रतिष्ठापाठ (प्रतिष्ठातिलक) आदि के कर्ता दूसरे भट्टाकलंक से है जिन्होंने अपने को 'भट्टाकलंकदेव' भी लिखा है और जो विक्रम की प्रायः १६ वीं शताब्दी के विद्वान थे *। और 'गुणभद्र' मुनि संभवतः वेही भट्टारक गुणभद्र जान पड़ते हैं, जो ग्रंथ कर्ता के पट्ट गुरु थे। गुणभद्र भट्टारक के बनाये हुए 'पूजाकल्प' नामक एक ग्रंथ का उल्लेख भी 'दिगम्बर जैन ग्रंथकर्ता और उनके ग्रंथ' नामक सूची में पाया जाता है। होसकता है कि इस ग्रंथ के आधार

---

* इस त्रिवर्णाचार में जिनसेन आदि दूसरे विद्वानों के वाक्यों का जिस प्रकार से उल्लेख पाया जाता है, उस प्रकार से राजवार्तिक के कर्ता भट्टाकलंक देव के बनाये हुए किसी भी ग्रंथ का प्रायः कोई उल्लेख नहीं मिलता। हाँ, अकलंक प्रतिष्ठापाठ के कितने ही कथनों के साथ त्रिवर्णाचार के कथनों का मेल तथा सादृश्य जरूर है और कुछ पद्यादिक दोनों ग्रंथों में समान रूप से भी पाये जाते हैं। इससे उक्त पद्य में 'भट्टाकलंकैः' पद का वाच्य क्या है, यह बहुत कुछ स्पष्ट होजाता है।

पर भी प्रकृत त्रिवर्णाचार में कुछ कथन किया गया है और इसके भी वाक्यों को बिना नाम धाम के उठा कर रक्खा गया है। परन्तु मुझे गुणभद्र मुनि के किसी भी ग्रंथ के साथ इस ग्रंथ के साहित्य को जाँचने का अवसर नहीं मिल सका और इसलिये मैं उनके ग्रंथ विषय का यहाँ कोई उल्लेख नहीं कर सकूँगा। बाकी चार विद्वानों में से जिनसेनाचार्य तो 'आदिपुराण' के कर्ता, स्वामी समन्तभद्र 'रत्नकरण्डक' श्रावकाचार के प्रणेता, पं० आशाधर 'सागार धर्मामृत' आदि के रचयिता और विदुष ब्रह्मसूरि 'ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार' अथवा 'जिनसंहितासारोद्धार' के विधाता हुए हैं जिसका दूसरा नाम 'प्रतिष्ठातिलक' भी है। आशाधर की तरह ब्रह्मसूरि भी गृहस्थ विद्वान थे और उनका समय विक्रम की प्रायः १५वीं शताब्दी पाया जाता है। ये जैन धर्मानुयायी ब्राह्मण थे। सोमसेन ने भी **'श्रीब्रह्मसूरिद्विजवंशरत्नं', 'ब्रह्मसूरिसुविप्रेण,' 'श्रीब्रह्मसूरिवरविप्रकवीश्वरेण'** आदि पदों के द्वारा इन्हें ब्राह्मण वंश का प्रकट किया है। इनके पिता का नाम 'विजयेन्द्र' और माता का 'श्री' था। इनके एक पूर्वज गोविन्द भट्ट, जो वेदान्तानुयायी ब्राह्मण थे, स्वामी समन्तभद्र के 'देवागम' स्तोत्र को सुनकर जैनधर्म में दीक्षित होगये थे†। उसी वक्त से इनके वंश में जैनधर्म की बराबर मान्यता चली आई है, और उसमें कितने ही विद्वान हुए हैं।

ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार को देखने से ऐसा मालूम होता है कि ब्रह्मसूरि के पूर्वज जैनधर्म में दीक्षित होने के समय हिन्दूधर्म के कितने ही संस्कारों को अपने साथ लाये थे, जिनको उन्होंने स्थिर ही नहीं रक्खा बल्कि उन्हें जैन का लिबास पहिनाने और त्रिवर्णाचार जैसे ग्रंथों द्वारा उनका जैनसमाज में प्रचार करने का भी आयोजन किया है। संभव है देश-काल की परिस्थिति ने भी उन्हें वैसा करने के लिये

---

† देखो उक्त 'जिनसंहितासारोद्धार' की प्रशस्ति।

मजबूर किया हो—उस वक्त ब्राह्मण लोग जैन द्विजों अथवा जैनधर्म में दीक्षितों को 'वर्णान्तः पाती' और संस्कारविहीनों को 'शूद्र' तक कहते थे; आश्चर्य नहीं जो यह बात नव दीक्षितों को—खास कर विद्वानों को—असह्य हो उठी हो और उसके प्रतीकार के लिये ही उन्होंने अथवा उनसे पूर्व दीक्षितों ने उपर्युक्त आयोजन किया हो। परंतु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि उस वक्त दक्षिण भारत में इस प्रकार के साहित्य की—संहिता शास्त्रों, प्रतिष्ठा पाठों और त्रिवर्णाचारों की—बहुत कुछ सृष्टि हुई है। एक संधि भ० जिन संहिता, इन्द्रनन्दि संहिता, नेमिचंद्र * संहिता, भद्रबाहु संहिता, आशाधर प्रतिष्ठापाठ, अकलंक प्रतिष्ठा पाठ और जिनसेन त्रिवर्णाचार आदि बहुत से ग्रंथ उसी वक्त के बने हुए हैं। इस प्रकार के सभी उपलब्ध ग्रंथों की सृष्टि विक्रम की प्रायः दूसरी सहस्राब्दी में पाई जाती है—विक्रम की पहली सहस्राब्दी (दसवीं शताब्दी तक) का बना हुआ वैसा एक भी ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ—और इससे यह जाना जाता है कि ये ग्रंथ उस जमाने की किसी खास हलचल के परिणाम हैं और इनके कितने ही नूतन विषयों का, जिन्हें खास तौर से लक्ष्य में रखकर ऐसे ग्रंथों की सृष्टि की गई है, जैनियों के प्राचीन साहित्य के साथ प्रायः कोई सम्बन्ध विशेष नहीं है। अस्तु,

ग्रन्थका संग्रहत्व।

(१) इस त्रिवर्णाचार में सब से अधिक संग्रह यदि किसी ग्रंथ का किया गया है तो वह ब्रह्मसूरि का उक्त त्रिवर्णाचार ही है। सोमसेन ने अपने त्रिवर्णाचार की श्लोक संख्या, ग्रंथके अंत में, २७०० दी है और यह संख्या ३२ अक्षरों की श्लोक गणना के अनुसार

*नेमिचंद्र संहिताके रचयिता 'नेमिचंद्र' भी एक गृहस्थ विद्वान थे और वे ब्रह्मसूरि के भानजे थे। देखो 'नेमिचंद्र संहिता' की प्रशस्ति अथवा जैन हितैषी के १२ वें भाग का अंक नं० ४-५,

जान पड़ती है। परन्तु वैसे, ग्रंथ की पद्य संख्या २०४६ है और बाक़ी का उसमें मंत्र भाग है जो ५५० या ६०० श्लोकों के करीब होगा। कुछ अपवादों को छोड़ कर, यह सारा मंत्र भाग ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार से उठाकर—ज्यों का त्यों अथवा कहीं कहीं कुछ बदलकर—रक्खा गया है। रही पद्यों की बात, उनका जहाँ तक मुक़ाबला किया गया उससे मालूम हुआ कि इस ग्रन्थ में १६२ पद्य तो ऐसे हैं जो प्रायः ज्यों के त्यों और १७७ पद्य ऐसे हैं जो कुछ परिवर्तन के साथ ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार से उठा कर रक्खे गये हैं। इस तरह पर ग्रंथ का कोई एकतिहाई भाग ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार से लिया गया है और उसे ज़ाहिर में अपनी रचना प्रकट किया गया है। इस ग्रन्थ संग्रह के कुछ नमूने इस प्रकार हैं :—

(क) ज्यों के त्यों उठाकर रक्खे हुए पद्य ।

सुखं वांछन्ति सर्वेऽपि जीवा दुःखं न जातुचित् ।
तस्मात्सुखैषिणो जीवाः संस्काराय्याभिसम्मताः ॥ २-७ ॥

एवं दशाहपर्यन्तमेतत्कर्म विधीयते ।
पिंडं तिलोदकं चापि कर्त्ता दद्यात्तदान्वहम् ॥ १३-१७६ ॥

इन पद्यों में से पहला पद्य ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार का ५वाँ और दूसरा पद्य उसके अन्तिम पर्व का १३६ वाँ पद्य है। दूसरे पद्य के आगे पीछे के और भी पचासों पद्य ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार से ज्यों के त्यों उठाकर रक्खे गये हैं। दोनों ग्रन्थों के अन्तिम भाग (अध्याय तथा पर्व) सूतक प्रेतक अथवा जननाशौच और मृताशौच नामके प्रायः एक ही विषय को लिये हुए भी हैं।

(ख) परिवर्तन करके रक्खे हुए पद्य ।

कालादिलब्धितः पुंसामन्तःशुद्धिः प्रजायते ।
मुख्यापेक्ष्यातु संस्कारो बाह्यशुद्धिमपेक्षते ॥ २-८ ॥

चतुर्थे दिवसे स्नायात्प्रातर्गोसर्गतः पुरा ।
पूर्वाह्णेघटिकाषट्कं गोसर्ग इति भाषितः ॥ १३-२२ ॥
शुद्धाभर्तुश्चतुर्थेऽह्निभोजने रन्धनेऽपिवा ।
देवपूजा गुरूपास्तिहोमसेवासु पंचमे ॥ १३-२३ ॥

ये पद्य ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार के जिन पद्यों को परिवर्तित करके बनाये गये हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

अन्तःशुद्धिस्तु जीवानां भवेत्कालादिलब्धितः ।
एषामुख्यापिसंस्कारे बाह्यशुद्धिरपेक्ष्यते ॥ ७ ॥
रजस्वलाचतुर्थेऽन्हि स्नायाद्गोसर्गतः परं ।
पूर्वाह्णे घटिकाषट्कं गोसर्ग इति भाषितः ॥ ८-१३ ॥
तस्मिन्नहनि योग्या स्यादुदक्या गृहकर्मणि ।
देवपूजा गुरूपास्तिहोमसेवासु पंचमे ॥ ८-१४ ॥

इन पद्यों का परिवर्तित पद्यों के साथ मुक़ाबला करने से यह सहज ही में मालूम हो जाता है कि पहले पद्य में जो परिवर्तन किया गया है उससे कोई अर्थ-भेद नहीं होता, बल्कि साहित्य की दृष्टि से यह कुछ घटिया ज़रूर हो गया है । मालूम नहीं फिर इस पद्य को बदलने का क्यों परिश्रम किया गया, जब कि इससे पहला **'सुखं-वांछन्ति'** नाम का पद्य ज्यों का त्यों उठाकर रक्खा गया था ! इसे भी उसी तरह पर उठाकर रख सकते थे । शेष दोनों पद्यों के उत्तरार्ध ज्यों के त्यों हैं, सिर्फ़ पूर्वार्ध बदले गये हैं और उनकी यह तबदीली बहुत कुछ भद्दी जान पड़ती है । दूसरे पद्य की तबदीली ने तो कुछ विरोध भी उपस्थित कर दिया है–ब्रह्मसूरि ने चौथे दिन रजस्वला के स्नान का समय पूर्वाह्ण की छहघड़ी के बाद कुछ दिन चढ़े रक्खा था; परन्तु ब्रह्मसूरि के अनुसार कथन की प्रतिज्ञा करने वाले सोमसेनजी ने, अपनी इस तबदीली के द्वारा गोसर्ग की उक्त छह घड़ी से पहले रात्रि में ही उसका विधान

कर दिया है। इससे इन पद्यों के परिवर्तन की निरर्थकता स्पष्ट है और साथ ही सोमसेनजी की योग्यता का भी कुछ परिचय मिल जाता है।

(ग) परिवर्तित और अपरिवर्तित मन्त्र।

इस ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में, एक स्थान पर, दशदिक्पालों को प्रसन्न करने के मन्त्र देते हुए, लिखा है:---

ततोऽपि मुकुलितकरकुड्मलः सन् " ॐ नमोऽर्हते भगवते श्री शांतिनाथाय शांतिकराय सर्वविघ्नप्रणाशनाय सर्व—रोगापमृत्युविनाशनाय सर्व परकृत क्षुद्रोपद्रवविनाशनाय मम सर्वशान्तिर्भवतु " इत्युच्चार्य—

इसके बाद-'**पूर्वस्यां दिशि इन्द्रः प्रसीदतु, आग्नेय्यां दिशि अग्निः प्रसीदतु, दक्षिणस्यां दिशि यमः प्रसीदतु**' इत्यादि रूप से वे प्रसन्नता सम्पादन कराने वाले दसों मन्त्र दिये हैं। ये सब मन्त्र वेही हैं जो ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार में भी दिये हुए हैं, सिर्फ़ '**उत्तरस्यां दिशि कुबेरः प्रसीदतु**' नामक मन्त्र में **कुबेरः** की जगह यहाँ '**यक्षः**' पद का परिवर्तन पाया जाता है। परन्तु इन मन्त्रों से पहले '**ततोऽपिमुकुलितकरकुड्मलः सन्**' और '**इत्युच्चार्य**' के मध्य का जो मंत्र पाठ है वह ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार में निम्न प्रकार से दिया हुआ है:-

ॐ नमोऽर्हते श्रीशांतिनाथाय शांतिकराय सर्व शांतिर्भवतु स्वाहा। *

---

* इस मंत्र में जिन विशेषण पदों को बढ़ाकर इसे ऊपर का रूप दिया गया है उसे सोमसेनजी के उस विशेष कथन का एक नमूना समझना चाहिये जिसकी सूचना उन्होंने अध्याय के अन्त में निम्न पद्य द्वारा की है—

श्री ब्रह्मसूरि द्विजवंश रत्नं श्री जैनमार्ग प्रतिबुद्धतत्वः।
वाचंतु तस्यैव विलोक्य शास्त्रं कृतं विशेषान्मुनिसोमसेनैः॥

इस प्रदर्शन से यह स्पष्ट जाना जाता है कि सोमसेनजी इन क्रिया मंत्रों को ऐसे आर्ष मंत्र नहीं समझते थे जिनके अक्षर जँचेतुले अथवा गिने चुने होते हैं और जिनमें अक्षरों की कमी बेशी आदि के कारण कितनी ही विडम्बना होजाया करती है अथवा यों कहिये कि यथेष्ट फल संघटित नहीं होसकता। वे शायद इन मंत्रों को इतना साधारण समझते थे कि अपने जैसों को भी उनके परिवर्तन का अधिकारी मानते थे। यही वजह है जो उन्होंने उक्त दोनों मंत्रों में और इसी तरह और भी बहुत से मंत्रों में अपनी इच्छानुसार तबदीली अथवा न्यूनाधिकता की है, जिस सबको यहाँ बतलाने की आवश्यकता नहीं है। मंत्रों का भी इस ग्रंथ में कुछ ठिकाना नहीं—अनेक देवताओं के पूजा मंत्रों को छोड़कर, नहाने, धोने, कुल्ला दाँतन करने, खाने, पीने, वस्त्र पहनने, चलने फिरने, उठने बैठने और हगने मूतने आदि बात बात के मंत्र पाये जाते हैं—मंत्रों का एक खेलसा नजर आता है—और उनकी रचना का ढंग भी प्रायः बहुत कुछ सीधा सादा तथा आसान है। ॐ, ह्रीं, अर्हं स्वाहा आदि दो चार अक्षर इधर उधर जोड़ कर और कहीं कहीं कुछ विशेषण पद भी साथ में लगाकर संस्कृत में वह बात कहदीगई है जिस विषय का कोई मंत्र है। ऐसे कुछ मंत्रों का सारांश यदि हिन्दी में दे दिया जाय तो पाठकों को उन मंत्रों की जाति तथा प्रकृति आदि के समझने में बहुत कुछ सहायता मिलेगी। अतः नीचे ऐसे ही कुछ मंत्रों का हिन्दी में दिग्दर्शन कराया जाता है—

१ ऊँ ह्रीं, हे यहाँ के क्षेत्रपाल! क्षमा करो, मुझे मनुष्य जानो, इस स्थान से चले जाओ, मैं यहाँ मल मूत्र का त्याग करता हूँ, स्वाहा।

२ ऊँ. इन्द्रों के मुकुटों की रत्नप्रभा से प्रक्षालित पाद पद्म अर्हन्तभगवान को नमस्कार, मैं शुद्ध जल से पैर धोता हूँ, स्वाहा।

३ ऊँ ह्रीं ह्रीं ...., मैं हाथ धोता हूँ, स्वाहा।

४ ऊँ ह्रीं दवीं झ्वीं, मैं मुँह धोता हूँ, स्वाहा।

५ ऊँ परम पवित्राय, मैं दन्तधावन (दाँतन कुल्ला) करता हूँ, स्वाहा।

६ ऊँ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं असिआउसा, मैं स्नान करता हूँ, स्वाहा।

७ ऊँ ह्रूं, संसार सागर से निकले हुए अर्हन्त भगवान को नमस्कार, मैं पानी से निकलता हूँ, स्वाहा।

८ ऊँ ह्रूं दवीं झ्वीं अर्हं हं सः परम पावनाय, मैं वस्त्र पवित्र करता हूं, स्वाहा।

९ ऊँ, हे श्वेतवर्ण वाली, सर्व उपद्रवों को हरने वाली, सर्व महाजनों का मनोरंजन करने वाली, धोती डुपट्टा धारण करने वाली हं झं वं मं सं तं मैं धोती डुपट्टा धारण करता हूं स्वाहा।

१० ऊँ भूर्भुवः स्वः असिआउसा, मैं प्राणायाम करता हूँ, स्वाहा।

११ ऊँ ह्रीं ...,मैं सिरके ऊपर पानी के छींटे देता हूँ, स्वाहा।

१२ ऊँ ह्रूं ....मैं चुल्लू में पानी लेता हूँ, स्वाहा।

१३ ऊँ ह्रूं ,मैं चुल्लू का अमृत (जल) पीता हूँ, स्वाहा।

१४ ऊँ ह्रूं अर्हं, मैं किवाड़ खोलता हूँ, स्वाहा।

१५ ऊँ ह्रीं अर्हं मैं द्वारपालको(भीतर जाने की)सूचना देताहूँ,स्वाहा।

१६ ऊँ ह्रूं, अर्हं ,मैं मंदिर में प्रवेश करता हूँ, स्वाहा।

१७ ऊँ ह्रूं, मैं मुख वस्त्र को उघाड़ता हूँ, स्वाहा।

१८ ऊँ ह्रीं, अर्हं, मैं यागभूमि में प्रवेश करता हूँ, स्वाहा।

१९ ऊँ ह्रीं, मैं बाजा बजाता हूँ, स्वाहा।

२० ऊँ ह्रूं...मैं पृथ्वी को पानी से धोकर शुद्ध करता हूँ, स्वाहा।

२१ ऊँ ह्रूं अर्हं क्ष्मां ठ ठ, मैं दर्भासन बिछाता हूँ, स्वाहा।

२२ ऊँ ह्रूं अर्हं निस्सही हूँ फट् मैं दर्भासन पर बैठता हूँ, स्वाहा।

२३ ऊँ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः, श्री अर्हन्त भगवान को नमस्कार, मैं शुद्ध जल से बरतन धोता हूँ, स्वाहा।

२४ ॐ ह्रीं अर्हं...,मैं पूजा के द्रव्य को धोता हूँ स्वाहा।

२५ ॐ ह्रीं अर्हं....,मैं हाथ जोड़ता हूँ. स्वाहा।

२६ ॐ ह्रीं स्वस्तये. मैं कलश उठाता हूँ, स्वाहा।

२७ ॐॐॐॐ रं रं रं रं; मैं दर्भ डालकर आग जलाता हूँ स्वाहा।

२८ ॐ ह्रीं मैं पवित्र जलसे द्रव्य शुद्धि करता हूँ, स्वाहा।

२९ ॐ ह्रीं, मैं कुश ग्रहण करता हूँ. स्वाहा।

३० ॐ ह्रीं, मैं पवित्र गंधोदक को सिर पर लगाता हूँ, स्वाहा।

३१ ॐ ह्रीं..., मैं बालक को पालने में झुलाता हूँ, स्वाहा।

३२ ॐ ह्रीं अर्हं असिआउसा, मैं बालक को बिठलाता हूँ. स्वाहा।

३३ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं, मैं बालक के कान नाक बींधता हूँ, असि आ उ सा स्वाहा।

३४ ॐ मुक्ति शक्ति के देने वाले अर्हन्त भगवान को नमस्कार मैं बालक को भोजन कराता हूँ ...स्वाहा!

३५ ॐ ......, मैं बालक को पैर धरना सिखलाता हूँ, स्वाहा।

प्रायः ये सभी मंत्र ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार में भी पाये जाते हैं और वहीं से उठाकर यहाँ रक्खे गये मालूम होते हैं। परंतु किसी २ मंत्र में कुछ अक्षरों की कमी बेशी अथवा तबदीली जरूर पाई जाती है और इससे उस विचार को और भी ज्यादा पुष्टि मिलती है जो ऊपर जाहिर किया गया है। साथ ही, यह मालूम होता है कि ये मंत्र जैन-समाज के लिये कुछ अधिक प्राचीन तथा रूढ नहीं हैं और न उसकी व्यापक प्रकृति या प्रवृत्ति के अनुकूल ही जान पड़ते हैं। कितने ही मंत्रों की सृष्टि-उनकी नवीन कल्पना—भट्टारकी युग में हुई है और यह बात आगे चलकर स्पष्ट की जायगी।

(२) पं० आशाधर के ग्रंथों से भी कितने ही पद्य, इस त्रिवर्णाचार में, बिना नाम धाम के संग्रह किये गये हैं। छठे अध्याय में २२

और दसवें अध्याय में १३ पद्य सागार धर्मामृत से लिये गये हैं। इनमें से छठे अध्याय के दो पद्यों को छोड़कर, जिनमें कुछ परिवर्तन किया गया है, शेष ३२ पद्य ऐसे हैं जो इन अध्यायों में ज्यों के त्यों उठाकर रक्खे गये हैं। अनगारधर्मामृत से भी कुछ पद्य लिये गये हैं और आशाधर-प्रतिष्ठापाठ से भी कितने ही पद्यों का संग्रह किया गया है। छठे अध्याय के ११ पद्यों का आशाधर-प्रतिष्ठा पाठ के साथ जो मुक्काबला किया गया तो उन्हें ज्यों का त्यों पाया गया। इन पद्यों के कुछ नमूने इस प्रकार हैं:—

योग्य कालासनस्थानमुद्राऽऽवर्तशिरोनतिः।
विनयेन यथाजातः कृतिकर्मामलं भजेत् ॥१-६३॥
किमिच्छकेन दानेन जगदाशा प्रपूर्य यः।
चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हद्यज्ञो कल्पद्रुमो मतः ॥ ६-७१॥
जाती पुष्पसहस्राणि जप्त्वा द्वादश सद्दशः।
विधिनादत्त होमस्य विद्या सिद्धयति वर्णिनः ॥ ६-४॥

इनमें से पहला पद्य अनगारधर्मामृत के ८वें अध्याय का ७८ वाँ, दूसरा पद्य सागारधर्मामृत के दूसरे अध्याय का २८ वाँ और तीसरा पद्य आशाधर-प्रतिष्ठापाठ (प्रतिष्ठासारोद्धार) के प्रथमाध्याय का १३ वाँ पद्य है। प्रतिष्ठापाठ के अगले नं० १४ से २४ तक के पद्य भी यहीं एक स्थान पर ज्यों के त्यों उठाकर रक्खे गये हैं।

जीविते मरणे लाभेऽलाभे योगे विपर्यये।
बन्धावरौ सुखे दुःखे सर्वदा समता मम ॥ १-६४॥

यह अनगारधर्मामृत के आठवें अध्याय का २७ वाँ पद्य है। इसका चौथा चरण यहाँ बदला हुआ है—**'साम्यमेवाभ्युपैम्यहम्'** की जगह **'सर्वदा समता मम'** ऐसा बनाया गया है। मालूम नहीं इस परिवर्तन की क्या जरूरत पैदा हुई और इसने कौनसी विशेषता

उत्पन्न की। बल्कि नियतकालिक सामायिक के अनुष्ठान में '**सर्वदा**' शब्द का प्रयोग कुछ खटकता जरूर है।

मद्यमांसमधून्युज्झेत्पंचक्षीरफलानि च।
अष्टैतान् गृहिणां मूलगुणान् स्थूलवधाद्विदुः॥ ६-१६४॥

यह पद्य सागार-धर्मामृत के दूसरे अध्याय के पद्य नं० २ और नं० ३ बनाया गया है। इसका पूर्वार्ध पद्य नं० २ का उत्तरार्ध और उत्तरार्ध पद्य नं० ३ का पूर्वार्ध है। साथ ही '**स्थूलवधादि वा**' की जगह यहाँ '**स्थूलवधाद्विदुः**' ऐसा परिवर्तन भी किया गया है। सागार-धर्मामृत के उक्त पद्य नं० २ का पूर्वार्ध है '**तत्रादौ श्रद्दधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुं**' और पद्य नं० ३ का उत्तरार्ध है '**फलस्थाने स्मरेद् द्यूतं मधुस्थान इहैव वा।** ये दोनों पद्य १० वें अध्याय में ज्यों के त्यों उद्धृत भी किये गये हैं और वहाँ पर अष्टमूल गुणों का विशेष रूप से कथन भी किया गया है, फिर नहीं मालूम यहाँ पर यह अष्टमूल गुणों का कथन दोबारा क्यों किया गया है और इससे क्या लाभ निकाला गया। प्रकरण तो यहाँ त्याज्य अन्न अथवा भोजन का था—कोल्हापुर की छपी हुई प्रति में '**अथ त्याज्यान्नम्**' ऐसा उक्त पद्य से पहले लिखा भी है—और उसके लिये इन आठ बातों का कथन उन्हें अष्टमूल गुण की संख्या न देते हुए भी किया जा सकता था और करना चाहिये था—खासकर ऐसी हालत में जब कि इनके त्याग का मूलगुण रूप से आगे कथन करना ही था। इसके सिवाय दूसरे '**रागजीववधापाय**' * नामक पद्य में जो परिवर्तन किया गया है वह बहुत ही साधारण है। उसमें '**रात्रिभक्तं**' की जगह '**रात्रौभुक्तिं**' बनाया गया है और यह बिलकुल ही निरर्थक परिवर्तन जान पड़ता है।

---

* यह सागार-धर्मामृत के दूसरे अध्याय का १४ वाँ पद्य है और सोमसेन-त्रिवर्णाचार के छठे अध्याय में नं० २०१ पर दर्ज है।

(२) इस ग्रंथ के दसवें अध्याय में रत्नकरण्ड-श्रावकाचार के 'विषयाशावशातीतो' आदि साठ पद्य तो ज्यों के त्यों और पाँच पद्य कुछ परिवर्तन के साथ संग्रह किये गये हैं। परिवर्तित पद्यों में से पहला पद्य इस प्रकार है।

अष्टांगैः पालितं शुद्धं सम्यक्त्वं शिवदायकम्।
न हि मंत्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्॥ २८॥

यह पद्य रत्नकरण्ड श्रावकाचार के २१ वें पद्य रूपान्तर है। इसका उत्तरार्ध तो वही है जो उक्त २१ वें पद्य का है, परन्तु पूर्वार्ध को बिलकुल ही बदल डाला है और यह तबदीली साहित्य की दृष्टि से बड़ी ही भद्दी मालूम होती है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार के २१ वें पद्यका पूर्वार्ध है—

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।

पाठकजन देखें, इस पूर्वार्ध का उक्त पद्य के उत्तरार्ध से कितना गहरा सम्बन्ध है। यहाँ सम्यग्दर्शन की अंगहीनता जन्मसंतति को नाश करने में असमर्थ है और वहाँ उदाहरण में मंत्र की अक्षरन्यूनता विषवेदना को दूर करने में अशक्त है—दोनों में कितना साम्य, कितना सादृश्य और कितनी एकता है, इसे बतलाने की ज़रूरत नहीं। परन्तु खेद है कि भट्टारकजी ने इसे नहीं समझा और इसलिये उन्होंने रत्न के एक टुकड़े को अलग करके उसकी जगह काच जोड़ा है जो बिलकुल ही बेमेल तथा बेडौल मालूम होता है। दूसरे चार पद्यों की भी प्रायः ऐसी ही हालत है—उनमें जो परिवर्तन किया गया है वह व्यर्थ जान पड़ता है। एक पद्य में तो **'महाकुलाः'** की जगह **उत्तमकुलाः'** बनाया गया है, दूसरे में **'ज्ञेयं पाखण्डिमोहनं'** को **'ज्ञेयापाखण्डिमूढता'** का रूप दिया गया है, तीसरे में **'स्मयमाहुर्गतस्मयाः'** की जगह **'श्रीयते तन्मदाष्टकम्'** यह चौथा चरण क़ायम किया गया है और चौथे पद्य में **'दिव्यशरीरं च लभन्ते'**

के स्थान पर **'विद्यन्ते कामदा नित्यम्'** यह नवीन पद जोड़ा गया है और इससे मूलका प्रतिपाद्य विषय भी कुछ कम होगया है।

(४) श्रीजिनसेनाचार्यप्रणीत आदिपुराण से भी कितने ही पद्य उठाकर इस ग्रंथ में रक्खे गये हैं, जिनमें से दो पद्य नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं—

व्रतचर्यामहं वक्ष्ये क्रियामस्योपबिभ्रतः ।
कट्यूरूरः शिरोलिंगमनूचानव्रतोचितम् ॥ ६–६७ ॥
वस्त्राभरणमाल्यादिग्रहणं गुर्वनुज्ञया ।
शस्त्रोपजीविवर्ग्यश्चेद्धारयेच्छस्त्रमप्यदः ॥ ६–८० ॥

इनमें से पहला पद्य तो आदिपुराण के ३८ वें पर्व का १०९ वाँ पद्य है—इसके आगे के और भी कई पद्य ऐसे हैं जो ज्यों के त्यों उठाकर रक्खे गये हैं और दूसरा उसी पर्व के पद्य नं० १२५ के उत्तरार्ध और नं० १२६ के पूर्वार्ध को मिलाकर बनाया गया है। पद्य नं० १२५ का पूर्वार्ध और नं० १२६ का उत्तरार्ध क्रमशः इस प्रकार हैं—

कृतद्विजार्चनस्यास्य व्रतावतरणोचितम् ॥ पू० १२५ ॥
स्ववृत्तिपरिरक्षार्थं शोभार्थं चास्य तद्ग्रहः ॥ उ० १२६ ॥

मालूम नहीं दोनों पद्यों के इन अंशों को क्यों छोड़ा गया और उसमें क्या लाभ सोचा गया। इस व्यर्थ की छोड़ छाड़ तथा काट छाँट का ही यह परिणाम है जो यहाँ व्रतावतरण क्रिया के कथन में उस सार्वकालिक व्रत का कथन छूट गया है जो आदिपुराण के **'मद्यमांस परित्यागः'** नामक १२३ वें पद्य में दिया हुआ है *। और इसलिये

---

* 'व्रतावतरणं चेदं' से पहले आदिपुराण का वह १२३ वाँ पद्य इस प्रकार है—

मद्यमांसपरित्यागः पंचोदुम्बरवर्जनम् ।
हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात्सार्वकालिकम् ॥

उक्त ८० वें पद्य से पहले आदिपुराण का जो १२४ वाँ पद्य उद्धृत किया गया है वह एक प्रकार से बेढंगा तथा असंगत जान पड़ता है। वह पद्य इस प्रकार है—

व्रतावतरणं चेदं गुरुसाक्षिकृतार्चनम्।
वत्सरात् द्वादशादूर्ध्वमथवा षोडशात्परम् ॥६-७६॥

इसमें 'इदं' शब्द का प्रयोग बहुत खटकता है और वह पूर्वकथन को 'व्रतावतरण' क्रिया का कथन बतलाता है परन्तु ग्रन्थ में वह **'व्रतचर्या'** का कथन है और **'व्रतचर्यामहं वक्ष्ये'** इस ऊपर उद्धृत किये हुए पद्य से प्रारम्भ होता है। अतः भट्टारकजी की इस काट छाँट और उठाई धरी के कारण दो क्रियाओं के कथन में कितना गोलमाल होगया है, इसका अनुभव विज्ञ पाठक स्वयं कर सकते हैं और साथ ही यह जान सकते हैं कि भट्टारकजी काट छाँट करने में कितने निपुण थे।

(५) श्रीशुभचन्द्राचार्य-प्रणीत 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ से भी इस त्रिवर्णाचार में कुछ पद्यों का संग्रह किया गया है। पहले अध्याय के पाँच पद्यों को जाँचने से मालूम हुआ कि उनमें से तीन पद्य तो ज्यों के त्यों और दो कुछ परिवर्तन के साथ उठा कर रक्खे गये हैं। ऐसे पद्यों में से एक एक पद्य नमूने के तौर पर इस प्रकार है:—

चतुर्वर्णमयं मंत्रं चतुर्वर्गफलप्रदम्।
चतूरात्रं जपेद्योगी चतुर्थस्य फलं भवेत् ॥ ७५ ॥
विद्यां षड्वर्णसंभूतामजय्यां पुण्यशालिनीम्।
जपन्प्रागुक्तमभ्येति फलं ध्यानी शतत्रयम् ॥ ७६ ॥

ये दोनों पद्य ज्ञानार्णव के ३८ वें प्रकरण के पद्य हैं और वहाँ क्रमशः नं० ५१ तथा ५० पर दर्ज हैं—यहाँ इन्हें आगे पीछे उद्धृत किया गया है। इनमें से दूसरा पद्य तो ज्यों का त्यों उठा कर रक्खा

गया है और पहले पद्य के उत्तरार्ध में कुछ परिवर्तन किये गये हैं—'**चतुःशतं**' की जगह '**चतूरात्रं**', '**जपन्**' की जगह '**जपेत्**' और '**लभेत्**' की जगह '**भवेत्**' बनाया गया है। इन परिवर्तनों में से पिछले दो परिवर्तन निरर्थक हैं—उनकी कोई जरूरत ही न थी—और पहला परिवर्तन ज्ञानार्णव के मतसे विरुद्ध पड़ता है जिसके अनुसार कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है ×। ज्ञानार्णव के अनुसार 'चतुरक्षरी मंत्र का चारसौ संख्या प्रमाण जप करने वाला योगी एक उपवास के फलको पाता है' परन्तु यहाँ, जाप्य की संख्या का कोई नियम न देते हुए, चार रात्रि तक जप करने का विधान किया गया है और तब कहीं एक उपवास * का फल होना लिखा है। इससे

× वह प्रतिज्ञा-वाक्य इस प्रकार है—

ध्यानं तावदहं वदामि विदुषां ज्ञानार्णवे यन्मतम्।

* पं० पन्नालालजी सोनी ने अपने अनुवाद में, "चार रात्रि पर्यंत जप करें तो उन्हें मोक्षकी प्राप्ति होती है" ऐसा लिखा है और इससे यह जाना जाता है कि आपने उक्त ७५ वें पद्य में प्रयुक्त हुए 'चतुर्थ' शब्दका अर्थ **उपवास** न समझकर '**मोक्ष**' समझा है! परन्तु यह आपकी बड़ी भूल है—मोक्ष इतना सस्ता है भी नहीं। इस पारिभाषिक शब्दका अर्थ यहाँ 'मोक्ष' (चतुर्थवर्ग) न होकर 'चतुर्थ' नाम का उपवास है, जिसमें भोजन की चतुर्थ वेला तक निराहार रहना होता है। ७८ वें पद्य में '**प्रागुक्तं**' पद के द्वारा जिस पूर्व-कथित फल का उल्लेख किया गया है उसे ज्ञानार्णव के पूर्ववर्ती पद्य नं० ४६ में '**चतुर्थतपसः फलं**' लिखा है। इससे '**चतुर्थस्य फलं**' और '**चतुर्थतपसः फलं**' दोनों एकार्थवाचक पद हैं और ये पूरे एक उपवास-फल के द्योतक हैं। पं० पन्नालालजी बाकलीवाल ने भी ज्ञानार्णव के अपने अनुवाद में, जिसे उन्होंने पं० जयचन्दजी की

दोनों में परस्पर कितना अन्तर है और उससे प्रतिज्ञा में कहाँतक विरोध आता है इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। इस अध्याय में और भी कितने ही कथन ऐसे हैं जो ज्ञानार्णव के अनुकूल नहीं हैं। उनमें से कुछ का परिचय आगे चलकर यथास्थान दिया जायगा।

(६) एकसंधि भट्टारक की 'जिनसंहिता' से भी कितने ही पद्यादिकों का संग्रह किया गया है और उन्हें प्रायः ज्यों का त्यों अथवा कुछ परिवर्तन के साथ उठाकर अनेक स्थानों पर रक्खा गया है। चौथे अध्याय में ऐसे जिन पद्यों का संग्रह किया गया है उनमें से दो पद्य नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं—

तीर्थकृद्गणभृच्छेषकेवल्यन्तमहोत्सवे।
प्राप्य ये पूजनाङ्गत्वं पवित्रत्वमुपागताः॥ ११५॥
ते त्रयोऽपि प्रणेतव्याः कुण्डेष्वेषु महानयम्।
गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निप्रसिद्धया॥ ११६॥

भाषा-टीका का 'अनुकरण मात्र' लिखा है, 'चतुर्थ' का अर्थ अनेक स्थानों पर 'उपवास' दिया है। और प्रायश्चित ग्रंथों से तो यह बात और भी स्पष्ट है कि 'चतुर्थ' का अर्थ 'उपवास' है; जैसाकि 'प्रायश्चित्त चूलिका' की श्रीनन्दिगुरुकृत टीका के निम्न वाक्यों से प्रकट है—

'त्रिचतुर्थानि त्रीणि चतुर्थानि त्रय उपवासा इत्यर्थः।'

'चतुर्थं उपवासः'। इससे सोनीजी की भूल स्पष्ट है और उसे इसलिये स्पष्ट किया गया है जिससे मेरे उक्त लिखने में किसी को भ्रम न हो सके। अन्यथा, उनके अनुवादकी भूलें दिखलाना यहाँ इष्ट नहीं है, भूलों से तो सारा अनुवाद भरा पड़ा है—कोई भी ऐसा पृष्ठ नहीं जिसमें अनुवाद की दसपाँच भूलें न हों—उन्हें कहाँतक दिखलाया जा सकता है। हाँ, मेरे लेखके विषय से जिन भूलोंका खास अथवा गहरा सम्बन्ध होगा उन्हें यथावसर स्पष्ट किया जायगा।

ये दोनों पद्य एकसंधि-जिनसंहिता के ७ वें परिच्छेद में क्रमशः नं० १६, १७ पर दर्ज हैं और वहीं से उठाकर रक्खे गये मालूम होते हैं। साथ में आगे पीछे के और भी कई पद्य लिये गये हैं। इनमें से पहला पद्य वहाँ ज्यों का त्यों और दूसरे में '**महानयम्**' की जगह '**महाग्नयः**' तथा '**प्रसिद्धया**' की जगह '**प्रसिद्धयः**' ऐसा पाठ भेद पाया जाता है और ये दोनों ही पाठ ठीक जान पड़ते हैं। अन्यथा, इनके स्थान पर जो पाठ यहाँ पाये जाते हैं उन्हें पद्य के शेष भाग के साथ प्रायः असम्बद्ध कहना होगा। मालूम होता है ये दोनों पद्य संहिता में थोड़े से परिवर्तन के साथ आदिपुराण से लिये गये हैं। आदिपुराण के ४०वें पर्व में ये नं० ८३, ८४ पर दिये हुए हैं, सिर्फ पहले पद्य का चौथा चरण वहाँ '**पूजाङ्गत्वं समासाद्य**' है और दूसरे पद्य का पूर्वार्ध है-'**कुण्डत्रये प्रणेतव्यास्त्रय एते महाग्नयः**'। इनका जो परिवर्तन संहिता में किया गया है वह कोई अर्थविशेष नहीं रखता-उसे व्यर्थ का परिवर्तन कहना चाहिये।

यहाँ पर इतना और भी बतला देना उचित मालूम होता है कि यह संहिता विक्रम की प्रायः १३ वीं शताब्दी की बनी हुई है और आदिपुराण विक्रम की ९ वीं १० वीं शताब्दी की रचना है।

(७) वसुनन्दि-प्रतिष्ठापाठ से भी बहुत से पद्य लिये गये हैं। छठे अध्याय के १९ पद्यों की जाँच में ११ पद्य ज्यों के त्यों और ८ पद्य कुछ बदले हुए पाये गये। इनमें से तीन पद्य नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं—

लक्षणैरपि संयुक्तं बिम्बं दृष्टिविवर्जितम्।
न शोभते यतस्तस्मात्कुर्याद् दृष्टिप्रकाशनम् ॥ ३३ ॥
अर्थनाशं विरोधं च तिर्यग्दृष्टेर्भयं तदा।
अधस्तात्पुत्रनाशं च भार्यामरणमूर्ध्वदृक् ॥ ३४ ॥

शोकमुद्वेगसन्तापं सदा कुर्याद्धनक्षयम् ।
शान्ता सौभाग्यपुत्रार्थशान्तिवृद्धिप्रदानदृक् ॥ ३५ ॥

ये तीनों पद्य वसुनन्दि-प्रतिष्ठापाठ (प्रतिष्ठासारसंग्रह) के चौथे परिच्छेद के पद्य हैं और उसमें क्रमशः नं० ७२, ७५, ७६, पर दर्ज हैं। इनमें पहला पद्य ज्यों का त्यों और शेष दोनों पद्य कुछ परिवर्तन के साथ उठा कर रक्खे गये हैं। दूसरे पद्य में '**दृष्टिर्भयं**' की जगह '**दृष्टेर्भयं**', '**तथा**' की जगह '**तदा**' और '**ऊर्ध्वगा**' की जगह '**ऊर्ध्वदृक**' बनाया गया है। और तीसरे पद्य में '**स्तब्धा**' की जगह '**सदा**' और '**प्रदा भवेत्**' की जगह '**प्रदानदृक्**' का परिवर्तन किया गया है। ये सब परिवर्तन निरर्थक जान पड़ते हैं, '**तथा**' की जगह '**तदा**' का परिवर्तन भद्दा है और '**स्तब्धा**' की जगह '**सदा**' के परिवर्तन ने तो अर्थ का अनर्थ ही कर दिया है। यही वजह है जो पन्नालालजी सोनी ने, अपने अनुवाद में, स्तब्धा दृष्टि के फल को भी ऊर्ध्व दृष्टि के फल के साथ जोड़ दिया है—अर्थात् शोक, उद्वेग, सन्ताप और धनक्षय को भी ऊर्ध्वदृष्टि का फल बतला दिया है * !

यहाँ इतना और भी जान लेना चाहिये कि पहले पद्यमें जिस दृष्टि-प्रकाशन की प्रेरणा की गई है, जिनबिम्ब की वह दृष्टि कैसी होनी चाहिये उसे बतलाने के लिये प्रतिष्ठापाठ में उसके अनन्तर ही निम्नलिखित दो पद्य और दिये हुए हैं—

नात्यन्तोन्मीलिता स्तब्धा न विस्फारितमीलिता ।
तिर्यगूर्ध्वमधोदृष्टिं वर्जयित्वा प्रयत्नतः ॥ ७३ ॥

---

* यथा—"(प्रतिमा की) दृष्टि यदि ऊपरको हो तो स्त्री का मरण होता है और वह शोक, उद्वेग, सन्ताप और धनका क्षय करती है।"

नासाग्रनिहिता शान्ता प्रसन्ना निर्विकारिका ।
वीतरागस्य मध्यस्था कर्तव्या चोत्तमा तथा ॥ ७२ ॥

मालूम नहीं इन दोनों पद्यों को सोमसेनजी ने क्यों छोड़ा और क्यों इन्हें दूसरे पद्यों के साथ उद्धृत नहीं किया, जिनका उद्धृत किया जाना ऐसी हालत में बहुत जरूरी था और जिनके अस्तित्व के बिना अगला कथन कुछ अधूरा तथा लँडूरा सा मालूम होता है। सच है अच्छी तरह से सोचे समझे बिना योंही पद्यों की उठाईधरी करने का ऐसा ही नतीजा होता है।

(८) ग्रन्थ के दसवें अध्याय में वसुनन्दिश्रावकाचार से छह और गोम्मटसार से आठ गाथाएँ प्रायः ज्यों की त्यों उठाकर रक्खी गई हैं, जिनमें से एक एक गाथा नमूने के तौर पर इस प्रकार है—

पुव्वुत्त णवविहाणं पि मेहुणं सव्वदा विवज्जंतो ।
इत्थिकहादिणिवत्ती सत्तमं बंभचारी सो ॥ १२७ ॥
चत्तारि वि खेत्ताइं आउगबंधेण होइ सम्मत्तं ।
अणुव्वयमहव्वयाइं ण हवइ देवाउगं मोत्तुं ॥ ४१ ॥

इनमें से पहली गाथा वसुनन्दिश्रावकाचार की २९७ नम्बर की और दूसरी गोम्मटसार की ६५२ नम्बर की गाथा है। ये गाथाएँ भी किसी पूर्वकथित अर्थ का समर्थन करने के लिये 'उक्तं च' रूप से नहीं दी गईं बल्कि वैसे ही अपनाकर ग्रंथ का अंग बनाई गई हैं। प्राकृत की और भी कितनी ही गाथाएँ इस ग्रन्थ में पाई जाती हैं; वे सब भी 'मूलाचार' आदि दूसरे ग्रन्थों से उठाकर रक्खी गई हैं।

(९) भूपाल कवि-प्रणीत 'जिनचतुर्विंशतिका' स्तोत्र के भी कई पद्य ग्रन्थ में संगृहीत हैं। पहले अध्याय में **'सुप्तोत्थितेन'** और **'श्रीलीलायतनं'** चौथे में **'किसलयितमनल्पं'** और **'देव**

त्वदंघ्रि' तथा छठे में 'स्वामिन्नच्च' और 'दृष्टं धामरसायनस्य' नाम के पद्य ज्यों के त्यों उद्धृत पाये जाते हैं। और ये सब पद्य उक्त स्तोत्र में क्रमशः नं० १९, १, १३, १६, ३ और २५ पर दर्ज हैं।

(१०) सोमदेवसूरि-प्रणीत 'यशस्तिलक' के भी कुछ पद्योंका संग्रह पाया जाता है, जिनमें से दो पद्य नमूने के तौरपर इस प्रकार हैं—

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्।
अष्टौ शंकादयो दोषाः सम्यक्त्वे पंचविंशतिः ॥१०-२९॥
श्रद्धा भक्तिस्तुष्टिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा सत्वम्।
यत्रैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥१०-११८॥

इनमें से पहला 'यशस्तिलक' के छठे आश्वास का और दूसरा आठवें आश्वास का पद्य है। पहले में 'शंकाद्यश्चेति दृग्दोषाः' की जगह 'शंकादयो दोषाः सम्यक्त्वे' का परिवर्तन किया गया है और दूसरे में 'शक्तिः' की जगह 'सत्वम्' बनाया गया है। ये दोनों ही परिवर्तन साहित्य की दृष्टि से कुछ भी महत्व नहीं रखते और न अर्थकी दृष्टि से कोई खास भेद उत्पन्न करते हैं और इसलिये इन्हें व्यर्थ के परिवर्तन समझना चाहिये।

(११) इसीतरह पर और भी कितने ही जैनग्रंथों के पद्य इस त्रिवर्णाचार में फुटकर रूप से इधर उधर संगृहीत पाये जाते हैं, उनमें से दो चार ग्रंथों के पद्योंका एक २ नमूना यहाँ और दिये देता हूँ—

त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति न तं विना यद्भवतोऽर्थकामौ ॥७-४॥

यह सोमप्रभाचार्यकी 'सूक्तमुक्तावली' का जिसे 'सिन्दूरप्रकर' भी कहते हैं, तीसरा पद्य है।

सूक्ष्माः स्थूलास्तथा जीवाः सन्त्युदुम्बरमध्यगाः।
तन्निमित्तं जिनोद्दिष्टं पंचोदुम्बरवर्जनम् ॥ १०-१०४ ॥

यह 'पूज्यपाद-उपासकाचार' का पद्य है और उसमें इसका संख्यानम्बर ११ है।

वधादसत्याच्चौर्याच्च कामाद् ग्रंथान्निवर्तनम्।
पंचकाणुव्रतं रात्रिभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम्॥ १०-८५॥

यह चामुण्डराय-विरचित 'चारित्रसार' ग्रंथ के अणुव्रत-प्रकरण का अन्तिम पद्य है।

अन्होमुखेऽवसाने च यो द्वे द्वे घटिके त्यजेत्।
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभोजनम्॥ १०-८६॥

यह हेमचन्द्राचार्य के 'योगशास्त्र' का पद्य है और उसके तीसरे प्रकाश में नं० ६३ पर पाया जाता है। इसमें 'त्यजन्' की जगह 'त्यजेत्' और 'पुण्यभाजनम्' की जगह यहाँ 'पुण्यभोजनम्' बनाया गया है। पद्यका यह परिवर्तन कुछ अच्छा मालूम नहीं होता। इससे 'सुबह शामको दो दो घड़ी छोड़कर दिनमें भोजन करनेवाला मनुष्य पुण्यका भाजन (पात्र) होता है' की जगह यह आशय हो गया कि 'जो सुबह शामको दो दो घड़ी छोड़ता है वह पुण्य भोजन * करता है, और यह आशय अथवा कथनका ढंग कुछ समीचीन प्रतीत नहीं होता।

आस्तामेतद्यदिह जननीं वल्लभां मन्यमाना
निन्द्यां चेष्टां विदधति जना निस्त्रपाः पीतमद्याः।
तद्याधिक्यं पथि निपतिता यत्किरत्सारमेयात्
वक्त्रे मूत्रं मधुरमधुरं भाषमाणाः पिबन्ति॥ ६-१६७॥

यह मद्यपान के दोषको दिखाने वाला पद्य पद्मनन्दि-आचार्य-विरचित 'पद्मनन्दिपंचविंशति' का २२ वाँ पद्य है।

---

* पं० पन्नालालजी सोनी ने भी, अपने अनुवाद में, यही लिखा है कि "वह पुरुष पुण्यभोजन करता है।"

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा कषायवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥ १०-७४ ॥

यह पद्य 'राजवार्तिक' के ७ वें अध्याय में 'उक्तं च' रूप से दिया हुआ है और इसलिये किसी प्राचीन ग्रंथ का पद्य जान पड़ता है। हाँ, राजवार्तिक में 'कषायवान्' की जगह 'प्रमादवान्' पाठ पाया जाता है, इतना ही दोनों में अन्तर है।

यह तो हुई जैनग्रंथों से संग्रह की बात, और इसमें उन जैन-विद्वानों के वाक्यसंग्रह का ही दिग्दर्शन नहीं हुआ जिनके ग्रंथों को देखकर उनके अनुसार कथन करने की—न कि उनके शब्दों को उठा कर ग्रंथ का अंग बनाने की—प्रतिज्ञाएँ अथवा सूचनाएँ की गई थीं बल्कि उन जैन विद्वानों के वाक्यसंग्रह का भी दिग्दर्शन होगया जिनके वाक्यानुसार कथन करने की बात तो दूर रही, ग्रंथ में उनका कहीं नामोल्लेख तक भी नहीं है। नं० ६ के बाद के सभी उल्लेख ऐसे ही विद्वानों के वाक्य-संग्रह को लिये हुए हैं।

यहाँ पर इतना और भी बतला देना उचित मालूम होता है कि इस संपूर्ण जैनसंग्रह में ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार जैसे दो एक समकक्ष ग्रंथों को छोड़कर शेष ग्रंथों से जो कुछ संग्रह किया गया है वह उस क्रियाकांड तथा विचारसमूह के साथ प्रायः कोई खास मेल अथवा सम्बंधविशेष नहीं रखता जिसके प्रचार अथवा प्रसार को लक्ष्य में रखकर ही इस त्रिवर्णाचार का अवतार हुआ है और जो बहुत कुछ दूषित, त्रुटिपूर्ण तथा आपत्ति के योग्य है। उसे बहुधा त्रिवर्णाचार के मूल अभिप्रेतों या प्रधानतः प्रति-पाद्य विषयों के प्रचारादि का साधनमात्र समझना चाहिये अथवा यों कहना चाहिये कि वह खोटे, जाली तथा अल्प मूल्य सिक्कों को चलाने के लिये उनमें खरे, गैर जाली तथा बहुमूल्य सिक्कों का संमिश्रण है और कहीं कहीं मुलम्मे का काम भी देता है, और इसलिये एक प्रकार का धोखा है।

इस धोखे से सावधान करने के लिये ही यह परीक्षा की जारही है और यथार्थ वस्तुस्थिति को पाठकों के सामने रखने का यत्न किया जाता है। अस्तु।

अब उस संग्रह की भी बानगी लीजिये जो अजैन विद्वानों के ग्रंथों से किया गया है और जिसके विषय की न कहीं कोई प्रतिज्ञा और न तत्सम्बंधी विद्वानों के नामादिक की कहीं कोई सूचना ही ग्रंथ में पाई जाती है। प्रत्युत इसके, जैनसाहित्य के साथ मिलाकर अथवा जैनाचार्यों के वाक्यानुसार बतलाकर, उसे भी जैनसाहित्य प्रकट किया गया है।

अजैन ग्रंथों से संग्रह।

(१२) अजैन विद्वानों के ग्रंथों से जो विशाल संग्रह भट्टारकजी ने इस ग्रंथ में किया है–उनके सैंकड़ों पद-वाक्यों को ज्यों का त्यों अथवा कुछ परिवर्तन के साथ उठाकर रक्खा है–उस सबका पूरा परिचय यदि यहाँ दिया जाय तो लेख बहुत बढ़ जाय, और मुझे उनमें से कितने ही पद–वाक्यों को आगे चलकर, विरुद्ध कथनों के अवसर पर, दिखलाना है—वहाँ पर उनका परिचय पाठकों को मिलेगा ही। अतः यहाँ पर नमूने के तौर पर, कुछ थोड़े से ही पद्यों का परिचय दिया जाता है:—

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वैध्रुवम् ॥ ८–४६ ॥

यह पद्य, जिसमें भार्या से भर्तार के और भर्तार से भार्या के नित्य सन्तुष्ट रहने पर कुल में सुनिश्चित रूप से कल्याण का विधान किया गया है, **'मनु'** का वचन है, और **'मनुस्मृति'** के तीसरे अध्याय में नं० ६० पर दर्ज है। वहीं से ज्यों का त्यों उठाकर रक्खा गया मालूम होता है।

मांत्रं भौमं तथाऽऽग्नेयं वायव्यं दिव्यमेव च।
वारुणं मानसं चैव सप्तस्नानान्यनुक्रमात् ॥ ३–५२ ॥

इस श्लोक में स्नान के सात भेद बतलाये गये हैं—मंत्र स्नान, भूमि (मृत्तिका) स्नान, अग्नि (भस्म) स्नान, वायुस्नान, दिव्यस्नान, जलस्नान तथा मानसस्नान—और यह '**योगि याज्ञवल्क्य**' का वचन है। विट्ठलात्मजनारायण कृत 'आन्हिकसूत्रावलि' में तथा श्रीवेङ्कटनाथ-रचित 'स्मृतिरत्नाकर' में भी इसे योगियाज्ञवल्क्य का वचन बतलाया है और 'शब्द कल्पद्रुम' कोश में भी 'स्नान' शब्द के नीचे यह उन्हीं के नाम से उद्धृत पाया जाता है।

> सिंहकर्कटयोर्मध्ये सर्वा नद्यो रजस्वलाः।
> तासां तटे न कुर्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाः॥ ७८॥
> उपाकर्मणि चोत्सर्गे प्रातः स्नाने तथैव च।
> चन्द्रसूर्यग्रहे चैव रजो दोषो न विद्यते॥ ७९॥
> धनुस्सहस्राण्यष्टौ तु गतिर्यासां न विद्यते।
> न ता नद्यः समाख्याता गर्तास्ताः परिकीर्तिताः॥ ८०॥
>
> —तृतीय अध्याय।

ये तीनों पद्य जरा २ से परिवर्तन के साथ '**कात्यायन स्मृति**' से लिये गये मालूम होते हैं और उक्त स्मृति के दसवें खण्ड में क्रमशः नं० ५, ७ तथा ६ पर दर्ज हैं। 'आन्हिक सूत्रावलि' में भी इन्हें '**कात्यायन**' ऋषि के वचन लिखा है। पहले पद्य में '**मासद्वयं श्रावणादि**' की जगह '**सिंहकर्कटयोर्मध्ये**' और '**तासुस्नानं**' की जगह '**तासांतटे**' बनाया गया है, दूसरे में '**प्रेतस्नाने**' की जगह '**प्रातःस्नाने**' का परिवर्तन किया गया है और तीसरे में '**नदीशब्दवहाः**' की जगह '**नद्यः समाख्याताः**' ऐसा पाठ भेद किया गया है। इन चारों परिवर्तनों में पहला और अन्त का दोनों परिवर्तन तो प्रायः कोई अर्थभेद नहीं रखते परन्तु शेष दूसरे और तीसरे परिवर्तन ने बड़ा भारी अर्थभेद उपस्थित कर दिया है। कात्यायन

स्मृतिकार ने, श्रावण भादों में सब नदियों को रजस्वला बतलाते हुए, यह प्रतिपादन किया था कि 'उनमें (समुद्रगामिनी नदियों को छोड़कर) स्नान न करना चाहिये।' भट्टारकजी ने इसकी जगह, अपने परिवर्तन द्वारा, यह विधान किया है कि 'उनके तट पर न करना चाहिये।' परंतु क्या न करना चाहिये, यह उक्त पद्य से कुछ जाहिर नहीं होता। हाँ, इससे पूर्व पद्य नं० ७७ में आपने तीर्थ तट पर **प्राणायाम, आचमन, संध्या, श्राद्ध** और **पिण्डदान** करने का विधान किया है और इसलिये उक्त पद्य के साथ संगति मिलाने से यह अर्थ हो जाता है कि ये प्राणायाम आदि की क्रियाएँ रजस्वला नदियों के तट पर नहीं करनी चाहिये—भले ही उनमें स्नान कर लिया जाय। परन्तु ऐसा विधान कुछ समीचीन अथवा सहेतुक मालूम नहीं होता और इसलिये इसे भट्टारकजी के परिवर्तन की ही खूबी समझना चाहिये। तीसरे परिवर्तन की हालत भी ऐसी ही है। स्मृतिकार ने जहाँ **'प्रेतस्नान'** के अवसर पर नदी का रजस्वला दोष न मानने की बात कही है वहाँ आपने **'प्रातः स्नान'** के लिये रजस्वला दोष न मानने का विधान कर दिया है! स्नान प्रधानतः प्रातःकाल ही किया जाता है, उसीकी आपने छुट्टी देदी है, और इसलिये यह कहना कि आपके इस परिवर्तन ने स्नान के विषय में नदियों के रजस्वला दोष को ही प्रायः उठा दिया है कुछ भी अनुचित न होगा।

कृत्वा यज्ञोपवीतं च पृष्ठतः कण्ठलम्बितम्।
विण्मूत्रेतु गृही कुर्याद्वामकर्णे व्रतान्वितः॥ २-२७॥

यह **'अंगिरा'** ऋषि का वचन है। 'आन्हिकसूत्रावलि' में भी इसे अंगिरा का वचन लिखा है। इसमें **'समाहितः'** की जगह **'व्रतान्वितः'** का परिवर्तन किया गया है और वह निरर्थक जान पड़ता है। यहाँ **'व्रतान्वितः'** पद यद्यपि **'गृही'** पद का विशेषण

है और इस श्लोक में गृहस्थ के लिये मलमूत्र के त्याग समय यज्ञोपवीत को बाएँ कान पर रखकर पीठ की तरफ लम्बायमान करने का विधान किया गया है परन्तु पं० पन्नालालजी सोनी ने ऐसा नहीं समझा और इसलिये उन्होंने इस पद्य के विषय को विभिन्न व्यक्तियों (व्रती–अव्रती) में बाँटकर इसका निम्न प्रकार से अनुवाद किया है—

"गृहस्थजन अपने यज्ञोपवीत (जनेऊ) को गर्दन के सहारे से पीठ पीछे लटकाकर टट्टी पेशाब करे और व्रती श्रावक बाएँ कान में लगाकर टट्टी पेशाब करे।"

इससे मालूम होता है कि सोनीजी ने यज्ञोपवीत दीक्षा से दीक्षित व्यक्ति को 'अव्रती' भी समझा है। परन्तु भगवज्जिनसेनाचार्य ने तो **'व्रतचिह्नं दधत्सूत्रं'** आदि वाक्यों के द्वारा यज्ञोपवीत को व्रतचिह्न बतलाया है तब सर्वथा 'अव्रती' के विषय में जनेऊ की कल्पना कैसी? परन्तु इसे भी छोड़िये, सोनीजी इतना भी नहीं समझ सके कि जब इस पद्य के द्वारा यह विधान किया जारहा है कि व्रती श्रावक तो जनेऊ को बाएँ कान पर रखकर और अव्रती उसे योंही पीठ पीछे लटका कर टट्टी पेशाब करे तो फिर अगले पद्य में यह विधान किसके लिये किया गया है कि जनेऊ को पेशाब के समय तो दाहिने कान पर और टट्टी के समय बाएँ कान पर टाँगना चाहिये। यही वजह है जो आप इन दोनों पद्यों के पारस्परिक विरोध का कोई स्पष्टीकरण भी अपने अनुवाद में नहीं करसके। अस्तु; वह अगला पद्य इस प्रकार है—

सूत्रं तु दक्षिणे कर्णे पुरीषे वामकर्णके।
धारयेद्ब्रह्मसूत्रं तु मैथुने मस्तके तथा॥ २८॥

इस पद्य का पूर्वार्ध, जो पहले पद्य के साथ कुछ विरोध उत्पन्न करता है, वास्तव में एक दूसरे विद्वान का वचन है। आन्हिक सूत्रावलि

में इसे ' **आन्हिक कारिका** ' का वचन लिखा है और इसका उत्तरार्ध ' **उपवीतं सदा धार्यं मैथुने तूपवीतिवत्** ' दिया है। भट्टारकजी ने उस उत्तरार्ध को ' **धारयेद्ब्रह्मसूत्रं तु मैथुने मस्तके तथा** ' के रूप में बदल दिया है। परन्तु इस संग्रह और परिवर्तन के अवसर पर उन्हें इस बात का ध्यान नहीं रहा कि जब हम दो विद्वानों के परस्पर मतभेद को लिये हुए वचनों को अपना रहे हैं तो हमें अपने ग्रन्थविरोध को दूर करने के लिये कोई ऐसा शब्द प्रयोग साथ में जरूर करना चाहिये जिससे ये दोनों विधिविधान विकल्प रूप से समझे जायँ। और यह सहज ही में ' **तथा** ' की जगह ' **ऽथवा** ' शब्द रखदेने से भी हो सकता था। भट्टारकजी ने ऐसा नही किया, और इससे उनकी संग्रह तथा परिवर्तन सम्बंधी योग्यताका और भी अच्छा परिचय मिल जाता है।

> अर्धबिल्वफलमात्रा प्रथमा मृत्तिका मता।
> द्वितीया तु तृतीया तु तदर्धार्धा प्रकीर्तिता॥ २-४०॥
> शौचे यत्नः सदा कार्यः शौचमूलो गृही स्मृतः।
> शौचाचारविहीनस्य समस्ता निष्फलाः क्रियाः॥ २-४४॥
> अत्यन्तमलिनः कायो नवच्छिद्रसमन्वितः।
> स्रवत्येव दिवारात्रौ प्रातः स्नानं विशोधनम्॥ २-६८॥

ये ' **दक्षस्मृति** ' के वाक्य हैं। तीसरा पद्य दक्षस्मृति के दूसरे अध्याय से ज्यों का त्यों उठा कर रक्खा गया है—शब्दकल्पद्रुम कोश में भी उसे ' **दक्ष** ' ऋषि का बचन लिखा है। दूसरा पद्य उक्त स्मृति के पाँचवें अध्याय का पद्य है और उसमें नं० २ पर दर्ज है—स्मृतिरत्नाकर में भी वह ' दक्ष ' के नाम से उद्धृत पाया जाता है—उसमें सिर्फ ' **द्विजः** ' की जगह ' **गृही** ' का परिवर्तन किया गया है। पहला पद्य भी पाँचवें अध्यायका ही पद्य है और उसमें

नं० ७ पर दर्ज है। इस पद्य में "**प्रकृतिमात्रा तु**" की जगह '**बिल्वफलमात्रा**', '**च**' की जगह '**तु**' और '**तदर्धा परिकीर्तिता**' की जगह '**तदर्धार्धा प्रकीर्तिता**' ये परिवर्तन किये गये हैं, जो साधारण हैं और कोई खास महत्व नहीं रखते। यह पद्य अपने दक्षस्मृति वाले रूप में ही आचारादर्श और शुद्धि-विवेक नामके ग्रन्थों में 'दक्ष' के नाम से उल्लेखित मिलता है।

अन्तर्गृहे देवगृहे वल्मीके मूषकस्थले।
कृतशौचावशेषे च न ग्राह्याः पंचमृत्तिकाः॥ २-४५॥

यह श्लोक जिसमें शौच के लिये पाँच जगह की मिट्टी को त्याज्य ठहराया है * '**शातातप**' ऋषि के निम्न श्लोक को बदल कर बनाया गया मालूम होता है—

अन्तर्जलाद्देवगृहाद्वल्मीकान्मूषकगृहात्।
कृतशौचस्थलाच्चैव न ग्राह्याः पंचमृत्तिकाः॥

यह श्लोक 'आन्हिक सूत्रावलि' में भी '**शातातप**' के नाम से उद्धृत पाया जाता है।

अलाभे दन्तकाष्ठानां निषिद्धायां तिथावपि।
अपां द्वादशगण्डूषैर्मुखशुद्धिः प्रजायते॥ २-७३॥

यह '**व्यास**' ऋषिका वचन है। स्मृतिरत्नाकर और निर्णय-सिन्धु में भी इसे 'व्यास' का वचन लिखा है। हाँ, इसके पूर्वार्ध में '**प्रतिषिद्धदिनेष्वपि**' की जगह '**निषिद्धायां तिथावपि**' और उत्तरार्ध में '**भविष्यति**' की जगह '**प्रजायते**' ऐसा पाठ भेद यहाँ पर जरूर पाया जाता है जो बहुत कुछ साधारण है और कोई खास अर्थभेद नहीं रखता।

ग्रंथ के दूसरे अध्याय में मल-मूत्र के लिये निषिद्ध स्थानों का वर्णन करते हुए, एक श्लोक निम्न प्रकार से दिया हुआ है—

हलकृष्टे जले चित्यां वल्मीके गिरिमस्तके ।
देवालये नदीतीरे दर्भपुष्पेषु शाद्वले ॥ २२ ॥

यह '**बौधायन**' नाम के एक प्राचीन हिन्दू लेखक का वचन है। स्मृतिरत्नाकर में भी यह 'बौधायन' के नाम से ही उद्धृत मिलता है। इसमें '**फालकृष्टे**' की जगह यहाँ '**हलकृष्टे**' और '**दर्भपृष्ठे तु**' की जगह '**दर्भपुष्पेषु**' बनाया गया है, और ये दोनों ही परिवर्तन कोई ख़ास महत्व नहीं रखते—बल्कि निरर्थक जान पड़ते हैं।

प्रभाते मैथुने चैव प्रस्रावे दन्तधावने ।
स्नाने च भोजने वान्त्यां सप्तमौनं विधीयते ॥ २-३१ ॥

यह पद्य, जिसमें सात अवसरों पर मौन धारण करने की व्यवस्था की गई है—यह विधान किया गया है कि १ प्रातःकाल, २ मैथुन, ३ मूत्र, ४ दन्तधावन, ५ स्नान, ६ भोजन, और ७ वमन के अवसर पर मौन धारण करना चाहिये—'**हारीत**' ऋषि के उस वचन पर से कुछ परिवर्तन करके बनाया गया है, जिसका पूर्वार्ध '**प्रभाते**' की जगह '**उच्चारे**' पाठभेद के साथ बिलकुल वही है जो इस पद्य का है और उत्तरार्ध है '**श्राद्धे (स्नाने†) भोजनकाले च षट्सु मौनं समाचरेत् ।**' और जो 'आन्हिक सूत्रावलि' में भी 'हारीत' के नाम से उद्धृत पाया जाता है। इस पद्य में '**उच्चारे**' की जगह '**प्रभाते**'

---

* इस श्लोक के बाद '**मलमूत्रसमीपे**' नाम का एक पद्य और भी पंचमृत्तिका के निषेध का है और उसका अन्तिम चरण भी '**न ग्राह्याः पंचमृत्तिकाः**' है। वह किसी दूसरे विद्वान की रचना जान पड़ता है।

† '**श्राद्धे**' की जगह '**स्नाने**' ऐसा पाठ-भेद भी पाया जाता है। देखो 'शब्द कल्पद्रुम'।

का जो खास परिवर्तन किया गया है वह बड़ा ही विचित्र तथा विलक्षण जान पड़ता है और उससे मलत्याग के अवसर पर मौन का विधान न रहकर प्रातःकाल के समय मौन का विधान हो जाता है, जिसकी संगति कहीं से भी ठीक नहीं बैठती। मालूम होता है सोनीजी को भी इस पद्यकी विलक्षणता कुछ खटकी है और इसीलिये उन्होंने, पद्यकी असलियत को न पहचानते हुए, यों ही अपने मनगढ़न्त **'प्रभाते'** का अर्थ **"सामायिक करते समय"** और **'प्रस्रावे'** का अर्थ **"टट्टी पेशाब करते समय"** दे दिया है, और इस तरह से अनुवाद की भर्ती द्वारा भट्टारकजी के पद्य की त्रुटि को दूर करने का कुछ प्रयत्न किया है। परन्तु आपके ये दोनों ही अर्थ ठीक नहीं हैं—**'प्रभात'** का अर्थ **'प्रातःकाल'** है न कि **'सामायिक'** और **'प्रस्राव'** का अर्थ **'मूत्र'*** है न कि **'मल-मूत्र'** (टट्टी पेशाब) दोनों। और इसलिये अनुवाद की इस लीपापोती द्वारा मूल की त्रुटि दूर नहीं हो सकती और न विद्वानों की नजरों से वह छिप ही सकती है। हाँ, इतना ज़रूर स्पष्ट हो जाता है कि अनुवादकजी में सत्य अर्थ को प्रकाशित करने की कितनी निष्ठा, तत्परता और क्षमता है।

खदिरश्च करंजश्च कदम्बश्च वटस्तथा।
तिंत्तिणी वेणुवृत्तश्च निम्ब आम्रस्तथैव च ॥ २–६३ ॥
अपामार्गश्च विल्वश्च ह्यर्क आमलकस्तथा।
एते प्रशस्ताः कथिता दन्तधावनकर्मणि ॥ २–६४ ॥

ये दोनों पद्य, जिनमें दाँतन के लिये उत्तम काष्ठ का विधान किया गया है **'नरसिंहपुराण'** के वचन हैं। आचारादर्श नामक ग्रंथ में भी इन्हें 'नरसिंहपुराण' के ही वाक्य लिखा है। इनमें से पहले पद्य में **'आम्रनिम्बौ'** की जगह **'निम्ब आम्रः'** का तथा **'वेणुपृष्ठश्च'** की जगह **'वेणुवृत्तश्च'** का पाठभेद पाया जाता है, और दूसरे पद्य

में **'अर्कश्चोदुम्बरः'** की जगह **'ह्यर्क आमलकः'** ऐसा परिवर्तन किया गया जान पड़ता है। दोनों पाठभेद साधारण हैं, और परिवर्तित पद के द्वारा उदुम्बर काष्ठ की जगह आँवले की दाँतन का विधान किया गया है।

> कुशाः काशा यवा दूर्वा उशीराश्च कुकुन्दराः।
> गोधूमा व्रीहयो मुंजा दश दर्भाः प्रकीर्तिताः ॥ ३-८१ ॥

यह **'गोभिल'** ऋषि का वचन है। स्मृतिरत्नाकर में भी इसे 'गोभिल' का वचन लिखा है। इसमें **'गोधूमाश्चाथ कुन्दराः'** की जगह **'उशीराश्च कुकुंदराः'** और **'उशीराः'** की जगह **'गोधूमाः'** का परिवर्तन किया गया है, जो व्यर्थ जान पड़ता है; क्योंकि इस परिवर्तन से कोई अर्थभेद उत्पन्न नहीं होता—सिर्फ दो पदों का स्थान बदल जाता है।

> एकपंक्त्युपविष्टानां धर्मिणां सहभोजने।
> यद्येकोऽपि त्यजेत्पात्रं शेषैरन्नं न भुज्यते ॥ ६-२२० ॥

यह पद्य, जिसमें सहभोजन के अवसर पर एक पंक्ति में बैठे हुए किसी एक व्यक्ति के भी पात्र छोड़ देने पर शेष व्यक्तियों के लिये भोजन-त्याग का विधान किया गया है, उस से परिवर्तन के साथ **'पराशर'** ऋषि का वचन है और वह परिवर्तन **'विप्राणां'** की जगह **'धर्मिणां'** और **'शेषमन्नं न भोजयेत्'** की जगह **'शेषैरन्नं न भुज्यते'** का किया गया है, जो बहुत कुछ साधारण है।

---

* यथाः—१ 'मूत्रं प्रस्रावः'—इति अमरकोशः।
२ 'प्रस्रावः मूत्रं'—इति शब्दकल्पद्रुमः।
३ 'उच्चारप्रस्रवणेत्यादि' उच्चारः पुरीषः प्रस्रवणं मूत्रं।
—इति क्रियाकलापटीकायां प्रभाचन्द्रः।

आन्हिकसूत्रावलि और स्मृतिरत्नाकर नामके ग्रंथों में भी यह पद्य 'पराशर' ऋषि के नाम से ही उद्धृत पाया जाता है।

स्वगृहे प्राक्शिरः कुर्याच्छ्वाशुरे दक्षिणामुखः ।
प्रत्यङ्मुखः प्रवासे च न कदाचिदुदङ्मुखः ॥ ८-२४ ॥

यह पद्य, जिसमें इस बात का विधान किया गया है कि अपने घर पर तो पूर्व की तरफ सिर करके, सासके घर पर दक्षिण की ओर मुँह करके और प्रवास में पश्चिम की ओर मुँह करके सोना चाहिये तथा उत्तर की तरफ मुँह करके कभी भी न सोना चाहिये—थोड़े से परिवर्तनों के साथ—'**गर्ग**' ऋषि का वचन है। आन्हिकसूत्रावलि में इसे गर्ग ऋषि के नाम से जिस तरह पर उद्धृत किया है उससे मालूम होता है कि यहाँ पर इसमें '**शेते श्वाशुर्ये**' की जगह '**कुर्याच्छ्वाशुरे**' का, '**प्राक्शिराः**' की जगह '**प्राक्शिरः**' का, '**तु**' की जगह '**च**' का और पिछले तीनों चरणों में प्रयुक्त हुए प्रत्येक '**शिराः**' पद की जगह '**मुखः**' पद का परिवर्तन किया गया है। और यह सब परिवर्तन कुछ भी महत्व नहीं रखता—'**शेते**' की जगह '**कुर्यात्**' की परिवर्तन भद्दा है और '**शिराः**' पदों की जगह '**मुखः**' पदों के परिवर्तन ने तो अर्थ का अनर्थ ही कर दिया है। किसी दिशा की ओर सिर करके सोना और बात है और उसकी तरफ़ मुँह करके सोना दूसरी बात है—एक दूसरे के विपरीत है। मालूम होता है भट्टारकजी को इसकी कुछ खबर नहीं पड़ी परन्तु सोनीजी ने खबर जरूर लेली है। उन्होंने अपने अनुवाद में मुख की जगह सिर बनाकर उनकी त्रुटि को दूर किया है और इस तरह पर सर्वसाधारण को अपनी सत्यार्थ-प्रकाशकता का परिचय दिया है।

रात्रावेव समुत्पन्ने मृते रजसि सूतके ।
पूर्वमेव दिनं ग्राह्यं यावन्नोदेति वै रविः ॥ १३-६ ॥

यह पद्य, '**नोदेति वै**' की जगह '**नोदयते**' पाठ भेद के साथ, '**कश्यप**' ऋषि का वचन है। याज्ञवल्क्यस्मृति की 'मिताक्षरा' टीका में भी, '**यथाह कश्यपः**' वाक्य के साथ, इसे 'कश्यप' ऋषि का वचन सूचित किया है।

पूर्वमायुः परीक्षेत पश्चाल्लक्षणमेव च।
आयुर्हीनजनानां च लक्षणैः किं प्रयोजनम्॥ ११-८॥

यह '**सामुद्रक**' शास्त्र का वचन है। शब्दकल्पद्रुम कोश में इसे किसी ऐसे सामुद्रक शास्त्र से उद्धृत किया है जिसमें श्रीकृष्ण तथा महेश का संवाद है और उसमें इसका तीसरा चरण '**आयुर्हीनं नराणां चेत्**' इस रूप में दिया हुआ है।

महानद्यन्तरं यत्र गिरिर्वा व्यवधायकः।
वाचो यत्र विभिद्यन्ते तद्देशान्तरमुच्यते॥ १३-६६॥

यह देशान्तर' का लक्षण प्रतिपादन करने वाला पद्य '**वृद्धमनु**' का वचन है, ऐसा शुद्धिविवेक नामक ग्रंथ से मालूम होता है, जिसमें '**वृद्धमनुरप्याह**' इस वाक्य के साथ यह उद्धृत किया गया है। यहाँ पर इसके चरणों में कुछ क्रम-भेद किया गया है—पहले चरण को तीसरे नम्बर पर और तीसरे को पहले नम्बर पर रक्खा गया है—बाक़ी पाठ सब ज्यों का त्यों है।

पितरौ चेन्मृतौ स्यातां दूरस्थोऽपि हि पुत्रकः।
श्रुत्वा तद्दिनमारभ्य पुत्राणां दशरात्रकम्॥१३-७१॥

यह पद्य, जिसमें माता पिता की मृत्यु के समाचार सुनने पर दूर देशान्तर में रहने वाले पुत्र को समाचार सुनने के दिन से दस दिन का सूतक बतलाया गया है, '**पैठीनसि**' ऋषि का वचन है। याज्ञवल्क्यस्मृति की 'मिताक्षरा' टीका में भी, जो एक प्राचीन ग्रंथ है और अदालतों में मान्य किया जाता है, '**इति पैठीनसिस्मरणात्**'

वाक्य के द्वारा इसे 'पैठीनासि' ऋषि का वचन सूचित किया है। यहाँ इसका चौथा चरण बदला हुआ है—'**दशाहं सूतकी भवेत्**' की जगह '**पुत्राणां दशरात्रकम्**' बनाया गया है। और यह तबदीली बिलकुल भद्दी जान पड़ती है—'**पुत्रकः**' आदि पदों के साथ इन परिवर्तित पदों का अर्थसम्बंध भी कुछ ठीक नहीं बैठता, खासकर '**पुत्राणां**' पद का प्रयोग तो यहाँ बहुत ही खटकता है—सोनीजी ने उसका अर्थ भी नहीं किया—और वह भट्टारकजी की योग्यता को और भी अधिकता के साथ व्यक्त कर रहा है।

ज्वराभिभूता या नारी रजसा चेत्परिप्लुता।
कथं तस्या भवेच्छौचं शुद्धिः स्यात्केन कर्मणा॥ ८६॥
चतुर्थेऽहनि संप्राप्ते स्पृशेदन्या तु तां स्त्रियम्।
स्नात्वा चैव पुनस्तां वै स्पृशेत् स्नात्वा पुनः पुनः॥ ८७॥
दशद्वादशकृत्वो वा ह्याचमेच्च पुनः पुनः।
अन्त्ये च वाससां त्यागं स्नात्वा शुद्धा भवेत्तु सा॥ ८८॥
—१३ वाँ अध्याय।

इन पद्यों में ज्वर से पीड़ित रजस्वला स्त्री की शुद्धि का प्रकार बतलाया गया है और वह यों है कि 'चौथे दिन कोई दूसरी स्त्री स्नान करके उस रजस्वला को छूवे, दोबारा स्नान करके फिर छूवे और इस तरह पर दस या बारह बार स्नान करके प्रत्येक स्नान के बाद उसे छूवे; साथ ही बारबार आचमन भी करती रहे। अन्त में सब कपड़ों का (जिन्हें रजस्वला ओढे पहने अथवा बिछाए हुए हो) त्याग कर दिया जाय तो वह रजस्वला शुद्ध होजाती है'। ये तीनों पद्य ज़रासे परिवर्तन के साथ '**उशना**' नामक हिन्दू ऋषि के वचन हैं, जिनकी 'स्मृति' भी '**औशनसधर्मशास्त्र**' के नाम से प्रसिद्ध है। याज्ञवल्क्य-स्मृति की मिताक्षरा टीका, शुद्धिविवेक और स्मृतिरत्नाकर आदि ग्रन्थों

में भी इन्हें 'उशना' के वचन लिखा है। मिताक्षरा आदि ग्रंथों में इन पद्यों का जो रूप दिया है उससे मालूम होता है कि पहले पद्य में सिर्फ 'च' की जगह 'चेत्' बनाया गया है, दूसरे का उत्तरार्ध '**सा सचेलावगाह्यापः स्नात्वा स्नात्वा पुनः स्पृशेत्**' नामक उत्तरार्ध की जगह कायम किया गया है और तीसरे में '**त्यागस्नात:**' की जगह '**त्याग स्नाता**' का परिवर्तन हुआ है। इन तीनों परिवर्तनों में से पहला परिवर्तन निरर्थक है और उसके द्वारा पद्य का प्रतिपाद्य विषय कुछ कम हो जाता है—जो स्त्री ज्वर से पीड़ित हो वह यदि रजस्वला होजाय तो उसी की शुद्धि का विधान रहता है* किन्तु जो पहले से रजस्वला हो और पीछे जिसे ज्वर आजाय उसकी शुद्धि की कोई व्यवस्था नहीं रहती। 'च' शब्द का प्रयोग इस दोष को दूर कर देता है और वह दोनों में से किसी भी अवस्था की रजस्वला के लिये एक ही शुद्धि का विधान बतलाता है। अतः 'च' की जगह '**चेत्**' का परिवर्तन यहाँ ठीक नहीं हुआ। दूसरा परिवर्तन एक विशेष परिवर्तन है और उसके द्वारा सचेल अवगाहन की बात को छोड़कर उस दूसरी स्त्री के सादा स्नान की बात को ही अपनाया गया है। रहा तीसरा परिवर्तन, वह बड़ा ही विलक्षण जान पड़ता है, उसके '**स्नाता**' पद का सम्बन्ध अंतिम '**सा**' पद के साथ ठीक नहीं बैठता और '**त्यागं**' पद तो उसका और भी ज्यादा खटकता है। हो सकता है, कि यह परिवर्तन कुछ अज्ञानवान लेखकों की ही कर्तूत हो; उनके द्वारा '**त्यागस्नात:**' या '**त्यागं स्नाता**' लिखा जाना कुछ भी मुश्किल नहीं है, क्योंकि दोनों में अक्षरों की बहुत कुछ समानता है, परंतु सोनीजी ने

---

* शायद इसीलिये पं० पन्नालालजी सोनी इस पद्य के अनुवाद में लिखते हैं—"कोई ज्वर से पीड़ित स्त्री (यदि) रजस्वला होजाय तो उसकी शुद्धि कैसे हो? कैसी क्रिया करने से वह शुद्ध हो सकती है?"

'**त्यागं स्नाता**' पाठको ही शुद्ध समझा है—शुद्धिपत्र में भी उसका संशोधन नहीं दिया—और अनुवाद में '**स्नाता**' पद का सम्बंध उस दूसरी स्त्री के साथ जोड़ दिया है जो स्नान करके रजस्वला को छूवे। यह सब देखकर बड़ा ही खेद होता है! आप लिखते हैं—"अन्त में यह स्पर्श करने वाली स्त्री अपने कपड़े भी उतार दे और उस रजस्वला के कपड़े भी उतार दे और स्नान करले।" समझ में नहीं आता, जब उस दूसरी स्त्री को अन्त में भी अपने कपड़े उतारने तथा स्नान करने की जरूरत बाकी रह जाती है और इस तरह पर वह उस अंतिम स्नान से पहले अशुद्ध होती है तो उस अशुद्धा के द्वारा रजस्वला की शुद्धि कैसे हो सकती है! सोनीजी ने इसका कुछ भी विचार नहीं किया और वैसे ही खींचतान कर '**स्नाता**' पद का सम्बंध उस दूसरी स्त्री के साथ जोड़ दिया है जिसके साथ पद्य में उसका कोई सम्बंध ठीक नहीं बैठता। और इसलिये यह परिवर्तन यदि भट्टारकजी का ही किया हुआ है तो इससे उनकी योग्यता की और भी अच्छी कलई खुल जाती है।

यहाँ तक के इस सम्पूर्ण प्रदर्शन से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रंथ, जैसा कि लेखारम्भ में ज़ाहिर किया गया था, वास्तव में एक बहुत बड़ा **संग्रह ग्रंथ** है और इसमें जैन अजैन दोनों ही प्रकार के विद्वानों के वाक्यों का भारी संग्रह किया गया है—ग्रंथ की २७०० श्लोक संख्या में से शायद सौ डेढसौ श्लोक ही मुशकिल से ऐसे निकलें जिन्हें ग्रंथकार की स्वतन्त्र रचना कहा जा सके, बाक़ी सब श्लोक ऐसे ही हैं जो दूसरे जैन-अजैन ग्रंथों से ज्यों के त्यों अथवा कुछ परिवर्तन के साथ उठा कर रक्खे गये हैं—अधिकांश पद्य तो इसमें अजैन ग्रंथों तथा उन जैन ग्रंथों पर से ही उठा कर रक्खे गये हैं जो प्रायः अजैन ग्रंथों के आधार पर या उनकी छाया को लेकर बने हुए हैं। साथ ही, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ग्रंथकार ने अपने प्रतिज्ञा-वाक्यों तथा

सूचनाओं के द्वारा जो यह विश्वास दिलाया था कि ' उसने इस ग्रंथ में जो कुछ लिखा है वह उक्त जिनसेनादि छहों विद्वानों के ग्रंथानुसार लिखा है और जहाँ कहीं दूसरे विद्वानों के ग्रंथानुसार कुछ कथन किया है वहाँ पर उन विद्वानों का अथवा उनके ग्रंथों का नाम दे दिया है ' यह एक प्रकार का **धोखा** है । ग्रंथकार महाशय (भट्टारकजी) अपनी प्रतिज्ञाओं तथा सूचनाओं का पूरी तौर से निर्वाह नहीं कर सके और न वैसा करना उन्हें इष्ट था, ऐसा जान पड़ता है—उन्होंने दो चार अपवादों को छोड़ कर कहीं भी दूसरे विद्वानों का या उनके ग्रंथों का नाम नहीं दिया और न ग्रंथ का सारा कथन ही उन जैन विद्वानों के वाक्यानुसार किया है जिनके ग्रंथों को देख कर कथन करने की प्रतिज्ञाएँ की गई थीं; बल्कि बहुतसा कथन अजैन ग्रंथों के आधार पर, उनके वाक्यों तक को उद्धृत करके, किया है जिनके अनुसार कथन करने की कोई प्रतिज्ञा नहीं की गई थी। और इसलिये यह कहना कि ' **भट्टारकजी ने जान बूझ कर अपनी प्रतिज्ञाओं का विरोध किया है और उसके द्वारा पबलिक को धोखा दिया है** ' कुछ भी अनुचित न होगा । इस प्रकार के विरोध तथा धोखे का कुछ और भी स्पष्टीकरण ' प्रतिज्ञादि-विरोध ' नाम के एक अलग शीर्षक के नीचे किया जावेगा ।

यहाँ पर मैं सिर्फ इतना और बतला देना चाहता हूँ कि भट्टारकजी ने दूसरे विद्वानों के ग्रंथों से जो यह बिना नाम धाम का भारी संग्रह करके उसे अपने ग्रंथों में निबद्ध किया है—' उक्तं च '* आदि रूप से भी नहीं रक्खा—और इस तरह पर दूसरे विद्वानों की कृतियों को अपनी कृति अथवा रचना प्रकट करने का साहस किया है वह

---

* ग्रंथ में दस पाँच पद्यों को जो ' उक्तं च ' आदि रूप से दे रक्खा है उनका यहाँ पर ग्रहण नहीं है ।

एक बड़ा ही निन्द्य तथा नीच कर्म है। ऐसा जघन्य आचरण करने वालों को **श्रीसोमदेवसूरि** ने '**काव्यचोर**' और '**पातकी**' लिखा है। यथाः—

कृत्वा कृतीः पूर्वकृताः पुरस्तात्प्रत्यादरं ताः पुनरीक्षमाणः।
तथैव जल्पेदथ योऽन्यथा वा स काव्यचोरोऽस्तु स पातकी च॥

—यशस्तिलक।

श्री **अजितसेनाचार्य** ने तो दूसरे काव्यों के सुन्दर शब्दार्थों की छाया तक हरने वाले कवि को '**चोर**' (**पश्यतोहर**) बतलाया है। यथाः—

अन्यकाव्यसुशब्दार्थछायां नो रचयेत्कविः।
स्वकाव्ये सोऽन्यथा लोके पश्यतोहरतामटेत् ॥६५॥

—अलङ्कारचिन्तामणि।

ऐसी हालत में भट्टारक सोमसेनजी इस कलंक से किसी तरह भी मुक्त नहीं हो सकते। वे अपने ग्रंथ की इस स्थिति में, उक्त आचार्यों के निर्देशानुसार, अवश्य ही '**काव्यचोर**' और '**पातकी**' कहलाये जाने के योग्य हैं और उनकी गणना तस्कर लेखकों में की जानी चाहिये। उन्हें इस कलंक से बचने के लिये कमसे कम उन पद-वाक्यों के साथ में जो ज्यों के त्यों उठाकर रक्खे गये हैं उन विद्वानों अथवा उनके ग्रन्थों का नाम जरूर देदेना चाहिये था जिनके वे वचन थे; जैसा कि 'आचारादर्श' और 'मिताक्षरा' आदि ग्रन्थों के कर्ताओं ने किया है। ऐसा करने से ग्रंथ का महत्व कम नहीं होता किन्तु उसकी उपयोगिता और प्रामाणिकता बढ़ जाती है। परन्तु भट्टारकजी ने ऐसा नहीं किया और उसके दो खास कारण जान पड़ते हैं—एक तो यह कि, वे हिन्दू धर्म की बहुतसी बातों को प्राचीन जैनाचार्यों अथवा जैनविद्वानों के नाम से जैनसमाज में प्रचारित करना चाहते

थे और यह बात अजैन विद्वानों के वाक्यों के साथ उनका अथवा उनके ग्रन्थों का नाम देदेने से नहीं बन सकती थी, जैनी जन उसे मान्य न करते। दूसरे यह कि, वे मुफ्त में अल्प परिश्रम से ही काव्य-कीर्ति भी कमाना चाहते थे—दूसरे कवियों की कृतियों को अपनी कृति प्रकट करके, सहज ही में एक अच्छे कवि का पद तथा सम्मान प्राप्त करने की उनकी इच्छा थी—और वह इच्छा पूरी नहीं हो सकती थी यदि सभी उद्धृत पद-वाक्यों के साथ में दूसरे विद्वानों के नाम देदिये जाते। तब तो आपकी निजकी कृति प्रायः कुछ भी न रहती अथवा यों कहिये कि महत्वशून्य और तेजोहीनसी दिखलाई पड़ती। अतः मुख्यतया इन दोनों चित्तवृत्तियों से अभिभूत होकर ही आप ऐसा हीनाचरण करने में प्रवृत्त हुए हैं, जो एक सत्कवि के लिये कभी शोभा नहीं देता, बल्कि उलटा लज्जा तथा शर्म का स्थानक होता है। शायद इस लज्जा तथा शर्म को उतारने या उसका कुछ परिमार्जन करने के लिये ही भट्टारकजी ने ग्रन्थ के अन्त में, उसकी समाप्ति के बाद, एक पद्य निम्न प्रकार से दिया है—

> श्लोका येऽत्र पुरातना विलिखिता अस्माभिरन्वर्थत—
> स्तेऽदीपा इव सन्तु काव्यरचनामुद्दीपयन्ते परम्।
> नानाशास्त्रमतान्तरं यदि नवं प्रायोऽकारिष्यं त्विदम्
> ज्ञात्वा माऽत्र मदन्तदेति सुधियः कीर्त्यर्थयोगावशः॥

इस पद्य में जहाँ यह सूचना मिलती है कि ग्रंथ में कुछ पुरातन पद्य भी लिये गये हैं वहाँ ग्रंथकार का उन पुरातन पद्यों के उद्धार से अपनी काव्यरचना को उद्योतित करने अथवा काव्यकीर्ति कमाने का वह भाव भी बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। भट्टारकजी पद्य के पूर्वार्ध में लिखते हैं—'इनने इस ग्रन्थ में, प्रस्तावानुसार, जिन पुरातन श्लोकों को लिया है वे दीपक की तरह

सत्पुरुषों के सामने हमारी काव्यरचना को उद्दीपित (प्रकाशित) करते हैं'। परन्तु उन्होंने, अपने ग्रंथ में, जब स्वकीय और परकीय पद्यों का प्रायः कोई भेद नहीं रक्खा तब ग्रंथ के कौन से पद्यों को '**दीपक**' और कौनसों को उनके द्वारा '**उद्दीपित**' समझा जाय, यह कुछ समझ में नहीं आता। साधारण पाठक तो उन दस पाँच पद्यों को छोड़कर जिन्हें '**उक्तंच**', '**मतान्तरं**' तथा '**अन्यमतम्**' आदि नामों से उल्लेखित किया गया है और जिनका उक्त संग्रह में कोई खास ज़िक्र भी नहीं किया गया अथवा ज़्यादा से ज़्यादा कुछ परिचित पद्यों को भी उनमें शामिल करके, शेष सब पद्यों को भट्टारकजी की ही रचना समझते हैं और उन्हीं के नाम से उनका उल्लेख भी करते हुए देखे जाते हैं। क्या यही भट्टारकजी की काव्यरचना का सच्चा उद्दीपन है ? अथवा पाठकों में ऐसी गलत समझ उत्पन्न करके काव्यकीर्ति का लाभ उठाना ही इसका एक उद्देश्य है ? मैं तो समझता हूँ पिछली बात ही ठीक है और इसीसे उन पद्यों के साथ में उनके लेखकों अथवा ग्रंथों का नाम नहीं दिया गया और न दूसरी ही ऐसी कोई सूचना साथ में की गई जिससे वे पढ़ते ही पुरातन पद्य समझ लिये जाते। पद्य के उत्तरार्ध में भट्टारकजी, अपनी कुछ चिन्तासी व्यक्त करते हुए, लिखते हैं—'यदि मैं नाना शास्त्रों के मतान्तर की नवीनप्राय रचना करता तो इस ग्रंथ का तेज पड़ता—अथवा यह मान्य होता—इसकी मुझे कहाँ आशा थी।' और फिर इसके अनन्तर ही प्रकट करते हैं—'इसीलिये कुछ सुधीजन 'प्रयोगंवद' होते हैं—प्राचीन प्रयोगों का उल्लेख करदेना ही उचित समझते हैं*।'

---

* पं० पन्नालालजी सोनी ने इस पद्य के उत्तरार्ध का अनुवाद बड़ा ही विलक्षण किया है और वह इस प्रकार है—

"यद्यपि मैंने अनेक शास्त्र और मतों से सार लेकर इस नवीन शास्त्र की रचना की है, उनके सामने इसका प्रकाश पड़ेगा यह आशा

और इस तरह पर आपने अपने को प्रयोगंवद (प्रयोगवादी) अथवा प्रयोगंवद की नीतिका अनुसरण करने वाला भी सूचित किया है । हो सकता है भट्टारकजी की उक्त चिन्ता कुछ ठीक हो—वे अपनी स्थिति और कमजोरी आदि को आप जानते थे—परन्तु जब उनको अपनी रचना से तेज अथवा प्रभाव पड़ने की कोई आशा नहीं थी तब तो उन्हें दूसरे विद्वानों के वाक्यों के साथ में उनका नाम देदेने की और भी ज्यादा जरूरत थी। ऐसी हालत में भी उनका नाम न देना उक्त दोनों कारणों के सिवाय और किसी बातको सूचित नहीं करता। रही 'प्रयोगंवद' की नीतिका अनुसरण करने की बात, प्रयोगंवद की यह नीति कदापि नहीं होती कि वह दूसरे की रचना को अपनी रचना प्रकट करे । यदि ऐसा हो तो 'काव्यचोर' और 'प्रयोगंवद' में फिर कुछ भी अन्तर नहीं रह सकता । वह तो इस बात की बड़ी सावधानी रखता है और इसी में आनन्द मानता है कि दूसरे विद्वान का जो वाक्य प्रयोग उद्धृत किया जाय उसके विषय में किसी तरह पर यह जाहिर कर दिया जाय कि वह अमुक विद्वान का वाक्य है अथवा उसका अपना वाक्य नहीं है । उसकी रचना-प्रणाली ही अलग होती है और वह

नहीं, तो भी कितने ही बुद्धिमान नवीन नवीन प्रयोगों को पसंद करते हैं, अतः उनका चित्त इससे अवश्य अनुरंजित होगा।"

अनुवादकजी और तो क्या, लृङ्लकार की 'अकारिषं' क्रिया का अर्थ भी ठीक नहीं समझ सके ! तब 'इतिसुधियः केचित्प्रयोगंवद्राः' का अर्थ समझना तो उनके लिये दूर की बात थी । आपने पुरातन पद्यादरण के समर्थन में नवीन नवीन प्रयोगों को पसंद करने की बात तो खूब कही !! और 'उनका चित्त इससे अवश्य अनुरंजित होगा' इस अन्तिम वाक्यावतार ने तो आपके पाण्डित्य ही खा दिया !!!

दूसरों के प्रयोगों को बदल कर रखने की जरूरत नहीं समझता और न अपने को उसका अधिकारी ही मानता है। सोमसेनजी की स्थिति ग्रंथ पर से ऐसी मालूम नहीं होती. वे इस विषय में प्रायः कुछ भी सावधान नज़र नहीं आते. उन्होंने सैकड़ों पुरातन पद्यों को बिना ज़रूरत ही बदल डाला है और जिन पद्यों को ज्यों का त्यों उठाकर रक्खा है उनके विषय में प्रायः कोई सूचना ऐसी नहीं कि जिससे वे दूसरे विद्वानों के वाक्य समझे जाँय। साथ ही, ग्रंथ की रचना-प्रणाली भी ऐसी मालूम नहीं होती जिसे प्रायः 'प्रयोगंबद्र' की नीतिका अनुसरण करने वाली कहा जा सके *। ऐसी हालत में इस पद्य द्वारा जिन बातों की सूचना की गई है वे काव्यचोरी के उक्त कलंक को दूर करने के लिये किसी तरह भी समर्थ नहीं हो सकतीं। उन्हें प्रायः ढोंग मात्र समझना चाहिये अथवा यों कहना चाहिये कि वे पीछे से कुछ शर्म सी उतारने अथवा अपने दुष्कर्म पर एक प्रकार का पर्दा डालने के लिये ही लिखी गई हैं। अन्यथा, विद्वानों के समक्ष उनका कुछ भी मूल्य नहीं है।

---

*ग्रन्थ में एक जगह 'कर्त्ता तु पुनरुद्वाहं वर्जयेदिति गालवः' ऐसा लिखा है। यह वाक्य बेशक प्रयोगंबद्र की नीतिका अनुसरण करने वाला है—इसमें 'गालव' ऋषि के वाक्य का उनके नाम के साथ उल्लेख है। यदि सारा ग्रन्थ अथवा ग्रन्थ का अधिकांश भाग इस तरह से भी लिखा जाता तो वह प्रयोगंबद्र की नीति का एक अच्छा अनुसरण कहलाता। और तब किसी को उपर्युक्त आपत्ति का अवसर ही न रहता। परन्तु ग्रन्थ में, दो चार उदाहरणों को छोड़कर, इस प्रकार की रचना का प्रायः सर्वत्र अभाव है।

प्रतिज्ञादि-विरोध।

यह त्रिवर्णाचार अनेक प्रकार के विरुद्ध तथा अनिष्ट कथनों से भरा हुआ है। ग्रंथके संग्रहत्व आदि का दिग्दर्शन कराने के बाद, अब मैं उन्हीं को लेता हूँ और उनमें भी सब से पहले उन कथनों का दिग्दर्शन कराना चाहता हूँ जो प्रतिज्ञा आदि के विरोध को लिये हुए हैं। इस सब दिग्दर्शन से ग्रंथ की रचना, तरतीब, उपयोगिता और प्रमाणता आदि विषयों की ओर भी कितनी ही बातें पाठकों के अनुभव में आजाएँगी और उन्हें यह अच्छी तरह से मालूम पड़ जायगा कि इस ग्रंथ में कितना धोखा है, कितना जाल है और वह एक मान्य जैन ग्रन्थ के तौर पर स्वीकार किये जाने के लिये कितना अयोग्य है अथवा कितना अधिक आपत्ति के योग्य है:—

(१) भट्टारक सोमसेनजी ने, ग्रन्थ के शुरू में, '**यत्प्रोक्तं जिनसेनयोग्यगणिभिः**' नामक पद्य के द्वारा जिन विद्वानों के ग्रन्थों को देख कर—उनके वचनानुसार—ग्रन्थ रचना की प्रतिज्ञा की है उनमें '**जिनसेनाचार्य**' का नाम सब से प्रथम है और उन्हें आपने '**योग्यगणी**' भी, सूचित किया है। इन जिनसेनाचार्य का बनाया हुआ एक 'पुराण' ग्रन्थ सर्वत्र प्रसिद्ध है जिसे 'आदि-पुराण' अथवा 'महापुराण' भी कहते हैं और उसकी गणना बहुमान्य आर्ष ग्रन्थों में की जाती है। इस पुराण से पहले का दूसरा कोई भी पुराण ग्रन्थ ऐसा उपलब्ध नहीं है जिसमें गर्भाधानादिक क्रियाओं का संक्षेप अथवा विस्तार के साथ कोई खास वर्णन दिया हो। यह पुराण इन क्रियाओं के लिये खास तौर से प्रसिद्ध है। भट्टारकजी ने ग्रन्थ के आठवें अध्याय में इन क्रियाओं का वर्णन आरम्भ करते हुए, एक प्रतिज्ञा-वाक्य निम्न प्रकार से दिया है—

गर्भाधानाद्यो भव्यास्त्रिंशन्त्रिक्रिया मताः ।
वक्ष्येऽधुना पुराणे तु याः प्रोक्ता गणिभिः पुरा ॥३॥

इस वाक्य के द्वारा यह प्रतिज्ञा की गई है कि 'प्राचीन आचार्य महोदय (जिनसेन) ने पुराण (आदिपुराण) में जिन गर्भाधानादिक ५३ क्रियाओं का कथन किया है उन्हीं का मैं अब कथन करता हूँ।' यहाँ बहुवचनान्त '**गणिभिः**' पद का प्रयोग वही है जो पहले प्रतिज्ञा–वाक्य में जिनसेनाचार्य के लिये उनके सम्मानार्थ किया गया है और उसके साथ में '**पुराणे**' * पद का एकवचनान्त प्रयोग उनके उक्त पुराण ग्रन्थ को सूचित करता है। और इस तरह पर इस विशेष प्रतिज्ञा–वाक्य के द्वारा यह घोषणा की गई है कि इस ग्रंथ में गर्भाधानादिक क्रियाओं का कथन जिनसेनाचार्य के आदिपुराणानुसार किया जाता है। साथ ही, कुछ पद्य भी आदिपुराण से इस पद्य के अनन्तर उद्धृत किये गये हैं, 'व्युष्टि' नामक क्रिया को आदिपुराण के ही दोनों पद्यों ('**ततोऽस्य हायने**' आदि) में दिया है और 'व्रतचर्या' तथा 'व्रतावतरण' नामक क्रियाओं के भी कितने ही पद्य ('**व्रतचर्यामहं वक्ष्ये**' आदि) आदिपुराण से ज्यों के त्यों उठाकर रक्खे गये हैं। परंतु यह सब कुछ होते हुए भी इन क्रियाओं का अधिकांश कथन आदिपुराण अथवा भगवज्जिनसेनाचार्य के वचनों के विरुद्ध किया गया है, जिसका कुछ खुलासा इस प्रकार है:—

---

* पं० पन्नालालजी सोनी ने 'पुराणे' पद का जो बहुवचनान्त अर्थ "शास्त्रों में" ऐसा किया है वह ठीक नहीं है। इसी तरह 'गणिभिः' पद के बहुवचनान्त प्रयोग का आशय भी आप ठीक नहीं समझ सके और आपने उसका अर्थ "महर्षियों ने" दे दिया है।

(क) भगवज्जिनसेन ने गर्भाधानादिक क्रियाओं की संख्या ५३ दी है और साथ ही निम्न पद्य द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि गर्भाधान से लेकर निर्वाण तक की ये ५३ **क्रियाएँ परमागम में 'गर्भान्वय क्रिया' मानी गई हैं—**

त्रयःपंचाशदेता हि मता गर्भान्वयक्रियाः।
गर्भाधानादिनिर्वाणपर्यन्ताः परमागमे ॥

परन्तु जिनसेन के वचनानुसार कथन करने की प्रतिज्ञा से बँधे हुए भट्टारकजी उक्त क्रियाओं की संख्या ३३ बतलाते हैं और उन्होंने उन ३३ के जो नाम दिये हैं वे सब भी वे ही नहीं हैं जो आदिपुराण की ५३ क्रियाओं में पाये जाते हैं। यथाः—

आधानं प्रीतिः सुप्रीतिर्धृतिर्मोदः प्रियोद्भवः।
नामकर्म बहिर्यानं निपद्या प्राशनं तथा ॥ ४ ॥
व्युष्टिश्च केशवापश्च लिपिसंस्थानसंग्रहः।
उपनीतिर्व्रतचर्या व्रतावतरणं तथा ॥ ५ ॥
विवाहो वर्णलाभश्च कुलचर्या गृहीशिता।
प्रशान्तिश्च गृहत्यागो दीक्षाद्यं जिनरूपता ॥ ६ ॥
मृतकस्य च संस्कारो निर्वाणं पिण्डदानकम्।
श्राद्धं च सूतकद्वैतं प्रायश्चित्तं तथैव च ॥ ७ ॥
तीर्थयात्रेति कथिता द्वात्रिंशत्संख्यया क्रियाः।
त्रयस्त्रिंशश्च धर्मस्य देशनाख्या विशेषतः ॥ ८ ॥

इनमें से पहले तीन पद्य तो आदिपुराण के पद्य हैं और उनमें गर्भाधान को आदि लेकर २४ क्रियाओं के नाम दिये हैं, बाक़ी के दो पद्य भट्टारकजी की प्रायः अपनी रचना जान पड़ते हैं और उनमें ९ क्रियाओं के नाम देकर तेतीस क्रियाओं की पूर्ति की गई है। और यहीं से प्रकृत विषय के विरोध अथवा छल का आरम्भ हुआ है। इन

९ क्रियाओं में, 'निर्वाण' क्रिया को छोड़कर, मृतक संस्कार, पिण्डदान, श्राद्ध, दोनों प्रकार के सूतक (जननाशौच, मृताशौच), प्रायश्चित्त, तीर्थयात्रा और धर्मदेशना नाम की ८ क्रियाएँ ऐसी हैं जो आदिपुराण में नहीं हैं। आदिपुराण में उक्त २४ क्रियाओं के बाद 'मौनाध्ययनत्व' आदि २९ क्रियाएँ और दी हैं और उनमें अन्तिम क्रिया 'निर्वृति' अर्थात् निर्वाण बतलाई है। और इसीसे ये क्रियाएँ **गर्भाधानादि निर्वाणान्त** ' कहलाती हैं। भगवज्जिनसेन ने इन गर्भाधान से लेकर निर्वाण तक की ५३ क्रियाओं को ' **सम्यक् क्रिया** ' बतलाया है और उनसे भिन्न इस संग्रह की दूसरी क्रियाओं को अथवा ' **गर्भाधानादि श्मशानान्त** ' नाम से प्रसिद्ध होने वाली दूसरे लोगों * की क्रियाओं को **मिथ्या क्रिया** ठहराया है। यथाः—

---

*हिन्दुओं की क्रियाएँ '**गर्भाधानादिश्मशानांत**' नाम से प्रसिद्ध हैं, यह बात '**याज्ञवल्क्यस्मृति**' के निम्न वाक्य से स्पष्ट है—

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।
निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मंत्रतः क्रियाः ॥ १० ॥

भट्टारकजी ने अपनी ३३ क्रियाएँ जिस क्रम से यहाँ (उक्त पद्यों में) दी हैं उसी क्रम से उनका आगे कथन नहीं किया, 'मृतक संस्कार' नाम की क्रिया को उन्होंने सब के अन्त में रक्खा है और इसलिये उनकी इन क्रियाओं को भी '**गर्भाधानादिश्मशानांत**' कहना चाहिये। यह दूसरी बात है कि उन्हें अपनी क्रियाओं की सूची उसी क्रम से देनी नहीं आई, और इसलिये उनके कथन में क्रम-विरोध हो गया, जिसका कि एक दूसरा नमूना 'व्रतावतरण' क्रिया के बाद 'विवाह' को न देकर 'प्रायश्चित्त' का देना है।

क्रिया गर्भादिका यास्ता निर्वाणान्ता पुरोदिताः।
आधानादि श्मशानान्ता न ताः सम्यक् क्रियामताः ॥ २५ ॥
—३९ वाँ पर्व ।

और इसलिये भट्टारकजी की **'पिण्डदान'** तथा **'श्राद्ध'** आदि नाम की उक्त क्रियाओं को भगवज्जिनसेनाचार्य के केवल विरुद्ध ही न समझना चाहिये बल्कि **'मिथ्या क्रियाएँ'** भी मानना चाहिये।

(ख) अपनी उदिष्ट क्रियाओं का कथन करते हुए, भट्टारकजी ने गर्भाधान के बाद **प्रीति, सुप्रीति,** और **धृति** नाम की क्रियाओं का कोई कथन नहीं किया, जिन्हें आदिपुराण में क्रमशः तीसरे, पाँचवें और सातवें महीने करने का विधान किया है, बल्कि एकदम **'मोद'** क्रिया का वर्णन दिया है और उसे तीसरे महीने करना लिखा है। यथाः—

गर्भेस्थिरेऽथ संजाते मासे तृतीयके ध्रुवम्।
प्रमोदेनैव संस्कार्यः क्रियामुख्यः प्रमोदकः ॥ ५२ ॥

परन्तु आदिपुराण में **'नवमे मास्यतोऽभ्यर्णे मोदोनाम क्रियाविधिः'** इस वाक्य के द्वारा 'मोद' क्रिया ९ वें महीने करनी लिखी है। और इसलिये भट्टारकजी का कथन आदिपुराण के विरुद्ध है।

यहाँ पर इतना और भी बतला देना उचित मालूम होता है कि भट्टारकजी ने 'प्रीति' और 'सुप्रीति' नामकी क्रियाओं को 'प्रियोद्भव' क्रिया के साथ पुत्रजन्म के बाद करना लिखा है*। और साथ ही, सज्जनों में उत्कृष्ट प्रीति करने को 'प्रीति', पुत्र में प्रीति करने को 'सुप्रीति' और देवों में महान् उत्साह फैलाने को 'प्रियोद्भव' क्रिया बतलाया है। यथाः—

---

* 'धृति' क्रिया के कथन को आप यहाँ भी छोड़ गये हैं और उसका वर्णन ग्रंथ भर में कहीं भी नहीं किया। इसीतरह 'तीर्थयात्रा' आदि और भी कुछ क्रियाओं के कथन को आप बिलकुल ही छोड़ गये अथवा भुला गये हैं।

पुत्रजन्मनि संजाते प्रीतिसुप्रीतिके क्रिये ।
प्रियोद्भवश्च सोत्साहः कर्तव्यो जातकर्मणि ॥ ६१ ॥
सज्जनेषु परा प्रीतिः पुत्रे सुप्रीतिरुच्यते ।
प्रियोद्भवश्च देवेषूत्साहस्तु क्रियते महान् ॥ ६२ ॥

यह सब कथन भी भगवज्जिनसेनाचार्य के विरुद्ध है—क्रमविरोध को भी लिये हुये है—और इसमें 'प्रीति' आदि तीनों क्रियाओं का जो स्वरूप दिया है वह बड़ा ही विलक्षण जान पड़ता है। आदिपुराण के साथ उसका कुछ भी मेल नहीं खाता; जैसा कि आदिपुराण के निम्न वाक्यों से प्रकट है—

गर्भाधानात्परं मासे तृतीये संप्रवर्तते ।
प्रीतिर्नाम क्रिया प्रीतैर्याऽनुष्ठेया द्विजन्मभिः ॥ ७७ ॥
आधानात्पंचमे मासि क्रिया सुप्रीतिरिष्यते ।
या सुप्रीतैःप्रयोक्तव्या परमोपासकव्रतैः ॥ ८० ॥
प्रियोद्भवः प्रसूतायां जातकर्मविधिः स्मृतः ।
जिनजातकमाध्याय प्रवर्त्यो यो यथाविधि ॥८५॥

—३८ वाँ पर्व ।

पिछले श्लोक से यह भी प्रकट है कि आदिपुराण में 'जातकर्मविधि' को ही 'प्रियोद्भव' क्रिया बतलाया है। परन्तु भट्टारकजी ने 'प्रियोद्भव' को 'जातकर्म' से भिन्न एक दूसरी क्रिया प्रतिपादन किया है। यही वजह है जो उन्होंने अध्याय के अन्त में, प्रतिपादित क्रियाओं की गणना करते हुए, दोनों की गणना अलग अलग क्रियाओं के रूप में की है। और इसलिये आपका यह विधान भी जिनसेनाचार्य के विरुद्ध है।

एक बात और भी बतला देने की है और वह यह कि, भट्टारकजी ने 'जातकर्म विधि' में 'जननाशौच' को भी शामिल किया है और उसका कथन छह पद्यों में दिया है। परंतु 'जननाशौच' को आपने अलग क्रिया भी बतलाया है, तब दोनों में अन्तर क्या रहा, यह

सोचने की बात है। परंतु अन्तर कुछ रहो या न रहो, इससे ग्रंथ की बेतरतीबी और उसके बेढंगेपन का हाल कुछ जरूर मालूम हो जाता है।

(ग) 'मोद' क्रिया के बाद, त्रिवर्णाचार में **'पुंसवन'** और **'सीमन्त'** नाम की दो क्रियाओं का क्रमशः निर्देश किया गया है और उन्हें यथाक्रम गर्भ से पाँचवें तथा सातवें महीने करने का विधान किया है। यथाः—

सद्गर्भस्याथ पुष्ट्यर्थं क्रियां पुंसवनाभिधाम्।
कुर्वन्तु पंचमे मासि पुमांसः क्षेमभिच्छवः ॥६३॥
अथ सप्तमके मासे सीमन्तविधिरुच्यते।
केशमध्ये तु गर्भिण्याः सीमा सीमन्तमुच्यते ॥७२॥

ये दोनों क्रियाएँ आदिपुराण में नहीं हैं और न भट्टारकजी की उक्त ५३ क्रियाओं की सूची में ही इनका कहीं नामोल्लेख है। फिर नहीं मालूम इन्हें यहाँ पर क्यों दिया गया है! क्या भट्टारकजी को अपनी प्रतिज्ञा, ग्रंथ की तरतीब और उसके पूर्वापर सम्बंध आदि का कुछ भी ध्यान नहीं रहा? वैसे ही जहाँ जो जी में आया लिख मारा!! और क्या इसी को ग्रंथरचना कहते हैं? वास्तव में ये दोनों क्रियाएँ हिन्दू धर्म की खास क्रियाएँ (संस्कार) हैं। हिन्दुओं के धर्म ग्रंथों में इनका विस्तार के साथ वर्णन पाया जाता है। गर्भिणी स्त्री के केशों में माँग पाड़ने को 'सीमन्त' क्रिया कहते हैं, जिसके द्वारा वे गर्भ का ख़ास तौर से संस्कारित होना मानते हैं। और 'पुंसवन' क्रिया का अभिप्राय उनके यहाँ यह माना जाता है कि इसके कारण गर्भिणी के गर्भ से लड़का पैदा होता है, जैसा कि मुहूर्तचिंतामणि की पीयूषधारा टीका के निम्न वाक्य से भी प्रकट है—

"पुमान् सूयतेऽनेन कर्मणेति व्युत्पत्त्या पुंसवनकर्मणा पुंस्त्वहेतुना।"

परंतु जैन सिद्धांत के अनुसार, इस प्रकार के संस्कार से, गर्भ में आई हुई लड़की का लड़का नहीं बन सकता। इसलिये जैन धर्म से इस संस्कार का कुछ सम्बंध नहीं है। भगवज्जिनसेन के वचनानुसार इन दोनों

क्रियाओं को भी **मिथ्या क्रियाएँ** समझना चाहिये। मालूम होता है कुछ विद्वानों ने दूसरों की इन क्रियाओं को किसी तरह पर अपने ग्रंथों में अपनाया है और भट्टारकजी ने उन्हीं में से किसी का यह अंधाऽनुकरण किया है। अन्यथा, आपकी तेतीस क्रियाओं से इनका कोई सम्बंध नहीं था।

(घ) त्रिवर्णाचार में, **निर्धन के लिये**, गर्भाधान, प्रमोद, सीमंत और पुंसवन नाम की चार क्रियाओं को एक साथ ९ वें महीने करने का भी विधान किया गया है। यथाः—

> **गर्भाधानं प्रमोदश्च सीमन्तः पुंसवं तथा।**
> **नवमे मासि चैकत्र कुर्यात्सर्वंतु निर्धनः ॥८०॥**

यह कथन भी भगवज्जिनसेनाचार्य के विरुद्ध है—आदिपुराण में गर्भाधान और प्रमोद नाम की क्रियाओं को एक साथ करने का विधान ही नहीं। यहाँ 'गर्भाधान' क्रिया का, जिसमें भट्टारकजी ने स्त्रीसंभोग का ख़ासतौर से तफ़सीलवार विधान किया है, ९ वें महीने किया जाना बड़ा ही विलक्षण जान पड़ता है और एक प्रकार का पाखण्ड मालूम होता है। उस समय भट्टारकजी के उस '**कामयज्ञ**' का रचाया जाना जिसका कुछ परिचय आगे चल कर दिया जायगा, निःसन्देह, एक बड़ा ही पाप कार्य है और किसी तरह भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। स्वयं भट्टारकजी के '**मासात्तु पंचमादूर्ध्वं तस्याः संगं विवर्जयेत्**' इस वाक्य से भी उसका विरोध आता है, जिसमें लिखा है कि 'पाँचवें महीने के बाद गर्भिणी स्त्री का संग छोड देना चाहिये—उससे भोग नहीं करना चाहिये'। और वैसे भी गर्भ रह जाने के आठ नौ महीने बाद 'गर्भाधान' क्रिया का किया जाना महज एक ढौंग रह जाता है, जो सत्पुरुषों द्वारा आदर किये जाने के योग्य नहीं। भट्टारकजी निर्धनों के लिये ऐसे ढौंग का विधान करते हैं, यह आपकी बड़ी ही विचित्र लीला अथवा परोपकार बुद्धि है! आपकी राय में शायद ये गर्भाधान आदि की क्रियाएँ विपुलधन-साध्य हैं और उन्हें धनवान लोग ही कर

सकते हैं। परन्तु आदिपुराण से ऐसा कुछ भी मालूम नहीं होता। वहाँ अनेक क्रियाओं का विधान करते हुए **'यथाविभवं' 'यथा विभवमत्रापि'** आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है और उससे मालूम होता है कि इन क्रियाओं को सब लोग अपनी अपनी शक्ति और सम्पत्ति के अनुसार कर सकते हैं—धनवानों का ही उनके लिये कोई ठेका नहीं है।

(ङ) भट्टारकजी ने, निम्न पद्य द्वारा, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों जातियों के लिये क्रमशः १२ वें, १६ वें, २० वें, और ३२ वें दिन बालक का नाम रखने की व्यवस्था की है—

* द्वादशे षोडशे विंशे द्वात्रिंशे दिवसेऽपि वा।
नामकर्म स्वजातीनां कर्तव्यं पूर्वमार्गतः ॥ १११ ॥

आपकी यह व्यवस्था भी भगवज्जिनसेन के विरुद्ध है। आदिपुराण में जन्म दिन से १२ दिन के बाद—१३ वें, १४ वें, आदि किसी भी अनुकूल दिवस में—नाम कर्म की सबके लिये समान व्यवस्था की गई है और उसमें जाति अथवा वर्णभेद को कोई स्थान नहीं दिया गया। यथाः—

---

* सोनीजी ने इस पद्य के अनुवाद में कुछ ग़लती खाई है। इस पद्य में प्रयुक्त हुए **'स्वजातीनां'** पद और **'अपि'** तथा **'वा'** शब्दों का अर्थ वे ठीक नहीं समझ सके। **'स्वजातीनां'** पद यहाँ चारों जातियों अर्थात् वर्णों का वाचक है और **'अपि'** समुच्चयार्थ में तथा 'वा' शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—विकल्प अर्थ में नहीं। हिन्दुओं के यहाँ भी, जिनका इस ग्रन्थ में प्रायः अनुसरण किया गया है, वर्ण-क्रम से ही नाम कर्म का विधान किया गया है, जैसा कि 'सारसंग्रह' के निम्न वाक्य से प्रकट है जो मु० चिन्तामणि की 'पीयूषधारा' टीका में दिया हुआ है—

एकादशेऽह्नि विप्राणां क्षत्रियाणां त्रयोदशे।
वैश्यानां षोडशे नाम मासान्ते शूद्रजन्मनः ॥

द्वादशाहात्परं नाम कर्म जन्मदिनान्मतम् ।
अनुकूले सुतस्यास्य पित्रोरपि सुखावहे ॥ ३८-८७ ॥

(च) त्रिवर्णाचार में, 'नाम' क्रिया के अनन्तर, बालक के कान नाक बींधने और उसे पालने में बिठलाने के दो मंत्र दिये हैं और इस तरह पर '**कर्णवेधन**' तथा '**आंदोलारोपण**' नाम की दो नवीन क्रियाओं का विधान किया है, जिनका उक्त ५३ क्रियाओं में कहीं भी नामोल्लेख नहीं है। आदिपुराण में भी इन क्रियाओं का कोई कथन नहीं है। और इसलिये भट्टारकजी का यह विधान भी भगवज्जिनसेन के विरुद्ध है और उनकी इन क्रियाओं को भी '**मिथ्या-क्रियाएँ**' समझना चाहिये। ये क्रियाएँ भी हिन्दू धर्म की खास क्रियाएँ हैं और उनके यहाँ दो अलग संस्कार माने जाते हैं। मालूम नहीं भट्टारकजी इन दोनों क्रियाओं के सिर्फ मंत्र देकर ही क्यों रह गये और इनका पूरा विधान क्यों नहीं दिया! शायद इसका यह कारण हो कि जिस ग्रन्थ से आप संग्रह कर रहे हों उसमें क्रियाओं का मंत्र भाग अलग दिया हो और उस पर से नाम क्रिया के मंत्र की नक़ल करते हुए उसके अनन्तर दिये हुए इन दोनों मंत्रों की भी आप नक़ल कर गये हों और आपको इस बात का खयाल ही न रहा हो कि हमने इन क्रियाओं का अपनी तेतीस क्रियाओं में विधान अथवा नामकरण ही नहीं किया है। परन्तु कुछ भी हो, इससे आपके ग्रन्थ की अव्यवस्था और बेतरतीबी जरूर पाई जाती है।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि मेरे पास ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार की जो हस्तलिखित प्रति पं० सीताराम शास्त्री की लिखी हुई है उसमें आन्दोलारोपण का मंत्र तो नहीं—शायद छूटगया हो—परन्तु कर्णवेधन का मंत्र जरूर दिया हुआ है और वह नामकर्म के मंत्र के अनन्तर ही दिया हुआ है। लेकिन वह मंत्र इस त्रिवर्णाचार के मंत्र से कुछ भिन्न है, जैसा कि दोनों के निम्नरूपों से प्रकट है—

ॐ ह्रीं ह्रः कर्णनासावेधनं करोमि ॐ स्वाहा ।

—ब्रह्मसूरित्रिवर्णाचार ।

ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं बालकस्य ह्रः कर्णनासावेधनं करोमि असिआउसा स्वाहा।

—सोमसेनत्रिवर्णाचार ।

इससे ब्रह्मसूरित्रिवर्णाचार के मंत्रों का आंशिक विरोध पाया जाता है और उसे यहाँ बदलकर रक्खा गया है, ऐसा जान पड़ता है । इसी तरह पर और भी कितने ही मंत्रों का ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार के साथ विरोध है और यह ऐसे मंत्रों के महत्व अथवा उनकी समीचीनता को और भी कम किये देता है ।

(छ) भट्टारकजी ने 'अन्नप्राशन' के बाद और 'व्युष्टि' क्रिया से पहले '**गमन**' नाम की भी एक क्रिया का विधान किया है, जिसके द्वारा बालक को पैर रखना सिखलाया जाता है । यथाः—

अथास्य नवमे मासे गमनं कारयेत्पिता ।
गमनोचितनक्षत्रे सुवारे शुभयोगके ॥१४०॥

यह क्रिया भी आदिपुराण में नहीं है—आदिपुराण की दृष्टि से यह **मिथ्या क्रिया है**—और इसलिये इसका कथन भी भगवज्जिनसेन के विरुद्ध है । साथ ही, पूर्वापर-विरोध को भी लिये हुए हैं; क्योंकि भट्टारकजी की तेतीस क्रियाओं में भी इसका नाम नहीं है । नहीं मालूम भट्टारकजी को बारबार अपने कथन के भी विरुद्ध कथन करने की यह क्या धुन समाई थी ! जब आप यह बतला चुके कि गर्भाधानादिक क्रियाएँ तेतीस हैं और उनके नाम भी दे चुके, तब उसके विरुद्ध बीच बीच में दूसरी क्रियाओं का भी विधान करते जाना और इसतरह पर संख्या आदि के भी विरोध को उपस्थित करना चलचित्तता, असमीक्ष्यकारिता अथवा पागलपन नहीं तो और क्या है ! इस तरह की प्रवृत्ति निःसन्देह आपकी ग्रन्थरचना-सम्बन्धी अयोग्यता को अच्छी तरह से स्थापित करती है ।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि 'लिपि-संस्थानसंग्रह' (अक्षराभ्यास) नामक क्रिया के बाद भी एक क्रिया और बढ़ाई गई है और उसका नाम है '**पुस्तकग्रहण**'। यह क्रिया भी आदिपुराण में नहीं है और न तेतीस क्रियाओं की सूची में ही इसका नाम है। लिपिसंस्थान क्रिया का विधान करते हुए, '**मौञ्जी-बंधनतः पश्चाच्छास्त्रारंभो विधीयते**' इस वाक्य के द्वारा, यद्यपि, यह कहा गया था कि शास्त्राध्ययन का आरम्भ मौंजीबन्धन (उपनयन क्रिया) के पश्चात् होता है परन्तु यहाँ 'पुस्तकग्रहण' क्रिया को बढ़ा कर उसके द्वारा उपनयन संस्कार से पहले ही शास्त्र के पढ़ने का विधान कर दिया है और इस बात का कुछ भी ध्यान नहीं रक्खा कि पूर्व कथन के साथ इसका विरोध आता है। यथाः—

उपाध्यायेन तं शिष्यं पुस्तकं दीयते मुदा।
शिष्योऽपि च पठेच्छास्त्रं नान्दीपठनपूर्वकम् ॥१८१॥

(ज) भट्टारकजी ने 'लिपि-संस्थान-संग्रह' नामक क्रिया को देते हुए उसका मुहूर्त भी दिया है, जब कि दूसरी क्रियाओं में से गर्भाधान, उप-नयन (यज्ञोपवीत) और विवाहसंस्कार जैसी बड़ी क्रियाओं तक का आपने कोई मुहूर्त नहीं दिया। नहीं मालूम इस क्रिया के साथ में मुहूर्त देने की आपको क्या सूझी और आपका यह कैसा रचना-क्रम है जिसका कोई एक तरीक़ा, नियम अथवा ढंग नहीं ! ! अस्तु, इस मुहूर्त के दो पद्य इस प्रकार हैं:—

*मृगादिपंचस्वपि ते [भे]षु मूले, हस्तादिके च क्रियते [त्रितये]ऽश्विनीषु

---

* इस पद्य में जो पाठ भेद ब्रैकिटों में दिया गया है वही मूलका शुद्ध पाठ है, सोनीजी की अनुवाद-पुस्तक में वह ग़लत रूप से दिया हुआ है। पद्य का अनुवाद भी कुछ ग़लत हुआ है। कमसे कम 'चित्रा' के बाद 'स्वाती' का और 'पूर्वाषाढ' से पहले 'पूर्वाफाल्गुनी' नक्षत्र का नाम और दिया जाना चाहिये था।

पु [पू] र्वात्रये च श्रवणत्रये च, विद्यासमारम्भमुशन्ति सिद्ध्यै ॥ १६५
उदग्गते भास्वति पंचमेऽब्दे, प्राप्तेऽक्षरस्वीकरणं शिशूनाम् ।
सरस्वतीं क्षेत्रसुपालकं च, गुडौदनाद्यैरभिपूज्य कुर्यात् ॥ १६६ ॥

इनमें से पहला पद्य '**श्रीपति**' का और दूसरा '**वशिष्ठ**' ऋषि का वचन है। मुहूर्त चिन्तामणि की पीयूषधारा टीका में भी ये इन्हीं विद्वानों के नाम से उद्धृत पाये जाते हैं। दूसरे पद्य में '**विघ्नविनायकं**' की जगह '**क्षेत्रसुपालकं**' का परिवर्तन किया गया है और उसके द्वारा '**गणेशजी**' के स्थान में '**क्षेत्र-पाल**' की गुड़ और चावल वगैरह से पूजा की व्यवस्था की गई है।

क्षेत्रपाल की यह पूजन-व्यवस्था आदिपुराण के विरुद्ध है। इसी-तरह पर दूसरी क्रियाओं के वर्णन में जो **यक्ष, यक्षी, दिक्पाल** और **जयादिदेवताओं** के पूजन का विधान किया गया है, अथवा '**पूर्ववत्पूजयेत्**' '**पूर्ववद् होमं पूजां च कृत्वा**' आदि वाक्यों के द्वारा इसीप्रकार के दूसरे देवताओं की भी पूजा का—जिसका वर्णन चौथे पाँचवें अध्यायों में है—जो इशारा किया गया है वह सब भी आदि-पुराण के विरुद्ध है। आदिपुराण में भगवज्जिनसेन ने, गर्भाधानादिक क्रियाओं के अवसर पर, इसप्रकार के देवी देवताओं के पूजन की कोई व्यवस्था नहीं की। उन्होंने आमतौर पर सब क्रियाओं में '**सिद्धों**' का पूजन रक्खा है, जो 'पीठिका' मंत्रों द्वारा किया जाता है + । बहुतसी क्रियाओं में अर्हन्तों का, देवगुरु का और किसी में आचार्यों आदि का पूजन भी बतलाया है, जिसका विशेष हाल आदिपुराण के ३८ वें और ४० वें पर्वों को देखने से मालूम हो सकता है।

+ यथाः—

एतैः (पीठिका मंत्रैः) सिद्धार्चनं कुर्यादाधानादि क्रियाविधौ।

यहाँ पर मैं त्रिवर्णाचार की एक दूसरी विलक्षण पूजा का भी उल्लेख कर देना उचित समझता हूँ, और वह है **'योनिस्थ देवता'** की पूजा। भट्टारकजी ने, गर्भाधान क्रिया का विधान करते हुए, इस अपूर्व अथवा अश्रुतपूर्व देवता की पूजा का जो मंत्र दिया है वह इस प्रकार है—

ऊँ ह्रीं क्लीं ब्लूँ योनिस्थदेवते मम सत्पुत्रं जनयस्व असिआउसा स्वाहा।

इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि 'हे योनिस्थान में बैठे हुए देवता! मेरे सत्पुत्र पैदा करो।' भट्टारकजी लिखते हैं कि 'यह मंत्र पढ़कर गोबर, गोमूत्र, दूध, दही, घी कुश (दर्भ) और जल से योनिका अच्छी तरह से प्रक्षालन करे और फिर उसके ऊपर चंदन, केसर तथा कस्तूरी आदि का लेप कर देवे। यथा—

'इति मंत्रेण गोमयगोमूत्रक्षीरदधिसर्पिःकुशोदकैर्योनिं सम्प्रक्षाल्य श्रीगंधकुंकुमकस्तूरिकाद्यनुलेपनं कुर्यात्।'

यही योनिस्थ देवता का सप्रक्षाल पूजन है। और इससे यह मालूम होता है कि भट्टारकजी ऐसा मानते थे कि स्त्री के योनि स्थान में किसी देवता का निवास है, जो प्रार्थना करने पर प्रार्थी से अपनी पूजा लेकर उसके लिये पुत्र पैदा कर देता है। परन्तु जैनधर्म की ऐसी शिक्षा नहीं है और न जैनमतानुसार ऐसे किसी देवता का अस्तित्व या व्यक्तित्व ही माना जाता है। ये सब वाममार्गियों अथवा शाक्तिकों जैसी बातें हैं। भट्टारकजी ने सम्भवतः उन्हीं का अनुकरण किया है, उन्हीं जैसी शिक्षा को समाज में प्रचारित करना चाहा है, और इसलिये 'गर्भाधान' क्रिया में आपका **यह पूजन-विधान महज़ प्रतिज्ञा-विरोध को ही लिये हुये नहीं है बल्कि जैनधर्म और जैननीति के भी विरुद्ध है,** और आपके इस क्रिया मंत्र को **अधमर्ष मंत्र** समझना चाहिये।

(क) इस आठवें अध्याय में, और आगे भी, आदिपुराण वर्णित क्रियाओं के जो भी मंत्र दिये हैं वे प्रायः सभी आदिपुराण के विरुद्ध हैं। आदिपुराण में गर्भाधानादिक क्रियाओं के मंत्रों को दो भागों में विभाजित किया है—एक 'सामान्यविषय मंत्र' और दूसरे 'विशेषविषय मंत्र'। 'सामान्यविषय मंत्र' वे हैं जो सब क्रियाओं के लिये सामान्य रूप से निर्दिष्ट हुए हैं और 'विशेषविषय' उन्हें कहते हैं जो खास खास क्रियाओं में अतिरिक्त रूप से नियुक्त हुए हैं। सामान्यविषय मंत्र १ पीठिका, २ जाति, ३ निस्तारक, ४ ऋषि, ५ सुरेन्द्र, ६ परमराज और ७ परमेष्ठि मंत्र-भेद से सात प्रकार के हैं। इन सबों को एक नाम से **'पीठिका-मंत्र'** कहते हैं; **क्रिया-मंत्र**, **साधन-मंत्र** तथा **आहुति-मंत्र** भी इनका नाम है और ये **'उत्सर्गिक-मंत्र'** भी कहलाते हैं, जैसाकि आदिपुराण के निम्न वाक्यों से प्रकट है।

एते तु पीठिका मंत्राः सप्त ज्ञेया द्विजोत्तमैः।
एतैः सिद्धार्चनं कुर्यादाधानादिक्रियाविधौ ॥ ७७ ॥
क्रियामंत्रास्त एतेस्युराधानादिक्रियाविधौ।
सूत्रे गणधरोद्धार्ये यान्ति साधनमंत्रताम् ॥ ७८ ॥
संध्यास्वग्नित्रये देवपूजने नित्यकर्मणि।
भवन्त्याहुतिमंत्राश्च त एते विधिसाधिताः ॥ ७९ ॥
साधारणास्त्विमे मंत्राः सर्वत्रैव क्रियाविधौ।
यथासंभवमुन्नेष्ये विशेषविषयांश्च तान् ॥ ९१ ॥
क्रियामंत्रास्त्विह ज्ञेया ये पूर्वमनुवर्णिताः।
सामान्यविषयाः सप्त पीठिकामंत्ररूढयः ॥ २१५ ॥
ते हि साधारणाः सर्वक्रियासु विनियोगिनः।
तत उत्सर्गिकानेतान्मंत्रान्मंत्रविदो विदुः ॥ २१६ ॥
विशेषविषया मंत्राः क्रियासूक्तासु दर्शिताः।

इत: प्रभृति चाभ्यूह्यास्ते यथाम्नायमग्रजैः ॥ २१७ ॥
मंत्रानिमान्यथा योग्यं यः क्रियासु विनियोजयेत् ।
स लोके सम्मतिं याति युक्ताचारो द्विजोत्तम् : ॥ २१८ ॥
—४० वाँ पर्व ।

इन वाक्यों से आदिपुराण-वर्णित मंत्रों का खास तौर से महत्व पाया जाता है और यह मालूम होता है कि वे जैन आम्नायानुसार खसूसियत के साथ इन क्रियाओं के मंत्र हैं। गणधर-रचित सूत्र (उपासकाध्ययन) अथवा परमागम में उन्हें 'साधनमंत्र' कहा है—क्रियाएँ उनके द्वारा सिद्ध होती हैं ऐसा प्रतिपादन किया है—और इसलिये सब क्रियाओं में उनका यथायोग्य विनियोग होना चाहिये। एक दूसरी जगह भी इस विनियोग की प्रेरणा करते हुए लिखा है कि 'जैनमत' में इन मंत्रों का सब क्रियाओं में विनियोग माना गया है, अतः श्रावकों को चाहिये कि वे व्यामोह अथवा भ्रम छोड़ कर—निःसंदेह रूप से—इन मंत्रों का सर्वत्र प्रयोग करें। यथा:—

विनियोगस्तु सर्वासु क्रियास्वेषां मतो जिनैः ।
अव्यामोहादतस्तज्ज्ञैः प्रयोज्यास्त उपासकैः ॥ ३८-७५ ॥

परन्तु, यह सब कुछ होते हुए भी, भट्टारकजी ने इन दोनों प्रकार के सनातन और यथाम्नाय + मंत्रों में से किसी भी प्रकार के मंत्र का यहाँ * प्रयोग

+ आदिपुराण में '**तन्मंत्रास्तु यथाम्नायं**' आदि पद्य के द्वारा इन मंत्रों को जैन आम्नाय के मंत्र बतलाया है।

* पाँचवें अध्याय में, नित्यपूजन के मंत्रों का विधान करते, हुए, सिर्फ एक प्रकार के पीठिका मंत्र दिये हैं परन्तु उन्हें भी उनके असली रूप में नहीं दिया—बदलकर रक्खा है—सब मंत्रों के शुरू में ॐ जोड़ा गया है और कितनेही मंत्रों में 'नमः' आदि शब्दों के द्वित्व प्रयोग की जगह एकत्व का प्रयोग किया गया है। इसी तरह और भी कुछ न्यूनाधिकता की गई है। आदिपुराण के मंत्र अँचे तुले श्लोकों में बद्ध हैं।

नहीं किया, बल्कि दूसरे ही मंत्रों का व्यवहार किया है जो आदिपुराण से बिलकुल ही विलक्षण अथवा भिन्न टाइप के मंत्र हैं* । इससे अधिक भगवज्जिनसेन का—और उनके वचनानुसार जैनागम का भी—विरोध और क्या हो सकता है ? मैं तो इसे भगवज्जिनसेनकी खासी अवहेलना और साथ ही जनसाधारण की अच्छी प्रतारणा (वंचना) समझता हूँ। अस्तु; भगवज्जिनसेनने '**मंत्रास्त एव धर्म्याः स्युर्ये क्रियासु विनियोजिताः**' इस ३९ वें पर्व के वाक्य द्वारा उन्हीं मंत्रों को '**धर्म्यमंत्र**' प्रतिपादन किया है जो उक्तप्रकार से क्रियाओं में नियोजित हुए हैं, और इसलिये भट्टारकजी के मंत्रों को '**अधर्म्य मंत्र**' अथवा '**झूठेमंत्र**' कहना चाहिये। जब उनके द्वारा प्रयुक्त हुए मंत्र वास्तव में उन क्रियाओं के मंत्र ही नहीं; तब उन क्रियाओं से लाभ भी क्या हो सकता है ? बल्कि झूठे मंत्रों का प्रयोग साथ में होने की वजह से कुछ बिगाड़ हो जाय तो आश्चर्य नहीं।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि, त्रिवर्णाचार में जो क्रिया–मंत्र दिये हैं वे आदिपुराण से पहले के बने हुए

---

* उदाहरण के तौर पर 'निषद्या' क्रिया के मंत्र को लिजिये। आदिपुराण में '**सत्यजाताय नमः**' आदि पीठिका मंत्रों के अतिरिक्त इस क्रिया का जो विशेष मंत्र दिया वह है—"**दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासनभागी भव**"। और त्रिवर्णाचार में जो मंत्र दिया है वह है—"**ॐ ह्रीं अर्हं असि आ उ सा बालकमुपवेशयामि स्वाहा**"। दोनों में कितना अन्तर है इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। एक उत्तम आशीर्वादात्मक अथवा भावनात्मक है तो दूसरा महज़ सूचनात्मक है कि मैं बालक को बिठलाता हूँ। प्रायः ऐसी ही हालत दूसरे मन्त्रों की समझनी चाहिये।

किसी भी ग्रन्थ में नहीं पाये जाते, और आदिपुराण से यह स्पष्ट मालूम हो रहा है कि उसमें जो क्रिया-मंत्र दिये हैं वे ही इन क्रियाओं के असली, आगम-कथित, सनातन और जैनाम्नायी मंत्र हैं। ऐसी हालत में त्रिवर्णाचार वाले मंत्रों की बाबत यही नतीजा निकलता है कि वे आदिपुराण से बहुत पीछे के बने हुए हैं। उनकी अथवा उन जैसे मंत्रों की कल्पना भट्टारकी युग में---संभवतः १२ वीं से १५ वीं शताब्दी तक के मध्यवर्ती किसी समय में—हुई है, ऐसा जान पड़ता है।

(अ) अध्याय के अन्त में, 'पुस्तकग्रहण' क्रिया के बाद, भट्टारकजी ने एक पद्य निम्नप्रकार से दिया है:-

* गर्भाधानसुमोदपुंसवनकाः सीमन्तजन्माभिधा
वाह्येसुयानभोजनं च गमनं चौलाक्षराभ्यासनम्।
सुप्रीतिः प्रियसूद्भवो गुरुमुखाच्छास्त्रस्यसंग्राहणं
एताः पंचदश क्रियाः समुदिता अस्मिन् जिनेन्द्रागमे ॥१८२॥

इसमें, अध्याय-वर्णित क्रियाओं की उनके नामके साथ गणना करते हुए, कहा गया है कि 'ये पंद्रह क्रियाएँ इस जिनेन्द्रागम में भलेप्रकार से कथन की गई हैं', परन्तु क्रियाओं के जो नाम यहाँ दिये हैं वे चौदह हैं---१ गर्भाधान, २ मोद, पुंसवन, ४ सीमन्त, ५ जन्म, ६ अभिधा (-नाम), ७ वहिर्यान, ८ भोजन, ९ गमन, १० चौल, ११ अक्षराभ्यास, १२ सुप्रीति, १३ प्रियोद्भव तथा १४ शास्त्रग्रहण—और अध्याय में जिन क्रियाओं का वर्णन किया गया है उनकी संख्या उन्नीस है। प्रीति, निषद्या (उपवेशन), व्युष्टि, कर्णवेधन और आन्दोलारोपण

---

* इस पद्य के अनुवाद में सोनीजी ने जो व्यर्थ की खींचातानी की है वह सहृदय विद्वानों को अनुवाद के देखते ही मालूम पड़जाती है। उस पर यहाँ कुछ टीका टिप्पण करने की ज़रूरत नहीं है।

नामकी पाँच क्रियाओं का वहाँ तो वर्णन है, परन्तु यहाँ गणना के अवसर पर उन्हें बिलकुल ही भुला दिया है। इससे आपका महज् वचन-विरोध ही नहीं पाया जाता, बल्कि यह भी आपकी ग्रन्थ रचना की विलक्षणता का एक अच्छा नमूना है और इस बात को जाहिर करता है कि आपको अच्छी तरह से ग्रंथ रचना करना नहीं आता था। इतने पर भी, खेद है कि, आप अपने इस ग्रंथ को **'जिनेन्द्रागम'** बतलाते हैं! जो ग्रंथ प्रतिज्ञाविरोध, आगमविरोध, आम्नायविरोध, ऋषिवाक्यविरोध, सिद्धान्तविरोध, पूर्वापरविरोध, युक्तिविरोध और क्रमविरोध आदि दोषों को लिये हुए है, साथ ही चोरी के कलंक से कलंकित है, उसे **'जिनेन्द्रागम'** बतलाते हुए आपको जरा भी लज्जा तथा शर्म नहीं आई! ×इससे अधिक धृष्टता और धूर्तता और क्या हो सकती है? यदि ऐसे हीन ग्रन्थ भी 'जिनेन्द्रागम' कहलाने लगें तब तो जिनेन्द्रागम की अच्छी खासी मिट्टी पलीद हो जाय और उसका कुछ भी महत्व न रहे। इसीलिए ऐसे छद्मवेषधारी ग्रंथों के नग्न रूप को दिखला कर उनसे सावधान करने का यह प्रयत्न किया जा रहा है।

(ट) त्रिवर्णाचार के ९ वें अध्याय में, **'यज्ञोपवीतसत्कर्म वक्ष्ये नत्वा गुरुक्रमात्'** इस वाक्य के द्वारा गुरु-परम्परा के अनुसार **यज्ञोपवीत** (उपनीति) क्रिया के कथन की विशेष प्रतिज्ञा करते हुए, निम्न पद्य दिये हैं:—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ ३ ॥
ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ ४ ॥

×यहाँ सोनीजी को अनुवाद के समय कुछ भिझक ज़रूर पैदा हुई है और इस लिये उन्होंने "जिनेन्द्रागम" को "अध्याय" में बदल दिया है।

* आषोडशाच्च [दा] द्वाविंशाच्चतुर्विंशात्तु [श] वत्सरात् ।
ब्रह्मक्षत्रविशां कालो ह्युपनयनजः [ल औपनायनिकः] परः॥५॥
अत ऊर्ध्वं पतन्त्येते सर्वधर्मबहिष्कृताः ।
प्रतिष्ठादिषु कार्येषु न योज्या ब्राह्मणोत्तमैः ॥ ६ ॥

इन पद्यों में से पहले पद्य में उपनयन के साधारण काल का, दूसरे में विशेष काल का, तीसरे में काल की उत्कृष्ट मर्यादा का और चौथे में उत्कृष्ट मर्यादा के भीतर भी यज्ञोपवीत संस्कार न होने के फल का उल्लेख किया गया है, और इस तरह पर चारों पद्यों में यह बतलाया गया है कि–'गर्भ से आठवें वर्ष ब्राह्मण का, ग्यारहवें वर्ष क्षत्रिय का और बारहवें वर्ष वैश्य का यज्ञोपवीत संस्कार होना चाहिये । परंतु जो ब्राह्मण (विद्याध्ययनादि द्वारा) ब्रह्मतेज का इच्छुक हो उसका गर्भ से पाँचवें वर्ष, राज्यबल के अर्थी क्षत्रिय का छठे वर्ष और व्यापारादि द्वारा अपना उत्कर्ष चाहने वाले वैश्य का आठवें वर्ष उक्त संस्कार किया जाना चाहिये । इस संस्कार की उत्कृष्ट मर्यादा ब्राह्मण के लिये १६ वर्ष तक, क्षत्रिय के लिये २२ वर्ष तक और वैश्य के लिये २४ वर्ष तक की है । इस मर्यादा तक भी जिन लोगों का उपनयन संस्कार न हो पावे, वे अपनी अपनी मर्यादा के बाद पतित हो जाते हैं, किसी भी धर्म कर्म के अधिकारी नहीं रहते—उन्हें सर्व धर्मकार्यों से बहिष्कृत समझना चाहिये—और इसलिये ब्राह्मणों को चाहिये कि वे प्रतिष्ठादि धर्मकार्यों में उनकी योजना न करें' ।

यह सब कथन भी भगवज्जिनसेन के विरुद्ध है । आदिपुराण में वर्णभेद से उपनयनकाल में कोई भेद ही नहीं किया--सब के लिये गर्भ से आठवें वर्ष का एक ही उपनयन का साधारणकाल रक्खा गया है । यथाः—

---

* इस पद्य में ब्रैकिटों के भीतर जो पाठभेद दिया है वह पद्य का मूल पाठ है जो अनेक ग्रंथों में उल्लेखित मिलता है और जिसे संभवतः यहाँ बदल कर रक्खा है ।

क्रियोपनीतिर्नामाऽस्य वर्षे गर्भाष्टमे मता।
यत्रापनीतकेशस्य मौञ्जी सव्रतबन्धना ॥ ३८-१०४ ॥

और यह बात जैननीति के भी विरुद्ध है कि जिन लोगों का उक्त मर्यादा के भीतर उपनयन संस्कार न हुआ हो उन्हें सर्व धर्म-कृत्यों से बहिष्कृत और वंचित किया जाय अथवा धर्म-सेवन के उनके सभी अधिकारों को छीन लिया जाय। जैनधर्म का ऐसा न्याय नहीं है और न उसमें उपनयन संस्कार को इतना महत्व ही दिया गया है कि उसके बिना किसी भी धर्म कर्म के करने का कोई अधिकारी ही न रहे। उसमें धर्मसेवन के अनेक मार्ग बतलाये गये हैं, जिनमें उपनयन-संस्कार भी एक मार्ग है अथवा एक मार्ग में दाखिल है। जैनी बिना यज्ञोपवीत संस्कार के भी पूजन, दान, स्वाध्याय, तप और संयम जैसे धर्मकृत्यों का आचरण कर सकते हैं, करते हैं और करते आए हैं; श्रावक के बारह व्रतों का भी वे खंडशः अथवा पूर्णरूप से पालन कर सकते हैं और अन्त में सल्लेखना व्रत का भी अनुष्ठान कर सकते हैं। प्रतिष्ठाकार्यों में भी बड़े बड़े प्रतिष्ठाचार्यों द्वारा ऐसे लोगों की नियुक्ति देखी जाती है जिनका उक्त मर्यादा के भीतर यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ होता। यदि उक्त मर्यादा से ऊपर का कोई भी अजैन जैनधर्म की शरण में आए तो जैनधर्म उसका यह कह कर कभी त्याग नहीं कर सकता कि 'मर्यादा के भीतर तुम्हारा यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ इसलिये अब तुम इस धर्म को धारण तथा पालन करने के अधिकारी नहीं रहे'। ऐसा कहना और करना उसकी नीति तथा सिद्धान्त के विरुद्ध है। वह खुशी से उसे अपनाएगा, अपनी दीक्षा देगा और जरूरत समझेगा तो उसके लिये यज्ञोपवीत का भी विधान करेगा। इसी तरह पर एक जैनी, जो उक्त मर्यादा तक अव्रती अथवा धर्म कर्म से पराङ्मुख रहा हो, अपनी भूल को मालूम करके श्रावकादि के व्रत लेना चाहे तो जैनधर्म उसके लिये भी यथायोग्य व्यवस्था करेगा। उसका

मर्यादा के भीतर यज्ञोपवीत संस्कार से संस्कारित न होना, उसमें कुछ भी बाधक न होगा। और इन सब बातों को पुष्ट करने के लिये जैन शास्त्रों से सैंकड़ों कथन, उपाख्यान और उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनकी यहाँ पर कोई जरूरत मालूम नहीं होती। अतः भट्टारकजी का उक्त लिखना जैनधर्म की नीति और प्रकृति के विरुद्ध है। वह हिन्दूधर्म की शिक्षा को लिये हुए है। भट्टारकजी के **उक्त पद्य भी हिन्दूधर्म की चीज़ हैं**—पहले दोनों पद्य **'मनु'** के वचन हैं और वे **'मनुस्मृति'** के दूसरे अध्याय में क्रमशः नं० ३६, ३७ पर ज्यों के त्यों दर्ज हैं; तीसरा पद्य और चौथे पद्य का पूर्वार्ध दोनों **'याज्ञवल्क्य'** ऋषि के वचन हैं और **'याज्ञवल्क्यस्मृति'** के पहले अध्याय में क्रमशः नं० ३७ तथा ३८ पर दर्ज हैं। रहा चौथे पद्य का उत्तरार्ध, वह भट्टारकजी की प्रायः अपनी रचना जान पड़ता है और याज्ञवल्क्य स्मृति के '**सावित्रीपतिता व्रात्या व्रात्यस्तोमादृते क्रतोः**' इस उत्तरार्ध के स्थान में बनाया गया है।

यहाँ पर पाठकों की समझ में यह बात सहज ही आजायगी कि कि जब भट्टारकजी ने गुरुपरम्परा के अनुसार कथन करने की प्रतिज्ञा की तब उसके अनन्तर ही आपका 'मनु' और 'याज्ञवल्क्य' के वाक्यों को उद्धृत करना इस बातको साफ़ सूचित करता है कि आपकी गुरु परम्परा में **मनु** और **याज्ञवल्क्य** जैसे हिन्दू ऋषियों का खास स्थान था। आप बज़ाहिर अपने भट्टारकी वेष में भले ही, जैनी तथा जैनगुरु बने हुए, अजैन-गुरुओं की निन्दा करते हों और उनकी कृतियों तथा विधियों को अच्छा न बतलाते हों परन्तु आपका अन्तरंग उनके प्रति झुका हुआ जरूर था, इसमें सन्देह नहीं; और यह आपका मानसिक दौर्बल्य था जो आपको उन अजैन-गुरुओं या हिन्दू ऋषियों के वाक्यों अथवा विधि-विधानों का प्रकट रूप से अभिनन्दन करने का

साहस नहीं होता था और इसीलिये आपको छल करना पड़ा। आपने, जैनी होने के कारण, **'गुरुक्रमात्'** पद के प्रयोग द्वारा अपने पाठकों को यह विश्वास दिलाया कि आप जैनगुरुओं की (**जिनसेनादि** की) कथन-परम्परा के अनुसार यज्ञोपवीत क्रिया का कथन करते हैं परंतु कथन किया आपने 'मनु' और 'याज्ञवल्क्य' जैसे हिन्दू ऋषियों की परम्परा के अनुसार, उनके वचनों तक को उद्धृत करके। **यही आपका छल है, यही धोखा है और इसे आपकी ठगविद्या का एक खासा नमूना समझना चाहिये।**

इस क्रिया के वर्णन में **नान्दीश्राद्ध और पिप्पलपूजनादिक** की और भी कितनी ही विरुद्ध बातें ऐसी हैं जो हिन्दूधर्म से ली गई हैं और जिनमें से कुछ का विचार आगे किया जायगा।

(ठ) **'व्रतचर्या'** क्रिया का कथन, यद्यपि, भट्टारकजी ने आदिपुराण के पद्यों में ही दिया है परन्तु इस कथन के **'यावद्विद्यासमाप्तिः'** (७७), तथा **'सूत्रमौपासिकं'** (७८) नाम के दो पद्यों को आपने **'व्रतावतरण'** क्रिया का कथन करते हुए उसके मध्य में दे दिया है, जहाँ वे **असंगत** जान पड़ते हैं। और इन पद्यों के अनन्तर के निम्न दो पद्यों को बिलकुल ही छोड़ दिया है—उनका आशय भी नहीं दिया—

शब्दविद्यार्थशास्त्रादि चाध्येयं नाऽस्य दूष्यते।
सुसंस्कारप्रबोधाय वैयात्यख्यातयेऽपि च ॥ ३८-११९ ॥
ज्योतिर्ज्ञानमथ छन्दो ज्ञानं ज्ञानं च शाकुनम्।
संख्याज्ञानमितीदं च तेनाध्येयं विशेषतः ॥ १२० ॥

इन पद्यों को छोड़ देने अथवा इनका आशय भी न देने से प्रकृत क्रिया के अभ्यासी के लिये उपासकसूत्र और अध्यात्मशास्त्र के पढ़ने का ही विधान रह जाता है परंतु इन पद्यों द्वारा उसके लिये व्याकरणशास्त्र, अर्थशास्त्रादिक, ज्योतिःशास्त्र, छन्दःशास्त्र, शकुनशास्त्र और गणित

शास्त्र के अध्ययन का भी सविशेष रूप से विधान पाया जाता है,* जिसे भट्टारकजी ने शायद अनुपयोगी समझा हो। इसी तरह पर 'व्रतावतरण' क्रिया के कथन में, 'व्रतावतरणं चेदं' से पहले के निम्न दो पद्यों को भी आपने छोड़ दिया है, जिनमें से दूसरा पद्य तो 'सार्वकालिक व्रत' का उल्लेख करने वाला है, खासतौर से जरूरी था—

ततोऽस्याधीतविद्यस्य व्रतवृत्त्यवतारणम् ।
विशेषविषयं तच्च स्थितस्यौत्सर्गिके व्रते ॥ १२३ ॥
मधुमांसपरित्यागः पंचोदुम्बरवर्जनम् ।
हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात्सार्वकालिकम् ॥ १२४ ॥

इन पद्यों के न होने से 'व्रतावतरणं चेदं' नाम का पद्य असम्बद्ध जान पड़ता है—'यावद्विद्या समाप्तिः' आदि पूर्व पद्यों के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही ठीक नहीं बैठता। और 'वस्त्राभरण' नाम का उत्तर पद्य भी, आदिपुराण के पद्य नं० १२५ और १२६ के उत्तरार्ध तथा पूर्वार्ध को मिलाकर बनाए जाने से कुछ बेढंगा हो गया है जिसका उल्लेख ग्रंथ के संग्रहत्व का दिग्दर्शन कराते हुए किया जाचुका है। इसके सिवाय, भट्टारकजी ने व्रतावतरण क्रिया का निम्न पद्य भी नहीं दिया और न उसके आशय का ही अपने शब्दों में उल्लेख किया है, जिसके अनुसार 'कामब्रह्मव्रत' का अवतार (त्याग) उस वक्त तक नहीं होता—वह बना रहता है—जब तक कि विवाह नाम की उत्तर क्रिया नहीं हो लेती:—

भोगब्रह्मव्रतादेवमवतीर्णो भवेत्तदा ।
कामब्रह्मव्रतं चास्य तावद्यावत्क्रियोत्तरा ॥ १२७ ॥

---

* पं० पन्नालालजी सोनी ने भी इस विधान का अपने अनुवाद में उल्लेख किया है परन्तु आप से यह सख्त गलती हुई जो आपने 'यावद्विद्या समाप्तिः' आदि चारों ही पद्यों को व्रतावतरण क्रिया के पद्य बतला दिया है। आपके "इसी (व्रतावतरण) क्रिया में यह और भी बतलाया है" शब्द बहुत खटकते हैं।

यही सब इस ग्रंथ की दोनों (व्रतचर्या और व्रतावतरण) क्रियाओं का आदिपुराण के साथ विरोध है। मालूम नहीं जब इन क्रियाओं को प्रायः आदिपुराण के शब्दों में ही रखना था तो फिर यह व्यर्थ की गड़बड़ी क्यों की गई और क्यों दोनों क्रियाओं के कथन में यह असामंजस्य उत्पन्न किया गया !! भट्टारकी लीला के सिवाय इसे और क्या कहा जा सकता है ? भट्टारकजी ने तो अध्याय के अन्त में जा कर इन क्रियाओं के अस्तित्व तक को भुला दिया है और '**इत्थं मौंजीबन्धनं पालनीयं**' आदि पद्य के द्वारा इन क्रियाओं के कथन को भी मौंजीबन्धन का—यज्ञोपवीत क्रिया का—ही कथन बतला दिया है !! इसके सिवाय, एक बात और भी जान लेने की है और वह यह कि श्रावकाचार अथवा श्रावकीय व्रतों का जो उपदेश 'व्रतचर्या' क्रिया के अवसर पर होना चाहिये था * उसे भट्टारकजी ने 'व्रतावतरण' क्रिया के भी बाद, दसवें अध्याय में दिया है और व्रतचर्या के कथन में वैसा करने की कोई सूचना तक भी नहीं दी। ये सब बातें आपके रचना-विरोध और उसके बेढंगेपन को सूचित करती हैं। आपको कम से कम 'व्रतावतरण' क्रिया को दसवें अध्याय के अन्त में, अथवा ग्यारहवें के शुरू में—विवाह से पहले—देना चाहिये था। इस प्रकार का रचना-सम्बन्धी विरोध अथवा बेढंगापन और भी बहुत से स्थानों पर पाया जाता है, और वह सब मिलकर भट्टारकजी की ग्रंथरचना-संबंधी योग्यता को चौपट किये देता है।

---

*व्रतचर्या के अवसर पर उपासकाध्ययन के उपदेशों का संक्षेप में संग्रह होता है, यह बात आदिपुराण के निम्न वाक्य से भी प्रकट है:-

अथातोऽस्य प्रवक्ष्यामि व्रतचर्यामनुक्रमात्।
स्यादत्रोपासकाध्यायः समासेनानुसंहृतः॥ ४०-१६५॥

(ड) त्रिवर्णाचार के ग्यारहवें अध्याय में, तमाम क्रियाओं में से सिर्फ़ '**विवाह**' नामकी क्रिया का वर्णन है और उसका प्रारम्भ करते हुए एक पद्य निम्न प्रकार से दिया है:—

जिनसेनमुनिं नत्वा वैवाहविधिमुत्तमम् ।
वक्ष्ये पुराणमार्गेण लौकिकाचारसिद्धये ॥ २ ॥

इस पद्य में **जिनसेन** मुनि को नमस्कार करके **पुराण** के अनुसार विवाह-विधि के कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है और इस तरह पर—पूर्वप्रतिज्ञाओं की मौजूदगी में आवश्यकता न होते हुए भी—इस प्रतिज्ञाद्वारा सविशेष रूप से यह घोषणा की गई है अथवा विश्वास दिलाया गया है कि इस क्रिया का सब कथन भगवज्जिनसेन के आदिपुराणानुसार किया जाता है। परन्तु अध्याय के जब पत्र पलटते हैं तो नक़शा बिलकुल ही बदला हुआ नज़र आता है और यह मालूम होने लगता है कि अध्याय में वर्णित अधिकांश बातों का आदिपुराण के साथ प्रायः कोई सम्बन्धविशेष नहीं है। **बहुतसी बातें हिन्दूधर्म के आचारविचार को लिये हुए हैं—हिन्दुओं की रीतियाँ, विधियाँ अथवा क्रियाएँ हैं—और कितनी ही लोक में इधर उधर प्रचलित अनावश्यक रूढ़ियाँ हैं, जिन सब का एक बेढंगा संग्रह यहाँ पर किया गया है।** इस संग्रह से भट्टारकजी का अभिप्राय उक्त प्रकार की सभी बातों को जैनियों के लिये शास्त्रसम्मत क़रार देने अथवा उन्हें जैनों की शास्त्राज्ञा प्राप्त करा देने का जान पड़ता है, और यह बात आपके '**लौकिकाचार-सिद्धये**' पद से भी ध्वनित होती है। **आप 'लौकिकाचार' के बड़े ही अन्ध भक्त थे** ऐसा जान पड़ता है, बूढ़ी स्त्रियाँ जो कुछ बतलाएँ उन सब क्रियाओं तक को बिना चूँ चरा करने की आपने परवानगी दी है और एक दूसरी जगह तो, जिसका विचार आगे किया

जायगा, आप यहाँ तक लिख गये हैं कि ' एवं कृते न मिथ्यात्वं लौकिकाचारवर्तनात् '—अर्थात्, ऐसा करने से मिथ्यात्व का दोष नहीं लगता; क्योंकि यह तो लोकाचार का वर्तना है। आपकी इस अद्भुत तर्कणा और अन्धभक्ति का ही यह परिणाम है जो आप बिना विवेक के कितने ही विरुद्ध आचरणों तथा मिथ्या क्रियाओं को अपने ग्रंथ में स्थान दे गये हैं, और इसी तरह पर कितनी ही देश, काल, इच्छा तथा शक्ति आदि पर निर्भर रहने वाली वैकल्पिक या स्थानिकादि बातों को सबके लिये अवश्यकरणीयता का रूप प्रदान कर गये हैं। परन्तु इन बातों को छोड़िये, यहाँ पर मैं सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि आदिपुराण में विवाहक्रिया का कथन, यद्यपि, सूत्ररूप से बहुत ही संक्षेप में दिया है परन्तु जो कुछ दिया है वह सार कथन है और त्रिवर्णाचार का कथन उससे बहुत कुछ विरोध को लिये हुए है। नीचे इस विरोध का ही कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है, जिसमें प्रसंगवश दो चार दूसरी बातें भी पाठकों के सामने आजाएँगी:—

१—भट्टारकजी, सामुद्रकशास्त्रादि के अनुसार विवाहयोग्य कन्या का वर्णन * करते हुए, लिखते हैं—

इत्थं लक्षणसंयुक्तां षडष्टराशिवर्जिताम्।
वर्णविरुद्धसंत्यक्तां सुभगां कन्यकां वरेत्॥ ३४॥

---

* इस वर्णन में 'सामुद्रक' के अनुसार कन्याओं अथवा स्त्रियोंके जो लक्षण फल सहित दिये हैं वे फल दृष्टि से बहुत कुछ आपत्ति के योग्य हैं—कितने ही प्रत्यक्षविरुद्ध हैं और कितने ही दूसरे सामुद्रक शास्त्रों के साथ विरोध को लिये हुए हैं—उन सब पर विचार करने का यहाँ अवसर नहीं है। इस लिये उनके विचार को छोड़ा जाता है।

इस पद्य में, अन्य बातों को छोड़कर, एक बात यह कही गई है कि जो कन्या विवाही जाय वह **वर्णविरोध से रहित** होनी चाहिये—अर्थात्, **असवर्णा न हो** किन्तु **सवर्णा** हो। परन्तु यह नियम आदिपुराण के विरुद्ध है। आदिपुराण में त्रैवर्णिक के लिये सवर्णा और असवर्णा दोनों ही प्रकार की कन्याएँ विवाह के योग्य बतलाई हैं। उसमें साफ़ लिखा है कि वैश्य अपने वर्ण की और शूद्र वर्ण की कन्या से, क्षत्रिय अपने वर्ण की और वैश्य तथा शूद्र वर्ण की कन्याओं से और ब्राह्मण चारों ही वर्ण की कन्याओं से विवाह कर सकता है। सिर्फ़ शूद्र के लिये ही यह विधान है कि वह शूद्रा अर्थात् सवर्णा से ही विवाह करे असवर्णा से नहीं। यथा:—

> **शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वां तां च नैगमः।**
> **वहेत्स्वां ते च राजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्च ताः॥१६-४७॥**

इस पूर्वविधान को ध्यान में रखकर ही आदिपुराण में विवाह-क्रिया के अवसर पर यह वाक्य कहा गया है कि '**वैवाहिके कुले कन्यामुचितां परिणेष्यते**'—अर्थात् विवाहयोग्य कुल में से उचित कन्या का परिणयन करे। यहाँ कन्या का '**उचिता**' विशेषण बड़ा ही महत्वपूर्ण, गम्भीर तथा व्यापक है और उन सब त्रुटियों को दूर करने वाला है जो त्रिवर्णाचार में प्रयुक्त हुए सुभगा, सुलक्षणा अन्यगोत्रभवा, अनातङ्का, आयुष्मती, गुणाढ्या, पितृदत्ता और रूपवती आदि विशेषणों में पाई जाती हैं। उदाहरण के लिये '**रूपवती**' विशेषण को ही लीजिये। यदि रूपवती कन्याएँ ही विवाह के योग्य हों तब 'कुरूपा' सब ही विवाह के अयोग्य ठहरें। उनका तब क्या बनाया जाय? क्या उनसे जबरन ब्रह्मचर्य का पालन कराया जाय अथवा उन्हें वैसे ही व्यभिचार के लिये छोड़ दिया जाय? दोनों ही बातें अनिष्ट तथा अन्यायमूलक हैं। परन्तु एक कुरूपा का उसके

अनुरूप कुरूप वर के साथ विवाह हो जाना अनुचित नहीं कहा जा सकता—उस कुरूप के लिये वह कुरूपा 'उचिता' ही है। अतः विवाहयोग्य कन्या 'रूपवती' ही हो ऐसा व्यापक नियम कदापि आदरणीय तथा व्यवहरणीय नहीं हो सकता—वह व्यक्तिविशेष के लिये ही उपयोगी पड़ सकता है। इसी तरह पर '**पितृदत्ता**' आदि दूसरे विशेषणों की त्रुटियों का भी हाल जानना चाहिये।

भट्टारकजी उक्त पद्य के बाद एक दूसरा पद्य निम्न प्रकार से देते हैं:—

> रूपवती स्वजातीया स्वतोलघ्वन्यगोत्रजा।
> भोक्तुं भोजयितुं योग्या कन्या बहुकुटुम्बिनी॥ ३६॥

यहाँ विवाहयोग्य कन्या का एक विशेषण दिया है '**स्वजातीया**'—**अपनी जाति की**—और यह विशेषण '**सवर्णा**' का ही पर्यायनाम जान पड़ता है; क्योंकि '**जाति**' शब्द '**वर्ण**' अर्थ में भी प्रयुक्त होता है—आदिपुराण में भी वह बहुधा 'वर्ण' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—मूल जातियाँ भी वर्ण ही हैं। परन्तु कुछ विद्वानों का कहना है कि यह विशेषण-पद अग्रवाल, खंडेलवाल आदि उपजातियों के लिये प्रयुक्त हुआ है और इसके द्वारा अपनी अपनी उपजाति की कन्या से ही विवाह करने को सीमित किया गया है। अपने इस कथन के समर्थन में उन लोगों के पास एक युक्ति भी है और वह यह कि 'यदि इस पद्यका आशय सवर्णा का ही होता तो उसे यहाँ देने की जरूरत ही न होती; क्योंकि भट्टारकजी पूर्वपद्य में इसी आशय को '**वर्णविरुद्ध संत्यक्ता**' पद के द्वारा व्यक्त कर चुके हैं, वे फिर दोबारा उसी बात को क्यों लिखते? परन्तु इस युक्ति में कुछ भी दम नहीं है। कहा जा सकता है कि एक पद्य में जो बात एक ढंग से कही गई है वही दूसरे पद्य में दूसरे ढंग से बतलाई गई है। इसके सिवाय, भट्टारकजी का सारा ग्रंथ पुनरुक्तियों से भरा हुआ है, वे इतने सावधान नहीं थे जो ऐसी बारी-

त्तियों पर ध्यान देते, उन्होंने इधर उधर से ग्रंथ का संग्रह किया है और इसलिये उसमें बहुतसी पुनरुक्तियाँ हो गई हैं। उदाहरण के लिये इसी अध्याय को लीजिये, इसके तीसरे पद्य में आप विवाहयोग्य कन्या का विशेषण **'अन्यगोत्रभवा'** देते हैं और उक्त पद्य नं० ३६ में **'अन्यगोत्रजा'** लिखते हैं, दोनों में कौनसा अर्थ-भेद है? फिर यह पुनरुक्ति क्यों की गई? इसी तरह पर १६०वें पद्य में **'ऊर्ध्वं विवाहात्तनयस्य नैव कार्यो विवाहो दुहितुः समार्धम्'** इस वाक्य के द्वारा जो 'पुत्र विवाह से छह महीने बाद तक पुत्री का विवाह न करने की' बात कही गई है वही १६२वें पद्य में **'न पुंविवाहोर्ध्वमृतुत्रयेऽपि विवाहकार्यं दुहितुश्च कुर्यात्'** इन शब्दों में दोहराई गई है। ऐसी हालत में उक्त हेतु साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ है। फिर भी यदि वैसे ही यह मान लिया जाय कि भट्टारकजी का आशय इस पद्य के प्रयोग से अपनी अपनी उपजाति की कन्या से ही था तो कहना होगा कि आपका यह कथन भी आदिपुराण के विरुद्ध है; क्योंकि **आदिपुराण में विद्याधर जाति की कन्याओं से ही नहीं किन्तु म्लेच्छ जाति जैसी विजातीय कन्याओं से भी विवाह करने का विधान है**—स्वयं **भरतजी** महाराज ने, जो आदिपुराण-वर्णित बहुत से विधि-विधानों के उपदेष्टा हुए हैं और एक प्रकार से **'कुलकर'** माने गये हैं, ऐसी बहुतसी कन्याओं के साथ विवाह किया है; जैसाकि आदिपुराण के निम्न पद्यों से प्रकट है—

इत्युपायैरुपायज्ञः साधयन्म्लेच्छभूभुजः।
तेभ्यः कन्यादिरत्नानि प्रभोर्भोग्यान्युपाहरत्॥ ३१-१४१॥

कुलजात्यभिसम्पन्ना देव्यस्तावत्प्रमाः स्मृताः।
रूपलावण्यकान्तीनां याः शुद्धाकरभूमयः॥ ३७-३४॥

म्लेच्छराजादिभिर्दत्तास्तावन्त्यो नृपवल्लभाः ।
अप्सरः संकथा क्षोणीं यकाभिरवतारिताः ॥ ३७-३५ ॥

इन पद्यों से यह भी प्रकट है कि सजातीय कन्याएँ ही भोगयोग्य नहीं होतीं बल्कि म्लेच्छ जाति तक की विजातीय कन्याएँ भी भोगयोग्य होती हैं; और इसलिये भट्टारकजी का सजातीय कन्याओं को ही **'भोक्तुं भोजयितुं योग्या'** लिखना ठीक नहीं है—वह आदिपुराण की नीति के विरुद्ध है ।

२–एक स्थान पर भट्टारकजी, कन्या के स्वयंवराऽधिकार का नियंत्रण करते हुए लिखते हैं:—

पित्रादिदात्रभावे तु कन्या कुर्यात्स्वयंवरम् ।
इत्येवं केचिदाचार्याः प्राहुर्महति संकटे ॥ ८३ ॥

इस पद्य में कन्या को **'स्वयंवर'** का अधिकार सिर्फ उस हालत में दिया गया है जबकि उसका पिता, पितामह, भाई आदि कोई भी बांधव कन्यादान करने वाला मौजूद न हो । और साथ ही यह भी कहा गया है कि स्वयंवर की यह विधि कुछ आचार्यों ने महासंकट के समय बतलाई है । परन्तु कौन से आचार्यों ने बतलाई है ऐसा कुछ लिखा नहीं—भगवज्जिनसेन ने तो बतलाई नहीं । आदिपुराण में स्वयंवर को संपूर्ण विवाहविधियों में 'श्रेष्ठ' (वरिष्ठ) बतलाया है और उसे **'सनातनमार्ग'** लिखा है । उसमें राजा **अकम्पन** की पुत्री **'सुलोचना'** सती के जिस स्वयंवर का उल्लेख है वह सुलोचना के पिता आदि की मौजूदगी में ही बड़ी खुशी के साथ सम्पादित हुआ था । साथ ही, **भरत** चक्रवर्ती ने उसका बड़ा अभिनंदन किया था और उन लोगों को सत्पुरुषों द्वारा पूज्य ठहराया था जो ऐसे सनातन मार्गों का पुनरुद्धार करते हैं । यथा:—

सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः ।
विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवरः ॥ ४४-३२ ॥
तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन्यद्यकम्पनाः ।
कः प्रवर्तयिताऽन्योऽस्य मार्गस्यैष सनातनः ॥ ४५-४५ ॥
मार्गांश्चिरंतनान्येऽत्र भोगभूमितिरोहितान् ।
कुर्वन्ति नूतनान्सन्तः सद्भिः पूज्यास्त एव हि ॥ ४५-५५ ॥

ऐसी हालत में भट्टारकजी की उक्त व्यवस्था आदिपुराण के विरुद्ध है और इस बात को सूचित करती है कि आपने आदिपुराण की रीति, नीति अथवा मर्यादा का प्रायः कोई खयाल नहीं रक्खा ।

३—एक दूसरे स्थान पर भट्टारकजी, विवाह के ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, ऐसे आठ भेद करके, उनके स्वरूप का वर्णन निम्न प्रकार से देते हैं—

ब्राह्मो दैवस्तथा चा [थैवा] र्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ७० ॥
आच्छाद्य चार्ह [र्च] यित्वा च व्रतशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ ७१ ॥
यज्ञे तु वितते सम्यक् जिनार्चा [ऋत्विजे] कर्म कुर्वते ।
अलंकृत्य सुतादानं दैवो धर्मः प्रचक्ष्यते ॥ ७२ ॥
एकं वस्त्रयुगं [गोमिथुनं] द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ ७३ ॥
सहोभौ चरतां धर्ममिति तं [वा] चानुभाष्य तु [च] ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ ७४ ॥
ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याऽऽदानं [प्रदानं] यत्क्रियते चा [स्वाच्छन्द्यादा] सुरोधर्म उच्यते ॥ ७५ ॥

स्वे [इ] च्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः ॥ ७६ ॥
हत्वा भित्वा च छित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ७७ ॥
सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचः कथितोऽष्टमः [चाष्टमोऽधमः] ॥७८॥

विवाहभेदों का यह सब वर्णन आदिपुराण सम्मत नहीं है—उससे नहीं लिया गया—किन्तु हिन्दुओं के प्रसिद्ध ग्रंथ '**मनुस्मृति**' से उठाकर रक्खा गया है। मनुस्मृति के तीसरे अध्याय में ये सब श्लोक, ब्रैकिटों में दिये हुए पाठभेद के साथ, क्रमशः नं० २१ तथा नं० २७ से ३४ तक दर्ज हैं *। और इनमें '**ऋत्विजे**' की जगह '**जिनार्चा**' तथा '**गोमिथुनं**' की जगह '**वस्त्रयुगं**' जैसे पाठभेद भट्टारकजी के किये हुए जान पड़ते हैं।

४–इस विवाहक्रिया में भट्टारकजी ने '**देवपूजन**' का जो विधान किया है वह आदिपुराण से बड़ा ही विलक्षण जान पड़ता है। आदिपुराण में इस अवसर के लिये खास तौर पर **सिद्धों** का पूजन रक्खा है—जो प्रायः गार्हपत्यादि अग्निकुण्डों में सप्त पीठिका मंत्रों द्वारा किया जाता है—और किसी पुण्याश्रम में **सिद्ध प्रतिमा** के सन्मुख वर और कन्या का पाणिग्रहणोत्सव करने की आज्ञा की है। यथा:—

सिद्धार्चनविधिं सम्यग्निवर्त्य द्विजसत्तमः।
कृताग्नित्रयसंपूजाः कुर्युस्तत्साक्षि तां क्रियाम् ॥ ३८-१२९ ॥
पुण्याश्रमे क्वचित्सिद्धप्रतिमाभिमुखं तयोः।
दम्पत्योः परया भूत्या कार्यः पाणिग्रहोत्सवः ॥—१३० ॥

---

* देखो 'मनुस्मृति' निर्णयसागर प्रेस बम्बई द्वारा सन् १९०९ की छपी हुई। अन्यत्र भी इसी एडीशन का हवाला दिया गया है।

परंतु भट्टारकजी ने सिद्धपूजनादि की ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की। आपने व्यवस्था की है **जलदेवताओं** की गंध, अक्षत, पुष्प तथा फलों से पूजा करने की, घर में वेदी बना कर उसमें **गृहदेवता** + की स्थापना करने तथा दीपक जलाने आदि रूप से उसकी पूजा करने की, **पंचमंडल** और **नवग्रह देवताओं** के पूजन की, **अघोर-मंत्र** से होम करने की और **नागदेवताओं** को बलि देने आदि की; जैसा कि आपके निम्न वाक्यों से प्रकट है—

"फलगन्धाक्षतैः पुष्पैः सम्पूज्य जलदेवताः।" (६१)

"वेद्यां गृहाधिदेवं संस्थाप्य दीपं प्रज्वालयेत्।" (६२)

"पुण्याहवाचनां पश्चात्पञ्चमण्डल पूजनम्।
नवानां देवतानां च पूजनं च यथाविधि ॥ १३३ ॥
तथैवाऽघोरमंत्रेण होमश्च समिधाहुतिम्।
लाजाहुतिं वधूहस्तद्वयेन च वरेण च" ॥ १३४ ॥

"शुभे मंडपे दक्षिणीकृत्य तं वै प्रदायाशु नागस्य साक्षाद्बलिं च।" (१६४)

इससे साफ़ ज़ाहिर है कि त्रिवर्णाचार का यह पूजन-विधान आदिपुराण-सम्मत नहीं किन्तु भगवज्जिनसेन के विरुद्ध है। रही मंत्रों की बात, उनका प्रायः वही हाल है जो पहले लिखा जा चुका है—आदिपुराण के अनुसार उनकी कोई व्यवस्था नहीं की गई। हाँ, पाठकों

+ सोनीजी ने 'गृहाधिदेव' को "कुल देवता" समझा है परन्तु यह उनकी भूल है; क्योंकि भट्टारकजी ने चौथे अध्याय में कुल देवता से गृहदेवता को अलग बतलाया है और उसके विश्वेश्वरी, धरणेन्द्र, श्रीदेवी तथा कुबेर ऐसे चार भेद किये हैं। यथा—

विश्वेश्वरीधराधीशश्रीदेवीधनदास्तथा।
गृहलक्ष्मीकरा ज्ञेयाश्चतुर्धा वेश्मदेवताः ॥ २०५ ॥

को यहाँ पर यह जानने की जरूर इच्छा होगी कि वह **अघोरमंत्र** कौनसा है जिससे भट्टारकजी ने विवाह के अवसर पर होम करने का विधान किया है और जिसे '**कुर्यादु होमं सन्मंत्रपूर्वकम्**' वाक्य के द्वारा '**सन्मंत्र**' तक लिखा है। भट्टारकजी ने इस मंत्र को नहीं दिया परंतु वह जैन का कोई मंत्र न हो कर वैदिक धर्म का एक प्रसिद्ध मंत्र जान पड़ता है जो हिन्दुओं की विवाह-पुस्तकों में निम्न प्रकार से पाया जाता है और जिसे 'नवरत्नविवाह पद्धति' के छठे संस्करण में अथर्वन् वेद के १४ वें काण्ड के ६ वें अनु० का १८ वाँ मंत्र लिखा है—

" ॐ अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः
वीरसूर्देवकामास्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे। "

इस सब विधिविधान से पाठक सहज ही में समझ सकते हैं कि भट्टारकजी हिन्दू धर्म की तरफ कितने झुके हुए थे अथवा उनके संस्कार कितने अधिक हिन्दू धर्म के आचार विचारों को लिये हुए थे और वे किस ढंग से जैनसमाज को भी उसी रास्ते पर अथवा एक तीसरे ही विलक्षण मार्ग पर चलाना चाहते थे। उन्होंने इस अध्याय में **वर का मधुपर्क***

---

* यह मधु (शहद) का एक मिक्सचर (सम्पर्क) होता है, जिसमें दही और घी भी मिला रहता है। हिन्दुओं के यहाँ दान-पूजनादि के अवसरों पर इसकी बड़ी महिमा है। भट्टारकजी ने मधुपर्क के लिये (मधुपर्कार्थं) एक जगह वर को महज़ दही चटाई है परंतु सोनीजी को आपकी यह फीकी दही पसन्द नहीं आई और इसलिये उन्होंने पीछे से उसमें 'शक्कर' और मिलादी है और इस तरह पर मधु के स्थान की पूर्ति की है जिसका खाना जैनियों के लिये वर्जित है। यहाँ मधुपर्क के लिये दही का चटाया जाना हिन्दुओं की एक प्रकार की नक़ल को साफ़ ज़ाहिर करना है।

से पूजन, वर का ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर अपने लिये कन्या-वरण की प्रार्थना करना, वधू के गले में वर की दी हुई ताली बाँधना, सुवर्णदान और देवोत्थापन आदि की बहुत सी बातें हिन्दू धर्म से लेकर अथवा इधर उधर से उठाकर रक्खी हैं और उनमें से कितनी ही बातें प्रायः हिन्दूग्रंथों के शब्दों में उल्लेखित हुई हैं, जिसका एक उदाहरण 'देवोत्थापन-विधि' का निम्न पद्य है—

समे च दिवसे कुर्याद्देवतोत्थापनं बुधः ।
षष्ठे च विषमे नेष्टे त्यक्त्वा पंचमसप्तमौ ॥ १८०॥

यह 'नारद' ऋषि का वचन है। मुहूर्त चिन्तामणि की 'पीयूषधारा' टीका में भी इसे 'नारद' का वचन लिखा है। इसी प्रकरण में भट्टारकजी ने 'विवाहात्प्रथमे पौषे' नाम का एक पद्य और भी दिया है जो 'ज्योतिर्निबन्ध' ग्रंथ का पद्य है। परंतु उसका इस 'देवोत्थापन' प्रकरण से कोई सम्बंध नहीं, उसे इससे पहले 'वधू-गृह-प्रवेश' प्रकरण में देना चाहिये था, जहाँ 'वधूप्रवेशनं कार्यं' नाम का एक दूसरा पद्य भी 'ज्योतिर्निबन्ध' ग्रंथ से बिना नाम धाम के उद्धृत किया गया है। मालूम होता है भट्टारकजी को नक़ल करते हुए इसका कुछ भी ध्यान नहीं रहा! और न सोनीजी को ही अनुवाद के समय इस गड़बड़ी की कुछ खबर पड़ी है!!

५—आदिपुराण में लिखा है कि पाणिग्रहण दीक्षा के अवसर पर वर और वधू दोनों को सात दिन का ब्रह्मचर्य लेना चाहिये और पहले तीर्थभूमियों आदि में विहार करके तब अपने घर पर जाना चाहिये। घर पर पहुँच कर कङ्कण खोलना चाहिये और तत्पश्चात् अपने घर पर ही शयन करना चाहिये—श्वशुर के घर पर नहीं। यथाः—

पाणिग्रहणदीक्षायां नियुक्तं तद्वधूवरम् ।
आसप्ताहं चरेद्ब्रह्मव्रतं देवाग्निसाक्षिकम् ॥ १३२ ॥

भ्रान्त्वा स्वस्योचितां भूमिं तीर्थभूमीर्विहृत्य च ।
स्वगृहं प्रविशेद्भूत्या परया तद्वधूवरम् ॥ १३३ ॥
विमुक्तकङ्कणं पश्चात्स्वगृहे शयनीयकम् ।
अधिशय्य तथाकालं भोगाङ्गैरुपलालितम् ॥ १३४ ॥
—३८वाँ पर्व ।

परंतु भट्टारकजी ने उन दोनों के ब्रह्मचर्य की अवधि तीन रात की रक्खी है, गृहप्रवेश से पहले तीर्थयात्रा को जाने की कोई व्यवस्था नहीं की, बल्कि सीधा अपने घर को जाने की बात कही है और यहाँ तक बन्ध लगाया है कि एक वर्ष तक किसी भी अपूर्व तीर्थ अथवा देवता के दर्शन को न जाना चाहिये; कङ्कण को प्रस्थान से पहले श्वशुरगृह पर ही खोल देना लिखा है और वहीं पर चौथे दिन दोनों के शयन करने अथवा एक शय्यासन होने की भी व्यवस्था की है। जैसा कि आपके निम्न वाक्यों से प्रकट है—

"तदनन्तरं कङ्कणमोचनं कृत्वा महाशोभया ग्रामं प्रदक्षिणीकृत्य पयःपाननिधुवनादिकं सुखेन कुर्यात् । स्वग्रामं गच्छेत् * ।
" विवाहे दम्पती स्यातां त्रिरात्रं ब्रह्मचारिणौ ।
अलंकृता वधूश्चैव सहशय्यासनाशनौ ॥ १७२ ॥

---

*इस वाक्य में ग्राम की प्रदक्षिणा के अनन्तर सुखपूर्वक दुग्धपान तथा स्त्रीसंभोगादिक (निधुवनादिक) करने का साफ़ विधान है और उसके बाद स्वग्राम को जाना लिखा है । परंतु सोनीजी ने अनुवाद में इसके विरुद्ध पहले अपने ग्राम को जाना और फिर वहाँ संभोगादिक करना बतलाया है, जो अगले पद्यों के कथन से भी विरुद्ध पड़ता है । कहीं आदिपुराण के साथ संगति मिलाने के लिये तो ऐसा नहीं किया गया ? तब तो कङ्कण भी वहीं स्वग्राम को जाकर खुलवाना था ।

वध्वा सहैव कुर्वीत निवासं श्वशुरालये ।
चतुर्थदिनमत्रैव केचिदेवं वदन्ति हि ॥ १७७ ॥
" विवाहानन्तरं गच्छेत्सभार्यः स्वस्य मन्दिरम् ।
यदि ग्रामान्तरे तत्स्यात्तत्र यानेन गम्यते ॥ १७८ ॥
× स्नानं सतैलं तिलमिश्रकर्म, प्रेतानुयानं करकप्रदानम् ।
अपूर्वतीर्थामरदर्शनं च विवर्जयेन्मङ्गलतोऽब्दमेकम् ॥ १८४ ॥

इससे स्पष्ट है कि भट्टारकजी का यह सब कथन आदिपुराण के बिलकुल विरुद्ध है और उनकी पूरी निरंकुशता को सूचित करता है । साथ ही इस सत्य को और भी उजाल देता है कि श्री जिनसेनाचार्य के वचनानुसार कथन करने की आपकी सब प्रतिज्ञाएँ ढोंग मात्र हैं । आपने उनके सहारे अथवा छल से लोगों को ठगना चाहा है और इस तरह पर धोखे से उन हिन्दू संस्कारों—क्रियाकाण्डों—तथा आचार विचारों को समाज में फैलाना चाहा है जिनसे आप स्वयं संस्कृत थे अथवा जिनको आप पसंद करते थे और जो जैन आचार-विचारों आदि

× इस पद्य में, विवाह के बाद अपूर्व तीर्थ तथा देवदर्शन के निषेध के साथ एक साल तक तेल मलकर स्नान करने, तिलों के उपयोग वाला कोई कर्म करने, मृतक के पीछे जाने और करक (कमण्डलु आदि) के दान करने का भी निषेध किया है। मालूम नहीं इन सबका क्या हेतु है ? तेल मलकर नहा लेने आदि से कौनसा पाप चढ़ता है ? शरीर में कौनसी विकृति आजाती है ? तीर्थयात्रा अथवा देवदर्शन से कौनसी हानि पहुँचती हैं ? आत्मा को उससे क्या अलाभ होता है ? और अपने किसी निकट सम्बन्धी की मृत्यु हो जाने पर उसके शव के पीछे न जाना भी कौनसा शिष्टाचार है ? जैनधर्म की शिक्षाओं से इन सब बातों का कोई सम्बन्ध मालूम नहीं होता । ये सब प्रायः हिन्दू धर्म की शिक्षाएँ जान पड़ती हैं ।

के बहुत कुछ विरुद्ध हैं। इससे अधिक **धूर्तता, उत्सूत्रवादिता और ठगविद्या** दूसरी और क्या हो सकती है? इतने पर भी जो लोग, साम्प्रदायिक मोहवश, भट्टारकजी को ऊँचे चरित्र का व्यक्ति समझते हैं, संयम के कुछ उपदेशों का इधर उधर से संग्रह कर देने मात्र से उन्हें '**अद्वितीय संयमी**' प्रतिपादन करते हैं, उनके इस त्रिवर्णाचार की दीवार को आदिपुराण के ऊपर—उसके आधारपर—खड़ी हुई बतलाते हैं और 'इसमें कोई भी बात ऐसी नहीं जो किसी आर्ष ग्रंथ अथवा जैनागम के विरुद्ध हो' ऐसा कहने तक का दुःसाहस करते हैं, उन लोगों की स्थिति, निःसंदेह, बड़ी ही शोचनीय तथा करुणाजनक है। मालूम होता है वे भोले हैं या दुराग्रही हैं, उनका अध्ययन स्वल्प तथा अनुभव अल्प है, पर—साहित्य को उन्होंने नहीं देखा और न तुलनात्मक पद्धति से कभी इस ग्रंथ का अध्ययन ही किया है। अस्तु।

इस ग्रंथ में आदिपुराण के विरुद्ध और भी कितनी ही बातें हैं जिन्हें लेख बढ़ जाने के भय से यहाँ छोड़ा जाता है।

(२) आदिपुराण के विरुद्ध अथवा आदिपुराण से विरोध रखने वाले कथनों का दिग्दर्शन कराने के बाद, अब मैं एक दूसरे ग्रंथ को और लेता हूँ जिसके सम्बन्ध में भी भट्टारकजी का प्रतिज्ञाविरोध पाया जाता है और वह ग्रंथ है '**ज्ञानार्णव**', जो श्री शुभचन्द्राचार्य का बनाया हुआ है। इसी ग्रंथ के अनुसार ध्यान का कथन करने की एक प्रतिज्ञा भट्टारकजी ने, ग्रंथ के पहले ही 'सामायिक' अध्याय में, निम्न प्रकार से दी है:—

> ध्यानं तावदहं वदामि विदुषां ज्ञानार्णवे यन्मत-
> मार्त्तं रौद्रसधर्म्यशुक्लचरमं दुःखादिसौख्यप्रदम्।
> पिण्डस्थं च पदस्थरूपरहितं रूपस्थनामा परं।
> तेषां भिन्नचतुश्चतुर्विषयजा भेदाः परे सन्ति वै ॥२८॥

इस प्रतिज्ञावाक्य-द्वारा यह विश्वास दिलाया गया है कि इस अध्याय में ध्यान का—उसके आर्त, रौद्र, धर्म्य, शुक्ल भेदों का, उपभेदों का और पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत नाम के दूसरे भेदों का—जो कुछ कथन किया गया है वह सब 'ज्ञानार्णव' के मतानुसार किया गया है, ज्ञानार्णव से भिन्न अथवा विरुद्ध इसमें कुछ भी नहीं है। परन्तु जाँचने से ऐसा मालूम नहीं होता—ग्रंथ में कितनी ही बातें ऐसी देखने में आती हैं जो ज्ञानार्णव-सम्मत नहीं हैं अथवा ज्ञानार्णव से नहीं ली गईं। उदाहरण के तौर पर यहाँ उनके कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं:—

(अ) 'अपायविचय' धर्मध्यान का लक्षण बतलाते हुए भट्टारकजी लिखते हैं—

* येन केन प्रकारेण जैनो धर्मो प्रवर्धते।
तदेव क्रियते पुम्भिरपायविचयं मतम्॥ ३५॥

अर्थात्—'जिस तिस प्रकार से जैन धर्म बढ़े वही करना अपायविचय माना गया है।' परन्तु ज्ञानार्णव में तो ऐसा कहीं कुछ माना नहीं गया। उसमें तो साफ़ लिखा है कि 'जिस ध्यान में कर्मों के अपाय (नाश) का उपाय सहित चिन्तवन किया जाता है उसे अपायविचय कहते हैं। यथाः—

---

* इस पद्य पर से 'अपायविचय' का जब कुछ ठीक लक्षण निकलता हुआ नहीं देखा तब सोनीजी ने वैसे ही खींचखाँच कर भावार्थ आदि के द्वारा उसे अपनी तरफ़ से समझाने की कुछ चेष्टा की है, जिसका अनुभव विज्ञ पाठकों को अनुवाद पर से सहज ही में हो जाता है।

अपायविचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः ।
अपायः कर्मणां यत्र सोपायः स्मर्यते बुधैः ॥३४—१॥

इस लक्षण के सामने भट्टारकजी का उक्त लक्षण कितना विलक्षण जान पड़ता है उसे बतलाने की जरूरत नहीं । सहृदय पाठक सहज ही में उसका अनुभव कर सकते हैं । वास्तव में, वह बहुत कुछ सदोष तथा त्रुटिपूर्ण है और ज्ञानार्णव के साथ उसकी संगति ठीक नहीं बैठती ।

(आ) इसी तरह पर पिण्डस्थ और रूपस्थ ध्यान के जो लक्षण भट्टारकजी ने दिये हैं उनकी संगति भी ज्ञानार्णव के साथ ठीक नहीं बैठती । भट्टारकजी लिखते हैं—'लोक में जो कुछ विद्यमान है उस सबको देह के मध्यगत चिन्तवन करना **पिण्डस्थ** ध्यान कहलाता है' और 'जिस ध्यान में शरीर तथा जीव का भेद चिन्तवन किया जाता है उसे **रूपस्थ** ध्यान कहते हैं' । यथा—

"यत्किंचिद्विद्यते लोके तत्सर्वं देहमध्यगम् ।
इति चिन्तयते यत्तु पिण्डस्थं ध्यानमुच्यते ॥४६॥
"शरीरजीवयोर्भेदो यत्र रूपस्थमस्तु तत् ॥ ४८ ॥

परन्तु ज्ञानार्णव में ऐसा कुछ भी नहीं लिखा । उसमें पिण्डस्थ ध्यान का जो पंचधारणात्मक स्वरूप दिया है उससे भट्टारकजी का यह लक्षण लाज़िमी नहीं आता । इसी तरह पर समवसरण विभूति सहित देवाधिदेव श्री अर्हंतपरमेष्ठी के स्वरूप चिन्तवन को जो उसमें रूपस्थ ध्यान बतलाया है उससे यह '**शरीरजीवयोर्भेदः**' नाम का लक्षण कोई मेल नहीं खाता * ।

---

* शायद इसीलिये सोनीजी को भावार्थ द्वारा यह लिखना पड़ा हो कि "विभूतियुक्त अर्हन्तदेव के गुणों का चिन्तवन करना रूपस्थ ध्यान है ।" परन्तु उक्त लक्षण का यह भावार्थ नहीं हो सकता ।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि भट्टारकजी ने रूपस्थ ध्यान के अनन्तर 'रूपातीत' ध्यान का लक्षण एक पद्य में देने के बाद '**प्रातश्चोत्थाय**' से लेकर '**षडावश्यकसत्कर्म**' तक १७ पद्य दिये हैं, जो ग्रंथ में 'प्रातःकाल सम्बंधी क्रियाएँ' और 'सामायिक' शीर्षकों के साथ नं० ५० से ६६ तक पाये जाते हैं। इन पद्यों में प्रातःकाल सम्बन्धी विचारों का कुछ उल्लेख करके सामायिक करने की प्रेरणा की गई है और सामायिक का स्वरूप आदि भी बतलाया गया है। सामायिक के लक्षण का प्रसिद्ध श्लोक '**समता सर्वभूतेषु**' इसमें शामिल है, '**योग्य कालासन**' तथा '**जीविते मरणे**' नाम के दो पद्य अनगारधर्मामृत के भी उद्धृत हैं और '**पापिष्ठेन दुरात्मना**' नाम का एक प्रसिद्ध पद्य प्रतिक्रमण पाठ का भी यहाँ शामिल किया गया है। और इन सब पद्यों के बाद 'पदस्थ ध्यान' का कुछ विशेष कथन आरम्भ किया गया है। ग्रंथ की इस स्थिति में उक्त १७ पद्य यहाँ पर बहुत कुछ असम्बद्ध तथा बेढंगे मालूम होते हैं—पूर्वापर पद्यों अथवा कथनों के साथ उनका सम्बंध ठीक नहीं बैठता। इनमें से कितने ही पद्यों को इस सामायिक प्रकरण के शुरू में—'**ध्यानं तावदहं वदामि**' से भी पहले—देना चाहिये था। परंतु भट्टारकजी को इसकी कुछ भी सूझ नहीं पड़ी, और इसलिये उनकी रचना क्रमभंगादि दोषों से दूषित हो गई, जो पढ़ते समय बहुत ही खटकती है। और भी कितने ही स्थानों पर ऐसे रचनादोष पाये जाते हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख पहले भी किया जा चुका है।

(३) पदस्थ ध्यान के वर्णन में, एक स्थान पर भट्टारकजी, '**ह्रीं**' मंत्र के जप का विधान करते हुए, लिखते हैं—

> हवर्णान्तः पार्श्वजिनोऽधोरेफस्तलगतः सधरेन्द्रः
> तुर्यस्वरः सबिन्दुः स भवेत्पद्मावतीसंज्ञः ॥ ७२ ॥

त्रिभुवनजनमोहकरी विद्येयं प्रणवपूर्वनमनान्ता ।
एकाक्षरीति संज्ञा जपतः फलदायिनी नित्यम् ॥ ७२ ॥

यहाँ 'ह्रीं' पद में हकार को पार्श्वनाथ भगवान का, नीचे के रकार को तलगत धरणेन्द्र का और बिन्दुसहित ईकार को पद्मावती का वाचक बतलाया है—अर्थात्, यह प्रतिपादन किया है कि **यह 'ह्रीं' मंत्र धरणेंद्र पद्मावती सहित पार्श्वनाथ जिनेंद्र का द्योतक है।** साथ ही, इसके पूर्व में '**ॐ**' और अंत में '**नमः**' पद लगा कर '**ॐ ह्रीं नमः**' ऐसा जप करने की व्यवस्था की गई है, और उसे त्रिभुवन के लोगों को मोहित करने वाली '**एकाक्षरी विद्या**' लिखा है। परंतु ज्ञानार्णव में इस मंत्र का ऐसा कोई विधान नहीं है—उसमें कहीं भी नहीं लिखा कि '**ह्रीं**' पद धरणेंद्रपद्मावतीसहित पार्श्व जिन का वाचक है अथवा '**ॐ ह्रीं नमः**' यह एकाक्षरी विद्या है—और इसलिये भट्टारकजी का यह सब कथन ज्ञानार्णव-सम्मत न होने से उनकी प्रतिज्ञा के विरुद्ध है।

(ई) इसी तरह पर भट्टारकजी ने एक दूसरे मंत्र का विधान भी निम्न प्रकार से किया है:—

ॐनमः सिद्धमित्येतन्मंत्रं सर्वसुखप्रदम्।
जपतां फलतीहेष्टं स्वयं स्वगुणजृंभितम् ॥ ८२ ॥

इसमें '**ॐनमः सिद्धं**' मंत्र के जाप की व्यवस्था की गई है और उसे सर्व सुखों का देने वाला तथा इष्ट फल का दाता लिखा है। यह मंत्र भी ज्ञानार्णव में नहीं है। अतः इसके सम्बन्ध में भी भट्टारकजी का प्रतिज्ञाविरोध पाया जाता है।

इस पद्य के बाद ग्रंथ में, '**इत्थं मंत्रं स्मरति सुगुणं यो नरः सर्वकालं**' (८३) नामक पद्य के द्वारा आम तौर पर मंत्र स्मरण के फल का उल्लेख करके, एक पद्य निम्न प्रकार से दिया है:—

अयं मंत्रो महामंत्रः सर्वपापविनाशकः ।
अष्टोत्तरशतं जप्तो धत्ते कार्याणि सर्वशः ॥ ८४ ॥

इस पद्य में जिस मंत्र को सर्वपापविनाशक महामंत्र बतलाया है और जिसके १०८ बार जपने से सर्व प्रकार के कार्यों की सिद्धि होना लिखा है वह मंत्र कौनसा है उसका इस पद्य से अथवा इसके पूर्ववर्ती पद्य से कुछ भी पता नहीं चलता । '**ॐनमः सिद्धं**' नाम का वह मंत्र तो हो नहीं सकता जो ८२ वें पद्य में वर्णित है; क्योंकि उसके सम्बन्ध का ८३ वें पद्य द्वारा विच्छेद हो गया है। यदि उस से अभिप्राय होता तो यह पद्य '**इत्थं मंत्रं**' नामक ८३ वें पद्य से पहले दिया जाता । अतः यह पद्य यहाँ पर असम्बद्ध है । सोनीजी कहते हैं इसमें 'अपराजित मंत्र' का उल्लेख है। पैंतीस अक्षरों का अपराजित मंत्र ('णमो अरहंताणं' आदि) बेशक महामंत्र है और वह उन सब गुणों से विशिष्ट भी है जिनका इसमें उल्लेख किया गया है परन्तु उससे यदि अभिप्राय था तो यह पद्य '**अपराजित् मंत्रोऽयं**' नामक ८० वें पद्य के ठीक बाद दिया जाना चाहिये था । उसके बाद '**षोडशाक्षरविद्या**' तथा '**ॐनमः सिद्धं**' नामक दो मंत्रों का और विधान बीच में हो चुका है, जिससे इस पद्य में प्रयुक्त हुए '**अयं**' (यह) पद का वाच्य अपराजित मंत्र नहीं रहा । और इस लिये अपराजितमंत्र की दृष्टि से यह पद्य यहाँ और भी असम्बद्ध है और वह भट्टारकजी की रचनाचातुरी का भण्डाफोड़ करता है ।

इस पद्य के बाद पाँच पद्य और हैं जो इससे भी ज़्यादा असम्बद्ध हैं और वे इस प्रकार हैं:—

हिंसानृतान्यदारेच्छा चुरा चातिपरिग्रहः ।
अमूनि पंच पापानि दुःखदायीनि संसृतौ ॥ ८५ ॥
अष्टोत्तरशतं भेदास्तेषां पृथगुदाहृताः ।
हिंसा तत्र कृता पूर्वं करोति च करिष्यति ॥ ८६ ॥

मनोवचनकायैश्च ते तु त्रिगुणिता नव।
पुनः स्वयं कृतकारितानुमोदैर्गुणाहतिः॥ ८७॥
सप्तविंशतिस्ते भेदाः कषायैर्गुणयेद्व्रतान्।
अष्टोत्तरशतं ज्ञेयमसत्यादिषु तादृशम्॥ ८८॥
पृथ्वीपानीयतेजःपवनसुतरवः स्थावराः पंचकायाः।
नित्यानित्यौ निगोदौ युगलशिखिचतुः संज्ञ्यसंज्ञित्रसाः स्युः।
एते प्रोक्ता जिनैर्द्वादश परिगुणिता वाङ्मनः कायभेदै-
स्ते चान्यैः कारिताद्यैस्त्रिभिरपि गुणिताश्चाष्टयुक्तैकसंख्याः॥८९॥

इन पद्यों में से पहले पद्य में हिंसादिक पंच पापों के नाम देकर लिखा है कि 'ये पाँचों पाप संसार में दुःखदायी हैं' और इसके बाद तीन पद्यों में यह बतलाया है कि इन में से प्रत्येक पाप के १०८ भेद हैं। जैसे हिंसा पहले की, अब करता है, आगे करेगा ऐसे तीन भेद हुए; इनको मन–वचन–काय से गुणने पर ९ भेद; कृत–कारित–अनुमोदना से गुणने पर २७ भेद और फिर चार कषायों से गुणने पर १०८ भेद हिंसा के हो जाते हैं। इसी तरह पर असत्यादिक के भेद जानने। और पाँचवे पद्य में हिंसादिक का कोई विकल्प उठाए बिना ही दूसरे प्रकार से १०८ भेदों को सूचित किया है—लिखा है 'पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वृक्ष, (वनस्पति) ऐसे पाँच स्थावर काय, नित्य निगोद, अनित्य निगोद, द्वींद्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञिपंचेन्द्रिय, और असंज्ञिपंचेन्द्रिय ऐसे बारह भेद* जिनेंद्र भगवान ने कहे हैं। इनको मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदना, से गुणने पर १०८ भेद हो जाते हैं'।

*ये बारह भेद भगवान ने किसके कहे हैं—जीवों के, जीवहिंसा के या असत्यादिक के, ऐसा यहाँ पर कुछ भी नहीं लिखा। और न यही बतलाया कि ये पिछले भेद यदि जिनेंद्र भगवान के कहे हुए हैं तो पहले भेद किसके कहे हुए हैं अथवा दोनों का ही कथन विकल्प रूपसे भगवान का किया हुआ है।

यही उक्त पद्यों का परिचय है। इस परिचय पर से सहृदय पाठक सहज ही में इस बातका अनुभव कर सकते हैं कि ये सब पद्य यहाँ पर पदस्थ ध्यान के वर्णन में, पूर्वापर सम्बंध अथवा कथनक्रम को देखते हुए, कितने असंबद्ध तथा बेढंगे मालूम होते हैं और इनके यहाँ दिये जाने का उद्देश्य तथा आशय कितना अस्पष्ट है। एकसौ आठ भेदों की यह गणना भी कुछ विलक्षण जान पड़ती है—भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालके भेद से भी हिंसादिक में कोई प्रकार-भेद होता है यह बात इस ग्रंथसे ही पहले पहल जानने को मिली। परंतु यह बात चाहे ठीक हो या न हो किन्तु ज्ञानार्णव के विरुद्ध जरूर है; क्योंकि ज्ञाना-र्णव में हिंसाके भूत, भविष्यत और वर्तमान ऐसे कोई भेद न करके उनकी जगह पर संरंभ, समारंभ, और आरंभ, नाम के उन भेदों का ही उल्लेख किया है जो दूसरे तत्वार्थ ग्रंथों में पाये जाते हैं; जैसा कि उसके निम्न वाक्य से प्रकट है—

संरम्भादित्रिकं योगैः कषायैर्व्याहतं क्रमात् ।
शतमष्टाधिकं ज्ञेयं हिंसा भेदैस्तु पिण्डितम् ॥८-१०॥

यहाँ पर मैं अपने पाठकों को इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि सोनीजी ने अपनी अनुवाद पुस्तक में पद्य नं० ८८ और ८९ के मध्य में **'उक्तं च तत्वार्थे'** वाक्य के साथ **संरंभसमारंभारंभ-योग'** नाम के तत्वार्थ सूत्र का भी अनुवादसहित इस ढंग से उल्लेख किया है जिससे वह भट्टारकजी के द्वारा ही उद्धृत जान पड़ता है। परंतु मराठी अनुवाद वाली प्रति में वैसा नहीं है। हो सकता है कि यह सोनीजी की ही अपनी करतूत हो। परंतु यदि ऐसा नहीं है किन्तु भट्टारकजी ने ही इस सूत्र को अपने पूर्व कथन के समर्थन में उद्धृत किया है और वह ग्रंथ की कुछ प्राचीन प्रतियों में इसी प्रकार से उद्धृत पाया जाता है तो कहना होगा कि भट्टारकजी ने इसे देकर अपनी रचना-

को और भी बेढंगा किया है—क्योंकि इससे पूर्व कथन का पूरीतरह पर समर्थन नहीं होता—अथवा यों कहिये कि सर्व साधारण पर यह प्रकट किया है कि उन्होंने संरंभ, समारंभ तथा आरंभ का अभिप्राय क्रमशः भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् काल समझा है। परंतु ऐसा समझना भूल है; क्योंकि **पूज्यपाद** जैसे आचार्यों ने **सर्वार्थसिद्धि** आदि ग्रंथों में **प्रयत्नावेश** को 'संरंभ' **साधनसमभ्यासीकरण** को 'समारंभ' और **प्रक्रम** या **प्रथमप्रवृत्ति** को 'आरंभ' बतलाया है।

(ठ) उक्त पाँचों पद्यों के अनन्तर ग्रंथ में वशीकरण, आकर्षण स्तंभन, मारण, विद्वेषण, उच्चाटन, शांतिकरण और पौष्टिक कर्म नाम के आठ कर्मों के सम्बन्ध में जप की विधि बतलाई गई है—अर्थात् यह प्रकट किया गया है कि किस कर्मविषयक मंत्र को किस समय, किस आसन तथा मुद्रा से, कौनसी दिशा की ओर मुख करके, कैसी माला लेकर और मंत्र में कौनसा पल्लव लगाकर जपना चाहिये। साथ ही, कुछ कर्मों के सम्बन्ध में जप के समय माला का दाना पकड़ने के लिये जो जो अँगुली अँगूठे के साथ काम में लाई जावे उसका भी विधान किया है। यह सब प्रकार का विधि–विधान भी ज्ञानार्णव से बाहर की चीज़ है—उससे नहीं लिया गया है। साथ ही, इस विधान में मालाओं का कथन दो बार किया गया है, जो दो जगहों से उठाकर रक्खा गया मालूम होता है और उससे कथन में कितना ही पूर्वापर विरोध आगया है। यथाः—

* स्तंभकर्मणि·········माला स्वर्णमणिश्रिता ॥ ६४ ॥

---

* अर्थात्-एक जगह स्तंभ कर्म में स्वर्णमणि की माला का और निषेध (मारण) कर्म में जीयापूते की मालाका (जिसे सोनीजीने पुत्र-जीव नामक किसी मणि की—रत्न की—माला समझा है!) विधान किया है तब दूसरी जगह स्तंभन तथा दुष्टों के सन्नाशन दोनों

निषेधकर्मणि·········पुत्रजीवकृतामाला ॥ ९९ ॥

स्तंभने दुष्टसंनाशे जपेत् प्रस्तरकर्कराम् ॥ १०८ ॥

× × × ×

विद्वेषकर्मणि·········पुत्रजीवकृता माला ॥ ९८ ॥

विद्वेषेऽरिष्टबीजजा ॥ १०८ ॥

× × × ×

शांतिकर्मणि·····मौक्तिकानां माला ॥ १०१ ॥

शान्तये·········जपेदुत्पलमालिकाम् ॥ ११० ॥

मालूम होता है भट्टारकजी को इस विरोध की कुछ भी खबर नहीं पड़ी और वे वैसे ही विना सोचे समझे इधर उधर से पद्यों का संग्रह कर गये हैं। ११० वें पद्य के उत्तरार्ध में आप लिखते हैं—'**षट्-कर्माणि तु प्रोक्तानि पल्लवा अत उच्यते**'—अर्थात् छह कर्म तो कहे गये अब पल्लवों का कथन किया जाता है। परन्तु कथन तो आपने इससे पहले वशीकरण आदि आठ कर्मों का किया है फिर यह छहकी संख्या कैसी? और पल्लवों का विधान भी आप प्रत्येक कर्म के साथ में कर चुके हैं फिर उनके कथन की यह नई प्रतिज्ञा कैसी? और उस प्रतिज्ञा का पालन भी क्या किया गया? पल्लवों की कोई खास व्यवस्था नहीं बतलाई गई, महज कुछ मंत्र दिये हैं जिनके साथ में पल्लव भी लगे हुए हैं और वे पल्लव भी कई स्थानों पर पूर्व कथन के विरुद्ध हैं। मालूम नहीं यह सब कुछ लिखते हुए भट्टारकजी क्या किसी नशे

कर्मों के लिये पत्थर के टुकड़ों की माला बतलाई गई है। विद्वेष कर्म में एक जगह जीयापूते की और दूसरी जगह रीठे के बीज की माला लिखी है और शांतिकर्म में एक जगह मोतियों की तो दूसरी जगह कमलगट्टों की माला की व्यवस्था की गई है। इस तरह पर यह कथन परस्परविरोध को लिये हुए है।

की हालत में थे, उन्मत्त थे अथवा उन्हें इतनी भी सूझ बूझ नहीं थी जो अपने सामने स्थित एक ही पत्र पर के पूर्वापर विरोधों को भी समझ सकें ! और क्या इसी बिरते अथवा बूते पर आप ग्रंथरचना करने बैठ गये ? संभव है भट्टारकजी को घर की ऐसी कुछ ज़्यादा अक्ल न हो और उन्होंने किराये के साधारण आदमियों से रचना का काम लिया हो और उसी की वजह से यह सब गड़बड़ी फैली हो । परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि इस ग्रंथ का निर्माण किसी अच्छे हाथ से नहीं हुआ और इसीलिये वह पद पद पर अनेक प्रकार के विरोधों से भरा हुआ है तथा बहुत ही बेढंगेपन को लिये हुए है।

यहाँ पर पाठकों को यह जानकर बड़ा ही आश्चर्य तथा कौतूहल होगा कि भट्टारकजी ने 'सामायिक' के इस अध्याय में **विद्वेषण** तथा **मारण मंत्रों** तक के जप का विधान किया है* और ऐसे दुष्ट कार्यार्थी मंत्रों के जप का स्थान श्मशान भूमि+ बतलाया है !! खेद है जिस सामायिक की बाबत आपने स्वयं यह प्रतिपादन किया है कि 'उसमें सब जीवों पर समता भाव रक्खा जाता है, संयम में शुभ भावना रहती है तथा आर्त्त-रौद्र नाम के अशुभ ध्यानों का त्याग होता है' और जिसके विषय में आप यहाँ तक शिक्षा दे आए हैं कि 'उसके अभ्यासी को जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, योग-वियोग, बन्धु-शत्रु तथा सुख-दुख में सदा समता भाव रखना चाहिये—रागद्वेष नहीं करना चाहिये' उसी सामायिक के प्रकरण में आप विद्वेष फैलाने तथा किसी को मारने तक के मंत्रों का विधान करते हैं !! यह कितना भारी विरोध तथा

*यथा:—ॐ ह्रां. अर्हद्भ्यो हुं फट्, ॐ ह्रीं सिद्धेभ्यो हुं फट्, इत्यादि-विद्वेषमंत्राः।
ॐ ह्रां अर्हद्भ्यो घे घे इति (इत्यादि ?) मारणमंत्रः।

+यथा:-श्मशाने दुष्टकार्यार्थं शान्त्यार्थीजिनालये ॥१११॥

अन्याय है। क्या ऐसे पाप मंत्रों का जपना भी 'सामायिक' हो सकता है? कदापि नहीं। ऐसे मारणादि-विषयक मंत्रों का आराधन प्रायः हिंसानन्दी रौद्र ध्यान का विषय है और वह कभी 'सामायिक' नहीं कहला सकता। भगवज्जिनसेन ने भी ऐसे मंत्रों को 'दुर्मन्त्र' बतलाया है जो प्राणियों के मारण में प्रयुक्त होते हैं* भले ही उनके साथ में अर्हन्तादिक का नाम भी क्यों न लगा हो। और इसलिये यहाँ पर ऐसे मंत्रों का विधान करके सामायिक के प्रकरण का बहुत ही बड़ा दुरुपयोग किया गया है, इसमें ज़रा भी संदेह नहीं है। और इससे भट्टारकजी के **विवेक** का और भी अच्छा खासा पता चल जाता है अथवा यह मालूम हो जाता है कि उनमें हेयादेय के विचार अथवा समझ बूझ का माद्दा बहुत ही कम था। फिर वे बेचारे अपनी प्रतिज्ञाओं का पालन भी कहाँ तक कर सकते थे, कहाँ तक वैदिक तथा लौकिक व्यामोह को छोड़ सकते थे और उनमें चारित्रबल भी कितना हो सकता था, जिससे वे अपनी अशुभ प्रवृत्तियों पर विजय पाते और मायाचार अथवा छलकपट न करते। अस्तु।

यह तो हुआ प्रतिज्ञादि के विरोधों का दिग्दर्शन। अब मैं दूसरे प्रकार के विरुद्ध कथनों की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकृष्ट करता हूँ, जो इस विषय में और भी ज़्यादा महत्व को लिये हुए हैं और ग्रंथ को सविशेष रूपसे अमान्य, अश्रद्धेय तथा त्याज्य ठहराने के लिये समर्थ हैं।

दूसरे विरुद्ध कथन।

लेख के इस विभाग में प्रायः उन कथनों का दिग्दर्शन कराया जायगा जो जैनधर्म, जैनसिद्धान्त, जैननीति, जैनआदर्श, जैन आचार-विचार अथवा जैनशिष्टाचार आदि के विरुद्ध हैं और जैनशासन के

---

* यथाः- **दुर्मन्त्रास्तेऽत्र विज्ञेया ये युक्ताः प्राणिमारणे**
॥ ३९-२६ ॥ —आदिपुराण।

साथ जिनका प्रायः कोई मेल नहीं । इससे पाठकों पर ग्रंथ की असलियत और भी अच्छी तरह से खुल जायगी और उन्हें ग्रंथकर्ता की मनोदशा का भी कितना ही विशेष अनुभव हो जायगा अथवा यों कहिये कि भट्टारकजी की श्रद्धा आदि का उन्हें बहुतसा पता चल जायगा:—

देव, पितर और ऋषियों का घेरा ।

(१) 'शौच' नाम के दूसरे अध्याय में, कुरला करने का विधान करते हुए, भट्टारकजी ने लिखा है—

* पुरतः सर्वदेवाश्च दक्षिणे व्यन्तराः [पितरः] स्थिताः [तथा]।
ऋषयः पृष्ठतः सर्वे वामे गण्डूषमुत्सृजेत् [माचरेत्] ॥ ६० ॥

---

* इस पद्य के अनुवाद में सोनीजी ने बड़ा तमाशा किया है। आपने 'पुरतः' का अर्थ 'पूर्व की तरफ़', 'पृष्ठतः' का अर्थ 'पश्चिम की ओर' और 'वामे' पद के साथ में मौजूद होते हुए भी 'दक्षिणे' का अर्थ दाहिनी ओर न करके, 'दक्षिण दिशा की तरफ़' ग़लत किया है और इस सख्त ग़लती के कारण ही पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम दिशाओं में क्रमशः सर्व देवों, व्यन्तरों तथा सर्व ऋषियों का निवास बतला दिया है ! परन्तु 'वामे' का अर्थ आप 'उत्तर दिशा' न कर सके और इसलिये आपको "इन तीन दिशाओं में कुरला न फेंके" के साथ साथ यह भी लिखना पड़ा—"किन्तु अपनी बाँई ओर फेंके"। परन्तु बाँई ओर यदि पूर्व दिशा हो, दक्षिण दिशा हो, अथवा पश्चिम दिशा हो तब क्या बने और कैसे बाँई ओर कुरला करने का नियम क़ायम रहे ? इसकी आपको कुछ भी ख़बर नहीं पड़ी ! और न यही ख़याल आया कि जैनागम में कहाँ पर ये दिशाएँ इन देवादिकों के लिये मख़सूस अथवा निर्धारित की गई हैं !! वैसे ही बिना सोचे समझे जो जी में आया लिख मारा !! यह भी नहीं सोचा कि यदि

अर्थात्—सामने सर्व देव, दाहिनी ओर व्यंतर (पितर) और पीठ पिछाड़ी सर्व ऋषि खड़े हैं अतः बाँई तरफ कुरला करना चाहिये। और इस तरह पर यह सूचित किया है कि मनुष्य को तीन तरफ से देव, पितर तथा ऋषिगण घेरे रहते हैं, कुरला कहीं उनके ऊपर न पड़ जाय इसीके लिये यह अहतियात की गई है। परंतु उन लोगों का यह घेरा कुरले के वक्त ही होता है या स्वाभाविक रूप से हरवक्त रहता है, ऐसा कुछ सूचित नहीं किया। यदि कुरले के वक्त ही होता है तो उसका कोई कारणविशेष होना चाहिये। क्या कुरले का तमाशा देखने के लिये ही ये सब लोग उसके इरादे की खबर पाकर जमा हो जाते हैं? यदि ऐसा है तब तो वे लोग आकाश में कुरला करने वाले के सिर पर खड़े होकर भी तमाशा देख सकते हैं और छींटों से बच सकते हैं। उनके लिये ऐसी व्यवस्था करने की ज़रूरत ही नहीं—वह निरर्थक जान पड़ती है। और यदि उनका घेरा बराबर में हरवक्त बना रहता है तब तो बड़ी मुशकिल का सामना है—इधर तो उन बेचारों को बड़ी ही कवाइद सी करनी पड़ती होगी, क्योंकि मनुष्य जल्दी २ अपने मुख तथा आसन को इधर से उधर बदलता रहता है, उसके साथ में उन्हें भी जल्दी से पैंतरा बदल कर बिना इच्छा भी घूमना पड़ता होगा!! और उधर मनुष्यों का थूकना तथा नाक साफ़ करना भी तब इधर उधर नहीं बन सकेगा, जिसके लिये कोई व्यवस्था नहीं की गई! यह मल भी तो कुरले के जल से कुछ कम अपवित्र नहीं है। ख़ैर, इसकी व्यवस्था भी हो सकेगी और यह मल भी बाँई ओर फेंका जा सकेगा, पर मूत्रोत्सर्ग के समय---जो उत्सर्ग के सामने की ओर

पूर्व की ओर सारे देव रहते हैं तो फिर इस ग्रंथ में ही पूर्व की ओर मुँह करके मलत्याग करने को क्यों कहा गया है? क्या कुरला मूत्र की धार से भी गया बीता है?

ही होता है—देवताओं की क्या व्यवस्था बनेगी, यह कुछ समझ में नहीं आता!! परंतु समझ में कुछ आओ या न आओ, कोई व्यवस्था बनो या न बनो, बड़ी मुशकिल का सामना करना पड़ो या छोटी मुशकिल का और कुरले के वक्त पर उन देवादिकों के उपस्थित होने का भी कोई कारण हो या न हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जैनधर्म के साथ इस सब कथन का कुछ भी सम्बंध नहीं है—उसकी कोई संगति ठीक नहीं बैठती। जैनधर्म में देवों, पितरों तथा ऋषियों का जो स्वरूप दिया है अथवा जीवों की गति-स्थिति आदि का जो निरूपण किया है उसे देखते हुए भट्टारकजी का उक्त कथन उसके बिलकुल विरुद्ध जान पड़ता है और उस अतत्व श्रद्धान को पुष्ट करता है जिसका नाम मिथ्यात्व है। मालूम नहीं उन्होंने एक जैनी के रूप में उसे किस तरह अपनाया है! वास्तव में यह सब कथन हिन्दू-धर्म का कथन है। उक्त श्लोक भी हिन्दुओं के 'प्रयोगपारिजात' ग्रंथ का श्लोक है; और वह 'आन्हिक-सूत्रावलि' में भी, ब्रैकिटों में दिये हुए पाठभेद के साथ, प्रयोगपारिजात से उद्धृत पाया जाता है। पाठभेद में '**पितरः**' की जगह '**व्यन्तराः**' पद का जो विशेष परिवर्तन नजर आता है वह अधिकांश में लेखकों की लीला का ही एक नमूना जान पड़ता है। अन्यथा, उसका कुछ भी महत्व नहीं है, और सर्व देवों में व्यन्तर भी शामिल हैं।

दन्तधावन करने वाला पापी।

(२) त्रिवर्णाचार के दूसरे अध्याय में, दन्तधावन का वर्णन करते हुए, एक पद्य निम्न प्रकार से दिया है—

सहस्रांशावनुदिते यः कुर्याद्दन्तधावनम्।
स पापी मरणं याति सर्वजीवदयातिगः॥ ७१॥

इसमें लिखा है कि 'सूर्योदय से पहले जो मनुष्य दन्तधावन करता है वह पापी है, सर्व जीवों के प्रति निर्दयी है और (जल्दी) मर जाता

है। परंतु उसने पाप का कौनसा विशेष कार्य किया? कैसे सर्व जीवों के प्रति उसका निर्दयत्व प्रमाणित हुआ? और शरीर में कौनसा विकार उपस्थित हो जाने से वह जल्दी मर जायगा? इन सब बातों का उक्त पद्य से कुछ भी बोध नहीं होता। आगे पीछे के पद्य भी इस विषय में मौन हैं और कुछ उत्तर नहीं देते। लोकव्यवहार भी ऐसा नहीं पाया जाता और न प्रत्यक्ष में ही किसी को उस तरह से जल्दी मरता हुआ देखा जाता है। मालूम नहीं भट्टारकजी ने कहाँ से ये निर्मूल आज्ञाएँ जारी की हैं, जिनका जैननीति अथवा जैनागम से कोई समर्थन नहीं होता। प्राचीन जैनशास्त्रों में ऐसी कोई भी बात नहीं देखी जाती जिससे बेचारे प्रातःकाल उठ कर दन्तधावन करने वाले एक साधारण गृहस्थ को पापी ही नहीं किन्तु सर्व जीवों के प्रति निर्दयी तक ठहराया जाय। और न शरीरशास्त्र का ही ऐसा कोई विधान जान पड़ता है जिससे उस वक्त का दन्तधावन करना मरण का साधन हो सके। वाग्भट जैसे शरीरशास्त्र के आचार्यों ने ब्राह्म मुहूर्त में उठ कर शौच के अनंतर प्रातःकाल ही दन्तधावन का साफ़ तौर से विधान किया है। वह स्वास्थ्य के लिये कोई हानिकर नहीं हो सकता। और इसलिये यह सब कथन भट्टारकजी की प्रायः अपनी कल्पना जान पड़ता है। जैनधर्म की शिक्षा से इसका कोई खास सम्बंध नहीं है। खेद है कि भट्टारकजी को इतनी भी खबर नहीं पड़ी कि क्या प्रातःसंध्या बिना दन्तधावन के ही हो जाती है * जिसको आप स्वयं ही '**सूर्योदयाच्च प्रागेव प्रातःसंध्या समापयेत्** (३–१३५)' वाक्य के द्वारा सूर्योदय से पहले ही समाप्त कर देने को लिखते हैं!! यदि खबर पड़ती तो आप व्यर्थ ही ऐसे

---

*नहीं होती। भट्टारकजी ने खुद संध्या समय के स्नान को ज़रूरी बतलाते हुए उसे दन्तधावनपूर्वक करना लिखा है। यथा—
सन्ध्याकाले...कुर्यात्स्नानत्रयं जिह्वादन्तधावनपूर्वकम् ॥१०७-१११॥

निःसार वाक्य द्वारा अपने कथन में विरोध उपस्थित न करते । अस्तु; इसी प्रकरण में भट्टारकजी ने दो पद्य निम्न प्रकार से भी दिये हैं—

> गुवा [ड़ा] कतालहिन्तालकेतक्य [का] श्च मंहा [वृहद्] घटः ।
> खर्जूरी नालिकेरश्च सप्तैते तृणराजकाः ॥ ६६ ॥
> तृणराजसमोपेतो [तं] यः कुर्याद्दन्तधावनम् ।
> निर्दयः पापभागी स्यादनन्तकायिकं त्यजेत् ॥ ६७ ॥

इनमें से पहले पद्य में सात वृक्षों के नाम दिये हैं, जिनकी 'तृणराज' संज्ञा है और जिनमें बड़ तथा खजूर भी शामिल हैं । और दूसरे पद्य में यह बतलाते हुए कि 'तृणराज की जो दाँतन करता है वह निर्दयी तथा पाप का भागी होता है,' परिणाम रूप से यह उपदेश भी दिया है कि '(अतः) अनन्तकायिक को छोड़ देना चाहिये' । इस तरह पर भट्टारकजी ने इन वृक्षों की दाँतन को अनन्तकायिक बतलाया है और शायद इसीलिये ऐसी दाँतन करने वाले को निर्दयी तथा पाप का भागी ठहराया हो ! सोनीजी ने भी अनुवाद में लिख दिया है—"क्योंकि इनकी दतौन के भीतर अनन्त जीव रहते हैं ।" परंतु जैनसिद्धान्त में 'अनंतकायिक' अथवा 'साधारण' वनस्पति का जो स्वरूप दिया है—जो पहिचान बतलाई है—उससे उक्त बड़ तथा खजूर आदि की दाँतन का अनंतकायिक होना लाजिमी नहीं आता । और न किसी माननीय जैनाचार्य ने इन सब वृक्षों की दाँतन में अनंत जीवों का होना ही बतलाया है । प्राचीन जैनशास्त्रों में तो 'सप्त तृणराज' का नाम भी सुनाई नहीं पड़ता । भट्टारकजी ने उनका यह कथन हिन्दू-धर्म के ग्रंथों से उठा कर रक्खा है । उक्त पद्यों में से पहला पद्य और दूसरे पद्य का पूर्वार्ध दोनों **'गोभिल'** ऋषि के वचन हैं और वे ब्रैकिटों में दिये हुए पाठभेद के साथ 'स्मृतिरत्नाकर' में भी 'गोभिल' के नाम से उल्लेखित मिलते हैं । गोभिल ने दूसरे पद्य का उत्तरार्ध **'नरश्चाण्डाल-**

योनिः स्याद्यावद् गंगां न पश्यति' दिया था जिसको भट्टारकजी ने **'निर्दयः पापभागी स्यादनंतकायिकं त्यजेत्'** के रूप में बदल दिया है ! और इस तरह पर ऐसी दाँतन करने वाले को पापी आदि सिद्ध करने के लिये उन दाँतनों में ही अनंत जीवों की कल्पना कर डाली है !! जो मान्य किये जाने के योग्य नहीं । और न उसके आधार पर ऐसी दाँतन करने वाले को पापी तथा निर्दयी ही ठहराया जा सकता है । खेद है कि भट्टारकजी ने स्वयं ही दो पद्य पहले—६३ वें पद्य में—**'वटस्तथा'** पद के द्वारा, वाग्भट आदि की तरह, बड़ की दाँतन का विधान किया और ६४ वें पद्य में **'एताः प्रशस्ताः कथिता दन्तधावनकर्मणि'** वाक्य के द्वारा उसे दन्तधावन कर्म में श्रेष्ठ भी बतलाया परंतु बाद को गोभिल के वचन सामने आते ही आप, उनके कथन की दृष्टि और अपनी स्थिति का विचार भूल कर, एक दम बदल गये और आपको इस बात का भान भी न रहा कि जिस बड़की दाँतन का हम अभी विधान कर आए हैं उसीका अब निषेध करने जारहे हैं !! इससे कथन की विरुद्धता ही नहीं किंतु भट्टारकजी की खासी असमीक्ष्यकारिता भी पाई जाती है ।

तेल मलने की विलक्षण फलघोषणा ।

(३) दूसरे अध्याय में, तेलमर्दन का विधान करते हुए, भट्टारकजी ने उसके फल का जो बखान किया है वह बड़ा ही विलक्षण है । आप लिखते हैं—

> सोमे कीर्तिः प्रसरति वरा रोहिणेये हिरण्यं
> देवाचार्ये तरणितनये वर्धते नित्यमायुः ।
> तैलाभ्यङ्गात्तनुजमरणं दृश्यते सूर्यवारे
> भौमे मृत्युर्भवति च नितरां भार्गवे वित्तनाशः ॥ ८४ ॥

अर्थात्—सोमवार के दिन तेल मलने से उत्तम कीर्ति फैलती है,

बुध के दिन तेल मलने से सुवर्ण की वृद्धि होती है—लक्ष्मी बढ़ती है—गुरुवार तथा शनिवार के दिन मलने से सदा आयु बढ़ती है, रविवार के दिन मलने से पुत्र का मरण होता है, मंगल के दिन की मालिश से अपना ही मरण हो जाता है और शुक्रवार के दिन की मालिश सदा धन का क्षय किया करती है।

तेल की मालिश का यह फल कितना प्रत्यक्षविरुद्ध है इसे बतलाने की जरूरत नहीं। सहृदय पाठक अपने नित्य के अनुभव तथा व्यवहार से उसकी सहज ही में जाँच कर सकते हैं। इस विषय की और भी गहरी जाँच के लिये जैनसिद्धान्तों को बहुत कुछ टटोला गया और कर्म फ़िलॉसॉफ़ी का भी बहुतेरा मथन किया गया परंतु कहीं से भी ऐसा कोई नियम उपलब्ध नहीं हुआ जिससे प्रत्येक दिन के तेल मर्दन का उसके उक्त फल के साथ अविनाभावी सम्बन्ध (व्याप्ति) स्थापित हो सके। वैद्यक शास्त्र के प्रधान ग्रंथ भी इस विषय में मौन मालूम होते हैं। वाग्भट आचार्य अपने 'अष्टांगहृदय' में नित्य तेल मर्दन का विधान करते हैं और उसका फल बतलाते हैं—'जरा, श्रम तथा वात विकार की हानि, दृष्टि की प्रसन्नता, शरीर की पुष्टि, आयु की स्थिरता, सुनिद्रा की प्राप्ति और त्वचा की दृढ़ता।' और यह फल बहुत कुछ समीचीन जान पड़ता है। यथा—

अभ्यंगमाचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा।
दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुःस्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत् ॥ ८ ॥

हाँ, इस ढूँढ खोज में, शब्दकल्पद्रुम कोश से, हिन्दू शास्त्रों के दो पद्य जरूर मिले हैं जिनका विषय भट्टारकजी के पद्य के साथ बहुत कुछ मिलता जुलता है और वे इस प्रकार हैं—

१—अर्के मूनं दहति हृदयं कीर्तिलाभश्च सोमे
भौमे मृत्युर्भवति नियतं चन्द्रजे पुत्रलाभः।

अर्थस्थानिर्भौमे च गुरौ भार्गवे शोकयुक्त-
स्त्रीकामःपंनास्तनयमरणं सूर्यजे दीर्घमायुः ॥

२—सन्तापः कीर्तिरल्पायुर्धनं निधनमेव च ।
आरोग्यं सर्वकामाप्तिरभ्यंगाद्भास्करादिषु ॥

इनमें से पहला पद्य 'ज्योतिःसारसंग्रह' का और दूसरा 'गारुड' के ११४ वें अध्याय का पद्य है। दोनों में परस्पर कुछ अन्तर भी है—पहले पद्य में बुध के दिन तेल मलने से पुत्र लाभ का होना बतलाया है तो दूसरे में धनका होना लिखा है और यह धनका होना भट्टारकजी के पद्य के साथ साम्य रखता है; दूसरे में शनिवार के दिन सर्वकामाप्ति (इच्छाओं की पूर्ति) का विधान किया है तो पहले में दीर्घायु होना लिखा है और यह दीर्घायु होना भी भट्टारकजी के पद्य के साथ साम्य रखता है। इसीतरह शुक्रवार के दिन तेलमर्दन का फल एक में 'आरोग्य' तो दूसरे में 'शोकयुक्त' बतलाया है और भट्टारकजी उसे 'वित्तनाश' लिखते हैं जो शोक का कारण हो सकता है; रविवार और गुरुवार का फल दोनों में समान है परन्तु भट्टारकजी के पद्य में वह कुछ भिन्न है और सोमवार तथा मंगल को तेल लगाने का फल तीनों में ही समान है। अस्तु; इन पद्यों के सामने आने से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि इस तेलमर्दन के फल का कोई एक नियम नहीं पाया जाता—वैसे ही जिसको जो जी में आया उसने वह फल, अपनी रचना में कुछ विशेषता अथवा रंग लाने के लिये, एक दूसरे की देखा देखी घड़ डाला है। बहुत संभव है भट्टारकजी ने हिन्दू ग्रंथों के किसी ऐसे ही पद्य का यह अनुसरण किया हो अथवा जरूरत बिना जरूरत उसे कुछ बदल कर या ज्यों का त्यों ही उठाकर रख दिया हो। परंतु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि उनका उक्त पद्य सैद्धांतिक दृष्टि से जैनधर्म के विरुद्ध है और जैनाचार-विचार के साथ कुछ सम्बंध नहीं रखता।

रविवार के दिन स्नानादिक का निषेध।

(४) भट्टारकजी दूसरे अध्याय में यह भी लिखते हैं कि रविवार (इतवार) के दिन दन्तधावन नहीं करना चाहिये, तेल नहीं मलना चाहिये और न स्नान ही करना चाहिये। यथा—

> अर्कवारे व्यतीपाते संक्रान्तौ जन्मवासरे।
> वर्जयेद्दन्तकाष्ठं तु व्रतादीनां दिनेषु च ॥ ६६ ॥
> अष्टम्यां च चतुर्दश्यां पंचम्यामर्कवासरे ।
> व्रतादीनां दिनेष्वेव न कुर्यात्तैलमर्दनम् ॥ ८१ ॥
> तस्मात्स्नानं प्रकर्तव्यं रविवारे तु वर्जयेत् ॥ ६७ ॥

तेलमर्दन की बाबत तो खैर आपने लिख दिया कि उससे पुत्र का मरण हो जाता है परन्तु दन्तधावन और स्नान की बाबत कुछ भी नहीं लिखा कि उन्हें क्यों न करना चाहिये ? क्या उनके करने से रवि महाराज (सूर्यदेवता) नाराज हो जाते हैं ? यदि ऐसा है तब तो लोगों को बहुत कुछ विपत्ति में पड़ना पड़ेगा; क्योंकि अधिकांश जनता रविवार के दिन सविशेष रूप से स्नान करती है—छुट्टी का दिन होने से उस दिन बहुतों को अच्छी तरह से तेलादिक मलकर स्नान करने का अवसर मिलता है। इसके सिवाय, उस दिन भगवान का पूजनादिक भी न हो सकेगा, जो भट्टारकजी के कथनानुसार दन्तधावनपूर्वक स्नान की अपेक्षा रखता है; उन देवपितरों को भी उसदिन प्यासे रहना होगा जिनके लिये स्नान के अवसर पर भट्टारकजी ने तर्पण के जल की व्यवस्था की है और जिसका विचार आगे किया जायगा; और भी लोक में कितनी ही अशुचिता छा जायगी और बहुत से धर्मकार्यों को हानि पहुँचेगी; बल्कि त्रिवर्णाचार की स्नानविषयक आवश्यकताओं को देखते हुए तो यह कहना भी कुछ अत्युक्ति में दाखिल न होगा कि धर्मकार्यों में एक प्रकार का प्रलयसा उपस्थित होजायगा। मालूम नहीं भट्टारकजीने फिर

क्या सोचकर रविवार के दिन स्नान का निषेध किया है ! ! जैन सिद्धान्तों से तो इसका कुछ सम्बंध है नहीं और न जैनियों के आचार-विचार के ही यह अनुकूल पाया जाता है, प्रत्युत उसके विरुद्ध है। शायद भट्टारकजी को हिन्दूधर्म के किसी ग्रंथ से रविवार के दिन स्नान के निषेध का भी कोई वाक्य मिल गया हो और उसी के भरोसे पर आप ने वैसी आज्ञा जारी करदी हो। परन्तु मुझे तो मुहूर्तचिन्तामणि आदि ग्रंथों से यह मालूम हुआ है कि 'रोगनिर्मुक्त स्नान' तक के लिये रविवार का दिन प्रशस्त माना गया है। इसीसे श्रीपतिजी लिखते हैं—**'लग्ने चरे सूर्यकुजेज्यवारे......स्नानं हितं रोगविमुक्तकानाम्'**।
हाँ, दन्तधावन का निषेध तो उनके यहाँ व्यासजी के निम्न वाक्य से पाया जाता है जिसमें कुछ तिथियों तथा रविवार के दिन दाँतों से काष्ठ के संयोग करने की बाबत लिखा है कि वह सातवें कुल तक को दहन करता है, और जो आन्हिकसूत्रावलि में इस प्रकार से उद्धृत है—

प्रतिपद्दर्शषष्ठीषु नवम्यां रविवासरे।
दन्तानां काष्ठसंयोगो दहत्यासप्तमं कुलम्॥

परंतु जैनशासन की ऐसी शिक्षाएँ नहीं हैं, और इसलिये भट्टारकजी का उक्त कथन भी जैनमत के विरुद्ध है।

घर पर ठंडे जल से स्नान न करने की आज्ञा।

(५) भट्टारकजी ने एक खास आज्ञा और भी जारी की है और वह यह है कि 'घर पर कभी ठंडे जल से स्नान न करना चाहिये।' आप लिखते हैं—

अभ्यङ्गे चैव मांगल्ये गृहे चैव तु सर्वदा।
शीतोदकेन न स्नायान्न धार्यं तिलकं तथा॥ ३-५५॥

अर्थात्—तेल मला हो या कोई मांगलिक कार्य करना हो उस

धक्क, और घर पर हमेशा ही ठंडे जल से स्नान न करना चाहिये और न वैसे स्नान किये बिना तिलक ही धारण करना चाहिये।

यहाँ तेलकी मालिश के अवसर पर गर्म जल से स्नान की बात तो किसी तरह पर समझ में आ सकती है परन्तु घर पर सदा ही गर्म जल से स्नान करने की अथवा ठंडे जल से कभी भी स्नान न करने की बात कुछ समझ में नहीं आती। मालूम नहीं उसका क्या कारण है और यह किस आधार पर अवलम्बित है! क्या ठंडे जल से स्नान नदी-सरोवरादिक तीर्थों पर ही होता है अन्यत्र नहीं? और घर पर उसके कर लेने से जलदेवता रुष्ट हो जाते हैं? यदि ऐसा कुछ नहीं तो फिर घर पर ठंडे जल से स्नान करने में कौन बाधक है? ठंडा जल स्वास्थ्य के लिये बहुत लाभदायक है और गर्म जल प्रायः रोगी तथा अशक्त गृहस्थों के लिये बतलाया गया है। ऐसी हालत में भट्टारकजी की उक्त आज्ञा समीचीन मालूम नहीं होती—वह जैनशासन के विरुद्ध जँचती है। लोकव्यवहार भी प्रायः उसके विरुद्ध है। लौकिक जन, ऋतु आदि के अनुकूल, घर पर स्नान के लिये ठंडे तथा गर्म दोनों प्रकार के जलका व्यवहार करते हैं।

हाँ, हिन्दुओं के धर्मशास्त्रों से एक बात का पता चलता है और वह यह कि उनके यहाँ नदी आदि तीर्थों पर ही स्नान करने का विशेष माहात्म्य है, उसीसे स्नान का फल माना गया है, अन्यत्र के स्नान से महज शरीर की शुद्धि होती है, स्नान का जो पुण्यफल है वह नहीं मिलता और इसलिये उनके यहाँ तीर्थाभाव में अथवा तीर्थ से बाहर (घर पर) उष्ण जल से स्नान करलेने की भी व्यवस्था की गई है। सम्भव है उसका एकान्त लेकर ही भट्टारकजी को यह आज्ञा जारी करने की सूझी हो, जो मान्य किये जाने के योग्य नहीं। अन्यथा, हिन्दुओं के यहाँ भी दोनों प्रकार के स्नान का विधान पाया जाता है। यथा:—

नित्यं नैमित्तिकं स्नानं क्रियाङ्गं मलकर्षणम् ।
तीर्थाभावे तु कर्तव्यमुष्णोदकपरोदकैः ॥ यमः ॥

कुर्यान्नैमित्तिकं स्नानं शीताद्भिः काम्यमेव च ।
नित्यं याद्दच्छिकं चैव यथारुचि समाचरेत् ॥ चंद्रिका ॥

—इति स्मृतिरत्नाकरे ।

भट्टारकजी ने अपने उक्त पद्य से पहले 'आपः स्वभावतः शुद्धाः' नाम का जो पद्य गर्म जल से स्नान की प्रशंसा में दिया है वह भी हिन्दू ग्रंथों से उठाकर रक्खा है। स्मृतिरत्नाकर में, वह साधारण से पाठभेद* के साथ, प्रायः ज्यों का त्यों पाया जाता है और उसे आतुरविषयक—रोगी तथा अशक्तों के स्नान सम्बंधी—सूचित किया है, जिसे भट्टारकजी ने शायद नहीं समझा और वैसे ही अगले पद्य में समूचे गृहस्नान के लिये सदा को ठंडे जल का निषेध कर दिया !!

शूद्रत्व का अद्भुत योग ।

(६) दूसरे अध्याय में, स्नान का विधान करते हुए, भट्टारकजी लिखते हैं कि 'जो गृहस्थ सात दिन तक जल से स्नान नहीं करता वह शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है—शूद्र बन जाता है' । यथाः—

सप्ताहान्यम्भसाऽस्नायी गृही शूद्रत्वमाप्नुयात् ॥ ६७ ॥

शूद्रत्व के इस अद्भुत योग अथवा नूतन विधान को देखकर बड़ा आश्चर्य होता है और समझ में नहीं आता कि एक ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य महज सात दिन के स्नान न करने से कैसे शूद्र बन जाता है !

---

* वह पाठभेद 'शुद्धाः' की जगह 'मेध्याः' 'वन्हितापिताः' की जगह 'वन्हिसंयुताः' और 'अतः' की जगह 'तेन' इतना ही है जो कुछ अर्थ-भेद नहीं रखता।

कहाँ से शूद्रत्व उसके भीतर घुस आता है ? क्या शूद्र का कर्म स्नान न करना है ? अथवा शूद्र स्नान नहीं किया करते ? शूद्रों को बराबर स्नान करते हुए देखा जाता है, और उनका कर्म स्नान न करना कहीं भी नहीं लिखा। स्वयं भट्टारकजी ने सातवें अध्याय में शूद्रों का कर्म त्रिवर्णों की सेवा तथा शिल्प कर्म बतलाया है और यहाँ तक लिखा है कि ये चारों वर्ण अपने अपने नियत कर्म के विशेष से कहे गये हैं, जैनधर्म को पालन करने में इन चारों वर्णों के मनुष्य परम समर्थ हैं और उसे पालन करते हुए वे सब परस्पर में भाई भाई के समान हैं। यथा—

> विप्रक्षत्रियवैश्यानां शूद्रास्तु सेवका मता ॥ १४० ॥
> तेषु नाना विधं शिल्पं कर्म प्रोक्तं विशेषतः ॥ १४१ ॥
> विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः।
> जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः ॥ १४२ ॥

फिर आपका यह लिखना कि सात दिन तक स्नान न करने से कोई शूद्र हो जाता है, कितना असंगत है और शूद्रों के प्रति कितना तिरस्कार का द्योतक तथा अन्यायमय है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। हाँ, यदि कोई द्विज अर्से तक शिल्पादि कर्म करता रहे तो उसे भट्टारकजी अपने लक्षण के अनुसार शूद्र कह सकते थे परन्तु स्नान न करना कोई शूद्र कर्म नहीं है—उसके लिये रोगादिक के अनेक कारण सभी के लिये हो सकते हैं—और इसलिये महज उसकी वजह से किसी में शूद्रत्व का योग नहीं किया जा सकता। मालूम नहीं सात दिन के बाद यदि वह गृहस्थ फिर नहाना शुरू कर देवे तो भट्टारकजी की दृष्टि में उसका वह शूद्रत्व दूर होता है या कि नहीं ?–ग्रंथ में इसकी बाबत कुछ लिखा नहीं !!

(७) तीसरे अध्याय में भट्टारकजी उस मनुष्य को जीवन भर के लिये शूद्र ठहराते हैं और मरने पर कुत्ते की योनि में जाना बतलाते

हैं जो संध्याकाल प्राप्त होने पर भी संध्या नहीं करता है !! यथा:—

सन्ध्याकाले तु सम्प्राप्ते सन्ध्यां नैवमुपासते ।
जीवमानो भवेच्छूद्रः मृतः श्वा चैव जायते ॥ १४१ ॥

यहाँ भी पूर्ववत् शूद्रत्व का अद्भुत योग किया गया है और इस से यह भी ध्वनित होता है कि शूद्र को संध्योपासन का अधिकारी नहीं समझा गया। परन्तु यह हिन्दूधर्म की शिक्षा है जैनधर्म की शिक्षा नहीं। जैनधर्म के अनुसार शूद्र संध्योपासन के अधिकार से वंचित नहीं रक्खा जा सकता। जैनधर्म में उसे नित्य पूजन का अधिकार दिया गया है * वह त्रिसंध्या-सेवा का अधिकारी है और ऊँचे दर्जे का श्रावक हो सकता है। इसीसे सोमदेवसूरि तथा पं० आशाधरजी ने भी आचारादि की शुद्धि को प्राप्त हुए शूद्र को ब्राह्मणादिक की तरह से धर्मक्रियाओं के करने का अधिकारी बतलाया है; जैसाकि उनके निम्न वाक्यों से प्रकट है:—

"आचाराऽनवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देवद्विजातिपरिकर्मसु योग्यान्।" —नीतिवाक्यामृत।

"अथ शूद्रस्याप्याहारादिशुद्धिमतो ब्राह्मणादिवद्धर्मक्रियाकारित्वं यथोचितमनुमन्यमानः प्राह—

शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुःशुध्यास्तु तादृशः ।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥"

—सागारधर्मामृत सटीक।

इसके सिवाय, भट्टारकजी ऊपर उद्धृत किये हुए पद्य नं० १४२ में जब स्वयं यह बतला चुके हैं कि शूद्र भी जैन धर्म का पालन करने में '**परम समर्थ**' हैं तो फिर वे संध्योपासन कैसे नहीं कर सकते?

---

* शूद्रों के इस सब अधिकार को अच्छी तरह से जानने के लिये लेखक की लिखी हुई '**जिनपूजाऽधिकार-मीमांसा**' नामक पुस्तक को देखना चाहिये।

और कैसे यह कहा जा सकता है कि जो संध्यासमय संध्योपासन नहीं करता वह जीवित शूद्र होता है ? मालूम होता है यह सब कुछ लिखते हुए भट्टारकजी जैनत्व को अथवा जैन धर्म के स्वरूप को बिलकुल ही भूल गये हैं और उन्होंने बहुधा आँख मींच कर हिन्दू धर्म का अनुसरण किया है। हिन्दुओं के यहाँ शूद्रों को संध्योपासन का अधिकार नहीं— वे बेचारे वेदमन्त्रों का उच्चारण तक नहीं कर सकते—इसलिये उनके यहाँ ऐसे वाक्य बन सकते हैं। यह वाक्य भी उन्हीं के वाक्यों पर से बनाया गया अथवा उन्हीं के ग्रंथों पर से उठा कर रक्खा गया है। इस वाक्य से मिलता जुलता '**मरीचि**' ऋषि का एक वाक्य इस प्रकार है:—

संध्या येन न विज्ञाता संध्या येनानुपासिता।
जीवमानो भवच्छूद्रः मृतः श्वा चाभिजायते॥

—आन्हिकसूत्रावलि।

इस पद्य का उत्तरार्ध और भट्टारकजी के पद्य का उत्तरार्ध दोनों एक हैं और यही उत्तरार्ध जैनदृष्टि से आपत्ति के योग्य है। इसमें मर कर कुत्ता होने का जो विधान है वह भी जैन सिद्धान्तों के विरुद्ध है। संध्या के इस प्रकरण में और भी कितने ही पद्य ऐसे हैं जो हिन्दू धर्म के ग्रंथों से ज्यों के त्यों उठा कर अथवा कुछ बदल कर रक्खे गये हैं; जैसे '**उत्तमा तारकोपेता**', '**अन्होरात्रेश्च यः सन्धिः**' और '**राष्ट्रभंगे नृपक्षोभे**' आदि पद्य। और इस तरह पर बहुधा हिन्दू धर्म की अंधी सीधी नकल की गई है।

(८) ग्यारहवें अध्याय में शूद्रत्व का एक और भी विचित्र योग किया गया है और वह यह कि 'जो कन्या विवाह संस्कार से पहले पिता के घर पर ही रजस्वला हो जाय' उसे 'शूद्रा (वृषली)' बतलाया गया है और उससे जो विवाह करे उसे शूद्रापति (वृषलीपति) की संज्ञा दी गई है। यथा—

पितुर्गृहे तु या कन्या रजः पश्येदसंस्कृता ।
सा कन्या वृषली ज्ञेया तत्पतिर्वृषलीपतिः ॥ १९६ ॥

मालूम नहीं इसमें कन्या का क्या अपराध समझा गया और उसके स्त्री-धर्म की स्वाभाविक प्रवृत्ति में शूद्र की वृत्ति का कौनसा संयोग हो गया जिसकी वजह से वह बेचारी 'शूद्रा' क़रार दी गई !! इस प्रकार की व्यवस्था से जैनधर्म का कोई सम्बन्ध नहीं। यह भी उसके विरुद्ध हिन्दूधर्म की ही शिक्षा है और उक्त श्लोक भी हिन्दूधर्म की चीज़ है—हिन्दुओं की विष्णुसंहिता * के २४ वें अध्याय में वह नं० ४१ पर दर्ज है, सिर्फ़ उसका चौथा चरण यहाँ बदला हुआ है और '**पितृवेश्मनि**' की जगह '**पितुर्गृहे तु**' बनाया गया अथवा पाठान्तर जान पड़ता है। प्रायः इसी आशय के दो पद्य 'उद्वाहतत्व' में भी पाये जाते हैं, जिन्हें शब्दकल्पद्रुमकोश में निम्नप्रकार से उद्धृत किया है—

"पितुर्गेहे च या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता ।
भ्रूणहत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वृषली स्मृता ॥"
"यस्तु तां वरयेत्कन्यां ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः ।
अश्राद्धेयमपांक्तेयं तं विद्याद् वृषलीपतिम् ॥"

इसके सिवाय, ब्रह्मवैवर्तपुराण में भी '**यदि शूद्रां व्रजेद्विप्रो वृषलीपतिरेव सः**' वाक्य के द्वारा शूद्रागामी ब्राह्मण को वृषलीपति ठहराया है। इस तरह पर यह सब हिन्दू धर्म की शिक्षा है, जिसको भट्टारकजी ने जैन धर्म के विरुद्ध अपनाया है। जैन धर्म के अनुसार किसी व्यक्ति में इस तरह पर शूद्रत्व का योग नहीं किया जा सकता। यदि ऐसे भी शूद्रत्व का योग होने लगे तब तो शूद्र स्त्रियों की ही नहीं किन्तु पुरुषों की भी संख्या बहुत बढ़ जाय और लाखों कुटुम्बों को शूद्र-सन्तति में परिगणित करना पड़े !!

---

*देखो बंगवासी प्रेस कलकत्ता का सं० १९६४ का छपा हुआ संस्करण।

नरकालय में वास ।

(६) शायद पाठक यह सोचते हों कि कन्या यदि विवाह से पहले रजस्वला हो जाती है तो उसमें कन्या का कोई अपराध नहीं—वह अपराध तो उस समय से पहले उसका विवाह न करने वालों का है जिन्हें कोई सज़ा नहीं दी गई और बेचारी कन्या को नाहक शूद्रा (वृषली) करार दे दिया गया ! परंतु इस चिंता की जरूरत नहीं, भट्टारकजी ने पहले ही उनके लिये कड़े दण्ड की व्यवस्था की है और पीछे कन्या को शूद्रा ठहराया है। आप उक्त पद्य से पूर्ववर्ती पद्य में ही लिखते हैं कि यदि कोई अविवाहिता कन्या रजस्वला हो जाय तो समझ लीजिये कि उसके माता पिता और भाई सब नरकालय में पड़े—अर्थात् , उसके रजस्वला होते ही उन सब के नरकवास की रजिस्ट्री हो जाती है—शायद नरकायु बँध जाती है—और उन्हें नरक में जाना पड़ता है * । यथा:-

असंस्कृता तु या कन्या रजसा चेत्परिप्लुता ।
भ्रातरः पितरस्तस्याः पतिता नरकालये ॥ १६५ ॥

पाठकगण ! देखा, कितना विलक्षण, भयंकर और कठोर ऑर्डर है ! क्या कोई शास्त्री पंडित जैन सिद्धान्तों से—जैनियों की कर्म फ़िलॉसॉफ़ी से—इस ऑर्डर अथवा विधान की संगति ठीक बिठला सकता है ? अथवा यह सिद्ध कर सकता है कि ऐसी कन्याओं के माता पिता और भाई अवश्य नरक जाते हैं ? कदापि नहीं । इसके विरुद्ध में असंख्य प्रमाण जैनशास्त्रों से ही उपस्थित किये जा सकते हैं । उदाहरण के लिये, यदि भट्टारकजी की इस व्यवस्था को ठीक माना जाय तो कहना होगा कि ब्राह्मी और सुन्दरी कन्याओं के पिता भगवान ऋषभदेव, माताएँ यशस्वती (नंदा) तथा सुनंदा और भाई बाहुबलि तथा भरत चक्र-

---

* यदि उनमें से पहिले कोई स्वर्ग चले गये हों तो क्या उन्हें भी खिंच कर पीछे से नरक में आना होगा ? कुछ समझ में नहीं आता !

वर्ती आदिक सब नरक गये ; क्योंकि ये दोनों कन्याएँ युवावस्था में घर पर अविवाहिता रहीं और तब वे रजस्वला भी हुईं, यह स्वाभाविक है। परंतु ऐसा कोई भी जैनी नहीं कह सकता। सब जानते हैं कि भगवान ऋषभदेव और उनके सब पुत्र निर्वाण को प्राप्त हुए और उक्त दोनों माताएँ भी ऊँची देवगति को प्राप्त हुईं। इसी तरह सुलोचना आदि हज़ारों ऐसी कन्याओं के उदाहरण भी सामने रक्खे जा सकते हैं जिनके विवाह युवावस्था में हुए जब कि वे रजोधर्म से युक्त होचुकी थीं और उनके कारण उनके माता पिता तथा भाइयों को कहीं भी नरक जाना नहीं पड़ा। अतः भट्टारकजी का यह सब कथन जैन धर्म के अत्यंत विरुद्ध है और हिंदूधर्म की उसी शिक्षा से सम्बंध रखता है जो एक अविवाहिता कन्या को पिता के घर पर रजस्वला हो जाने पर शूद्रा ठहराता है। इस प्रकार के विधिवाक्यों तथा उपदेशों ने ही समाज में बाल-विवाह का प्रचार किया है और उसके द्वारा समाज तथा धर्म को भारी, निःसीम, अनिर्वचनीय तथा कल्पनातीत हानि पहुँचाई है। ऐसे **ज़हरीले उपदेश** जबतक समाज़ में क़ायम रहेंगे, और उनपर अमल होता रहेगा तबतक समाज का कभी उत्थान नहीं हो सकता, वह पनप नहीं सकता और न उसमें धार्मिक जीवन ही आ सकता है। ऐसी छोटी उम्र में कन्या का विवाह महज़ उसी के लिये घातक नहीं है बल्कि देश, धर्म और समाज तीनों के लिये घातक है। वास्तव में माता पिता का यह कोई ख़ास फ़र्ज़ अथवा कर्तव्य नहीं है कि वे अपनी संतान का विवाह करें ही करें और वह भी छोटी उम्र में। उनका मुख्य कर्तव्य तथा धर्म है संतान को सुशिक्षित करना, अनेक प्रकार की उत्तम विद्याएँ तथा कलाएँ सिखलाना, खोटे संस्कारों से उसे अलग रखना, उसकी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों को विकसित [illegible] उनमें दृढता लाना, उसे जीवनयुद्ध में स्थिर रहने तथा विजयी

होने के योग्य बनाना अथवा अपनी संसार यात्रा का सुख पूर्वक निर्वाह करने की क्षमता पैदा कराना और साथ ही उसमें सत्य, प्रेम, धैर्य, उदारता, सहनशीलता तथा परोपकारता आदि मनुष्योचित गुणों का संचार कराके उसे देश, धर्म तथा समाज के लिये उपयोगी बनाना। और यह सब तभी हो सकता है जबकि ब्रह्मचर्याश्रम के काल को गृहस्थाश्रम का काल न बनाया जावे अथवा विवाह जैसे महत्व तथा ज़िम्मेदारी के कार्य को एक खेल या तमाशे का रूप न दिया जाय, जिसका दियाजाना नाबालिगों का विवाह रचाने की हालत में ज़रूर समझा जायगा। खेद है भट्टारकजी ने इन सब बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और वैसे ही दूसरों की देखादेखी ऊटपटाँग लिख मारा जो किसी तरह भी मान्य किये जाने के योग्य नहीं है।

नग्न की विचित्र परिभाषा।

(१०) तीसरे अध्याय में, बिना किसी पूर्वापर सम्बन्ध अथवा ज़रूरत के, 'नग्न' की परिभाषा बतलाने को ढाई श्लोक निम्न प्रकार से दिये हैं—

> अपवित्रपटो नग्नो नग्नश्चार्धपटः स्मृतः।
> नग्नश्च मलिनोद्वासी नग्नः कौपीनवानपि ॥२१॥
> कषायवाससा नग्नो नग्नश्चानुत्तरीयमान्।
> अन्तःकच्छो बहिःकच्छो मुक्तकच्छस्तथैव च ॥२२॥
> साक्षान्नग्नः स विज्ञेयो दश नग्नाः प्रकीर्तिताः।

इन श्लोकों में भट्टारकजी ने दस प्रकार के मनुष्यों को 'नग्न' बतलाया है—अर्थात्, जो लोग अपवित्र वस्त्र पहने हुए हों, आधा वस्त्र पहने हों, मैले कुचैले वस्त्र पहने हुए हों, लँगोटी लगाए हुए हों, भगवे वस्त्र पहने हुए हों, महज़ धोती पहने हुए हों, भीतर कच्छ लगाए हुए हों, बाहर कच्छ लगाए हुए हों, कच्छ बिलकुल न लगाए हुए हों, और वस्त्र से बिलकुल रहित हों, उन सब को 'नग्न' ठहराया

है। मालूम नहीं भट्टारकजी ने नग्न की यह परिभाषा कहाँ से की है! प्राचीन जैन शास्त्रों में तो खोजने पर भी इसका कहीं कुछ पता चलता नहीं!! आम तौर पर जैनियों में 'जातरूपधरो नग्नः' की प्रसिद्धि है। भट्टाकलंकदेव ने भी राजवार्तिक में 'जातरूपधारणं नाग्न्यं' ऐसा लिखा है। और यह अवस्था सर्व प्रकार के वस्त्रों से रहित होती है। इसीसे अमरकोश में भी 'नग्नोऽवासा दिगम्बरे' वाक्य के द्वारा वस्त्ररहित, दिगम्बर और नग्न तीनों को एकार्थवाचक बतलाया है। इससे भट्टारकजी की उक्त दशभेदात्मक परिभाषा बड़ी ही विचित्र जान पड़ती है। उनके दस भेदों में से अर्धवस्त्रधारी और कौपीनवान् आदि को तो किसी तरह पर 'एकदेशनग्न' कहा भी जासकता है परन्तु जो लोग बहुत से मैले कुचैले या अपवित्र वस्त्र पहने हुए हों अथवा इससे भी बढ़कर सर से पैर तक पवित्र भगवे वस्त्र धारण किये हुए हों उन्हें किस तरह पर 'नग्न' कहा जाय, यह कुछ समझ में नहीं आता!! ज़रूर, इसमें कुछ रहस्य है। भट्टारक लोग वस्त्र पहनते हैं, बहुधा भगवे (कषाय) वस्त्र धारण करते हैं और अपने को 'दिगम्बर मुनि' कहते हैं। संभव है, उन्हें नग्न दिगम्बर मुनियों की कोटि में लाने के लिये ही यह नग्न की परिभाषा गढ़ी गई हो। अन्यथा, भगवे वस्त्र वालों को तो हिन्दू ग्रन्थों में भी नग्न लिखा हुआ नहीं मिलता। हिन्दुओं के यहाँ पंच प्रकार के नग्न बतलाये गये हैं और वह पंच प्रकार की संख्या भी विभिन्न रूप से पाई जाती है। यथाः—

" द्विकच्छः कच्छशेषश्च मुक्तकच्छस्तथैव च।
एकवासा अवासाश्च नग्नः पंचविधः स्मृतः॥

—आन्हिक तत्व।

" नग्नो मलिनवस्त्रः स्यान्नग्नो नीलपटस्तथा।
विकच्छोऽनुत्तरीयश्च नग्नश्चावस्त्र एवच॥

" अकच्छः पुच्छकच्छो वाऽद्विकच्छः कटिवेष्टितः ।
कौपीनकधरश्चैव नग्नः पंचविधः स्मृतः ॥
-स्मृतिरत्नाकर ।

जान पड़ता है हिन्दू ग्रंथों के कुछ ऐसे श्लोकों पर से ही भट्टारकजी ने अपने श्लोकों की रचना की है और उनमें **'कषायवाससा नग्नः'** जैसी कुछ बातें अपने मतलब के लिये और शामिल करली हैं ।

अधौत का अद्भुत लक्षण ।

(११) तीसरे अध्याय में ही भट्टारकजी, ' अधौत ' का लक्षण बतलाते हुए, लिखते हैं—

ईषद्धौतं स्त्रिया धौतं शूद्रधौतं च चेटकैः।
बालकैर्धौतमज्ञानैरधौतमिति भाष्यते ॥ ३२ ॥

अर्थात्—जो (वस्त्र) कम धुला हुआ हो, किसी स्त्री का धोया हुआ हो, शूद्रों का धोया हुआ, हो, नौकरों का धोया हुआ हो, या अज्ञानी बालकों का धोया हुआ हो उसे 'अधौत'—बिना धुला हुआ—कहते हैं ।

इस लक्षण में कम धुले हुए और अज्ञानी बालकों के धोये हुए वस्त्रों को अधौत कहना तो कुछ समझ में आता है, परन्तु स्त्रियों, शूद्रों और नौकरों के धोये हुए वस्त्रों को भी जो अधौत बतलाया गया है वह किस आधार पर अवलम्बित है, यह कुछ समझ में नहीं आता ! क्या ये लोग वस्त्र धोना नहीं जानते अथवा नहीं जान सकते? जरूर जानते हैं और थोड़े से ही अभ्यास से बहुत अच्छा कपड़ा धो सकते हैं। शूद्रों में धोबी (रजक) तो अपनी स्त्रीसहित वस्त्र धोने का ही काम करता है और उसके धोये हुए वस्त्रों को सभी लोग पहनते हैं । इसके सिवाय, लाखों स्त्रियाँ तथा नौकर वस्त्र धोते हैं और उनके धोए हुए वस्त्र लोक में अधौत नहीं समझे जाते । फिर नहीं मालूम भट्टारकजी किस न्याय अथवा सिद्धान्त से ऐसे लोगों के द्वारा धुले हुए अच्छे से अच्छे वस्त्र को भी अधौत कहने का साहस करते हैं !! क्या आप त्रैवर्णिक

स्त्रियों तथा नौकरों को मलिनता का पुंज समझते हैं जो उनके स्पर्श से धौत वस्त्र भी अधौत हो जाते हैं ? यदि ऐसा है तब तो बड़ी गड़बड़ी मचेगी और घर का कोई भी सामान पवित्र नहीं रह सकेगा—सभी को उनके स्पर्श से अपवित्र होना पड़ेगा। और यदि वैसा नहीं है तो फिर दूसरी कोई भी ऐसी वजह नहीं हो सकती जिससे उनके द्वारा अच्छी तरह से धौत वस्त्र को भी अधौत क़रार दिया जाय। वास्तव में **इस प्रकार का विधान स्त्री जाति आदि का स्पष्ट अपमान है,** और वह जैननीति अथवा जैनशासन के भी विरुद्ध है। जैनशासन का स्त्रियों तथा शूद्रों के प्रति ऐसा घृणात्मक व्यवहार नहीं है, वह इस विषय में बहुत कुछ उदार है। हाँ, हिन्दू-धर्म की ऐसी शिक्षा जरूर पाई जाती है। उसके 'दक्ष' ऋषि स्त्रियों तथा शूद्रों के धोए हुये वस्त्र को सब कामों में गर्हित बतलाते हैं ! यथा—

> ईषद्धौतं स्त्रिया धौतं शूद्रधौतं तथैव च।
> प्रतारितं यमादिशि गर्हितं सर्वकर्मसु॥
>
> —आन्हिक सूत्रावलि

इस श्लोक का पूर्वार्ध और भट्टारकजी के श्लोक का पूर्वार्ध दोनों प्रायः एक हैं, सिर्फ़ **'तथैव'** को भट्टारकजी ने **'चेटकैः'** में बदला है और इस परिवर्तन के द्वारा उन नौकरों के धोए हुये वस्त्रों को भी तिरस्कृत किया है जो शूद्रों से भिन्न 'त्रैवर्णिक' ही हो सकते हैं !

इसीतरह हिन्दुओं के 'कर्मलोचन' ग्रंथ में स्त्री तथा धोबी के धोए हुये वस्त्र को 'अधौत' क़रार दिया गया है; जैसा कि 'शब्दकल्पद्रुम' में उद्धृत उसके निम्न वाक्य से प्रकट है—

> ईषद्धौतं स्त्रिया धौतं यद्धौतं रजकेन च।
> अधौतं तद्विजानीयाद्दशा दक्षिणपश्चिमे॥

ऐसे ही हिन्दू-वाक्यों पर से भट्टारकजी के उक्त वाक्य की सृष्टि हुई जान पड़ती है। परन्तु इस घृणा तथा वहम के व्यापार में भट्टारकजी

हिन्दुओं से एक क़दम और भी आगे बढ़े हुए मालूम होते हैं—उन्होंने त्रैवर्णिक सेवकों के धोए हुये वस्त्रों को ही तिरस्कृत नहीं किया, बल्कि पहले दिनके खुद के धोए हुये वस्त्रों को भी तिरस्कृत किया है। आप लिखते हैं 'अधौत (बिना धोया हुआ), कारु-धौत (शिल्पि शूद्रों का धोया हुआ) और पूर्वेद्युर्धौत (पहले दिन का धोया हुआ) ये तीनों प्रकार के वस्त्र सर्व कार्यों के अयोग्य हैं—किसी भी काम को करते हुये इनका व्यवहार नहीं करना चाहिये।' यथा—

'अधौतं कारुधौतं वा पूर्वेद्युर्धौतमेव च।
त्रयमेतदसम्बंधं सर्वकर्मसु वर्जयेत्॥ ३१॥

पाठकगण! देखा, इस वहम का भी कहीं कुछ ठिकाना है!! मालूम नहीं पहले दिन धोकर अहतियात से रक्खे हुए कपड़े भी अगले दिन कैसे बिगड़ जाते हैं! क्या हवा लगकर खराब हो जाते हैं या धरे धरे घुस जाते हैं? और जब वह पहले दिन का धोया हुआ वस्त्र अगले दिन काम नहीं आ सकता तो फिर प्रातः संध्या भी कैसे हो सकेगी, जिसे भट्टारकजी ने इसी अध्याय में सूर्योदय से पहले समाप्त कर देना लिखा है? क्या प्रातःकाल उठकर धोये हुए वस्त्र उसी वक्त सूख सकेंगे, या गीले वस्त्रों में ही संध्या करनी होगी? खेद है भट्टारकजी ने इन सब बातों को कुछ भी नहीं सोचा और न यही खयाल किया कि ऐसे नियम से समय का कितना दुरुपयोग होगा! सच है वहम की गति बड़ी ही विचित्र है—उसमें मनुष्य का विवेक बेकार सा होजाता है। उसी वहम का यह भी एक परिणाम है जो भट्टारकजी ने अधौत के लक्षण में शूद्रधौत आदि को शामिल करते हुये भी यहाँ 'कारुधौत' का एक तीसरा भेद अलग वर्णन किया है। अन्यथा, शूद्रधौत और चेटकधौत से भिन्न 'कारुधौत' कुछ भी नहीं रहता। अधौत के लक्षण की मौजूदगी में उसका प्रयोग बिलकुल व्यर्थ और खालिस वहम जान पड़ता है। इस प्रकार के वहमों से यह ग्रंथ बहुत कुछ भरा पड़ा है।

पति के विलक्षण धर्म ।

(१२) आठवें अध्याय में, गर्भिणी स्त्री के पति-धर्मों का वर्णन करते हुए, भट्टारकजी लिखते हैं—

पुंसो भार्या गर्भिणी यस्य चासौ सूनोश्चौलं क्षौरकर्मात्मनश्च ।
गेहारंभं स्तंभसंस्थापनं च वृद्धिस्थानं दूरयात्रां न कुर्यात् ॥८६॥
शवस्य वाहनं तस्य दहनं सिन्धुदर्शनम् ।
पर्वतारोहणं चैव न कुर्याद्गर्भिणीपतिः ॥ ८७ ॥

अर्थात्—जिस पुरुष की स्त्री गर्भवती हो उसे (उस स्त्री से उत्पन्न) पुत्र का चौलकर्म नहीं करना चाहिये, स्वयं हजामत नहीं बनवानी चाहिये, नये मकान की तामीर न करनी चाहिये, कोई खंभा खड़ा न करना चाहिये, न वृद्धिस्थान बनाना चाहिये और न कहीं दूर यात्रा को ही जाना चाहिये। इसके सिवाय, वह मुर्दे को न उठाए, न उसे जलाए, न समुद्र को देखे और न पर्वत पर चढ़े।

पाठकगण ! देखा कैसे विलक्षण धर्म हैं !! इनमें से दूरयात्रा को न जाने जैसी बात तो कुछ समझ में आ भी सकती है परन्तु गर्भावस्था पर्यंत पति का हजामत न बनवाना, कहीं पर भी किसी नये मकान की रचना अथवा वृद्धिस्थान की स्थापना न करना, समुद्र को न देखना और पर्वत पर न चढ़ना जैसे धर्मों का गर्भ से क्या सम्बन्ध है और उनका पालन न करने से गर्भ, गर्भिणी अथवा गर्भिणी के पति को क्या हानि पहुँचती है, यह सब कुछ भी समझ में नहीं आता। इन धर्मों के अनुसार गर्भिणी के पति को आठ नौ महीने तक नख-केश बढ़ाकर रहना होगा, किसी कुटुम्बी अथवा निकट सम्बन्धी के मरजाने पर आवश्यकता होते हुए भी उसकी अरथी को कन्धा तक न लगाना होगा, वह यदि बम्बई जैसे शहर में समुद्र के किनारे-तट पर-रहता है तो उसे वहाँ का अपना वासस्थान छोड़ कर अन्यत्र जाना होगा अथवा

आँखों पर पट्टी बाँध कर रहना होगा जिससे समुद्र दिखाई न पड़े, वह निकट की ऐसी तीर्थयात्रा भी नहीं कर सकेगा जिसका पर्वत–कूटों से सम्बंध हो, और अगर वह मंसूरी–शिमला जैसे पार्वतीय प्रदेशों का रहने वाला है तो उसे उस वक्त उन पर्वतों से नीचे उतर आना होगा, क्योंकि वहाँ रहते तथा कारोबार करते वह पर्वतारोहण के दोष से बच नहीं सकता। परन्तु ऐसा करना कराना, अथवा इस रूप से प्रवर्तना कुछ भी इष्ट तथा युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। जैनसिद्धान्तों तथा जैनों के आचार–विचार से इन धर्मों की कोई संगति ठीक नहीं बैठती और न ये सब धर्म, जैनदृष्टि से, गर्भिणीपति के कर्तव्य का कोई आवश्यक अंग जान पड़ते हैं। इन्हें भी भट्टारकजी ने प्रायः हिन्दू-धर्म से लिया है। हिन्दुओं के यहाँ इस प्रकार के कितने ही श्लोक पाये जाते हैं, जिनमें से दो श्लोक शब्दकल्पद्रुमकोश से नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

"क्षौरं शवानुगमनं नखकृन्तनं च युद्धादिवास्तुकरणं त्वतिदूरयानं।
उद्वाहमौपनयनं जलधेश्च गाहमायुःक्षयार्थमिति गर्भिणिकापतीनाम्॥"

—मुहूर्तदीपिका।

"दहनं वपनं चैव चौलं वै गिरिरोहणम्।
नाव आरोहणं चैव वर्जयेद्गर्भिणीपतिः॥"

—रत्नसंग्रहे, गालवः।

इनमें से पहले श्लोक में क्षौर (हजामत) आदि कर्मों को जो गर्भिणी के पति की आयु के क्षय का कारण बतलाया है वह जैनसिद्धांत के विरुद्ध है। और इसलिये हिंदू-धर्म के ऐसे कृत्यों का अनुकरण करना जैनियों के लिये श्रेयस्कर नहीं हो सकता जिनका उद्देश्य तथा शिक्षा जैन–तत्वज्ञान के विरुद्ध है। उसी उद्देश्य तथा शिक्षा को लेकर उनका अनुष्ठान करना, निःसंदेह, मिथ्यात्व का वर्धक है। खेद है भट्टारकजी ने इन सब बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और वैसे ही बिना सोचे समझे अथवा हानि-लाभ का विचार किये दूसरों की नकल कर बैठे!!

आसन की अनोखी फलकल्पना ।

(१३) तीसरे अध्याय में, संध्योपासन के समय चारों ही आश्रम वालों के लिये पंचपरमेष्ठी के जप का विधान करते हुए, भट्टारकजी ने कुछ आसनों का जो फल वर्णन किया है उसका एक श्लोक इस प्रकार है:—

वंशासने दरिद्रः स्यात्पाषाणे व्याधिपीड़ितः ।
धरण्यां दुःखसंभूतिर्दौर्भाग्यं दारुकासने ॥ १०७ ॥

इस श्लोक में यह बतलाया गया है कि '(जप के समय) बाँस के आसन पर बैठने से मनुष्य दरिद्री, पाषाण के आसन पर बैठने से व्याधि से पीड़ित, पृथ्वी पर ही आसन लगाने से दुःखों का उत्पन्न-कर्ता और काष्ठ के आसन पर बैठने से दुर्भाग्य से युक्त होता है।'

आसन की यह फलकल्पना बड़ी ही अनोखी जान पड़ती है ! मालूम नहीं, भट्टारकजी ने इसका कहाँ से अवतार किया है !! प्राचीन ऋषिप्रणीत किसी भी जैनागम में तो ऐसी फल-व्यवस्था देखने में आती नहीं !! प्रत्युत इसके, 'ज्ञानार्णव' में योगिराज श्रीशुभचंद्राचार्य ने यह स्पष्ट विधान किया है कि 'समाधि (उत्तम ध्यान) की सिद्धि के लिये काष्ठ के पट्ट पर, शिलापट्ट पर, भूमि पर अथवा रेत के स्थल पर सुदृढ आसन लगाना चाहिये।' यथा:--

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले ।
समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ॥ २८-९ ॥

पाठकगण ! देखा, जिन काष्ठ, पाषाण तथा भूमि के आसनों को योगीश्वर महोदय ने समाधि जैसे महान कार्य के लिये अत्यंत उपयोगी—उसकी सिद्धि में ख़ास तौर से सहायक—बतलाया है उन्हें ही भट्टारकजी क्रमशः दौर्भाग्य, व्याधि और दुःख के कारण ठहराते हैं ! यह कितना विपर्यास अथवा आगम के विरुद्ध कथन है। उन्हें ऐसा प्रतिपादन करते हुए इतना भी स्मरण न हुआ कि इन आसनों पर बैठकर असंख्य योगीजन सद्गति अथवा कल्याण-परम्परा को प्राप्त हुए हैं। अस्तु; हिन्दूधर्म में भी इन आसनों

को बुरा अथवा इस प्रकार के दुष्परिणामों का कारण नहीं बतलाया है बल्कि **'उत्तम'** तथा **'प्रशस्त'** आसन लिखा है। और इसलिये आसन की उक्त फल-कल्पना अधिकांश में भट्टारकजी की प्रायः अपनी ही कल्पना जान पड़ती है, जो निराधार तथा निःसार होने से कदापि मान्य किये जाने के योग्य नहीं। और भी कुछ आसनों का फल भट्टारकजी की निजी कल्पना द्वारा प्रसूत हुआ जान पड़ता है, जिसके विचार को यहाँ छोड़ा जाता है।

जूठन न छोड़ने का भयंकर परिणाम।

(१४) बहुत से लोग, जिनमें त्यागी और ब्रह्मचारी भी शामिल हैं, यह समझे हुए हैं कि जूठन नहीं छोड़ना चाहिये—कुत्ते को भी अपना जूठा भोजन नहीं देना चाहिये—और इसलिये वे कभी जूठन नहीं छोड़ते। उन्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि भट्टारकजी ने ऐसे लोगों के लिये जो खा पीकर बरतन खाली छोड़ देते हैं—उनमें कुछ जूठा भोजन तथा पानी रहने नहीं देते—यह व्यवस्था दी है कि '**वे जन्म जन्म में भूख प्यास से पीड़ित होंगे;** जैसा कि उनके निम्न *व्यवस्था-पद्य से प्रकट है:—*

भुक्त्वा पीत्वा तु तत्पात्रं रिक्तं त्यजति यो नरः।
स नरः क्षुत्पिपासार्तो भवेज्जन्मनि जन्मनि ॥ ६-२२५ ॥

मालूम नहीं भट्टारकजी ने जूठन न छोड़ने का यह भयंकर परिणाम कहाँ से निकाला है! अथवा किस आधार पर उसके लिये ऐसी दण्ड-व्यवस्था की घोषणा की है!! जैन सिद्धान्तों से उनकी इस व्यवस्था का कोई समर्थन नहीं होता—कोई भी ऐसा व्यापक नियम नहीं पाया जाता जो ऐसे निरपराधियों को जन्म जन्म में भूख प्यास की वेदना से पीड़ित रखने के लिये समर्थ हो सके। हाँ, हिन्दू धर्म की ऐसी कुछ कल्पना जरूर है और उक्त पद्य भी प्रायः हिन्दू धर्म की ही सम्पत्ति जान पड़ता है। वह साधारण से पाठ-भेद के साथ उनके स्मृतिरत्नाकर में उद्धृत मिलता है। वहाँ इस पद्य का पूर्वार्ध **'भुक्त्वा पीत्वा च यो मर्त्यः शून्यं**

पात्रं परित्यजेत्' ऐसा दिया है और उत्तरार्ध ज्यों का त्यों पाया जाता है—सिर्फ 'नरः' के स्थान पर 'सूर्यः' पद का उसमें भेद है। और इस सब पाठ-भेद से कोई वास्तविक अर्थ-भेद उत्पन्न नहीं होता। मालूम होता है भट्टारकजी ने हिन्दुओं के प्रायः उक्त पद्य पर से ही अपना यह पद्य बनाया है अथवा किसी दूसरे ही हिंदू ग्रंथ पर से इसे ज्यों त्यों उठाकर रक्खा है। और इसतरह पर दूसरों द्वारा कल्पित हुई एक व्यवस्था का अन्धाऽनुसरण किया है। भोजनप्रकरण का और भी बहुतसा कथन अथवा क्रियाकांड इस अध्याय में हिन्दू ग्रंथों से उठाकर रक्खा गया है और उसमें कितनी ही बातें निरर्थक तथा खाली वहम को लिये हुए हैं।

देवताओं की रोकथाम।

(१५) हिन्दुओं का विश्वास है कि इधर उधर विचरते हुये राक्षसादिक देवता भोजन के सत्व अथवा अन्नबल को हर लेते हैं—खा जाते हैं—और इसलिये उनके इस उपद्रव की रोकथाम के वास्ते उन्होंने मंडल बनाकर भोजन करने की व्यवस्था की है ※। वे समझते हैं कि इस तरह गोल, त्रिकोण अथवा चतुष्कोणादि मंडलों के भीतर भोजन रख कर खाने से उन देवताओं की ग्रहण-शक्ति रुक जाती है और उससे भोजन की पूर्णशक्ति बनी रहती है। भट्टारकजी ने उनकी इस व्यवस्था को भी उन्हीं के विश्वास अथवा उद्देश्य के साथ अपनाया है। इसी से आप छठे अध्याय में लिखते हैं—

चतुरस्रं त्रिकोणं च वर्तुलं चार्धचन्द्रकम्।
कर्तव्यानुपूर्व्येण मंडलं ब्राह्मणादिषु ॥ १६४ ॥

※ गोमयं मंडलं कृत्वा भोक्तव्यमिति निश्चितम्।
पिशाचा यातुधानाद्या अन्नादाः स्युरमंडले ॥

—स्मृतिरत्नाकर।

यातुधानाः पिशाचाश्च त्वसुरा राक्षसास्तथा।
घ्नन्ति ते [वै] बलमन्नस्य मण्डलेन विवर्जितम्॥ १६५॥

अर्थात्—ब्राह्मणादिक को क्रमशः चतुष्कोण, त्रिकोण, गोल और अर्धचन्द्राकार मंडल बनाने चाहिये। मंडल के बिना भोजन की शक्ति को यातुधान, पिशाच, असुर और राक्षस देवता नष्ट कर डालते हैं।

ये दोनों श्लोक भी हिन्दू-धर्म से लिये गये हैं। पहले श्लोक को आन्हिकसूत्रावलि में 'ब्रह्मपुराण' का वाक्य लिखा है और दूसरे को 'स्मृतिरत्नाकर' में 'आत्रेय' ऋषि का वचन सूचित किया है और उसका दूसरा चरण 'ह्यसुराश्चाथ राक्षसाः' दिया है; जो बहुत ही साधारण पाठभेद को लिये हुए है ×।

इस तरह भट्टारकजी ने हिन्दू-धर्म की एक व्यवस्था को उन्हीं के शब्दों में अपनाया है और उसे जैनव्यवस्था प्रकट किया है, यह बड़े ही खेद का विषय है! जैनसिद्धान्तों से उनकी इस व्यवस्था का भी कोई समर्थन नहीं होता। प्रत्युत इसके, जैनदृष्टि से, इस प्रकार के कथन देवताओं का अवर्णवाद करने वाले हैं—उन पर झूठा दोषारोपण करते हैं। जैनमतानुसार व्यन्तरादिक देवों का भोजन भी मानसिक है, वे इस तरह पर दूसरों के भोजन को चुराकर खाते नहीं फिरते और न उनकी शक्ति ही ऐसे निःसत्व काल्पनिक मंडलों के द्वारा रोकी जा सकती है। अतः ऐसे मिथ्यात्ववर्धक कथन दूर से ही त्याग किये जाने के योग्य हैं।

× दूसरे श्लोक का एक रूपान्तर भी 'मार्कण्डेयपुराण' में पाया जाता है और वह इस प्रकार है—

यातुधानाः पिशाचाश्च क्रूराश्चैव तु राक्षसाः
हरन्ति रसमन्नं च मंडलेन विवर्जितम्॥

—आन्हिकसूत्रावलि।

एक वस्त्र में भोजन-भजनादिक पर आपत्ति ।

(१६) एक स्थान पर भट्टारकजी लिखते हैं कि 'एक वस्त्र पहन कर भोजन, देवपूजन, पितृकर्म, दान, होम, और जप आदिक (स्नान, स्वाध्यायादिक ※) कार्य नहीं करने चाहियें । खंड वस्त्र पहन कर तथा वस्त्रार्ध पहन कर भी ये सब काम न करने चाहियें । यथा—

एकवस्त्रो न भुंजीत न कुर्याद्देवपूज [नार्च] नम् ॥ ३-३६ ॥
न कुर्यात्पितृकर्मा [कार्या] णि दानं होमं जपादिकम् [पं तथा]
खण्डवस्त्रावृतश्चैव वस्त्रार्धप्रावृतस्तथा ॥ ३७ ॥

परन्तु क्यों नहीं करने चाहियें ? करने से क्या हानि होती है अथवा कौनसा अनिष्ट संघटित होता है ? ऐसा कुछ भी नहीं लिखा ! क्या एक वस्त्र में भोजन करने से वह भोजन पचता नहीं ? पूजन या भजन करने से वीतराग भगवान भी रुष्ट हो जाते हैं अथवा भक्तिरस उत्पन्न नहीं हो सकता ? आहारादिक का दान करने से पात्र की तृप्ति नहीं होती या उसकी क्षुधा आदि को शांति नहीं मिल सकती ? स्वाध्याय करने से ज्ञान की संप्राप्ति नहीं होती ? और परमात्मा का ध्यान करने से कुशल परिणामों का उद्भव तथा आत्मानुभवन का लाभ नहीं हो सकता ? यदि ऐसा कुछ नहीं है तो फिर एक वस्त्र में इन भोजनभजनादिक पर आपत्ति कैसी ? यह कुछ समझ में नहीं आता ! ! जैनमत में उत्कृष्ट श्रावक का रूप एक वस्त्रधारी माना गया है—इसीसे **'चेलखण्डधरः'** **'वस्त्रैकधरः'**, **'एकशाटकधरः'**, **'कौपीनमात्रतंत्रः'** आदि नामों या पदों से उसका उल्लेख किया जाता है—और वह अपने उस एक वस्त्र

※आदिक शब्द का यह आशय ग्रंथ के अगले **'स्नानं दानं जपं होमं'** नाम के पद्य पर से ग्रहण किया गया है जो 'उक्तंच' रूप से दिया है और संभवतः किसी हिन्दू-ग्रंथ का ही पद्य मालूम होता है ।

में ही भोजन के अतिरिक्त देवपूजन, स्वाध्याय, दान और जप-ध्यानादिक सम्पूर्ण धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान करता है। यदि एक वस्त्र में इन सब कृत्यों का किया जाना निषिद्ध हो तो श्रावक का उत्कृष्ट लिंग ही नहीं बन सकता, अथवा यों कहना होगा कि उसका जीवन धार्मिक नहीं हो सकता। इससे जैनशासन के साथ इस सब कथन का कोई संबंध ठीक नहीं बैठता—वह जैनियों की सैद्धान्तिक दृष्टि से निरा सारहीन प्रतीत होता है। वास्तव में यह कथन भी हिन्दू-धर्म से लिया गया है। इसके प्रतिपादक वे दोनों वाक्य भी जो ३६ वें पद्य का उत्तरार्ध और ३७ वें पद्य का पूर्वार्ध बनाते हैं हिन्दू-धर्म की चीज़ हैं—हिन्दुओं के 'चंद्रिका' ग्रंथ का एक श्लोक हैं—और स्मृतिरत्नाकर में भी, ब्रैकिटों में दिये हुए साधारण से पाठभेद के साथ, उद्धृत पाये जाते हैं।

सुपारी खाने की सज़ा।

(१७) भोजनाध्याय * में, ताम्बूलविधि का वर्णन करते हुए, भट्टारकजी लिखते हैं—

> अनिधाय मुखे पर्णं पूगं खादति यो नरः।
> सप्तजन्मदरिद्रः स्यादन्ते नैव स्मरेज्जिनम् ॥ २३३ ॥

---

* छठे अध्याय का नाम 'भोजन' अध्याय है परन्तु इसके शुरू के १४८ श्लोकों में जिनमंदिर के निर्माण तथा पूजनादि-सम्बन्धी कितना ही कथन ऐसा दिया हुआ है जो अध्याय के नामके साथ संगत मालूम नहीं होता—और भी कुछ अध्यायों में ऐसी गड़बड़ी पाई जाती है—और इससे यह स्पष्ट है कि अध्यायों के विषय-विभाग में भी विचार से ठीक काम नहीं लिया गया।

अर्थात्—जो मनुष्य मुख में पान न रखकर—विना पान के ही—सुपारी खाता है वह सात जन्म तक दरिद्री होता है और अन्त में—मरते समय—उसे जिनेन्द्र भगवान का स्मरण नहीं होता।

पाठकगण! देखा, कैसी विचित्र व्यवस्था और कैसा अद्भुत न्याय है! कहाँ तो अपराध और कहाँ इतनी सख्त सज़ा!! इस धार्मिक दण्डविधान ने तो बड़े बड़े अन्यायी राजाओं के भी कान काट लिये!!! क्या जैनियों की कर्म फ़िलॉसॉफ़ी और जैनधर्म से इसका कुछ सम्बन्ध हो सकता है? कदापि नहीं। सुपारी के साथ दरिद्र की इस विलक्षण व्याप्ति को मालूम करने के लिये जैनधर्म के बहुत से सिद्धान्त-ग्रन्थों को टटोला गया परंतु कहीं से भी ऐसा कोई नियम उपलब्ध नहीं हुआ जिससे यह लाज़िमी आता हो कि सुपारी पान की संगति में रहकर तो दरिद्र नहीं करेगी परंतु अलग सेवन किये जाने पर वह सात जन्म तक दरिद्र को खींच लाने अथवा उत्पन्न करने में अनिवार्य रूप से प्रवृत्त होगी, और अन्त को भगवान का स्मरण नहीं होने देगी सो जुदा रहा। कितने ही जैनी, जिन्हें पान में साधारण वनस्पति का दोष मालूम होता है, पान नहीं खाते किन्तु सुपारी खाते हैं; अनेक पण्डितों और पंडितों के गुरु माननीय पं० गोपालदासजी बरैया को भी पान से अलग सुपारी खाते हुये देखा गया परंतु उनकी बावत यह नहीं सुना गया कि उन्हें मरते समय भगवान् का स्मरण नहीं हुआ। इससे इस कथन का वह अंश जो प्रत्यक्ष से सम्बंध रखता है प्रत्यक्ष के विरुद्ध भी है। और यदि उसी जन्म में भी दरिद्र का विधान इस पद्य के द्वारा इष्ट है तो वह भी प्रत्यक्ष के विरुद्ध है; क्योंकि बहुत से सेठसाहूकार भी विना पान के सुपारी खाते हैं और उनके पास दरिद्र नहीं फटकता।

मालूम होता है यह कथन भी हिन्दू धर्म के किसी ग्रंथ से लिया

गया है। हिंदुओं के 'स्मृतिरत्नाकर' ग्रंथ में यह श्लोक बिलकुल ज्यों का त्यों पाया जाता है, सिर्फ़ अन्तिम चरण का भेद है। अंतिमचरण वहाँ **'नरकेषु निमज्जति'** (नरकों में पड़ता है) दिया है। बहुत सम्भव है भट्टारकजी ने इसी अंतिमचरण को बदल कर उसके स्थान में **'अन्ते नैव स्मरेज्जिनम्'** बनाया हो। यदि ऐसा है तब तो इस परिवर्तन से इतना जरूर हुआ है कि कुछ सज़ा कम हो गई है। नहीं तो बेचारे को, सात जन्म तक दरिद्री रहने के सिवाय, नरकों में और जाना पड़ता !! परंतु इस पद्य का एक दूसरा रूप भी है जो मुहूर्त चिंतामणि की 'पीयूषधारा' टीका में पाया जाता है। उसमें और सब बातें तो ज्यों की त्यों हैं, सिर्फ़ **'अनिभाय मुखे'** की जगह **'अशास्त्रविधिना'** (शास्त्रविधि का उल्लंघन करके) पद का प्रयोग किया गया है और अंतिम चरण का रूप **'अन्ते विष्णुं न संस्मरेत्'** (अंत में उसे विष्णु भगवान् का स्मरण नहीं होता) ऐसा दिया है। इस अंतिमचरण पर से भट्टारकजी के उक्त चरण का रचा जाना और भी ज़्यादा स्वाभाविक तथा संभावित है। हो सकता है भट्टारकजी के सामने हिन्दू-ग्रंथों के ये दोनों ही पद्य रहे हों और उन्होंने उन्हीं पर से अपने पद्य का रूप गढ़ा हो। परंतु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि जैनसिद्धान्तों के विरुद्ध होने से उनका यह सब कथन जैनियों के द्वारा मान्य किये जाने के योग्य नहीं है।

जनेऊ की अजीब करामात।

(१८) 'यज्ञोपवीत' नामक अध्याय में, भट्टारकजी ने जनेऊ की करामात का जो वर्णन दिया है उससे मालूम होता है कि 'यदि किसी को अपनी आयु बढ़ाने की—अधिक जीने की—इच्छा हो तो उसे दो या तीन जनेऊ अपने गले में डाल लेने चाहियें—आयु बढ़ जायगी

(अकाल मृत्यु तो तब शायद पास भी न फटकेगी !), पुत्रप्राप्ति की इच्छा हो तो पाँच जनेऊ डाल लेने चाहियें—पुत्र की प्राप्ति हो जायगी—और धर्म लाभ की इच्छा हो तोभी पाँच ही जनेऊ कण्ठ में धारण करने चाहियें, तभी धर्म का लाभ हो सकेगा अथवा उसका होना अनिवार्य होगा। एक जनेऊ पहन कर यदि कोई धर्म कार्य—जप, तप, होम, दान, पूजा, स्वाध्याय, स्तुति पाठादिक—किया जायगा तो वह सब निष्फल होगा, एक जनेऊ में किसी भी धर्म कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती।' यथाः—

आयुःकामः सदा कुर्यात् त्रित्रियज्ञोपवीतकम्।
पंचभिः पुत्रकामः स्याद् धर्मकामस्तथैव च ॥ ५७ ॥
यज्ञोपवीतेनैकेन जपहोमादिकं कृतम्।
तत्सर्वं विलयं याति धर्मकार्यं न सिद्ध्यति ॥ ५८ ॥

पाठकजन ! देखा, जनेऊ की कैसी अजीब करामात का उल्लेख किया गया है और उसकी संख्यावृद्धि के द्वारा आयु की वृद्धि आदि का कैसा सुगम तथा सस्ता उपाय बतलाया गया है !! * मुझे इस

---

* और भी कुछ स्थानों पर ऐसे ही विलक्षण उपायों का—करामाती नुसख़ों का—विधान किया गया है; जैसे (१) पूर्व की ओर मुँह करके भोजन करने से आयु के बढ़ने का, पश्चिम की तरफ़ मुँह करके खाने से धन की प्राप्ति होने का और (२) काँसी के बरतन में भोजन करने से आयुर्बलादिक की वृद्धि का विधान ! इसी तरह (३) दीपक का मुख पूर्व की ओर कर देने से आयु के बढ़ने का, उत्तर की ओर कर देने से धन की बढवारी का, पश्चिम की ओर कर देने से दुःखों की उत्पत्ति का तथा दक्षिण की ओर कर देने से हानि के पहुँचने का; और सूर्यास्त से सूर्योदय पर्यन्त घर में दीपक के जलते रहने

उपाय की विलक्षणता अथवा निःसारता आदि के विषय में कुछ विशेष कहने की ज़रूरत नहीं है, सहृदय पाठक सहज ही में अपने अनुभव से उसे जान सकते हैं अथवा उसकी जाँच कर सकते हैं। मैं यहाँ पर, सिर्फ इतना ही बतला देना चाहता हूँ कि भट्टारकजी ने जो यह प्रतिपादन किया है कि '**एक जनेऊ पहन कर कोई भी धर्मकार्य सिद्ध नहीं हो सकता—उसका करना ही निष्फल होता है**'

से दरिद्र के भाग जाने अथवा पास न फटकने का विधान! यथाः—

(१) आयुष्यं प्राङ्मुखो भुंक्ते......श्रीकामः पश्चिमे [श्रियं प्रत्यङ्मुखो] भुंक्ते ॥ ६-१६२ ॥

(२) एक एव तु यो भुंक्ते विमले [गृहस्थः] कांस्यभाजने।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुः प्रज्ञा यशोबलम् ॥ ६-१६७ ॥

(३) आयुष्ये [दः] प्राङ्मुखो दीपो धनायोदङ्मुखोमतः [धनदः स्यादुदङ्मुखः]।
प्रत्यङ्मुखोऽपिदुःखाय [दुःखदोऽसौ] हानये [निदो] दक्षिणामुखः॥
रवेरस्तं समारभ्य यावत्सूर्योदयो भवेत्।
यस्य तिष्ठेद्गृहे दीपस्तस्य नास्ति दरिद्रता ॥

—अध्याय, ७ वाँ।

और ये सब कथन हिन्दू धर्म के ग्रन्थों से लिये गये हैं—हिन्दुओं के (१) मनु (२) व्यास तथा (३) मरीचि नामक ऋषियों के क्रमशः वचन हैं, जो प्रायः ज्यों के त्यों अथवा कहीं कहीं साधारण से परिवर्तन के साथ उठा कर रक्खे गये हैं। आन्हिकसूत्रावलि में भी ये वाक्य, ब्रैकिटों में दिये हुए पाठभेद के साथ इन्हीं ऋषियों के नाम से उल्लेखित मिलते हैं। जैनधर्म की शिक्षा अथवा उसके तत्वज्ञान से इन कथनों का कोई खास सम्बन्ध नहीं है।

वह जैनसिद्धान्त तथा जैननीति के बिल्कुल विरुद्ध है और किसी भी माननीय प्राचीन जैनाचार्य के वाक्य से उसका समर्थन नहीं होता। एक जनेऊ पहन कर तो क्या, यदि कोई बिना जनेऊ पहने भी सच्चे हृदय से भगवान की पूजा-भक्ति में लीन हो जाय, मन लगाकर स्वाध्याय करे, किसी के प्राण बचा कर उसे अभयदान देवे, सदुपदेश देकर दूसरों को सन्मार्ग में लगाए अथवा सत्संयम का अभ्यास करे तो **यह नहीं हो सकता कि उसे सत्फल की प्राप्ति न हो। ऐसा न मानना जैनियों की कर्मफ़िलॉसॉफ़ी अथवा जैनधर्म से ही इनकार करना है।** जैनधर्मानुसार मन-वचन-काय की शुभ प्रवृत्ति पुण्य का और अशुभ प्रवृत्ति पाप का कारण होती है—वह अपने उस फल के लिये यज्ञोपवीत के धागों की साथ में कुछ अपेक्षा नहीं रखती किन्तु परिणामों से खास सम्बन्ध रखती है। सैकड़ों यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारी महापातकी देखे जाते हैं और बिना यज्ञोपवीत के भी हजारों व्यक्ति उत्तर भारतादिक में धर्मकृत्यों का अच्छा अनुष्ठान करते हुए पाये जाते हैं—स्त्रियाँ तो बिना यज्ञोपवीत के ही बहुत कुछ धर्मसाधन करती हैं। अतः धर्म का यज्ञोपवीत के साथ अथवा उसकी पंचसंख्या के साथ कोई **अविनाभावी** सम्बन्ध नहीं है। और इस लिये भट्टारकजी का उक्त कथन मान्य किये जाने के योग्य नहीं।

तिलक और दर्भ के बँधुए।

(१६) चौथे अध्याय में, 'तिलक' का विस्तृत विधान और उसकी अपूर्व महिमा का गान करते हुए, भट्टारकजी लिखते हैं:—

जपो होमस्तथा दानं स्वाध्यायः पितृतर्पणम्।
जिनपूजा श्रुताख्यानं न कुर्यात्तिलकं विना॥ ८५॥

अर्थात्—तिलक के बिना जप, होम, दान, स्वाध्याय, पितृतर्पण जिनपूजा और शास्त्र का व्याख्यान नहीं करना चाहिये।

परन्तु क्यों नहीं करना चाहिये ? करने से क्या खराबी पैदा हो जाती है अथवा कौनसा उपद्रव खड़ा हो जाता है ? ऐसा कुछ भी नहीं लिखा । क्या तिलक छाप लगाए बिना इनको करने से ये कार्य अधूरे रह जाते हैं ? इनका उद्देश्य सिद्ध नहीं होता ? अथवा इनका करना ही निष्फल होता है ? कुछ समझ में नहीं आता !! हाँ, इतना स्पष्ट है कि भट्टारकजी ने जप-तप, दान, स्वाध्याय, पूजा-भक्ति और शास्त्रोपदेश तक को तिलक के साथ बँधे हुए समझा है, तिलक के अनुचर माना है और उनकी दृष्टि में इनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं—इनका स्वतंत्रता पूर्वक अनुष्ठान नहीं हो सकता अथवा वैसा करना हितकर नहीं हो सकता । और यह सब जैन शासन के विरुद्ध है । एक वस्त्र में तथा एक जनेऊ पहन कर इन कार्यों के किये जाने का विरोध जैसे युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता उसी तरह पर तिलक के बिना भी इन कार्यों का किया जाना, जैन सिद्धांतों की दृष्टि से कोई खास आपत्ति के योग्य नहीं जँचता । इस विषय में ऊपर (नं० १६ तथा १८ में) जो तर्कणा की गई है उसे यथायोग्य यहाँ भी समझ लेना चाहिये ।

इसी तरह पर तीसरे अध्याय में दर्भ * का माहात्म्य गाया गया है और उसके बिना भी पूजन, होम तथा जप आदिक के करने का निषेध किया है और लिखा है कि पूजन, जप तथा होम के अवसर पर दर्भ में ब्रह्मगाँठ लगानी होती है । साथ ही, यह भी बतलाया है कि नित्य कर्म करते हुए हमेशा दो दर्भों को दक्षिण हाथ में धारण करना चाहिये

---

* कुश, काँस, दूब और मूँज वगैरह घास, जिसमें गेहूँ, जौ तथा धान्य की नालियाँ भी शामिल हैं और जिसके इन भेदों का प्रतिपादक श्लोक "अजैन ग्रन्थों से संग्रह" नामक प्रकरण में उद्धृत किया जा चुका है ।

और स्नान, दान, जप, यज्ञ तथा स्वाध्याय करते हुए दोनों हाथों में या तो दर्भ के नाल रखने चाहियें और या पवित्रक (दर्भ के बने छल्ले) पहनने चाहियें। यथा—

> द्वौ दर्भौ दक्षिणे हस्ते सर्वदा नित्यकर्मणि ॥ ६२ ॥
> स्नाने दाने जपे यज्ञे स्वाध्याये नित्यकर्मणि।
> सपवित्रौ सदर्भौ वा करौ कुर्वीत नान्यथा ॥ ६५ ॥
> दर्भं विना न कुर्वीत चाचमं जिनपूजनम्।
> जिनयज्ञं जपे होमे ब्रह्मग्रन्थिर्विधीयते ॥ ६७ ॥

इससे जाहिर है कि **भट्टारकजी ने जिनपूजनादिक को तिलक के ही नहीं किन्तु दर्भ के भी बँधुए माना है!** आपकी यह मान्यता भी, तिलक सम्बंधी उक्त मान्यता की तरह, जैन शासन के विरुद्ध है। जैनों का आचार विचार भी आम तौर पर इसके अनुकूल नहीं पाया जाता अथवा यों कहिये कि 'दर्भ हाथ में लेकर ही पूजनादिक धर्मकृत्य किये जायँ अन्यथा न किये जायँ' ऐसी जैनाम्नाय नहीं है। लाखों जैनी बिना दर्भ के ही पूजनादिक धर्मकृत्य करते आए हैं और करते हैं। नित्य की 'देवपूजा' तथा यशोनन्दि आचार्य कृत 'पंचपरमेष्ठि पूजापाठ' आदिक ग्रंथों में भी दर्भ की इस आवश्यकता का कोई उल्लेख नहीं है। हाँ, हिन्दुओं के यहाँ दर्भादिक के माहात्म्य का ऐसा वर्णन जरूर है—वे तिलक और दर्भ के बिना स्नान, पूजन तथा संध्योपासनादि धर्मकृत्यों का करना ही निष्फल समझते हैं; जैसा कि उनके पद्मपुराण (उत्तर खण्ड) के निम्न वाक्य से प्रकट है—

> स्नानं संध्यां पंच यज्ञान् पैत्रं होमादिकर्म यः।
> विना तिलकदर्भाभ्यां कुर्यात्तन्निष्फलं भवेत् ॥
>
> —शब्दकल्पद्रुम।

इसी तरह उनके ब्रह्माण्डपुराण में तिलक को वैष्णव का रूप बतलाया है और उसके बिना दान, जप, होम तथा स्वाध्यायादिक का करना निरर्थक ठहराया है। यथा—

> कर्मादौ तिलकं कुर्याद्रूपं तद्वैष्णवं परं॥
> गो प्रदानं जपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम्।
> भस्मीभवति तत्सर्वं मूर्ध्नपुण्ड्रं विना कृतम्॥
>
> —शब्दकल्पद्रुम।

हिन्दूग्रंथों के ऐसे वाक्यों पर से ही भट्टारकजी ने अपने कथन की सृष्टि की है जो जैनियों के लिये उपादेय नहीं है।

यहाँ पर मैं अपने पाठकों को इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि भट्टारकजी ने तिलक करने का जो विधान किया है वह उसी * चंदन से किया है जो भगवान के चरणों को लगाया जावे—अर्थात्, भगवान के चरणों पर लेप किये हुए चंदन को उतार कर उससे तिलक करने की व्यवस्था की है। साथ ही, यह भी लिखा है कि 'अँगूठे से किया हुआ तिलक पुष्टि को देता है, मध्यमा अँगुली से किया हुआ यश को फैलाता है, अनामिका (कनिष्ठा के पास की अँगुली) से किया गया तिलक धन का देने वाला है और यही प्रदेशिनी (अँगूठे के पास की अँगुली) से किये जाने पर मुक्ति का दाता है'! × यह सब व्यवस्था भी कैसी विलक्षण है, इसे पाठक स्वयं समझ

---

* यथाः—

" जिनांघ्रिचन्दनैः स्वस्य शरीरं लेपमाचरेत्।.........॥६१॥
" ललाटे तिलकं कार्यं तेनैव चन्दनेन च ॥ ६३ ॥

× यथाः—

अंगुष्ठः पुष्टिदः प्रोक्तो यशसे मध्यमा [मध्यमायुष्करी] भवेत्।
अनामिका श्रियं [अर्थदा] दद्यात् [नित्यं] मुक्तिं दद्यात्
[मुक्तिश्च] प्रदेशिनी ॥ ८२॥

सकते हैं। इसमें और सब बातें तो हैं ही परन्तु '**मुक्ति**' इसके द्वारा **अच्छी सस्ती बनादी गई है** ! मुक्ति के इच्छुकों को चाहिये कि वे इसे अच्छी तरह से नोट कर लेवें !!

सूतक की विडम्बना।

(२०) जन्म-मरण के समय अशुचिता का कुछ सम्बंध होने से लोक में जननाशौच तथा मरणाशौच (सूतक पातक) की कल्पना की गई है, और इन दोनों को शास्त्रीय भाषा में एक नाम से 'सूतक' कहते हैं। स्त्रियों का रजस्वलाशौच भी इसी के अन्तर्गत है। इस सूतक के मूल में लोकव्यवहार की शुद्धि का जो तत्व अथवा जो उद्देश्य जिस हद तक संनिहित था, भट्टारकजी के इस ग्रंथ में उसकी बहुत कुछ मिट्टी पलीद पाई जाती है। वह कितने ही अंशों में लक्ष्य-भ्रष्ट होकर अपनी सीमा से निकल गया है—कहीं ऊपर चढा दिया गया तो कहीं नीचे गिरा दिया गया—उसकी कोई एक स्थिर तथा निर्दोष नीति नहीं, और इससे सूतक को एक अच्छी खासी विडम्बना का रूप प्राप्त होगया है। इसी विडम्बना का कुछ दिग्दर्शन कराने के लिये पाठकों के सामने उसके दो चार नमूने रक्खे जाते हैं:—

(क) वर्णक्रम से सूतक (जननाशौच) की मर्यादा का विधान करते हुए, आठवें अध्याय में, ब्राह्मणों के लिये १०, क्षत्रियों के लिये १२, और वैश्यों के लिये १४ दिनकी मर्यादा बतलाई गई है। परंतु तेरहवें अध्याय में क्षत्रियों तथा शूद्रों को छोड़कर, जिनके लिये क्रमशः १२ तथा १५ दिन की मर्यादा दी है, औरों के लिये

यह पद्य, ब्रैकिटों में दिये हुए पाठ भेद के साथ, हिन्दुओं के ब्रह्मपुराण में पाया जाता है (श० क०) और सम्भवतः वहीं से लिया गया जान पड़ता है।

१० दिनकी मर्यादा का उल्लेख किया है और इस तरह पर ब्राह्मण वैश्य दोनों ही के लिये १० दिनकी मर्यादा बतलाई गई है। इसके सिवाय, एक श्लोक में वर्णों की मर्यादा-विषयक पारस्परिक अपेक्षा (निस्बत, Ratio) का नियम भी दिया है और उसमें बतलाया है कि जहाँ ब्राह्मणों के लिये तीन दिन का सूतक, वहाँ वैश्यों के लिये चार दिन का, क्षत्रियों के लिये पाँच दिन का और शूद्रों के लिये आठ दिन का समझना चाहिये। यथा:—

प्रसूतेर्दशमे चाह्नि द्वादशे वा चतुर्दशे।
सूतकाशौचशुद्धिः स्याद्विप्रादीनां यथाक्रमम्॥ ८—१०५॥
प्रसूतौ चैव निर्दोषं दशाहं सूतकं भवेत्।
क्षत्रस्य द्वादशाहं सच्छूद्रस्य पक्षमात्रकम्॥ १३-७६॥
* त्रिदिनं यत्र विप्राणां वैश्यानां स्याच्चतुर्दिनम्।
क्षत्रियाणां पंचदिनं शूद्राणां च दिनाष्टकम्॥-७७॥

इन तीनों श्लोकों का कथन, एक विषय से सम्बन्ध रखते हुए भी, परस्पर में कितना विरुद्ध है इसे बतलाने की ज़रूरत नहीं; और यह तो स्पष्ट ही है कि तीसरे श्लोक में दिये हुए अपेक्षा-नियम का पहले दो श्लोकों में कोई पालन नहीं किया गया। उसके अनुसार

---

* इस श्लोक का अर्थ देने के बाद सोनीजी ने जो भावार्थ दिया है वह उनका निजी कल्पित जान पड़ता है—मूल से उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। मूल के अनुसार इस श्लोक का सम्बन्ध आगे पीछे दोनों ओर के कथनों से है। आगे भी ६२ वें श्लोक में जननाशौच की मर्यादा का उल्लेख किया गया है। उस पर भी इस श्लोक की व्यवस्था लगाने से वही विडम्बना खड़ी हो जाती है। इसी तरह ७६ वें श्लोक के अनुवाद में जो उन्होंने लिखा है कि 'राजा के लिये सूतक नहीं' यह भी मूल से बाहर की चीज़ है।

ब्राह्मणों के लिये यदि दस दिन का सूतक था तो वैश्यों के लिये प्रायः १३ दिन का, क्षत्रियों के लिये १६ दिन का और शूद्रों के लिये २६ दिन का सूतक-विधान होना चाहिये था। परन्तु वैसा नहीं किया गया। इससे सूतक-विषयक मर्यादा की अच्छी खासी विडम्बना पाई जाती है, और वह पूर्वाचार्यों के कथन के भी विरुद्ध है, क्योंकि प्रायश्चित्तसमुच्चय और छेदशास्त्रादि ग्रन्थों में क्षत्रियों के लिये ५ दिन की, ब्राह्मणों के लिये १० दिन की, वैश्यों के लिये १२ दिन की और शूद्रों के लिये १५ दिन की सूतक-व्यवस्था की गई है और उसमें जन्म तथा मरण के सूतक का कोई अलग भेद न होने से वह, आम तौर पर, दोनों के ही लिये समान जान पड़ती है। यथाः—

क्षत्रब्राह्मणविट्शूद्रा दिनैः शुद्ध्यन्ति पंचभिः।
दशद्वादशभिः पक्षाद्यथासंख्यप्रयोगतः॥ १५२॥

—प्रायश्चित्तस०, चूलिका।

पण दस बारस णियमा पण्णरसेहिं तत्थ दिवसेहिं।
खत्तियबंभणवइसा सुद्दाइ कमेण सुज्झंति ॥ ८७॥

—छेदशास्त्र।

(ख) आठवें अध्याय में भट्टारकजी लिखते हैं कि 'पुत्र पैदा होने पर पिता को चाहिये कि वह पूजा की सामग्री तथा मंगल कलश को लेकर गाजे बाजे के साथ श्रीजिनमंदिर में जावे और वहाँ **बच्चे की नाल कटने तक प्रति दिन** पूजा के लिये ब्राह्मणों की योजना करे तथा दान से संपूर्ण भट्ट-भिक्षुकादिकों को तृप्त करे'। और फिर तेरहवें अध्याय में यह व्यवस्था करते हैं कि 'नाल कटने तक और सबको तो सूतक लगता है परन्तु **पिता और भाई** को नहीं लगता। इसीसे वे दान देते हैं और उस दान को लेने वाले अपवित्र नहीं होते हैं। यदि उन्हें भी उसी वक्त से सूतकी मान लिया जाय तो दान ही नहीं बन सकता'। यथाः—

सम्बन्ध नहीं है और न जैनियों में, आमतौर पर, नाल का काटना दो एक दिन के लिये रोका ही जाता है; बल्कि वह उसी दिन, जितना शीघ्र होता है, काटदी जाती है और उसको काट देने के बाद ही दानादिक पुण्य कर्म किया जाता है।]

(ग) तेरहवें अध्याय में भट्टारकजी एक व्यवस्था यह भी करते हैं कि यदि कोई पुत्र दूर देशान्तर में स्थित हो और उसे अपने पिता या माता के मरण का समाचार मिले तो उस समाचार को सुनने के दिन से ही उसे दस दिन का सूतक (पातक) लगेगा—चाहे वह समाचार उसने कई वर्ष बाद ही क्यों न सुना हो * । यथाः—

पितरौ चेन्मृतौ स्यातां दूरस्थोऽपि हि पुत्रकः ।
श्रुत्वा तद्दिनमारभ्य पुत्राणां दशरात्रकं [दशाहं सूतकी भवेत्]॥७१॥

यह भी सूतक की कुछ कम विडम्बना नहीं है। उस पुत्र ने पिता का दाह-कर्म किया नहीं, शव को स्पर्शा नहीं, शव के पीछे श्मशान भूमि को वह गया नहीं और न पिता के मृत शरीर की दूषित वायु ही उस तक पहुँच सकी है परन्तु फिर भी—इतने अर्से के बाद तथा हजारों मील की दूरी पर बैठा हुआ भी—वह अपवित्र हो जाता है और दान पूजनादिक धर्मकृत्यों के योग्य नहीं रहता !! यह कितनी हास्यास्पद व्यवस्था है इसे पाठक स्वयं सोच सकते हैं !!! क्या यह

"जातकर्मणि दाने च नालच्छेदनात्पूर्वं पितुरधिकारः पर्वे पंचमषष्ठदशमदिने जन्मदादिपूजनेषु दाने चाधिकारः तत्र विप्राणां प्रतिग्रहेऽपि दोषो न ।" —आशौचनिर्णय ।

* इसी तरह पर आपने पति पत्नी को भी एक दूसरे का मृत्यु समाचार सुनने पर दस दिन का सूतक बतलाया है । यथाः—

मातापित्रोर्यथाशौचं दशाहं क्रियते सुतैः ।
अनेकेऽब्देऽपि दम्पत्योस्तथैव स्यात्परस्परम् ॥७२॥

भी जैन धर्म की व्यवस्था है ? छेदपिण्डादि शास्त्रों में तो जलानल-प्रवेशादिद्वारा मरे हुओं की तरह परदेश में मरे हुओं का भी सूतक नहीं माना है। यथा:—

बालत्तणसूरत्तणजलणादिपवेसदिक्खेहिं।
अणसणपरदेसेसु य मुदाण खलु सूतगं णत्थि ॥ ३५२ ॥
—छेदपिण्ड।

लोइयसूरत्तविही जलाइपरदेसबालसण्णासे।
मरिदे खणे ण सोही वदसहिदे चेव सागारे ॥ ८८ ॥
—छेद शास्त्र।

इससे उक्त व्यवस्था को जैनधर्म की व्यवस्था बतलाना और भी आपत्ति के योग्य हो जाता है। भट्टारकजी ने इस व्यवस्था को हिन्दू धर्म से लिया है, और वह उसके **'मरीचि'** ऋषि की व्यवस्था है *। उक्त श्लोक भी मरीचि ऋषि का वाक्य है और उसका अन्तिम चरण है **'दशाहं सूतकी भवेत्'**। भट्टारकजी ने इस चरण को बदल कर उसकी जगह **'पुत्राणां दशरात्रकं'** बनाया है और उनका यह परिवर्तन बहुत कुछ बेढंगा जान पड़ता है, जैसा कि पहिले ('अजैन-ग्रन्थों से संग्रह' प्रकरण में) बतलाया जा चुका है।

(घ) इसी तेरहवें अध्याय में भट्टारकजी एक और भी अनोखी व्यवस्था करते हैं। अर्थात्, लिखते हैं कि 'यदि कोई अपना कुटुम्बी

---

* मनु आदि ऋषियों की व्यवस्था इससे भिन्न है और उसको जानने के लिये 'मनुस्मृति' आदि को देखना चाहिये। यहाँ पर एक वाक्य पराशरस्मृति का उद्धृत किया जाता है जिसमें ऐसे अवसर पर सद्यः शौच की—तुरत शुद्धि कर लेने की—व्यवस्था की गई है। यथा:—

देशान्तरमृतः कश्चित्सगोत्रः श्रूयते यदि।
न त्रिरात्रमहोरात्रं सद्यः स्नात्वा शुचिर्भवेत् ॥ ३-१२ ॥

जन दूर देशान्तर को गया हो, और उसका कोई समाचार पूर्वादि अवस्था-क्रम से २८, १५ या १२ वर्ष तक सुनाई न पड़े तो इसके बाद उसका विधिपूर्वक प्रेतकर्म (मृतक संस्कार) करना चाहिये—सूतक (पातक) मनाना चाहिये—और श्राद्ध करके छह वर्ष तक का प्रायश्चित्त लेना चाहिये। यदि प्रेतकार्य हो चुकने के बाद वह आ जाय तो उसे घी के घड़े तथा सर्व औषधियों के रस से नहलाना चाहिये, उसके सब संस्कार फिर से करके उसे यज्ञोपवीत देना चाहिये और यदि उसकी पूर्वपत्नी मौजूद हो तो उसके साथ उसका फिर से विवाह करना चाहिये'। यथा:—

दूरदेशं गते वार्ता दूरतः श्रूयते न चेत्।
यदि पूर्ववयस्कस्य यावत्स्यादष्टविंशतिः॥ ८०॥
तथा मध्यवयस्कस्य ह्यब्दाः पंचदशैव तत्।
तथाऽपूर्ववयस्कस्य स्याद् द्वादशवत्सरम्॥ ८१॥
अत ऊर्ध्वं प्रेतकर्म कार्यं तस्य विधानतः।
श्राद्धं कृत्वा षडब्दं तु प्रायश्चित्तं स्वशक्तितः॥ ८२॥
प्रेतकार्ये कृते तस्य यदि चेत्पुनरागतः।
घृतकुम्भेन संस्नाप्य सर्वौषधिभिरप्यथ॥ ८३॥
संस्कारान्सकलान् कृत्वा मौञ्जीबन्धनमाचरेत्।
पूर्वपत्न्या सहैवास्य विवाहः कार्य एव हि॥ ८४॥

पाठकगण! देखिये, इस विडम्बना का भी कुछ ठिकाना है! बिना मरे ही मरना मना लिया गया!! और उसके मनाने की भी जरूरत समझी गई!!! यह विडम्बना पूर्व की विडम्बनाओं से भी बढ़ गई है। इस पर अधिक लिखने की जरूरत नहीं। जैन धर्म से ऐसी बिना सिर पैर की विडम्बनात्मक व्यवस्थाओं का कोई सम्बन्ध नहीं है।

(ङ) सूतक मनाने के इतने पर्गी भट्टारकजी आगे चलकर लिखते हैं:—

व्याधितस्य कदर्यस्य ऋणग्रस्तस्य सर्वदा ।
क्रियाहीनस्य मूर्खस्य स्त्रीजितस्य विशेषतः ॥११६॥
व्यसनासक्तचित्तस्य पराधीनस्य नित्यशः ।
श्राद्धत्यागविहीनस्य पण्ढपापण्डपापिनाम् ॥ १२० ॥
पतितस्य च दुष्टस्य भस्मांतं सूतकं भवेत् ।
यदि दग्धं शरीरं चेत्सूतकं तु दिनत्रयम् ॥ १२१ ॥

अर्थात्—जो लोग व्याधि से पीड़ित हों, कृपण हों, हमेशा कर्ज़दार रहते हों, क्रिया-हीन हों, मूर्ख हों, सविशेष रूप से स्त्री के वशवर्ती हों, व्यसनासक्तचित्त हों, सदा पराधीन रहने वाले हों, श्राद्ध न करते हों, दान न देते हों, नपुंसक हों, पाषण्डी हों, पापी हों, पतित हों अथवा दुष्ट हों, उन सब का सूतक भस्मान्त होता है—अर्थात्, शरीर के भस्म हो जाने पर फिर सूतक नहीं रहता । सिर्फ़ उस मनुष्य को तीन दिन का सूतक लगता है जिसने दग्धक्रिया की हो ।

इस कथन से सूतक का मामला कितना उलट पलट हो जाता है उसे बतलाने की ज़रूरत नहीं, सहृदय पाठक सहज ही में उसका अनुभव कर सकते हैं । मालूम नहीं भट्टारकजी का इस में क्या रहस्य था ! उनके अनुयायी सोनीजी भी उसे खोल नहीं सके और वैसे ही दूसरों पर अश्रद्धा का आक्षेप करने बैठ गये !! हमारी राय में तो इस कथन से सूतक की विडम्बना और भी बढ़ जाती है और उसकी कोई एक निर्दिष्ट अथवा स्पष्ट नीति नहीं रहती । लोक व्यवहार भी इस व्यवस्था के अनुकूल नहीं है । वस्तुतः यह कथन भी प्रायः हिन्दू धर्म का कथन है । इसके पहले दो पद्य **'अत्रि'** ऋषि के वचन हैं और वे 'अत्रिस्मृति' में क्रमशः नं० १०० तथा १०१ पर दर्ज हैं, सिर्फ़ इतना भेद है कि वहाँ दूसरे पद्य का अन्तिम चरण **'भस्मान्तं सूतकं भवेत्'** दिया है, जिसे भट्टारकजी ने अपने तीसरे पद्य का दूसरा

चरण बनाया है और उसकी जगह पर **'पण्डपाखण्डपापिनाम्'** नाम का चरण रख दिया है ! !

इसी तरह पर और भी कितने ही कथन अथवा विधि-विधान ऐसे पाये जाते हैं, जो सूतक-मर्यादा की निःसार विषमतादि-विषयक विडम्बनाओं को लिये हुए हैं और जिन से सूतक की नीति निरापद नहीं रहती; जैसे विवाहिता पुत्री के पिता के घर पर मर जाने अथवा उसके वहां बच्चा पैदा होने पर सिर्फ़ तीन दिन के सूतक की व्यवस्था का दिया जाना ! इत्यादि। और ये सब कथन भी अधिकांश में हिन्दू धर्म से लिये गये अथवा उसकी नीति का अनुसरण करके लिखे गये हैं।

यहाँ पर मैं अपने पाठकों को सिर्फ़ इतना और बतला देना चाहता हूँ कि भट्टारकजी ने उस हालत में भी सूतक अथवा किसी प्रकार के अशौच को न मानने की व्यवस्था की है जब कि यज्ञ (पूजन हवनादिक) तथा महान्यासादि कार्यों का प्रारम्भ कर दिया गया हो और बीच में कोई सूतक आ पड़े अथवा सूतक मानने से अपने बहुत से द्रव्य की हानि का प्रसंग उपस्थित हो। ऐसे सब अवसरों पर फ़ौरन शुद्धि कर ली जाती है अथवा मान ली जाती है, ऐसा भट्टारकजी का कहना है। यथाः—

समारब्धेषु वा यज्ञमहान्यासादिकर्मसु।
बहुद्रव्यविनाशे तु सद्यःशौचं विधीयते ॥ १२४ ॥

परन्तु विवाह-प्रकरण के अवसर पर आप अपने इस व्यवस्था-नियम को भुला गये हैं। वहाँ विवाह-यज्ञ का होम प्रारम्भ हो जाने पर जब यह मालूम होता है कि कन्या रजस्वला है तो आप तीन दिन के लिये विवाह को ही मुलतवी (स्थगित) कर देते हैं और चौथे दिन उसी अग्नि में फिर से होम करके कन्यादानादि शेष कार्यों को

पूरा करने की व्यवस्था देते हैं ! * आपको यह भी खयाल नहीं रहा कि तीन दिन तक बारात के वहाँ और पड़े रहने पर बेटी वाले का कितना खर्च बढ़ जायगा और साथ ही बारातियों को भी अपनी आर्थिक हानि के साथ साथ कितना कष्ट उठाना पड़ेगा !!—यह भी तो बहु-द्रव्यविनाश का ही प्रसंग था और साथ ही यज्ञ भी प्रारम्भ हो गया था जिसका कोई खयाल नहीं रक्खा गया—और न आप को यही ध्यान आया कि जिस ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार से हम यह पद्य उठा कर रख रहे हैं उसमें इसके ठीक पूर्व ही ऐसे अवसरों के लिये भी सद्यःशौच की व्यवस्था की है—अर्थात्, लिखा है कि उस वर तथा कन्या के लिये जिसका विवाहकार्य प्रारम्भ हो गया हो, उन लोगों के लिये जो होम श्राद्ध, महादान तथा तीर्थयात्रा के कार्यों में प्रवर्त रहे हों और उन ब्रह्मचारियों के लिये जो प्रायश्चित्तादि नियमों का पालन कर रहे हों, अपने अपने कार्यों को करते हुए किसी सूतक के उपस्थित हो जाने पर सद्यः शौच की व्यवस्था है + । अस्तु; भट्टारकजी को इस विषय का ध्यान अथवा खयाल रहा हो या न रहा हो और वे भूल गये हों या भुला गये हों परंतु

---

* यथा:—

विवाहहोमे प्रक्रान्ते कन्या यदि रजस्वला ।
त्रिरात्रं दम्पती स्यातां पृथक्शय्यासनाशनौ ॥ १०६ ॥
चतुर्थेऽहनि संस्नाता तस्मिन्नग्नौ यथाविधि ।
विवाहहोमं कुर्यात्तु कन्यादानादिकं तथा ॥ १०७ ॥

+ यथा:—

उपक्रान्तविवाहस्य वरस्यापि स्त्रियस्तथा ।
होमश्राद्धमहादानतीर्थयात्राप्रवर्तिनाम् ॥ ८-७९ ॥
प्रायश्चित्तादिनियमवर्तिनां ब्रह्मचारिणाम् ।
इत्येषां स्वस्वकृत्येषु सद्यः शौचं निरूपितम् ॥ -८० ॥

इसमें सन्देह नहीं कि ग्रंथ में उनके इस विधान से सूतक की नीति और भी ज्यादा अस्थिर हो जाती है और उससे सूतक की विडम्बना बढ़ जाती है अथवा यों कहिये कि उसकी मिट्टी खराब हो जाती है और कुछ मूल्य नहीं रहता। साथ ही, यह मालूम होने लगता है कि 'वह अपनी वर्तमान स्थिति में महज़ काल्पनिक है; उसका मानना न मानना समय की जरूरत, लोकस्थिति अथवा अपनी परिस्थिति पर अवलम्बित है—लोक का वातावरण बदल जाने अथवा अपनी किसी खास जरूरत के खड़े हो जाने पर उसमें यथेच्छ परिवर्तन ही नहीं किया जा सकता बल्कि उसे साफ़ धता भी बतलाया जा सकता है; वास्तविक धर्म अथवा धार्मिक तत्वों के साथ उसका कोई खास सम्बंध नहीं है—उसको उस रूप में न मानते हुए भी पूजा, दान, तथा स्वाध्यायादिक धर्मकृत्यों का अनुष्ठान किया जा सकता है और उससे किसी अनिष्ट फल की सम्भावना नहीं हो सकती'। चुनाँचे भरत चक्रवर्ती ने, पुत्रोत्पत्ति के कारण घर में सूतक होते हुए भी, भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान उत्पन्न होने का शुभ समाचार पाकर उनके समवसरण में जाकर उनका साक्षात् पूजन किया था, और वह पूजन भी अकेले अथवा चुपचाप नहीं किन्तु बड़ी धूमधाम के साथ अपने भाइयों, स्त्रियों तथा पुरजनों को साथ लेकर किया था। उन्हें ऐसा करने से कोई पाप नहीं लगा और न उसके कारण कोई अनिष्ट ही संघटित हुआ। प्रत्युत इसके, शास्त्र में—भगवज्जिनसेनप्रणीत आदिपुराण में—उनके इस सद्विचार तथा पुण्योपार्जन के कार्य की प्रशंसा ही की गई है जो उन्होंने पुत्रोत्पत्ति के उत्सव को भी गौण करके पहले भगवान का पूजन किया। भरतजी के मस्तक में उस वक़्त इस प्रकार की किसी कल्पना का उदय तक भी नहीं हुआ कि 'पुत्रजन्म के योगमात्र से हम सब कुटुम्बीजन, सूतक गृह में प्रवेश न करते हुए भी,

अपवित्र हो गये हैं—कुछ दिन तक बलात् अपवित्र ही रहेंगे—और इस लिये हमें भगवान् का पूजन न करना चाहिये;' बल्कि वे कुछ देर तक सिर्फ़ इतना ही सोचते रहे कि एक साथ उपस्थित हुए इन कार्यों में से पहले कौनसा कार्य करना चाहिये और अन्त को उन्होंने यही निश्चय किया कि यह सब पुत्रोत्पत्ति आदि शुभ फल धर्म का ही फल है, इस लिये सब से पहिले देवपूजा रूप धर्म कार्य ही करना चाहिये जो श्रेयोनुबन्धी (कल्याणकारी) तथा महाफल का दाता है। और तदनुसार ही उन्होंने, सूतकावस्था में, पहले भगवान का पूजन किया +। भरतजी यह भी जानते थे कि उनके भगवान् वीतराग हैं, परम पवित्र और पतितपावन हैं; यदि कोई शरीर से अपवित्र मनुष्य उनकी उपासना करता है तो वे उससे नाखुश (अप्रसन्न) नहीं होते और न उसके शरीर की छाया पड़ जाने अथवा वायु लग जाने से अपवित्र ही हो जाते हैं; बल्कि वह मनुष्य ही उनके पवित्र गुणों की स्मृति के योग से स्वयं पवित्र हो जाता है *। इससे भरतजी को अपनी सूतकावस्था की कुछ चिंता भी नहीं थी।

मालूम होता है ऐसे ही कुछ कारणों से जैन धर्म में सूतकाचरण को कोई विशेष महत्व नहीं दिया गया। उसका श्रावकों की उन ५३ क्रियाओं में नाम तक भी नहीं है जिनका आदिपुराण में विस्तार के साथ वर्णन किया गया है और जिन्हें '**सम्यक् क्रियाएँ**' लिखा है,

---

+ देखो उक्त आदिपुराण का २४ वाँ पर्व।

* नित्य की 'देवपूजा' में भी ऐसा ही भाव व्यक्त किया गया है और उस अपवित्र मनुष्य को तब बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकार से पवित्र माना है। यथा:—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थांगतोऽपि वा।
यः स्मरेत्परमात्मानं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः ॥

बल्कि भगवज्जिनसेन ने 'आधानादिस्मशानान्त' नाम से प्रसिद्ध होने वाली दूसरे लोगों की उन विभिन्न क्रियाओं को जिनमें 'सूतक' भी शामिल हैं 'मिथ्या क्रियाएँ' बतलाया है ×। इससे जैनियों के लिये सूतक का कितना महत्व है यह और भी स्पष्ट हो जाता है। इसके सिवाय, प्राचीन साहित्य का जहाँ तक भी अनुशीलन किया जाता है उससे यही पता चलता है कि बहुत प्राचीन समय अथवा जैनियों के अभ्युदय काल में सूतक को कभी इतनी महत्ता प्राप्त नहीं थी और न वह ऐसी विडम्बना को ही लिये हुए था जैसी कि भट्टारकजी के इस ग्रंथ में पाई जाती है। भट्टारकजी ने किसी देश, काल अथवा सम्प्रदाय में प्रचलित सूतक के नियमों का जो यह बेढंगा संग्रह करके उसे शास्त्र का रूप दिया है और सब जैनियों पर उसके अनुकूल आचरण की जिम्मेदारी का भार लादा है वह किसी तरह पर भी समुचित प्रतीत नहीं होता। जैनियों को इस विषय में अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिये और केवल प्रवाह में नहीं बहना चाहिये— उन्हें, जैनदृष्टि से सूतक के तत्व को समझते हुए, उसके किसी नियम उपनियम का पालन उस हद तक ही करना चाहिये जहाँ तक कि लोक-व्यवहार में ग्लानि मेटने अथवा शुचिता * सम्पादन करने के साथ उसका सम्बंध है और अपने सिद्धान्तों तथा व्रताचरण में कोई

× देखो इसी परीक्षा लेख का 'प्रतिज्ञादिविरोध' नाम का प्रकरण।

* यह शुचिता प्रायः भोजनपान की शुचिता है अथवा भोजनपान की शुद्धि को सिद्ध करना ही सूतक-पातक-सम्बन्धी वर्जन का मुख्य उद्देश्य है, ऐसा लाटीसंहिता के निम्न वाक्य से ध्वनित होता है :—

सूतकं पातकं चापि यथोक्तं जैनशासने।
एषणाशुद्धिसिद्ध्यर्थं वर्जयेच्छ्रावकाग्रणीः॥ ४-२५६॥

पीपल की यह पूजा जैनमत-सम्मत नहीं है। जैनदृष्टि से पीपल न कोई देवता है, न कोई दूसरी पूज्य वस्तु, और न उसके पूजन से किसी पुण्य फल अथवा शुभफल की प्राप्ति ही होती है; उसमें **पवित्रता, पूजन-पात्रता** (यज्ञयोग्यता) और **विज्ञता** (बोधित्व) आदि के वे विशिष्ट गुण भी नहीं हैं जिनकी उससे प्रार्थना की गई है। इसके सिवाय, जगह जगह जैन शास्त्रों में पिप्पलादि वृक्षों के पूजन का निषेध किया गया है और उसे **देवमूढता** अथवा **लोकमूढता** बतलाया है; जैसा कि नीचे के कुछ अवतरणों से प्रकट है:—

मुसलं देहली चुल्ली पिप्पलश्चम्पको जलम्।
देवायैरभिधीयन्ते वर्य्यन्त तैः परेऽत्र के ॥४—६८॥

—अमितगति उपासकाचार।

पृथ्वी ज्वलनं तोयं देहलीं पिप्पलादिकान्।
देवतात्वेन मन्यन्ते ये ते चिन्त्या विपश्चितः ॥१—४४॥

—सिद्धान्तसार।

क्षेत्रपालः शिवो नागो वृक्षाश्च पिप्पलादयः। ......
यत्रार्च्यन्ते शठैरेते देवमूढः स उच्यते ॥

—सारचतुर्विंशतिका।

...तरुस्तूपाग्र भक्तानां वन्दनं भृगुसंश्रयः।...
...एवमादिविमूढानां ज्ञेयं मूढमनेकधा ॥

—यशस्तिलक।

...वृक्षपूजादीनि पुण्यकारणानि भवन्तीति यद्वदन्ति तल्लोकमूढत्वं विज्ञेयं।

—द्रव्यसंग्रहटीका ब्रह्मदेवकृता।

...वटवृक्षादिपूजनम्। ...... लोकमूढं प्रचक्ष्यते ॥

—धर्मोपदेशपीयूषवर्षश्रावकाचार।

इससे भट्टारकजी की उक्त पिप्पलपूजा देवमूढता या लोकमूढता में परिगणित होती है। उन्होंने हिन्दुओं के विश्वासानुसार पीपल को यदि देवता समझ कर उसकी पूजा की यह व्यवस्था की है तो वह देवमूढता है और यदि लोगों की देखादेखी पुण्यफल समझ कर या उससे किसी दूसरे अनोखे फल की आशा रखकर ऐसा किया है तो वह लोकमूढता है; अथवा इसे दोनों ही समझना चाहिये। परन्तु कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि उनकी यह पूजन-व्यवस्था **मिथ्यात्व** को लिये हुए है और अच्छी खासी मिथ्यात्व की पोषक है। भट्टारकजी को भी अपनी इस पूजा पर प्रकट मिथ्यात्व के आक्षेप का खयाल आया है। परन्तु चूँकि उन्हें अपने ग्रंथ में इसका विधान करना था इसलिये उन्होंने लिख दिया—'**एवं कृते न मिथ्यात्वं**'—ऐसा करने से कोई मिथ्यात्व नहीं होता। क्यों नहीं होता? '**लौकिकाचारवर्तनात्**'—इस लिये कि यह तो लोकाचार का वर्तना है! अर्थात् **लोगों की देखा देखी जो काम किया जाय उसमें मिथ्यात्व का दोष नहीं लगता!** भट्टारकजी का यह हेतु भी बड़ा ही विलक्षण तथा उनके अद्भुत पाण्डित्य का द्योतक है!! उनके इस हेतु के अनुसार लोगों की देखादेखी यदि कुदेवों का पूजन किया जाय, उन्हें पशुओं की बलि चढ़ाई जाय, साँझी-होई तथा पीरों की कब्रें पूजी जायँ, नदी समुद्रादिक की वन्दना-भक्ति के साथ उनमें स्नान से धर्म माना जाय, ग्रहण के समय स्नान का विशेष माहात्म्य समझा जाय और हिंसा के आचरण तथा मद्यमांसादि के सेवन में कोई दोष न माना जाय अथवा यों कहिये कि अतत्व को तत्व समझ कर प्रवर्ता जाय तो इसमें भी कोई मिथ्यात्व नहीं होगा!! तब मिथ्यात्व अथवा मिथ्याचार रहेगा क्या, यह कुछ समझ में नहीं आता!!! **सोमदेवसूरि** तो, 'यशस्तिलक' में मूढताओं का वर्णन करते हुए, साफ़ लिखते हैं कि '**इन वृक्षादिकों**

वजह है जो वे पीपल में पवित्रता, यज्ञयोग्यता और बोधित्वादि गुणों की कल्पना किये हुए हैं। पीपल में पूतत्व गुण अथवा पवित्रता के हेतु का उल्लेख करने वाला उनका एक वाक्य नमूने के तौर पर इस प्रकार है:-

अश्वत्थ ! यस्मात्त्वयि वृक्षराज ! नारायणस्तिष्ठति सर्वकारणम्।
अतः शुचिस्त्वं सततं तरूणाम् विशेषतोऽरिष्टविनाशनोऽसि ॥

इस वाक्य में पीपल को सम्बोधन करके कहा गया है कि 'हे वृक्षराज ! चूँकि सब का कारण नारायण (विष्णु भगवान) तुम्हारे में तिष्ठता है, इसलिये तुम सविशेष रूप से पवित्र हो और अरिष्ट का नाश करने वाले हो'।

ऐसी हालत में, अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध, दूसरे लोगों की देखा-देखी पीपल पूजने अथवा इस रूप में लोकानुवर्तन करने से सम्यग्दर्शन मैला होता है—सम्यक्त्व में बाधा आती है—यह बहुत कुछ स्पष्ट है। खेद है भट्टारकजी, जैन दृष्टि से, यह नहीं बतला सके कि पीपल में किस सम्बन्ध से पूज्यपना है अथवा किस आधार पर उसमें बोधित्व तथा पूतत्वादि गुणों की कल्पना बन सकती है ! × प्रत्यक्ष में वह

"(अथर्वण उवाच) पुरा ब्रह्मादयो देवाः सर्वे विष्णुं समाश्रिताः।
प्रच्छन्नं देवदेवेशं राक्षसैः पीडिताः स्वयम्।
कथं पीडोपशमनमस्माकं ब्रूहि मे प्रभो ॥
"(श्रीविष्णुरुवाच) अहमश्वत्थरूपेण संभवामि च भूतले।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कुरुध्वं तरुसेवनम् ॥
अनेन सर्वभद्राणि भविष्यन्ति न संशयः।

—जयसिंहकल्पद्रुम।

× भट्टारकजी के कथन को ब्रह्मवाक्य समझने वाले सोनीजी भी, अपने अनुवाद में डेढ़ पेज का लम्बा भावार्थ लगाने पर भी, इस विषय को स्पष्ट नहीं कर सके और न भट्टारकजी के हेतु को ही निर्दोष

जड़ भाव को लिये हुए है और उसके फलों तथा लाख में असंख्याते त्रस जीवों के मृत कलेवर शामिल रहने से अच्छी खासी अपवित्रता से

सिद्ध कर सके हैं! उन्होंने यह तो स्वीकार किया है कि आगम में वृक्ष पूजा को बुरा तथा लोकमूढता बतलाया है और उसके अनुसार इस पीपल पूजा का लोकमूढता में अन्तर्भाव होना चाहिये। परन्तु ग्रन्थकार भट्टारकजी ने चूँकि यह लिख दिया है कि 'ऐसा करने में मिथ्यात्व का दोष नहीं लगता' इससे आपकी बुद्धि चकरा गई है और आप उसमें किसी रहस्य की कल्पना करने में प्रवृत्त हुए हैं--यह कहने लगे हैं कि "इसमें कुछ थोड़ासा रहस्य है"। लेकिन यह रहस्य क्या है, उसे बहुत कुछ प्रयत्न करने अथवा इधर उधर की बहुत सी निरर्थक बातें बनाने पर भी आप खोल नहीं सके और अन्त में आपको अनिश्चित रूप से यही लिखना पड़ा—"संभव है कि जिस तरह क्षेत्र को निमित्त लेकर ज्ञान का क्षयोपशम हो जाता है वैसे ही ऐसा करने से भी ज्ञान का क्षयोपशम हो जाय"..."संभव है कि उस वृक्ष के निमित्त से भी आत्मा पर ऐसा असर पड़ जाय जिससे उसकी आत्मा में विलक्षणता आजाय।" इससे सोनीजी की जैनधर्म-विषयक श्रद्धा का भी कितना ही पता चलजाता है। अस्तु; आपकी सबसे बड़ी युक्ति इस विषय में यह मालूम होती है कि जिस तरह वर की इच्छा से गंगादिक नदियों में स्नान करना लोकमूढ़ता होते हुए भी वैसे ही—बिना उस इच्छा के—महज़ शरीर की मलशुद्धि के लिये उनमें स्नान करना लोकमूढ़ता नहीं है, उसी तरह यज्ञोपवीत की विशेष विधि में बोधि (ज्ञान) की इच्छा से बोधि (पीपल) वृक्ष की पूजा करने में भी लोकमूढ़ता अथवा मिथ्यात्व का दोष न होना चाहिये। यद्यपि आपके इस युक्ति-विधान में वर की इच्छा दोनों जगह समान है और इस लिये उस बोधि वर की इच्छा से

भी घिरा हुआ है। साथ ही, जैनागम में उसे वैसी कोई प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं है। अतः उसमें पूतत्व आदि गुणों की कल्पना करना, उससे उन गुणों की प्रार्थना करना और हिन्दुओं की तरह से उसकी पूजा

पीपल का पूजना लोक मूढ़ता की कोटि से नहीं निकल सकता; फिर भी मैं यहाँ पर इतना और बतला देना चाहता हूँ कि गंगादिक नदियों के जिस स्नान की यहाँ तुलना की गई है वह संगत मालूम नहीं होता; क्योंकि महज़ शारीरिक मलशुद्धि के लिये जो गंगादिक में स्नान करना है वह उन नदियों का पूजन करना नहीं है और यहाँ स्पष्ट रूप से 'पूजितुं गच्छेत्' आदि पदों के द्वारा पीपल की पूजा का विधान किया गया है और उसकी तीन प्रदक्षिणा देना तथा उससे प्रार्थना करना तक लिखा है—यह नहीं लिखा कि पीपल की छाया में बैठना अच्छा है, अथवा उसके नीचे बैठकर अमुक कार्य करना चाहिये, इत्यादि। और इसलिये नदियों की पूजा-वन्दनादि करना जिस तरह मिथ्यात्व है उसी तरह पूज्य बुद्धि को लेकर पीपल की यह उपासना करना भी मिथ्यात्व है। हाँ, एक दूसरी जगह (१० वें अध्याय में), लोकमूढ़ता का वर्णन करते हुए सोनीजी लिखते हैं—" सर्वसाधारण अग्नि, वृक्ष, पर्वत आदि पूज्य क्यों नहीं और विशेष विशेष कोई कोई पूज्य क्यों हैं? इसका उत्तर यह है कि जिनसे जिन भगवान का सम्बन्ध है वे पूज्य हैं; अन्य नहीं।" परन्तु पीपल की बाबत आपने यह भी नहीं बतलाया कि उससे जिन भगवान का क्या खास सम्बन्ध है, जिससे हिन्दुओं की तरह उसकी कुछ पूजा बन सकती; बल्कि वहाँ 'बोधि' का अर्थ 'बड़' करके आपने अपने पूर्व कथन के विरुद्ध यज्ञोपवीत संस्कार के समय पीपल की जगह बड़ वृक्ष की पूजाका विधान करदिया है! और यह आपके अनुवाद की और भी विलक्षणता है!!

करना यह सब हिन्दू धर्म का अनुकरण है, जिसे भट्टारकजी ने लोकानुवर्तन के निःसत्व पर्दे के नीचे छिपाना चाहा है। महज़ लोकानुवर्तन के आधार पर ऐसे प्रकट मिथ्यात्व को अमिथ्यात्व कह देना, निःसन्देह, बड़े ही दुःसाहस का कार्य है!! और वह इन भट्टारक जैसे व्यक्तियों से ही बन सकता है जिन्हें धर्म के मर्म की कुछ भी खबर नहीं अथवा धर्म की आड़ में जो कुछ दूसरा ही प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं।

इसी तरह पर भट्टारकजी ने, एक दूसरे स्थान पर, 'आक' वृक्ष के पूजने का भी विधान किया है, जिसके विधिवाक्य का उल्लेख अभी आगे 'अर्कविवाह' की आलोचना करते हुए किया जायगा।

वैधव्य-योग और अर्क-विवाह।

(२२) ग्यारहवें अध्याय में, पुरुषों के तीसरे विवाह का विधान करते हुए, भट्टारकजी लिखते हैं कि 'अर्क (आक) वृक्ष के साथ विवाह न करके यदि तीसरा विवाह किया जाता है तो वह तृतीय विवाहिता स्त्री विधवा हो जाती है। अतः विचक्षण पुरुषों को चाहिये कि वे तीसरे विवाह से पहले अर्क-विवाह किया करें। उसके लिये उन्हें अर्क वृक्ष के पास जाना चाहिये, वहाँ जाकर स्वस्ति-वाचनादि कृत्य करना चाहिये, अर्क वृक्ष की पूजा करनी चाहिये, उससे *प्रार्थना करनी चाहिये, और फिर उसके साथ विवाह करना चाहिये'। यथाः—

---

* 'सूर्यं सम्प्रार्थ्य' वाक्य में 'सूर्य' शब्द अर्क वृक्ष का वाचक और उसका पर्याय नाम है; उसी वृक्ष से पूजा के अनन्तर प्रार्थना का उल्लेख है। सोनीजी ने अपने अनुवाद में सूर्य से प्रार्थना करने की जो बात लिखी है वह उनकी कथनशैली से सूर्य देवता से प्रार्थना को सूचित करती है और इसलिये ठीक नहीं है।

‡ अकृत्वाऽर्कविवाहं तु तृतीयां यदि चोद्वहेत् ।
विधवा सा भवेत्कन्या तस्मात्कार्यं विचक्षणः (णैः) ॥२०४॥
अर्कसन्निधिमागत्य कुर्यात्स्वस्त्यादिवाचनाम् ।
अर्कस्याराधनां कृत्वा सूर्यं सम्प्रार्थ्य चोद्वहेत् ॥२०५॥

भट्टारकजी का यह सब कथन भी जैनशासन के विरुद्ध है। और उनका उक्त वैधव्ययोग जैन-तत्वज्ञान के विरुद्ध ही नहीं किन्तु प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध है—प्रत्यक्ष में सैंकड़ों उदाहरण ऐसे उपस्थित किये जा सकते हैं जिनमें तीसरे विवाह से पहले अर्कविवाह नहीं किया गया, और फिर भी वैधव्य-योग संघटित नहीं हुआ। साथ ही, ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है जिनमें अर्कविवाह किये जाने पर भी स्त्री विधवा हो गई है और वह अर्कविवाह उसके वैधव्ययोग को टाल नहीं सका। ऐसी हालत में यह कोई लाज़िमी नियम नहीं ठहरता कि अर्कविवाह न किये जाने पर कोई स्त्री ख्वाहमख्वाह भी विधवा हो जाती है और किये जाने पर उसका वैधव्ययोग भी टल जाता है। तब भट्टारकजी का उक्त विधान कोरा वहम, भ्रम और लोक-मूढता की शिक्षा के सिवाय और कुछ भी मालूम नहीं होता* ।

---

‡ इस पद्य के अनुवाद में सोनीजी ने पहली स्त्री को 'धर्मपत्नी' और दूसरी को 'भोगपत्नी' बतलाकर जो यह लिखा है कि "इन दो स्त्रियों के होते हुए तीसरा विवाह न करे" वह सब उनकी निजी कल्पना जान पड़ता है। मूल पद्य के आशय के साथ उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। मूल से यह लाज़िमी नहीं आता कि वह दो स्त्रियों के मौजूद होते हुए ही तीसरे विवाह की व्यवस्था बतलाता है; बल्कि अधिकांश में, अपने पूर्वपद्य-सम्बन्ध से, दो स्त्रियों के मरजाने पर तीसरी स्त्रीको विवाहने की व्यवस्था करता हुआ मालूम होता है।

*इसी तरह का हाल भट्टारकजी के उस दूसरे वैधव्य-योग का

हिन्दुओं के यहाँ अर्कविवाह का विस्तार के साथ विधान पाया जाता है, उनके कितने ही ऋषियों की यह धारणा है कि मनुष्य की तीसरी स्त्री मानुषी न होनी चाहिये, यदि मानुषी होगी तो वह विधवा हो जायगी, इससे तीसरे विवाह से पहले उन्होंने अर्कविवाह की योजना की है—अर्क वृक्ष के पास जाकर स्वस्तिवाचनादि कृत्य करने, अर्क की पूजा करने, अर्क से प्रार्थना करने और फिर अर्क-कन्या के साथ विवाह करने आदि की सम्पूर्ण व्यवस्था बतलाई है। इस विषय का कथन हिन्दुओं के कितने ही ग्रन्थों में पाया जाता है। 'नवरत्न-विवाहपद्धति' में भी आठ पृष्ठों में उसका कुछ संग्रह किया गया है। उसी पर से यहाँ कुछ वाक्य नमूने के तौर पर उद्धृत किये जाते हैं:—

"उद्वहेद्रतिसिद्ध्यर्थं तृतीयां न कदाचन।
मोहादज्ञानतो चापि यदि गच्छेत्तु मानुषीम्॥
नश्यत्येव न संदेहो गर्गस्य वचनं यथा।
"तृतीयां यदि चोद्वाहेत्तर्हि सा विधवा भवेत्॥
चतुर्थ्यादि विवाहार्थं तृतीयेऽर्कं समुद्वहेत्।"
"तृतीये स्त्रीविवाहे तु संप्राप्ते पुरुषस्य तु॥
आर्कं विवाहं वक्ष्यामि शौनकोऽहं विधानतः।
अर्कसन्निधिमागत्य तत्र स्वस्त्यादि वाचयेत्॥

भी है जिसका विधान उन्होंने इसी अध्याय के निम्न पद्य में किया है:—

कृते पाणिग्रहे सम्बन्धे पश्चान्मृत्युश्च गोत्रिणाम्।
तदा न मंगलं कार्यं नारीवैधव्यदं ध्रुवम्॥ १८४॥

इस पद्य में यह बतलाया गया है कि वाक्सम्बन्ध (सगाई) के पश्चात् यदि अपना कोई सगोत्री (कुटुम्बी) मर जाय तो फिर वह विवाहसम्बन्ध नहीं करना चाहिये। यदि किया जायगा तो वह स्त्री निश्चय से विधवा हो जायगी!!

नान्दीश्राद्धं प्रकुर्वीत स्थण्डिलं च प्रकल्पयेत् ।
अर्कमभ्यर्च्य सौर्या च गंधपुष्पाक्षतादिभिः ॥"
(प्रार्थना) " नमस्ते मंगले देवि नमः सवितुरात्मजे ।
त्राहि मां कृपया देवि पत्नी त्वं मे इहागता ॥
अर्क त्वं ब्रह्मणा सृष्टः सर्वप्राणिहिताय च ।
वृक्षाणां आदिभूतस्त्वं देवानां प्रीतिवर्धनः ॥
तृतीयोद्वाहजं पापं मृत्युं चाशु विनाशयेत् ।
ततश्च कन्यावरणं त्रिपुरुषं कुलमुद्धरेत् ॥"

हिन्दू ग्रन्थों के ऐसे वाक्यों पर से ही भट्टारकजी ने वैधव्य-योग और अर्कविवाह की उक्त व्यवस्था अपने ग्रन्थों में की है । परन्तु खेद है कि आपने उसे भी श्रावक धर्म की व्यवस्था लिखा है और इस तरह पर अपने पाठकों को धोखा दिया है !!

संकीर्ण हृदयोद्गार ।

(२३) यह त्रिवर्णाचार, यद्यपि, हृदय के संकीर्ण उद्गारों से बहुत कुछ भरा हुआ है और मेरी इच्छा भी थी कि मैं इस शीर्षक के नीचे उनका कुछ विशेष दिग्दर्शन कराता परन्तु लेख बहुत बढ़ गया है, इससे सिर्फ़ दो नमूनों पर ही यहाँ सन्तोष किया जाता है । इन्हीं पर से पाठकों को यह मालूम हो सकेगा कि भट्टारकजी की हृदय-संकीर्णता किस हद तक बढ़ी हुई थी और वे जैनसमाज को जैनधर्म की उदार नीति के विरुद्ध किस ओर ले जाना चाहते थे:—

(क) अन्त्यजैः खनिताः कूपा वापी पुष्करिणी सरः ।
तेषां जलं न तु ग्राह्यं स्नानपानाय च क्वचित् ॥ ३-५९ ॥

इस पद्य में कहा गया है कि 'जो कुएँ, बावड़ी, पुष्करिणी और तालाब अन्त्यजों के—शूद्रों अथवा चमारों आदि के—खोदे हुए हों उनका जल न तो कभी पीना चाहिये और न स्नान के लिये ही ग्रहण करना चाहिये' ।

भट्टारकजी का यह उद्गार बड़ा ही विलक्षण तथा हद दर्जे का संकीर्ण है और इससे शूद्रों के प्रति असीम घृणा तथा द्वेष का भाव व्यक्त होता है। इसमें यह नहीं कहा गया कि जिन कूप बावड़ी आदि के जल को अन्त्यजों ने किसी तरह पर छुआ हो उन्हीं का जल स्नान-पान के अयोग्य हो जाता है बल्कि यह स्पष्ट घोषणा की गई है कि जिन कूप बावड़ी आदि को अन्त्यजों ने खोदा हो--भले ही उनके वर्तमान जल को उन्होंने कभी स्पर्श भी न किया हो—उन सब का जल हमेशा के लिये स्नानपान के अयोग्य होता है। और इस लिये यदि यह कहा जाय तो वह नाकाफी होगा कि 'भट्टारकजी ने अपने इस वाक्य के द्वारा अन्त्यज मनुष्यों को जलचर जीवों तथा जल को छूने पीने वाले दूसरे तिर्यंचों से ही नहीं किन्तु उस मल, गंदगी तथा कूड़े कर्कट से भी बुरा और गया बीता समझा है जो कुओं, बावड़ियों तथा तालाबों में बहकर या उड़कर चला जाता है अथवा अनेक त्रस जीवों के मरने-जीने-गलने-सड़ने आदि के कारण भीतर ही भीतर पैदा होता रहता है और जिसकी वजह से उनका जल स्नान पान के अयोग्य नहीं माना जाता'। भट्टारकजी की घृणा का मान इससे भी कहीं बढ़ा चढ़ा था, और इसी लिये मैं उसे हद दर्जे की या असीम घृणा कहता हूँ। मालूम होता है भट्टारकजी अन्त्यजों के संसर्ग को ही नहीं किन्तु उनकी छायामात्र को अपवित्र, अपशकुन और अनिष्टकारक समझते थे। इसीलिए उन्होंने, एक दूसरे स्थान पर, अन्त्यज का दर्शन हो जाने अथवा उसका शब्द सुनाई पड़ने पर जप को ही छोड़ देने का या यों कहिये कि सामायिक जैसे सदनुष्ठान का त्याग कर उठ जाने का विधान किया है * यह कितने खेद का विषय है!!

---

*यथा—

व्रतच्युतान्त्यजादीनां दर्शने भाषणे श्रुतौ।
क्षुतेऽधोवातगमने जृम्भने जपमुत्सृजेत् ॥ ३-१२५ ॥

यदि भट्टारकजी की समझ के अनुसार अन्त्यजों का संसर्ग-दोष यहाँ तक बढ़ा हुआ है—इतना अधिक प्रभावशाली और बलवान् है—कि उनका किसी कूप बावड़ी आदि की भूमि को प्रारम्भ में स्पर्श करना भी उस भूमि के संसर्ग में आने वाले जल को हमेशा के लिये दूषित तथा अपवित्र कर देता है तब तो यह कहना होगा कि जिस जिस भूमि को अन्त्यज लोगों ने कभी किसी तरह पर स्पर्श किया है अथवा वे स्पर्श करते हैं वह सब भूमि और उसके संसर्ग में आने वाले संपूर्ण अन्नादिक पदार्थ हमेशा के लिये दूषित तथा अपवित्र हो जाते हैं और इसलिये त्रैवर्णिकों को चाहिये कि वे उस भूमि पर कभी न चलें और न जल की तरह उन संसर्गी पदार्थों का कभी व्यवहार ही करें। इसके सिवाय, जिन कूप बावड़ी आदि की बाबत सुनिश्चित रूप से यह मालूम न हो सके कि वे किन लोगों के खोदे हुए हैं उनका जल भी, संदिग्धावस्था के कारण, कभी काम में नहीं लाना चाहिये। ऐसी हालत में कैसी विकट स्थिति उत्पन्न होगी और लोकव्यवहार कितना बन्द तथा संकटापन्न हो जायगा उसकी कल्पना तक भी भट्टारकजी के दिमाग में आई मालूम नहीं होती। मालूम नहीं भट्टारकजी उन खेतों की पैदावार—अन्न, फल तथा शाकादिक–को भी ग्राह्य समझते थे या कि नहीं जिनमें मलमूत्रादिक महादुर्गंधमय अपवित्र पदार्थों से भरे हुए खाद का संयोग होता है! अथवा अन्त्यजों का वह भूमि–स्पर्श ही, उनकी दृष्टि में खाद के उस संयोग से गया बीता था!! परंतु कुछ भी हो—भट्टारकजी ऐसा वैसा कुछ समझते हों या न समझते हों और उन्होंने वैसी कोई कल्पना की हो या न की हो—, इसमें संदेह नहीं कि उनका उक्त कथन जैनशासन के अत्यन्त विरुद्ध है।

जो जैनशासन सार्वजनिक प्रेम तथा वात्सल्य भाव की शिक्षा देता है, घृणा तथा द्वेष के भाव को हटा कर मैत्रीभाव सिखलाता है और

अन्त्यजों को भी धर्म का अधिकारी बतला कर उन्हें श्रावकों की कोटि में रखता है उसका, अथवा उन तीर्थंकरों का कदापि ऐसा अनुदार शासन नहीं हो सकता, जिनकी 'समवसरण' नामकी समुदार सभा में ऊँच नीच के भेद भाव को भुला कर मनुष्य ही नहीं किन्तु पशु-पक्षी तक भी शामिल होते थे और वहाँ पहुँचते ही आपस में ऐसे हिलमिल जाते थे कि अपने अपने जातिविरोध तकको भुला देते थे—सर्प निर्भय होकर नकुल के पास खेलता था और बिल्ली प्रेम से चूहे का आलिंगन करती थी। कितना ऊँचा आदर्श और कितना विश्वप्रेम-मय भाव है! कहाँ यह आदर्श ? और कहाँ भट्टारकजी का उक्त प्रकार का घृणात्मक विधान ? इससे स्पष्ट है कि भट्टारकजी का यह सब कथन जैनधर्म की शिक्षा न होकर उससे बाहर की चीज़ है। और वह हिन्दू-धर्म से उधार लेकर रक्खा गया मालूम होता है। हिन्दुओं के यहाँ उक्त वाक्य से मिलता जुलता **'यम'** ऋषि का एक वाक्य * निम्न प्रकार से पाया जाता है:—

अन्त्यजैः खानिताः कूपास्तडागानि तथैव च।
एषु स्नात्वा च पीत्वा च पंचगव्येन शुद्ध्यति॥

इसमें यह बतलाया गया है कि 'अन्त्यजों के खोदे हुए कुओं तथा तालाबों में स्नान करने वाला तथा उनका पानी पीने वाला मनुष्य अपवित्र हो जाता है और उसकी शुद्धि पंचगव्य से होती है—जिसमें गोबर और गोमूत्र भी शामिल होते हैं। सम्भवतः इसी वाक्य पर से भट्टारकजी ने अपने वाक्य की रचना की है। परन्तु यह मालूम नहीं होता कि पंचगव्य से शुद्धि की बात को हटाकर उन्होंने अपने पद्य के उत्तरार्ध को एक दूसरा ही रूप क्यों दिया है ? पंचगव्य से शुद्धि की इस हिन्दू व्यवस्था को तो आपने कई जगह पर अपने ग्रंथ में अपनाया

---

*देखो नारायण विट्ठल-संगृहीत 'आन्हिक सूत्रावलि'

है + । शायद आपको इस प्रसंग पर वह इष्ट न रही हो । और यह भी हो सकता है कि हिन्दू-धर्म के किसी दूसरे वाक्य पर से ही आपने अपने वाक्य की रचना की हो अथवा उसे ही ज्यों का त्यों उठाकर रख दिया हो । परंतु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि यह व्यवस्था हिन्दुओं से ली गई है—जैनियों के किसी भी माननीय प्राचीन ग्रंथ में वह नहीं पाई जाती—हिंदुओं की ऐसी व्यवस्थाओं के कारण ही दक्षिण भारत में, जहाँ ऐसी व्यवस्थाओं का खास प्रचार हुआ है, अन्त्यज लोगों पर घोर अत्याचार होता है—वे कितनी ही सड़कों पर चल नहीं सकते अथवा मंदिरों के पास से गुजर नहीं सकते, उनकी छाया पड़ जाने पर सचेल स्नान की जरूरत होती है—और इसीलिये अब उस अत्याचार के विरुद्ध सहृदय तथा विवेकशील उदार पब्लिक की आवाज़ उठी हुई है।

(ख)अजाघ्नगोघ्नमत्स्यघ्नाः कल्लालाश्चर्मकारकाः ।
पापर्धिकः सुरापायी एतैर्वक्तुं न युज्यते ॥ १३० ॥
एतान्किमपि नो देयं स्पर्शनीयं कदापि न ।
न तेषां वस्तुकं ग्राह्यं जनापवाददायकम् ॥ १३१ ॥

—७ वाँ अध्याय ।

इन पद्यों में कहा गया है कि 'जो लोग बकरा बकरी का घात करने वाले (कसाई आदिक) हों, गोकुशी करने वाले (मुसलमान आदि म्लेच्छ) हों, मच्छी मारने वाले (ईसाई या धीवरादिक) हों, शराब का व्यापार करने वाले (कलाल) हों, चमड़े का काम करने वाले (चमार) हों, कोई विशेष पाप का काम करने वाले पातिकी (पापर्धिक) हों, अथवा शराब पीने वाले हों, उनमें से किसी के भी साथ बोलना

+ जैसे रजस्वला स्त्री की चौथे दिन पंचगव्य से—गोबर गोमूत्रादिक से—स्नान करने पर शुद्धि मानी है । यथाः—

चतुर्थे वासरे पंचगव्यैः संस्नापयेच्च ताम् ॥८-१०॥

नहीं चाहिये। और इन लोगों को न तो कभी कुछ देना चाहिये, न इनकी कोई चीज़ लेना चाहिये और न इनको कभी छूना ही चाहिये; क्योंकि ऐसा करना लोकापवाद का—बदनामी का—कारण है।'

पाठकजन! देखा, कैसे संकीर्ण, क्षुद्र और मनुष्यत्व से गिरे हुए उद्गार हैं! व्यक्तिगत घृणा तथा द्वेष के भावों से कितने लबालब भरे हुए हैं!! और जगत् का उद्धार अथवा उसका शासन, रक्षण तथा पालन करने के लिये कितने अनुपयोगी, प्रतिकूल और विरोधी हैं!! क्या ऐसे उद्गार भी धार्मिक उपदेश कहे जा सकते हैं? अथवा यह कहा जा सकता है कि वे जैनधर्म की उस उदारनीति से कुछ सम्बंध रखते हैं जिसका चित्र, जैनग्रंथों में, जैन तीर्थंकरों की 'समवसरण' सभा का नक़्शा खींच कर दिखलाया जाता है? कदापि नहीं। **ऐसे उपदेश विश्वप्रेम के विघातक और संसारी जीवों की उन्नति तथा प्रगति के बाधक हैं। जैनधर्म की शिक्षा से इनका कुछ भी सम्बंध नहीं है।** ज़रा गहरा उतरने पर ही यह मालूम हो जाता है कि वे कितने थोथे और निःसार हैं। भला जब उन मनुष्यों के साथ जिन्हें हम समझते हों कि वे बुरे हैं—बुरा आचरण करते हैं—संभाषण भी न किया जाय, उन्हें सदुपदेश न दिया जाय अथवा उनकी भूल न बतलाई जाय तो उनका सुधार कैसे हो सकता है? और कैसे वे सन्मार्ग पर लगाए जा सकते हैं? क्या ऐसे लोगों की ओर से सर्वथा उपेक्षा धारण करना, उनके हित तथा उत्थान की चिन्ता न रखना, और उन्हें सदुपदेश देकर सन्मार्ग पर न लगाना जैनधर्म की कोई नीति अथवा जैन समाज के लिये कुछ इष्ट कहा जा सकता है? और क्या सच्चे जैनियों की दया-परिणति के साथ उसका कुछ सम्बन्ध हो सकता है? कदापि नहीं। जैनधर्म के तो बड़े २ नेता आचार्यों तथा महान पुरुषों ने **अगणित पापियों, भीलों, चांडालों**

तथा म्लेच्छों तक को धर्म का उपदेश दिया है, उनके दुख सुख को सुना है, उनका हर तरह से समाधान किया है और उन्हें जैन धर्म में दीक्षित करके सन्मार्ग पर लगाया है। अतः 'ऐसे लोगों से बोलना योग्य नहीं' यह सिद्धान्त बिलकुल जैनधर्म की शिक्षा के विरुद्ध है।

इसी तरह पर 'उन लोगों को कभी कुछ देना नहीं और न कभी उनकी कोई चीज़ लेना' यह सिद्धांत भी दूषित तथा बाधित है और जैनधर्म की शिक्षा से बहिर्भूत है। क्या ऐसे लोगों के भूख-प्यास की वेदना से व्याकुल होते हुए भी उन्हें अन्न, जल न देना और रोग से पीडित होने पर औषध न देना जैनधर्म की दया का कोई अंग हो सकता है? कदापि नहीं। **जैनधर्म तो कुपात्र और अपात्र कहे जाने वालों को भी दया का पात्र मानता है** और उन सब के लिये करुणा बुद्धि से यथोचित दान की व्यवस्था करता है। जैसाकि पंचाध्यायी के निम्न वाक्यों से भी प्रकट है:—

> कुपात्रायाऽप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम्।
> पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया॥
> शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात्।
> दीनेभ्योऽभय*दानादि दातव्यं करुणार्णवैः॥

वह असमर्थ भूखे प्यासों के लिये आहार दान की, व्याधि-पीडितों के लिये औषधि-वितरण की, अज्ञानियों के लिये विद्या तथा ज्ञानोपकरण-प्रदान की और भयग्रस्तों के लिये अभयदान की व्यवस्था करता है। उसकी दृष्टि में पात्र, कुपात्र और अपात्र सभी अपनी अपनी योग्यतानुसार इन चारों प्रकार के दान के अधिकारी हैं। इससे भट्टारकजी का उन लोगों को कुछ भी न देने का उद्गार निकालना कोरी अपनी

---

* पंचाध्यायीकी छपी हुई प्रतियों में 'ऽभय' की जगह '**ऽदया**' तथा '**दया**' पाठ गलत दिये हैं।

हृदय-संकीर्णता व्यक्त करना है और पाखण्ड का का उपदेश देना है। ऐसी ही हालत उन लोगों से कभी कोई चीज न लेने के उद्गार की है। उनसे अच्छी, उपयोगी तथा उत्तम चीज़ों का न्यायमार्ग से लेना कभी दूषित नहीं कहा जा सकता। ऐसे लोगों में से कितने ही व्यक्ति जंगलों, पहाड़ों, समुद्रों तथा भूगर्भ में से अच्छी उत्तम उत्तम चीज़ें निकालते हैं; क्या उनसे वे चीजें लेकर लाभ न उठाना चाहिये? क्या ऐसे लोगों द्वारा वन-पर्वतों से लाई हुई उत्तम औषधों का भी व्यवहार न करना चाहिये? और क्या चमारों से उनके बनाये हुए मृत चर्म के जूते भी लेने चाहियें? इसके सिवाय एक मुसलमान, ईसाई अथवा वैसा (उपर्युक्त प्रकार का) कोई हीनाचरण करने वाला हिन्दू भाई यदि किसी औषधालय, विद्यालय अथवा दूसरी लोकोपकारिणी सेवा-संस्था को द्रव्यादि की कोई अच्छी सहायता प्रदान करे तो क्या उसकी वह सहायता संस्था के अनुरूप होते हुए भी स्वीकार न करनी चाहिये? और क्या इस प्रकार का सब व्यवहार कोई बुद्धिमानी कहला सकता है? कदापि नहीं। ऐसा करना अनुभवशून्यता का द्योतक और अपना ही नाशक है। संसार का सब काम परस्पर के लेनदेन और एक दूसरे की सहायता से चलता है। एक मच्छीमार सीप में से मोती निकाल कर देता है और बदले में कुछ द्रव्य पाता है अथवा एक चमार से जूता या चमड़ा लिया जाता है तो मूल्यादि के तौर पर उसे कुछ दिया जाता है। इसी तरह पर लोक-व्यवहार प्रवर्तता है। क्या वह मोती जो मांस में ही पैदा होता तथा वृद्धि पाता है उस मच्छीमार का हाथ लगने से अपवित्र या विकृत हो जाता है? अथवा वह चमड़ा चमार के कर-स्पर्श से विगुणित और दूषित बन जाता है? यदि ऐसा कुछ नहीं है तो फिर उन लोगों से कोई भी चीज न लेने के लिये कहना क्या अर्थ रखता है? वह निरी सङ्कीर्णता और हिमाक़त नहीं

तो और क्या है ? भरत चक्रवर्ती जैसे धार्मिक नेता पुरुषों ने तो ऐसे लोगों से भेट में चमरी और कस्तूरी (मुश्क नाफ़े) जैसी चीज़ें ही नहीं किंतु कन्याएँ तक भी ली थीं, जिनका उल्लेख आदिपुराण आदि ग्रंथों में पाया जाता है। राजा लोग ऐसे व्यक्तियों से कर और जमींदार लोग अपनी जमीन का महसूल तथा मकान का किराया भी लेते हैं। उनके खेतों की पैदावार भी ली जाती है। अतः भट्टारकजी का उक्त उद्गार किसी तरह भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

अब रही उन लोगों को कभी न छूने की बात, यह उद्गार भी युक्ति-संगत मालूम नहीं होता। जब हम लोग उन लोगों के उपकार तथा उधार में प्रवृत्त होंगे, जो जैनमत का खास उद्देश्य है, तब उन्हें कभी अथवा सर्वथा छुएँ नहीं यह बात तो बन ही नहीं सकती। फिर भट्टारकजी अपने इस उद्गार के द्वारा हमें क्या सिखलाना चाहते हैं वह कुछ समझ में नहीं आता! क्या एक शराबी को शराब के नशे में कूपादिक में गिरता हुआ देख कर हमें चुप बैठे रहना चाहिये और छू जाने के भय से उसका हाथपकड़ कर निवारण न करना चाहिये? अथवा एक चमार को डूबता हुआ देखकर छू जाने के डर से उसका उद्धार न करना चाहिये ? क्या एक गोघाती मुसलमान, मच्छीमार, ईसाई या शराब बेचनेवाले हिन्दू के घर में आग लग जाने पर, स्पर्शभय से, हमें उसको तथा उसके बालबच्चों को पकड़ पकड़ कर बाहर न निकालना चाहिये ? और क्या हमारा कोई पातिकी भाई यदि अचानक चोट खाकर लहूलुहान हुआ बेहोश पड़ा हो तो हमें उसको उठा कर और उसके घावों को धो पूँछ कर उसकी मर्हम पट्टी न करना चाहिये, इसलिये कि वह पातिकी है और हमें उसको छूना नहीं चाहिये ? अथवा एक वैद्य या डाक्टर को अपने कर्तव्य से च्युत होकर ऐसे लोगों की चिकित्सा ही नहीं करनी चाहिये ? यदि ऐसी ही शिक्षा है तब तो कहना होगा

कि भट्टारकजी हमें मनुष्यत्व से गिरा कर पशुओं से भी गया बीता बनाना चाहते थे और उन्होंने हमारे उदार दयाधर्म को कलंकित तथा विडम्बित करने में कोई कसर नहीं रक्खी। और यदि ऐसा नहीं है तो उनके उक्त उद्गार का फिर कुछ भी मूल्य नहीं रहता—वह निरर्थक और निःसार जान पड़ता है। मालूम होता है, भट्टारकजी ने स्पृश्या ऽस्पृश्य की समीचीन नीति को ही नहीं समझा और इसीलिये उन्होंने बिना सोचे समझे ऐसा ऊटपटाँग लिख मारा कि **'इन लोगों को कभी भी न छूना चाहिये'**!! मानों ये मनुष्य स्थायी अछूत हों और उस मल से भी गये बीते हों जिसे हम प्रतिदिन छूते हैं !!! मनुष्यों से और इतनी घृणा !!! धन्य है ऐसी समझ तथा धार्मिक बुद्धि को !!!

अन्त में, भट्टारकजी ने जिस लोकापवाद का भय प्रदर्शित किया है वह इस संपूर्ण विवेचन पर से मूर्खों की मूर्खता के सिवाय और कुछ भी नहीं रह जाता, इसीसे उस पर कुछ लिखना व्यर्थ है। निःसंदेह, जब से इन भट्टारकजी जैसे महात्माओं की कृपा से जैनधर्म के साहित्य में इस प्रकार के अनुदार विचारों का प्रवेश होकर विकार प्रारम्भ हुआ है तब से जैनधर्म को बहुत बड़ा धक्का पहुँचा है और उसकी सारी प्रगति रुक गई। वास्तव में, ऐसे संकीर्ण तथा अनुदार विचारों के अनुकूल चलने वाले संसार में कभी कोई उन्नति नहीं कर सकते और न उच्च तथा महान् बन सकते हैं।

ऋतुकाल में भोग न करने वालों की गति।

(२४) आठवें अध्याय में भट्टारकजी ने यह तो लिखा ही है कि 'ऋतुकाल में भोग करने वाला मनुष्य परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होता है और उसके ऐसा सत्कुलीन पुत्र पैदा होता है जो पितरों को स्वर्ग प्राप्त करा देता है' × ! परन्तु ऋतुकाल में भोग न करने वाले

× ऋतुकालेप [लाभि] गामी तु प्राप्नोति परमां गतिम्।
सत्कुलः प्रभवेत्पुत्रः पितॄणां स्वर्गदो मतः ॥ ४८ ॥
इस पद्य का पूर्वार्ध 'संवर्तस्मृति' के पद्य नं० १०० का उत्तरार्ध है।

स्त्री-पुरुषों की जिस गति का उल्लेख किया है वह और भी विचित्र है। आप लिखते हैं:—

* ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपय [ग] च्छति।
घोरायां भ्रूणहत्यायां पितृभिः सह मज्जति ॥ ४९ ॥
ऋतुस्नाता तु या नारी पतिं नैवोपविन्दति।
शुनी वृकी शृगाली स्याच्छूकरी गर्दभी च सा ॥ ५० ॥

अर्थात्—जो पुरुष अपनी ऋतुस्नाता—ऋतुकाल में स्नान की हुई—स्त्री के पास नहीं जाता है—उससे भोग नहीं करता है—वह अपने पितरों सहित भ्रूणहत्या के घोर पाप में डूबता है—स्वयं दुर्गति को प्राप्त होता है और साथ में अपने पितरों (माता पितादिक) को भी ले मरता है। और जो ऋतुस्नाता स्त्री अपने पति के साथ भोग नहीं करती है वह मर कर कुत्ती, भेड़िनी, गीदड़ी सूअरी और गधी होती है।

---

* इस पद्य का अर्थ देने के बाद सोनीजी ने एक बड़ा ही विलक्षण 'भावार्थ' दिया है जो इस प्रकार है:—

"भावार्थ–कितने ही लोग ऐसी बातों में आपत्ति करते हैं। इसका कारण यही है कि वे आजकल स्वराज्य के नसे में चूर हो रहे हैं। अतः हरएक को समानता देने के आवेश में आकर उस क्रिया के चाहने वाले लोगों को भड़का कर अपनी ख्याति-पूजा आदि चाहते हैं। उन्होंने धार्मिक विषयों पर आघात करना ही अपना मुख्य कर्तव्य समझ लिया है।"

इस भावार्थ का मूल पद्य अथवा उसके अर्थ से ज़रा भी सम्बंध नहीं है। ऐसा मालूम होता है कि इसे लिखते हुए सोनीजी खुद ही किसी गहरे नशे में चूर थे। अन्यथा, ऐसा बिना सिर पैर का महाहास्यजनक 'भावार्थ' कभी भी नहीं लिखा जा सकता था।

पाठकजन ! देखा, कैसी विचित्र व्यवस्था है !! भले ही वे दिन पर्व के दिन हों, स्त्रीपुरुषों में से कोई एक अथवा दोनों ही व्रती हों, बीमार हों, अनिच्छुक हों, तीर्थयात्रादि धर्म कार्यों में लगे हों या परदेश में स्थित हों परन्तु उन्हें उस वक्त भोग करना ही चाहिये !! यदि नहीं करते हैं तो वे उक्त प्रकार से घोर पाप के भागी अथवा दुर्गति के पात्र होते हैं !!! इस अन्यायमूलक व्यवस्था का भी कहीं कुछ ठिकाना है !! स्वरुचि की प्रतिष्ठा, सत्संयम के अनुष्ठान, ब्रह्मचर्य के पालन और योगाभ्यासादि के द्वारा अपने अभ्युदय के यत्न का तो इसके आगे कुछ मूल्य ही नहीं रहता !!! समझ में नहीं आता भ्रूण (गर्भस्थ बालक) के विद्यमान न होते हुए भी उसकी हत्या का पाप कैसे लग जाता है ? यदि भोग किया जाता तो गर्भ का रहना सम्भव था, इस संभावना के आधार पर ही यदि भोग न करने से भ्रूणहत्या का पाप लग जाता है तब तो कोई भी त्यागी, जो अपनी स्त्री को छोड़कर ब्रह्मचारी या मुनि हुआ हो, इस पाप से नहीं बच सकता । और जैनसमाज के बहुत से पूज्य पुरुषों अथवा महान् आत्माओं को घोर पातिकी तथा दुर्गति का पात्र क़रार देना होगा । परन्तु ऐसा नहीं है । जैनधर्म में ब्रह्मचर्य की बड़ी प्रतिष्ठा है और उसके प्रताप से असंख्य व्यक्ति ऋतुकाल में भोग न करते हुए भी पाप से अलिप्त रहे हैं, और सद्गति को प्राप्त हुए हैं । जैनदृष्टि से यह कोई लाज़िमी नहीं कि ऋतुकाल में भोग किया ही जाय । हाँ, भोग जो किया जाय तो वह संतान के लिये किया जाय और इस उद्देश्य से ऋतुकाल में ही किया जाना चाहिये, ऐसी उसकी व्यवस्था है । और उसके साथ शक्ति तथा कालादिक की विशेषापेक्षा भी लगी हुई है—अर्थात् वे स्त्री पुरुष यदि उस समय रोगादिक के कारण या और तौर पर वैसा करने के लिये असमर्थ न हों, और वह समय भी कोई पर्वादि वर्ज्य काल न हो तो वे परस्पर कामसेवन कर सकते हैं । दूसरी अवस्था के लिये ऐसा नियम अथवा क्रम नहीं है । और यह बात

भगवज्जिनसेन-प्रणीत आदिपुराण के निम्न वाक्य से भी ध्वनित होती है:—

संतानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो भजेत्।
शक्तिकालव्यपेक्षोऽयं क्रमोऽशक्तेष्वतोऽन्यथा ॥ ३८-१३५ ॥

इससे भट्टारकजी का उक्त सब कथन जैनधर्म के बिलकुल विरुद्ध है और उसने जैनियों की सारी कर्म फ़िलॉसॉफ़ी को ही उठा कर ताक़ में रख दिया है। भला यह कहाँ का न्याय और सिद्धान्त है जो पुत्र के भोग न करने पर बेचारे मरे जीते पितर भी भ्रूणहत्या के पाप में घसीटे जाते हैं! मालूम होता है यह भट्टारकजी के अपने ही मस्तिष्क की उपज है; क्योंकि उन्होंने पहले पद्य में, जो 'पराशर' ऋषि का वचन है और 'पराशरस्मृति' के चौथे अध्याय में नं० १५ पर दर्ज है तथा 'मिताक्षरा' में भी उद्धृत मिलता है, इतना ही फेरफार किया है—अर्थात्, उसके अन्तिम चरण **'युज्यते नात्र संशयः'** को **'पितृभिः सह मज्जति'** में बदला है!! दूसरे शब्दों में यों कहिये कि पराशरजी ने पितरों को उस हत्या के पाप में नहीं डुबोया था, परन्तु भट्टारकजी ने उन्हें भी डुबोना उचित समझा है!!!* ऐसा निराधार कथन कदापि किसी माननीय जैनाचार्य का वचन नहीं हो सकता। दूसरा पद्य भी, जिसमें ऋतुकाल में भोग न करने वाली स्त्री की गति

---

* एक बात और भी नोट किये जाने के योग्य है और वह यह कि हिन्दू ग्रंथों में इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले 'देवल' आदि ऋषियों के कितने ही वचन ऐसे भी पाये जाते हैं जिनमें **'स्वस्थः सन्नोपगच्छति'** आदि पदों के द्वारा उस पुरुष को ही भ्रूणहत्या के पाप का भागी ठहराया है जो स्वस्थ होते हुए भी ऋतुकाल में भोग नहीं करता है। और **'पर्ववर्ज्यं'** तथा **'पर्वाणि वर्जयेत्'** आदि पदों के द्वारा ऋतुकाल में भी भोग के लिये पर्व दिनों की छुट्टी

का उल्लेख है, हिन्दू-धर्म के किसी ग्रंथ से लिया गया अथवा कुछ परिवर्तन करके रक्खा गया मालूम होता है; क्योंकि हिन्दू-ग्रंथों में ही इस प्रकार की आज्ञाएँ प्रचुरता के साथ पाई जाती हैं। पराशरजी ने तो ऐसी स्त्री को सीधा नरक में भेजा है और फिर मनुष्ययोनि में लाकर उसे बार बार विधवा होने का भी फ़तवा (धर्मादेश) दिया है। यथाः—

ऋतुस्नाता तु या नारी भर्तारं नोपसर्पति।
सा मृता नरकं याति विधवा च पुनः पुनः ॥ ४—१४ ॥
—पराशरस्मृति।

इस पद्य का पूर्वार्ध और भट्टारकजी के दूसरे पद्यका पूर्वार्ध दोनों एकार्थवाचक हैं। संभव है इस पद्य पर से ही भट्टारकजी ने अपने पद्य की रचना की हो। उन्हें उस स्त्री को क्रमशः नरक तथा मनुष्य गति में न भेज कर खालिस तिर्यंच गति में ही घुमाना उचित जँचा हो और इसीलिये उन्होंने इस पद्य के उत्तरार्ध को अपनी इच्छानुसार बदला हो। परंतु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि भट्टारकजी ने कुछ दूसरों की नक़ल करके और कुछ अपनी अकल को बीचमें दखल देकर जो ये बेढंगी व्यवस्थाएँ प्रस्तुत की हैं उनका जैनशासन से कुछ भी सम्बंध नहीं है। ऐसी नागाकूल व्यवस्थाएँ कदापि जैनियों के द्वारा मान्य किये जाने के योग्य नहीं।

अश्लीलता और अशिष्टाचार।

(२५) व्रत, नियम, पर्व, स्वास्थ्य, अनिच्छा और असमर्थता आदि की कुछ पर्वाह न करते हुए, ऋतुकाल में अवश्य भोग करने की व्यवस्था देने वाले अथवा भोग न करने पर दुर्गति का फ़र्मान जारी

की गई हैं। परन्तु भट्टारकजी ने उन पद्यों को यहाँ संग्रह नहीं किया और न उनका आशय ही अपने शब्दों में प्रकट किया। इससे यह और भी साफ़ हो जाता है कि उन्होंने ऋतुकालमें भोग न करने वालों को हर-हालत में भ्रूणहत्या का अपराधी ठहराया है !!

करने वाले भट्टारकजी ने, उसी अध्याय में, भोग की कुछ विधि भी बतलाई है। उसमें, अन्य बातों को छोड़ कर, आप लिखते हैं '**प्रदीपे मैथुनं चरेत्**'—दीपप्रकाश में मैथुन करना चाहिये—और उसकी बाबत यहाँ तक जोर देते हैं कि—

> दीपे नष्टे तु यः सङ्गं करोति मनुजो यदि।
> यावज्जन्मदरिद्रत्वं लभते नात्र संशयः ॥ ३७ ॥

अर्थात्—दीपप्रकाश के न होते हुए, अँधेरे में, यदि कोई मनुष्य स्त्रीप्रसङ्ग करता है तो वह जन्म भर के लिये दरिद्री हो जाता है इस में सन्देह नहीं है *। इसके सिवाय, आप भोग के समय परस्पर क्रोध, रोष, भर्त्सना और ताड़ना करने तथा एक दूसरे की उच्छिष्ट (जूठन) खाने में कोई दोष नहीं बतलाते ‡। साथ ही, पान चबाने को भोग का आवश्यक अंग ठहराते हैं—भोग के समय दोनों का मुख ताम्बूल से पूर्ण होना चाहिये ऐसी व्यवस्था देते हैं—और यहाँ तक लिखते हैं कि वह स्त्री भोग के लिये त्याज्य है जिसके मुख में पान नहीं †। और इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भट्टारकजी ने उन स्त्री-पुरुषों अथवा श्रावक-श्राविकाओं को परस्पर कामसेवन का अधिकारी ही नहीं समझा

---

* सन्देह की बात तो दूर रही, यह तो प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध मालूम होता है; क्योंकि कितने ही व्यक्ति लज्जा आदि के वश होकर या वैसे ही सोते से जाग कर अन्धेरे में काम सेवन करते हैं परन्तु वे दरिद्री नहीं देखे जाते। कितनों ही की धन-सम्पन्नता तो उसके बाद प्रारम्भ होती है।

‡ पादलग्नं तनुश्चैव ह्युच्छिष्टं ताडनं तथा।
कोपो रोषश्च निर्भर्त्सः संयोगे न च दोष भाक् ॥ ३८ ॥

† ताम्बूलेन मुखं पूर्णं...कृत्वा योगं समाचरेत् ॥ ३९ ॥
विना ताम्बूलवदनां...संयोगे च परित्यजेत् ॥ ४० ॥

जो रात्रि को भोजनपान न करते हों अथवा जिन्होंने संयमादिक की किसी दृष्टि से पान का खाना ही छोड़ रक्खा हो !! परन्तु इन सब बातों को भी छोड़िये, इस विधि में चार श्लोक खासतौर से उल्लेखनीय हैं—भट्टारकजी ने उन्हें देने की खास जरूरत समझी है—और वे इस प्रकार हैं:—

भुक्तवानुपविष्टस्तु शय्यायामभिसम्मुखः ।
संस्मृत्य परमात्मानं पत्न्या जंघे प्रसारयेत् ॥ ४१ ॥
अलोमशां च सद्वृत्तामनार्द्रां सुमनोहराम् ।
योनिं स्पृष्ट्वा जपेन्मंत्रं पवित्रं पुत्रदायकम् ॥ ४२ ॥
ओष्ठावाकर्षयेदोष्ठैरन्योन्यमावलोकयेत् ।
स्तनौ धृत्वा तु पाणिभ्यामन्योन्यं चुम्बयेन्मुखम् ॥ ४४ ॥
फलं देहीति मंत्रेण योन्यां शिश्नं प्रवेशयेत् ।
योनेस्तु किंचिदधिकं भवेल्लिङ्गं बलान्वितम् ॥ ४५ ॥

इन श्लोकों के बिना भट्टारकजी की भोग-विधि शायद अधूरी ही रह जाती ! और लोग समझ ही न पाते कि भोग कैसे किया करते हैं !! अस्तु; इन सब श्लोकों में क्या लिखा है उसे बतलाने की हिन्दी और मराठी के दोनों अनुवादकर्ताओं में से किसी ने भी कृपा नहीं की—सिर्फ पहले दो पद्यों में प्रयुक्त हुए **'भुक्तवान्', 'उपविष्टस्तु शय्यायां', 'संस्मृत्य परमात्मानं', 'जपेन्मंत्रं पुत्रदायकं'** पदों में से सबका अथवा कुछ का अर्थ दे दिया है और बाक़ी सब छोड़कर लिख दिया है कि इन श्लोकों में बतलाई हुई विधि अथवा क्रिया का अनुष्ठान किया जाना चाहिये । पं० पन्नालालजी सोनी की अनुवाद-पुस्तक में एक नोट भी लगा हुआ है, जिसमें लिखा है कि—

"अश्लीलता और अशिष्टाचार का दोष आने के सबब ४२ वें *श्लोक

---

* ४१ वें श्लोक में कही गई **'पत्न्या जंघे प्रसारयेत्'** जैसी क्रिया का भी तो भाषानुवाद नहीं किया गया !

पाठकजन ! देखा, कितनी सभ्यता और शिष्टता को लिये हुए कथन है ! एक '**धर्मरसिक**' नाम धराने वाले ग्रंथ के लिये कितना उपयुक्त है !! और अपने को '**मुनि**' '**गणी**' तथा '**मुनीन्द्र**' तक लिखने वाले भट्टारकजी को कहाँ तक शोभा देता है !!! खेद है भट्टारकजी को विषय--सेवन का इस तरह पर खुला उपदेश देते और स्त्री-संभोग की स्पष्ट विधि बतलाते हुए जरा भी लज्जा तथा शरम नहीं आई !! जिन बातों की चर्चा करने अथवा कहने सुनने में गृहस्थों तक को संकोच होता है उन्हें वैराग्य तथा ब्रह्मचर्य की मूर्ति बने हुए मुनिमहाराजजी बड़े चाव से लिखते हैं, यह सब शायद कलियुग का ही माहात्म्य है !!! मुझे तो भट्टारकजी की इस रचनामय लीला को देखकर कविवर भूधरदासजी का यह वाक्य याद आजाता है—

रागउदै जग अंध भयो, सहजैं सब लोगन लाज गँवाई।
सीख बिना नर सीखत हैं, विषयादिक सेवन की सुघराई ॥
ता पर और रचैं रसकाव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई !
अंध असूझन की अँखियान में, झोंकत हैं रज रामदुहाई !!

सचमुच ही ऐसे कुकवियों, धर्माचार्यों अथवा गोमुखव्याघ्रों से राम बचावे !! वे स्वयं तो पतित होते ही हैं किन्तु दूसरों को भी पतन की ओर ले जाते हैं !!! उनकी निष्ठुरता, निःसन्देह, अनिर्वचनीय है। भट्टारकजी के इन उद्गारों से उनके हृदय का भाव झलकता है—कुरुचि तथा लम्पटता पाई जाती है—और उनके ब्रह्मचर्य की थाह का

इच्छापूर्णं भवेद्यावदुभयोः कामयुक्तयोः।
रेतः सिंचेत्ततो योन्यां तेन गर्भं बिभर्ति सा ॥ ४७ ॥

४१ वें पद्य का उत्तरार्ध और इस पद्य का उत्तरार्ध दोनों मिल कर हिन्दुओं के 'आचारार्क' ग्रंथ का एक पद्य होता है, जिसे संभवतः यहाँ विभक्त करके रक्खा गया है।

कितना ही पता चल जाता है। जो लोग विवाह–विषय पर सम्मति दे देने से ही ब्रह्मचर्य में दोष या अतीचार का लगना बतलाते हैं वे, मालूम नहीं, ऐसी भोगप्रेरणा को लिये हुए अश्लील उद्‌गार निकालने वाले इन भट्टारकजी के ब्रह्मचर्य–विषय में क्या कहेंगे ? और उन्हें श्रावकों की दूसरी प्रतिमा में भी स्थान प्रदान करेंगे या कि नहीं ? अस्तु; वे लोग कुछ ही कहें अथवा करें, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भट्टारकजी का यह सब विधि–विधान, जिसे वे **'कामयज्ञ'** बतलाते हैं और जिसके अनुष्ठान से **'संसार समुद्र से पार तारने वाला पुत्र'** पैदा होगा ऐसा लालच दिखलाते हैं*, जैनशिष्टाचार के बिलकुल विरुद्ध है और जैनसाहित्य को कलंकित करने वाला है। जान पड़ता है, भट्टारकजी ने उसे देने में प्रायः वाममार्गियों अथवा शाक्तिकों का अनुकरण किया है और उनकी **'योनिपूजा'** जैसी घृणित शिक्षाओं को जैन समाज में फैलाना चाहा है। अतः आपका यह सब प्रयत्न किसी तरह भी प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता।

यहाँ पर एक बात और भी बतला देने की है और वह यह कि ४५ वें पद्य में जो **'बलं देहीति मंत्रेण'** पाठ दिया है उससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि उसमें जिस मंत्र का उल्लेख किया गया है वह **'बलं देहि'** शब्दों से प्रारंभ होता है। परन्तु भट्टारकजी ने उक्त पद्य के अनन्तर जो मंत्र दिया है वह **'बलं देहि'** अथवा **'ॐ बलं देहि'** जैसे शब्दों से प्रारंभ नहीं होता, किन्तु **'ॐ ह्रीं शरीरस्थायिनो देवता मां बलं ददतु स्वाहा'** इस रूप को लिये हुए है, और इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि भट्टारकजी ने उस मंत्र को बदल

---

* यथाः—

काम यज्ञमिति प्राहुर्गृहिणां सर्वदैव च।
अनेन लभते पुत्रं संसारार्णवतारकम्॥ ५१॥

कर रक्खा है जिसकी बाबत यह बहुत कुछ संभव है कि वह वाम-मार्गियों अथवा शाक्तिकों का मंत्र हो और खोज करने पर उनके किसी ग्रंथ में मिल जाय। ऐसी हालत में उक्त पद्य भी—अकेला अथवा दूसरे पद्य के साथ में—उसी ग्रंथ से लिया गया होना चाहिये। मालूम होता है, उसे देते हुए, भट्टारकजी को यह खयाल नहीं रहा कि जब हम पद्य में उल्लेखित मंत्र को नहीं दे रहे हैं तब हमें इसके 'चलं देहीति' शब्दों को भी बदल देना चाहिये। परन्तु भट्टारकजी को इतनी सूझ बूझ कहाँ थी ? और इसलिये उन्होंने पद्य के उस पाठ को न बदल कर मंत्र को ही बदल दिया है !!!

त्याग या तलाक़।

(२६) ग्यारहवें अध्याय में, विवाहविधि को समाप्त करते हुए, भट्टारकजी लिखते हैं:—

*अप्रजां दशमे वर्षे स्त्रीप्रजां द्वादशे त्यजेत्।
मृतप्रजां पंचदशे सद्यस्त्वप्रियवादिनीम् ॥ १९७॥

अर्थात्—जिस स्त्री के लगातार कोई संतान न हुई हो उसे दसवें वर्ष, जिसके कन्याएँ ही उत्पन्न होती रही हों उसे बारहवें वर्ष, जिसके

---

* यह पद्य किसी हिन्दू ग्रंथ का जान पड़ता है। हिन्दुओं की 'नवरत्न विवाह पद्धति' में भी वह संगृहीत मिलता है। अस्तु; इस पद्य के अनुवाद में सोनीजी ने 'त्यजेत्' पद का अर्थ दिया है—'दूसरा विवाह करे' और 'अप्रियवादिनी' के पहले एक विशेषण अपनी तरफ़ से जोड़ा है 'अपुत्रवती'! साथ ही अप्रियवादिनी का अर्थ 'व्यभिचारिणी' बतलाया है !! और ये सब बातें आपके अनुवाद की विलक्षणता को सूचित करती हैं। इसके सिवाय अपने त्यागावधि के वर्षों की गणना प्रथम रजो-दर्शन के समय से की है! यह भी कुछ कम विलक्षणता नहीं है।

बच्चे मर जाते हों उसे पंद्रहवें वर्ष और जो अप्रियवादिनी (कटु भाषण करने वाली) हो उसे फ़ौरन (तत्काल ही) त्याग देना चाहिये।

भट्टारकजी के इस 'त्याग' के दो अर्थ किये जा सकते हैं—एक 'संभोगत्याग' और दूसरा 'वैवाहिक सम्बंधत्याग'। **'संभोगत्याग'** अर्थ भट्टारकजी के पूर्व कथनकी दृष्टि से कुछ संगत मालूम नहीं होता; क्योंकि ऐसी स्त्रियाँ ऋतुमती तथा ऋतुस्नाता तो होती ही हैं और ऋतुकाल में ऋतुस्नाताओं से भोग न करने पर भट्टारकजी ने पुरुषों को भ्रूणहत्या के घोर पाप का अपराधी ठहराया है और साथ में उनके पितरों को भी घसीटा है; ऐसी हालत में उनके इस वाक्य से 'संभोगत्याग'का आशय नहीं लिया जासकता—वह आपत्ति के योग्य ठहरता है—तब दूसरा **'वैवाहिक सम्बन्ध त्याग'** अर्थ ही यहाँ ठीक बैठता है, जिसे 'तलाक़' Divorce कहते हैं और जो उक्त पाप से मुक्ति दिला सकता अथवा सुरक्षित रख सकता है। इस दूसरे अर्थ की पुष्टि इससे भी होती है कि भट्टारकजी ने संभोगत्याग की बात को मतान्तर † रूप से—दूसरों के मत के तौर पर (अपने मत के तौर पर नहीं)—अगले पद्य में दिया है। और वह पद्य इस प्रकार है:—

> व्याधिता स्त्रीप्रजा वन्ध्या उन्मत्ता विगतार्तवा।
> अदुष्टा लभते त्यागं तीर्थतो न तु धर्मतः ॥१६८॥

इस पद्य में बतलाया है कि 'जो स्त्री (चिरकाल से) रोगपीडित हो, जिसके केवल कन्याएँ ही पैदा होती रही हों, जो वन्ध्या हो, उन्मत्त हो, अथवा रजोधर्म से रहित हो (रजस्वला न होती हो) ऐसी स्त्री यदि दुष्ट स्वभाव वाली न हो तो उसका महज कामतीर्थ से त्याग होता है—वह संभोग के लिये त्याज्य ठहरती है—परंतु धर्म से नहीं—धर्म से उसका पत्नीसम्बंध बना रहता है।'

† मराठी अनुवाद-पुस्तक में पद्य के ऊपर 'मतान्तरं' का अनुवाद "दुसरें मत" दिया है परन्तु सोनीजी अपनी अनुवाद पुस्तक में उसे बिलकुल ही उड़ा गये हैं!

इस पद्य से यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि इसमें ऐसी स्त्री को धर्म से न त्यागने की अथवा उसके साथ इतनी रिआयत करने की जो बात कही गई है उसका मूल कारण उस स्त्री का **दुष्टा न होना** है और इसलिये यदि वह **दुष्टा हो**—अप्रियवादिनी हो अथवा भट्टारकजी के एक दूसरे* पद्यानुसार अति प्रचण्डा, प्रबला, कपालिनी, विवादकर्त्री, अर्थचोरिणी, आक्रन्दिनी और सप्तगृहप्रवेशिनी जैसी कोई हो, जिसे भी आपने त्याग देने को लिखा है—तो वह धर्म से भी त्याग किये जाने की अथवा यों कहिये कि तलाक़ की अधिकारिणी है, इतनी बात इस पद्य से भी साफ़ सूचित होती है। चाहे वह किसी का भी मत क्यों न हो।

---

* वह पद्य इस प्रकार है:—

अतिप्रचण्डां प्रबलां कपालिनीं, विवादकर्त्रीं स्वयमर्थचोरिणीम्।
आक्रन्दिनीं सप्तगृहप्रवेशिनीं, त्यजेच्च भार्यां दशपुत्रपुत्रिणीम् ॥२३॥

इस पद्य में यह कहा गया है कि 'जो विवाहिता स्त्री अति प्रचण्ड हो, अधिक बलवती हो, कपालिनी (दुर्गा) हो, विवाद करने वाली हो, धनादिक वस्तुएँ चुराने वाली हो, ज़ोर ज़ोर से चिल्लाने अथवा रोने वाली हो, और सात घरों में—घरघर में—डोलने वाली हो, वह यदि दस पुत्रों की माता भी हो तो भी उसे त्याग देना चाहिये।'

इस पद्य के अनुवाद में सोनीजी ने 'भार्या' का अर्थ 'कन्या' ग़लत किया है और इसलिये आपको फिर 'दशपुत्रपुत्रिणीम्' का अर्थ 'आगे चलकर दशपुत्रपुत्री वाली भी क्यों न हो' ऐसा करना पड़ा जो ठीक नहीं है। 'भार्या' विवाहिता स्त्री को कहते हैं। वास्तव में यह पद्य ही वहाँ असंगत जान पड़ता है। इसे त्याग विषयक उक्त दोनों पद्यों के साथ में देना चाहिये था। परन्तु 'कहीं की ईंट कहीं का रोडा भानमती ने कुनबा जोड़ा' वाली कहावत को चरितार्थ करने वाले भट्टारकजी इधर उधर से उठाकर रक्खे हुए पद्यों की तरतीब देने में इतने कुशल, सावधान अथवा विवेकी नहीं थे। इसी से उनके ग्रंथ में जगह जगह ऐसी त्रुटियाँ पाई जाती हैं और यह बात पहिले भी ज़ाहिर की जा चुकी है।

इस तरह पर भट्टारकजी ने **स्त्रियों को त्याग या तलाक़ देने की** यह व्यवस्था की है। दक्षिण देश की कितनी ही हिन्दू जातियों में **तलाक़** की प्रथा प्रचलित है और कुछ पुनर्विवाह वाली जैनजातियों में भी उसका रिवाज है; जैसा कि १ ली फ़रवरी सन् १९२८ के 'जैनजगत्' अंक नं० ११ से प्रकट है। मालूम होता है भट्टारकजी ने उसीको यहाँ अपनाया है और अपनी इस योजनाद्वारा संपूर्ण जैन-समाज में उसे प्रचारित करना चाहा है। भट्टारकजी का यह प्रयत्न कितना निन्दित है और उनकी उक्त व्यवस्था कितनी दोषपूर्ण, एकांगी तथा न्याय-नियमों के विरुद्ध है उसे बतलाने की ज़रूरत नहीं। सहृदय पाठक सहज ही में उसका अनुभव कर सकते हैं। हाँ, इतना ज़रूर बतलाना होगा कि जिस स्त्री को त्याग या तलाक़ दिया जाता है वह, वैवाहिक सम्बन्ध के विच्छेद होने से, अपना पुनर्विवाह करने के लिये स्वतंत्र होती है। और इसलिये यह भी कहना चाहिये कि **भट्टारकजी ने अपनी इस व्यवस्था के द्वारा ऐसी 'त्यक्ता' स्त्रियों को अपने पति की जीवितावस्था में पुनर्विवाह करने की भी स्वतंत्रता या परवानगी दी है!** अस्तु; पुनर्विवाह के सम्बन्ध में भट्टारकजी ने और भी कुछ आज्ञाएँ जारी की हैं जिनका प्रदर्शन अभी आगे **'स्त्री-पुनर्विवाह'** नाम के एक स्वतंत्र शीर्षक के नीचे किया जायगा।

स्त्री-पुनर्विवाह।

(२७) 'तलाक़' की व्यवस्था देकर उसके फलस्वरूप परित्यक्ता स्त्रियोंको पुनर्विवाह की स्वतन्त्रता देने वाले भट्टारकजी ने, कुछ हालतों में, अपरित्यक्ता स्त्रियों के लिये भी पुनर्विवाहकी व्यवस्थाकी है, जिसका खुलासा* इस प्रकार है:—

---

* यद्यपि इस विषय में भट्टारकजी के व्यवस्था-वाक्य बहुत कुछ स्पष्ट हैं फिर भी चूँकि इस त्रिवर्णाचार के भक्त कुछ पंडितों ने, उन्हें अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल न पाकर अथवा ग्रंथ के प्रचार में विशेष बाधक समझकर उन पर पर्दा डालने की जघन्य चेष्टा की है—अतः यहाँ

ग्यारहवें अध्याय में भट्टारकजी ने, वाग्दान, प्रदान, वरण, पाणिग्रहण और सप्तपदी को विवाह के पाँच अंग बतलाकर, उनकी क्रमशः सामान्यविधि बतलाई है और फिर 'विशेषविधि' दी है, जो अंकुरारोपण से प्रारम्भ होकर **'मनोरथाः सन्तु'** नामक उस आशीर्वाद पर समाप्त होती है जो सप्तपदी के बाद—पूर्णाहुति आदि के भी अनन्तर—दिया हुआ है। इसके पश्चात् उन्होंने हिन्दुओं के **'चतुर्थी कर्म'** को अपनाने का उपक्रम किया है और उसे कुछ जैन का रूप दिया है। चतुर्थी—कर्म विवाह की चतुर्थ रात्रि के कृत्य को कहते हैं *। हिन्दुओं के यहाँ वह विवाह का एक देश अथवा अंग माना जाता है। चतुर्थी—कर्म से पहले वे स्त्री को 'भार्या' संज्ञा ही नहीं देते। उनके मतानुसार दान के समय तक **'कन्या'**, दान के अनन्तर **'वधू'**, पाणिग्रहण हो जाने पर **'पत्नी'** और चतुर्थी—कर्म के पश्चात् **'भार्या'** संज्ञा की प्रवृत्ति होती है। इसी से वे भार्या को **'चातुर्थ कर्मणी'** कहते हैं, जैसा कि मिश्र निवाहूराम विरचित उनके विवाहपद्धति के निम्न वाक्यों से प्रकट है:—

चतुर्थीकर्मणः प्राक् तस्या भार्यत्वमेव न संप्रवृत्तम्। विवाहैकदेशत्वाच्चतुर्थीकर्मणः। इतिसूत्रार्थः। तस्माद्भार्या चातुर्थकर्मणीति मुनिवचनात्। "आप्रदानात् भवेत्कन्या प्रदानानन्तरं वधूः॥ पाणिग्रहे तु पत्नी स्याद्भार्या·चातुर्थकर्मणीति॥"

और इसीलिये उनकी विवाहपुस्तकों में 'चतुर्थीकर्म' का पाठ लगा रहता है जो **'ततश्चतुर्थ्यामपररात्रे चतुर्थीकर्म'** इस प्रकार के

पर उनका कुछ विशेष खुलासा अथवा स्पष्टीकरण कर देना ही उचित तथा ज़रूरी मालूम हुवा है। इसीसे यह उसका प्रयत्न किया जाता है।

* वामन शिवराम ऐप्टे के कोश में भी ऐसा ही लिखा है। यथा:—
"The Ceremonies to be performed on the fourth night of the marriage" और इससे 'चतुर्थी' का अर्थ होता है The fourth night of the marriage विवाह की चतुर्थ रात्रि।

वाक्य के साथ प्रारम्भ होता है। भट्टारकजी ने विवाह रात्रि के बाद से—उस रात्रि के बाद से जिस रात्रि को पंचाङ्गविवाह की सम्पूर्ण विधि समाप्त हो जाती है—चतुर्थीकर्म का उपक्रम करते हुए, प्रति दिन सुबह के वक्त पौष्टिक कर्म और रात्रि के समय शांतिहोम करने की व्यवस्था की है, और फिर चौथे दिन के प्रभातादि समयों का कृत्य बतलाया है, जिसमें विवाहमंडप के भीतर पूजनादि सामग्री से युक्त तथा अनेक चित्रादिकों से चित्रित एक महामंडल की नवीन रचना, वधू का नूतन कलश स्थापन, संध्या के समय वधू-वर का वहाँ गीत वादित्र के साथ स्नान और उन्हें गंधाक्षतप्रदान भी शामिल है *। इसके बाद संक्षेप में चतुर्थरात्रि का कृत्य दिया है और उसमें मुख्यतया नीचे लिखी क्रियाओं का उल्लेख किया है—

(१) ध्रुवतारा निरीक्षण के अनन्तर सभा की पूजा (२) भगवान का अभिषेक-पुरस्सर पूजन तथा होम (३) होम के बाद पत्नी के गले में वर की दी हुई सोने की ताली का मंत्रपूर्वक बाँधा जाना (४) मंत्र पढ़कर दोनों के गले में **सम्बंधमाला** का डाला जाना (५) नागों का तर्पण अथवा उन्हें बलि का दिया जाना (६) अग्नि पूजनादि के अनंतर वर का पान बीड़ा लेकर वधूसहित नगर को देखने जाना (७) तत्पश्चात् होम के शेष कार्य को पूरा करके पूर्णाहुति का दिया जाना (८) होम की भस्म का वर वधू को वितरण

---

* इस कथन के कुछ वाक्य नीचे दिये जाते हैं—

"ततः प्रभृति नित्यं च प्रभाते पौष्टिकं मतम्।
निशीथे शान्ति होमेऽह्नि चतुर्थे नागतर्पणम्॥ १९८॥
तदेव [ह्नि] च प्रभाते च गृहमण्डपयोः पृथक्। सम्मार्जनं" ॥१४६॥
"नवीनं घटं......संस्थापयेद्धारु पत्नी॥ १५३॥
"सद्दिव्यमेतन्महामण्डलं चेशपूजार्चनायोग्य सद्द्रव्यपूर्णम्॥१५८॥
"सरागेऽपि संध्याभिधाने हशीह वरस्यापि वध्वाः शुभेस्नानकं वा"।
इदं चासनं युज्यते चादरेण सुमांगल्य वादित्रगीतादिपूर्वम्॥१६०॥
"ॐ सद्दिव्यगात्रस्य गंधधारादिकृचर्क सुगंधं यो भवीति...
संधारिताक्षता अप्येवं भवन्तु।

(९) सुवर्णदान (१०) तदनंतर कंकण खोलकर ग्राम की प्रदक्षिणा करना (११) प्रदक्षिणा से निवृत्त होकर सुखपूर्वक दुग्धपान तथा **संभोगादिक करना** और फिर अपने ग्राम को चले जाना।

चतुर्थ रात्रि की इन क्रियाओं से सम्बंध रखने वाले कुछ पदवाक्य इसप्रकार हैं:—

"रात्रौ ध्रुवतारादर्शनानन्तरं विद्वद्भिशिष्ट बन्धुजनैश्च सभापूजा। **चतुर्थ(र्थी)** दिनेवधूवरयोरपि महास्नानानि च स्नपनार्चा होमादिकं कृत्वा तालीबंधनं कुर्यात्। तद्यथा—'वरेण दत्ता सौवर्णी ··· ताली ··· ॥१६१॥

"ॐ एतस्याः पाणिगृहीत्यास्तालीं बध्नामि इयंनित्यमवतंसलक्ष्मीं विदध्यात्।

"ॐ भार्यापत्योरेतयोः परिणीतिं प्राप्तयोस्तुरीये **घस्त्रे नक्तं वेलायां** त्रैतासपर्यायाश्च तौ सम्बध्येते **स्रग्बन्धमाला** अतोलब्धिर्यद्धपत्यानां द्राघीयं आयुश्चापि भूयात्।

"सुहोमावलोकः पुन्मंगलीयं ससूत्रं क्रमाद् बन्धयेत्कण्ठदेशे।
स्वसम्बन्धमालापरिवेष्टनं च, सुकर्पूरगोशार्षयोर्लेपनं च ॥ १६२॥
वधूभिर्गृहीतार्घपात्राभिराभिः, प्रवेशो वरस्यैव तद्वच्च वध्वाः।
शुभे मण्डपे दक्षिणीकृत्य तं वै, प्रदायाशु नागस्य साक्षाद्बलिं च॥ १६४॥
"समितलमारोपण पूर्वकं तथा, हुताशपूजावसरार्चनं मुदा।
गृहीतवीटी च वरोवधूयुतो, विलोकनार्थं स्व (च) पुरं व्रजेत्-
प्रभोः ॥ १६७ ॥

ततः शेषहोमं कृत्वा पूर्णाहुतिं कुर्यात्।

"ॐ रत्नत्रयार्चनमयोत्तम होम भूतिः···॥ १६८ ॥ इतिभस्मप्रदानमंत्रः।

"हिरण्यगर्भस्य···॥ १६९–१७१ ॥ इति स्वर्णदानमंत्रः ॥

"तदनन्तरं कंकणमोचनं कृत्वा महाशोभया ग्रामं प्रदक्षिणीकृत्य पयः पावन **निधुवनादिकं सुखेन कुर्यात्।** स्वग्रामं गच्छेत्।

'तदनंतरं' नाम के अन्तिम वाक्य के साथ ही चतुर्थी (चतुर्थ-रात्रि) का विवक्षित सामान्य कृत्य समाप्त हो जाता है। इसके बाद भट्टारकजी के हृदय में इस चतुर्थीकृत्य के सम्बन्ध में कुछ विशेष सूचनाएँ कर देने की भी इच्छा पैदा हुई और इसलिये उन्होंने **'स्वग्रामं**

'गच्छेत्' के अनंतर ही 'अथविशेषः' लिखकर उसे पाँच* पद्यों में व्यक्त किया है, जो इस प्रकार हैं:—

विवाहे दम्पतीस्यातां त्रिरात्रं ब्रह्मचारिणौ।
अलंकृता वधूश्चैव सहशय्यासनाशिनौ ॥ १७२ ॥
वध्वासहैव कुर्वीत निवासं श्वसुरालये।
चतुर्थं दिनमत्रैव केचिदेवं वदन्ति हि ॥ १७३ ॥
चतुर्थीमध्ये ज्ञायन्ते दोषा यदि वरस्य चेत्।
दत्तामपि पुनर्दद्यात्पिताऽन्यस्मै विदुर्बुधाः ॥ १७४॥
प्रवरैक्यादिदोषाःस्युः पतिसंगादधो यदि।
दत्तामपि हरेद्दद्यादन्यस्मा इति केचन ॥ १७५ ॥
कलौ तु पुनरुद्वाहं वर्जयेदिति गालवः।
कस्मिंश्चिद्देश इच्छन्ति न तु सर्वत्र केचन ॥ १७६ ॥

इन पद्यों द्वारा भट्टारकजी ने यह प्रतिपादन किया है कि—'विवाह होजाने पर दम्पती को—वर वधू दोनों को—तीन रात तक (विवाह रात्रि को शामिल करके) ब्रह्मचारी रहना चाहिये—परस्पर संभोग अथवा काम क्रीडादिक न करना चाहिये—इसके बाद वधू को अलंकृत किया जाय और फिर दोनों का शयन, आसन तथा भोजन एक साथ होवे ॥१७२॥ वर को वधू के साथ ससुराल में ही निवास करना चाहिये‡ परंतु कुछ विद्वानों का यह कहना है (जिस पर

---

* एक छठा पद्य और भी है जिसका चतुर्थीक्रिया के साथ कुछ सम्बंध नहीं है और जो प्रायः असंगतसा जान पड़ता है। उसके बाद 'विवाहानन्तरं गच्छेत्सभार्यः स्वस्य मंदिरम्' नामक पद्य से और फिर घर में वधू प्रवेश के कथन से 'स्वग्रामं गच्छेत्' कथन का सिलसिला ठीक बैठ जाता है और यह मालूम होने लगता है कि ये मध्य के पद्य ही विशेष कथन के पद्य हैं और ये अपने पूर्वकथन—चतुर्थीकृत्य-वर्णन-के साथ सम्बंध रखते हैं।

‡ कुछ स्थानों पर अथवा जातियों में ऐसा रिवाज़ पाया जाता है कि वधू के पतिगृह पर आने की जगह पति ही वधू के घर पर जाकर

विवाहिता (तुरत की ब्याही हुई) और सदोपभर्तृका अथवा सम्बन्ध-दूषिता स्त्रियों के पुनर्विवाह का तो निषेध किया हो, जिनका पद्य नं० १७४, १७५ में उल्लेख है, और विधवाओं के पुनर्विवाह का निषेध न किया हो। मैं तो समझता हूँ गालवजी ने दोनों ही प्रकार के पुनर्विवाहों का निषेध किया है और इसीसे उनके मत का ऐसे सामान्य वचन द्वारा उल्लेख किया गया है। हिन्दुओं में, जिनके यहाँ **'नियोग'** भी विधिविहित माना गया है, **'पराशर'** जैसे कुछ ऋषि ऐसे भी हो गये हैं जिन्होंने विधवा और सधवा दोनों के लिये पुनर्विवाह की व्यवस्था की है * । गालव ऋषि उन से भिन्न दोनों प्रकार के पुनर्विवाहों

---

* जैसा कि पाराशर स्मृति के—जिसे **'कलौ पाराशराः स्मृताः'** वाक्य के द्वारा कलियुग के लिये खास तौर से उपयोगी बतलाया गया है—निम्न वाक्य से प्रकट है:—

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥ ४-२० ॥

इसमें लिखा है कि 'पति के खो जाने—देशान्तरादिक में जाकर लापता हो जाने—मर जाने, सन्यासी बन जाने, नपुंसक तथा पतित हो जाने रूप पाँच आपत्तियों के अवसर पर स्त्रियों के लिये दूसरा पति कर लेने की व्यवस्था है—वे अपना दूसरा विवाह कर सकती हैं।'

इसी बात को 'अमितगति' नाम के जैनाचार्य ने अपनी 'धर्म-परीक्षा' में निम्न वाक्य द्वारा उल्लेखित किया है:—

पत्यौ प्रव्राजिते क्लीवे प्रनष्टे पतिते मृते।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥ ११-१२ ॥

'धर्म परीक्षा' के इस वाक्य पर से उन लोगों का कितना ही समाधान हो जायगा जो भ्रमवश पाराशरस्मृति के उक्त वाक्य का गलत अर्थ करने के लिये कोरा व्याकरण छाँकते हैं—कहते हैं 'पति' शब्द का सप्तमी में 'पत्यौ' रूप होता है, 'पतौ' नहीं। इसलिये यहाँ समासान्त 'अपति' शब्द का सप्तम्यन्त पद 'अपतौ' पड़ा हुआ है, जिसके 'अ' कार का 'पतिते' के बाद लोप हो गया है, और वह उस पतिभिन्न पतिसदृश का बोधक है जिसके साथ महज़

के निषेधक रहे होंगे। और इसलिये जब तक गालव ऋषि के किसी वाक्य से यह सिद्ध न कर दिया जाय कि वे विधवाविवाह के निषेधक नहीं थे तबतक भट्टारकजी के उक्त सामान्य व्यवस्था वाक्य नं० १७६ पर से जो लोग विधवा विवाह का आशय निकालते हैं उसपर कोई खास आपत्ति नहीं की जासकती।

सगाई (मँगनी) हुई हो किन्तु विवाह न हुआ हो। ऐसे लोगों को मालूम होना चाहिये कि श्लोक के उत्तरार्ध में जो 'पतिरन्यो' (दूसरा पति) पाठ पड़ा हुआ है वह पूर्वार्ध में 'पतौ' की ही स्थिति को चाहता है—'अपतौ' की नहीं—अर्थात् जिसके मरने वगैरह पर दूसरे पति की व्यवस्था की गई है वह 'पति' ही होना चाहिये 'अपति' नहीं। और 'पति' संज्ञा उसीको दी जाती है जो विधिपूर्वक पाणिग्रहण संस्कार से संस्कारित होकर सप्तपदी को प्राप्त हुआ हो—महज़ वाग्दान वगैरह की वजह से किसी को 'पतित्व' की प्राप्ति नहीं होती; जैसा कि 'उद्वाहतत्व' में दिये हुए 'यम' ऋषि के निम्न वाक्य से प्रकट है:—

नोदकेन न वा वाचा कन्यायाः पतिरिष्यते।
पाणिग्रहणसंस्कारात् पतित्वं सप्तमे पदे॥ (शब्दकल्पद्रुम)

इसके सिवाय, इतना और भी जान लेना चाहिये कि प्रथम तो यह आर्ष प्रयोग है, और आर्ष प्रयोग कभी कभी व्याकरण से भिन्न भी होते हैं। दूसरे, छन्द की दृष्टि से कवि लोग अनेक बार व्याकरण के नियमों का उल्लंघन कर जाते हैं, जिसके प्राचीन साहित्य में भी कितने ही उदाहरण मिलते हैं। बहुत संभव है 'पत्यौ' की जगह 'पतौ' पद का यह प्रयोग छन्द की दृष्टि से ही किया गया हो; अन्यथा पराशरजी इस शब्द के 'पत्यौ' रूप से भी अभिज्ञ थे और उन्होंने अपनी स्मृति में 'पत्यौ' पद का भी प्रयोग किया है, जिसका एक उदाहरण **'पत्यौ जीवति कुण्डस्तु मृते भर्तरि गोलकः'** (४-२३) है। तीसरे 'पतौ' पदका प्रयोग उक्त स्मृति में अन्यत्र भी पाया जाता है, जिसका 'अपतौ' वहाँ बन ही नहीं सकता। और उस प्रयोगवाक्य से यह साफ़ ज़ाहिर है कि जो स्त्री पति के मरने, खो जाने अथवा उसके त्याग देने पर पुनर्विवाह न करके जार से गर्भ धारण करती है उसे पराशरजी ने 'पतिता' और 'पापकारिणी' लिखा है—उन

इसके सिवाय, जो भट्टारकजी पति के दोष मालूम होजाने पर पूर्व विवाह को ही रद्द कर देते हैं, संभोग होजाने पर भी स्त्री के लिये दूसरे विवाह की योजना करते हैं, तलाक़ की विधि बतलाकर परित्यक्ता स्त्रियों के लिये पुनर्विवाह का मार्ग खोलते अथवा उन्हें उसकी स्वतंत्रता देते हैं, कामयज्ञ रचाने के बड़े ही पक्षपाती जान पड़ते हैं, योनिपूजा तक का उपदेश देते हैं, ऋतुकाल में भोग करने को बहुत ही आवश्यक समझते हैं, और ऋतुकाल में भोग न करने वाली स्त्रियों को तिर्यंच गति का पात्र ठहराते हैं—इतना अधिक जिनके सामने उस भोग का महत्व है—उनसे ऐसी आशा भी नहीं की जा सकती कि उन्होंने विधवाओं के पुनर्विवाह का—उन नन्हीं नन्हीं बालविधवाओं के पुनर्विवाह का भी जो महज़ फेरों की गुनहगार हों और यह भी न जानती

की दृष्टि में 'जार' दूसरा पति (पतिरन्यः) नहीं हो सकता। वे दूसरा पति ग्रहण करने रूप पुनर्विवाह को विधिविहित और जार से रमण को निन्द्य तथा दण्डनीय ठहराते हैं। यथा:—

जारेण जनयेद्गर्भं मृते त्यक्ते गते पतौ।
तां त्यजेदपरे राष्ट्रे पतितां पापकारिणीम्॥ १०-३१॥

और चौथे यह बात भी नहीं कि व्याकरण से इस 'पतौ' रूप की सर्वथा सिद्धि ही न होती हो, सिद्धि भी होती है, जैसाकि अष्टाध्यायी के 'पतिः समास एव' सूत्र पर की 'तत्वबोधिनी' टीका के निम्न अंश से प्रकट है, जिसमें उदाहरण भी दैवयोग से पराशरजी का उक्त श्लोक दिया है:—

.........अथ कथं "**सीतायाः पतये नमः**" इति "**नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ। पंच स्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते**" इति पराशरश्च॥ अत्राहुः॥ पतिरित्याख्यातः पतिः—'तत्करोति तदा चष्टे' इति णिचि टिलोपे 'अच इः' इत्यौणादिक प्रत्यये 'णेरनिटि' इति णिलोपे च निष्पन्नोऽयं पति 'पतिः समास एव' इत्यत्र न गृह्यते लाक्षणिकत्वादिति।

अतः 'पतौ' का अर्थ 'पत्यौ' ही है। और इसलिये जो लोग उसके इस समीचीन अर्थ को बदलने का निःसार प्रयत्न करते हैं यह उनकी भूल है।

हों कि विवाह किस चिड़िया का नाम है—सर्वथा निषेध किया हो। एक स्थान पर तो भट्टारकजी, कुछ नियम विधान करते हुए, लिखते हैं:—

यस्यास्त्वनामिका ह्रस्वा तां विदुः कलहप्रियाम्।
भूमिं न स्पृशते यस्याः खादते सा पतिद्वयम्॥ ११-२४॥

अर्थात्—जिस स्त्री की अनामिका अँगुली छोटी हो वह कलहकारिणी होती है, और जिसकी वह अँगुली भूमि पर न टिकती हो वह अपने * दो पतियों को खाती है—उसके कम से कम दो विवाह जरूर होते हैं और वे दोनों ही विवाहित पति मर जाते हैं।

भट्टारकजी के इस नियम-विधान से यह साफ़ जाहिर है कि जैन समाज में ऐसी भी कन्याएँ पैदा होती हैं जो अपने शारीरिक लक्षणों के कारण एक पति के मरने पर दूसरा विवाह करने के लिये मजबूर होती हैं—तभी वे दो पतियों को खाकर इस नियम को सार्थक कर सकती हैं—और एक पति के मरने पर स्त्री का जो दूसरा विवाह किया जाता है वही विधवाविवाह कहलाता है। इसलिये समाज में—नहीं नहीं समाज की प्रत्येक जाति में—विधवाविवाह का होना अनिवार्य ठहरता है; क्योंकि शारीरिक लक्षणों पर किसी का वश नहीं और यह नियम समाज में पुनर्विवाह की व्यवस्था को माँगता है। अन्यथा भट्टारकजी का यह नियम ही चरितार्थ नहीं हो सकता—वह निरर्थक हो जाता है।

और दूसरे स्थान पर भट्टारकजी ने 'शूद्रा पुनर्विवाहमण्डने' आदि वाक्य के द्वारा यह स्पष्ट घोषणा की है कि 'शूद्रा के—शूद्र जाति

---

*भट्टारकजी का यह 'दो पतियों को खाती है' वाक्य-प्रयोग कितना अशिष्ट और असंयत भाषा को लिये हुए है उसे बतलाने की ज़रूरत नहीं। जब 'मुनीन्द्र' कहलाने वाले ही ऐसी मर्मविदारक निन्द्य भाषा का प्रयोग करते हैं तब किसी लड़की के विधवा होने पर उसकी सास यदि यह कहती है कि 'तूने मेरा लाल खा लिया' तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? यह सब विधवाओं के प्रति अशिष्ट व्यवहार है।

की जैन स्त्री के--पुनर्विवाह के समय स्त्री को पति के दाहिनी ओर विठलाना चाहिये,' जिससे यह भी ध्वनि निकलती है कि अशूद्रा अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जाति की जैन स्त्रियों के पुनर्विवाह के समय वैसा नहीं होना चाहिये--वे बाईं ओर विठलाई जानी चाहिये। अस्तु; आपका वह पूरा वाक्य इस प्रकार है--

'गर्भाधाने पुंसवने सीमन्तोन्नयने तथा।
वधू प्रवेशने शूद्रा पुनर्विवाहमण्डने ॥
पूजने कुलदेव्याश्च कन्यादाने तथैव च।
कर्मस्वेतेषु वै भार्या दक्षिणे तूप वेशयेत् ॥

—८ वाँ अध्याय ॥ ११६—११७ ॥

इस वाक्य के **'शूद्रा पुनर्विवाहमण्डने'** पद को देख कर सोनीजी कुछ बहुत ही चकित तथा विचलित हुए मालूम होते हैं, उन्हें इसमें मूर्तिमान विधवाविवाह अपना मुँह बाए हुए नजर आया है और इसलिये उन्होंने उसके निषेध में अपनी सारी शक्ति खर्च कर डाली है। वे चाहते तो इतना कहकर छुट्टी पा सकते थे कि इसमें विधवा के पुनर्विवाह का उल्लेख नहीं किन्तु महज शूद्रा के पुनर्विवाह का उल्लेख है, जो सधवा हो सकती है। परंतु किसी तरह का सधवापुनर्विवाह भी आपको इष्ट नहीं था, आप दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं देखते थे और शायद यह भी समझते हों कि सधवाविवाह के स्वीकार कर लेने पर विधवाविवाह के निषेध में फिर कुछ बल ही नहीं रह जाता। और विधवाविवाह का निषेध करना आपको खास तौर से इष्ट था, इसलिये उक्त पद में प्रयुक्त हुए **'पुनर्विवाह'** को **'विधवाविवाह'** मान कर ही आपने प्रकारान्तर से उसके निषेध की चेष्टा की है। इस चेष्टा में आपको शूद्रों के सत्, असत् भेदादि रूप से कितनी ही इधर उधर की कल्पनाएँ करनी और निरर्थक बातें लिखनी पड़ीं--मूल ग्रंथ से बाहर

का आश्रय लेना पड़ा—परंतु फिर भी आप यह सिद्ध नहीं कर सके कि भट्टारकजी ने विधवाविवाह का सर्वथा निषेध किया है। आपको अपनी कल्पना के अनुसार इतना तो स्वीकार करना ही पड़ा कि इस पद में असत् शूद्रा की विधवाविवाह-विधि का उल्लेख है—हालाँकि मूल में 'शूद्रा' शब्द के साथ 'असत्' विशेषण लगा हुआ नहीं है, वह शूद्रा मात्र का वाचक है। अस्तु; आपने 'सोमदेवनीति' (नीति-वाक्यामृत) के जिस वाक्य के आधार पर अपनी कल्पना गढ़ी है वह इस प्रकार है—

सकृत्परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः।

इस वाक्य पर संस्कृत की जो टीका मिलती है और उसमें समर्थन के तौर पर जो वाक्य उद्धृत किया गया है उससे तो इस वाक्य का आशय यह मालूम होता है कि 'जो भले शूद्र होते हैं वे एक बार विवाह करते हैं—विवाह के ऊपर या पश्चात् दूसरा विवाह नहीं करते'—और इससे यह जान पड़ता है कि इस वाक्य द्वारा शूद्रों के बहुविवाह का नियंत्रण किया गया है। अथवा यों कहिये कि त्रैवर्णिक पुरुषों को बहु-विवाह का जो स्वयंभू अधिकार प्राप्त है उससे बेचारे शूद्र पुरुषों को वंचित रक्खा गया है। यथाः—

"टीका—ये सच्छूद्राः शोभन शूद्रा भवन्ति ते सकृत्परिणयना एक वारं कृतविवाहाः, द्वितीयं न कुर्वन्तीत्यर्थः। तथा च हारीतः—'द्वि भार्यो योऽत्र शूद्रः स्याद् वृषलः सहि विश्रुतः। महत्वं तस्य नो भावि शूद्रजातिसमुद्भवः॥"

इसके सिवाय, सोनीजी ने खुद पद्य नं० १७६ में प्रयुक्त हुए 'पुनरुद्वाहं' का अर्थ स्त्री का पुनर्विवाह न करके पुरुष का पुनर्विवाह सूचित किया है, जहाँ कि यह बनता ही नहीं। ऐसी हालत में मालूम नहीं फिर किस आधार पर आपने सोमदेवनीति के उक्त वाक्य का आशय स्त्री के एक बार विवाह से निकाला है ! अथवा बिना किसी आधार के

जहाँ जैसा मतलब निकालना हुआ वहाँ वैसा अर्थ कर देना ही आपको इष्ट रहा है ? यदि सोमदेवजी की नीति का ही प्रमाण देखना था तो उसमें तो साफ़ लिखा है—

विकृतपत्यूढाऽपि पुनर्विवाहमर्हतीति स्मृतिकाराः ।

अर्थात्—जिस विवाहिता स्त्री का पति विकारी हो—या जो सदोष पति के साथ विवाही गई हो—वह भी पुनर्विवाह करने की अधिकारिणी है—अपने उस विकृत पति को छोड़कर या तलाक़ देकर दूसरा विवाह कर सकती है—ऐसा स्मृतिकारों का—धर्मशास्त्र के रचयिताओं का—मत है (जिससे सोमदेवजी भी सहमत हैं—तभी उसका निषेध नहीं किया)।

यहाँ **'अपि'** (भी) शब्द के प्रयोग से यह भी साफ ध्वनित हो रहा है कि यह वाक्य महज़ सधवा के पुनर्विवाह की ही नहीं किन्तु विधवा के पुनर्विवाह की भी विधि को लिये हुए है। स्मृतिकारों ने दोनों का ही विधान किया है।

इस सूत्र की मौजूदगी में **'सकृत्परिणयन व्यवहाराः सच्छूद्राः'** सूत्र पर से यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि शूद्रों के सत् शूद्र होने का हेतु उनके यहाँ स्त्रियों के पुनर्विवाह का न होना है और इसलिये त्रैवर्णिकों के लिये पुनर्विवाह की विधि नहीं बनती—जो करते हैं वे सच्छूद्रों से भी गये बीते हैं। इतने पर भी सोनीजी वैसा नतीजा निकालने की चेष्टा करते हैं, यह आश्चर्य है ! और फिर यहाँ तक लिखते हैं कि "जैनागम में ही नहीं, बल्कि ब्राह्मण सम्प्रदाय के आगम में भी विधवाविवाह की विधि नहीं कही गई है।" इससे सोनीजी का ब्राह्मणग्रंथों से ही नहीं किंतु जैनग्रंथों से भी खासा अज्ञान पाया जाता है—उन्हें ब्राह्मण सम्प्रदाय के ग्रंथों का ठीक पता नहीं, नाना मुनियों के नाना मत मालूम नहीं और न अपने घर की ही पूरी खबर है। उन्होंने विधवाविवाह के निषेध में **मनु** का जो वाक्य **'न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः'** उद्धृत किया

है वह उनकी नासमझी का द्योतक है। पद्य के इस उत्तरार्ध में, जिसका पूर्वार्ध है **'नोद्वाहिकेषु मंत्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्,'** **'विधवावेदनं'** पद अपने पूर्वापरसम्बंध से **'नियोग'** का वाचक है—संतानोत्पत्ति के लिये विधवा के अस्थायी ग्रहण का सूचक है—और इसलिये उक्त वाक्य का आशय सिर्फ इतना ही है कि 'विवाह-विधि में नियोग नहीं होता—नियोग-विधि में नियोग होता है'—दोनों की नीति और पद्धति भिन्न भिन्न हैं। अन्यथा, मनुजी ने उसी अध्याय में **परित्यक्ता** (तलाक़ दी हुई) और विधवा दोनों के लिये पुनर्विवाहसंस्कार की व्यवस्था की है, जैसाकि **मनुस्मृति** के निम्नवाक्यों से प्रकट है:-

> या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वेच्छया।
> उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥ १७५ ॥
> सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा।
> पौनर्भवेन भर्त्रा **सा पुनः संस्कारमर्हति** ॥ १७६ ॥

'वशिष्ठस्मृति' में भी लिखा है कि जो स्त्री अपने नपुंसक, पतित या उन्मत्त भर्तार को छोड़कर अथवा पति के मर जाने पर दूसरे पति के साथ विवाह करती है वह **'पुनर्भू'** कहलाती है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि पाणिग्रहण संस्कार हो जाने के बाद पति के मर जाने पर यदि वह मंत्रसंस्कृता स्त्री अक्षतयोनि हो—पति के साथ उसका संभोग न हुआ हो—तो उसका फिर से विवाह होना योग्य है। यथा:—

> "या क्लीवं पतितमुन्मत्तं वा भर्तारमुत्सृज्यान्यं
> पतिं विन्दते मृते वा सा **पुनर्भूर्भवति** ॥
> "पाणिग्रहे मृते बाला केवलं मंत्रसंस्कृता।
> सा चेदक्षतयोनिः स्यात्**पुनःसंस्कार मर्हति** ॥
>
> —१७ वाँ अध्याय।

इसी तरह पर **'नारद स्मृति'** आदि के और **कौटिलीय अर्थशास्त्र** के भी कितने ही प्रमाण उद्धृत किये जा सकते हैं। **'पराशर स्मृति'** का

वाक्य पहले उद्धृत किया ही जाचुका है। सोनीजी को यदि अपने घर की ही खबर होती तो वे 'सोमदेवनीति' से नहीं तो आचार्य **अमितगति** की 'धर्म-परीक्षा' परसे ब्राह्मणग्रंथों का हाल मालूम कर सकते थे और यह जानसकते थे कि **उनके आगम में विधवाविवाह का विधान है।** धर्मपरीक्षा का वह '**पत्यौप्रव्रजिते**' वाक्य ब्राह्मणोंकी विधवाविवाह--विधिको प्रदर्शित करनेके लिये ही लिखा गया है; जैसाकि उससे पूर्वके निम्नवाक्य से प्रकट है:—

तेरुक्तं विधवां कापि त्वं संगृह्य सुखी भव।
नोभयोर्विद्यते दोष इत्युक्तस्तापसागमे ॥ ११—११ ॥

धर्मपरीक्षा के चौदहवें परिच्छेद में भी हिंदुओं के स्त्री-पुनर्विवाह का उल्लेख है और उसे स्पष्टरूप से '**व्यासादीनामिदं वचः**' के साथ उल्लेखित किया गया है, जिसमें से विधवाविवाह का पोषक एक वाक्य इस प्रकार है:——

एकदा परिणीताऽपि विपन्ने दैवयोगतः।
भर्तर्यक्षतयोनिः स्त्री पुनःसंस्कारमर्हति ॥ ३८ ॥

अतः सोनीजी का उक्त लिखना उनकी कोरी नासमझी तथा अज्ञता-को प्रकट करता है। और इसी तरह उनका यह लिखना भी मिथ्या ठहरता है कि "विवाहविधि में **सर्वत्र** कन्याविवाह ही बतलाया गया है"। बल्कि यह भट्टारकजी के '**शूद्रापुनर्विवाहमण्डने**' वाक्य के भी विरुद्ध पड़ता है; क्योंकि इस वाक्य में जिस शूद्रा के पुनर्विवाह का उल्लेख है उसे सोनीजी ने '**विधवा**' स्वीकृत किया है—भले ही उनकी दृष्टि में वह असत् शूद्रा ही क्यों न हो, विधवा और विवाह का योग तो हुआ।

यहाँ पर मुझे विधवाविवाह के औचित्य या अनौचित्य पर विचार करना नहीं है और न उस दृष्टि को लेकर मेरा यह विवेचन है*। मेरा उद्देश्य इसमें प्रायः इतना ही है कि भट्टारकजी के पुनर्विवाहविषयक कथन को

---

*औचित्यानौचित्य-विचार की उस दृष्टि से एक जुदा ही बृहत् निबन्ध लिखा जाने की ज़रूरत है, जिसके लिये मेरे पास अभी समय नहीं है।

अपने अनुकूल न पाकर अथवा कुछ लोकविरुद्ध समझकर उस पर पर्दा डालने और भ्रम फैलाने की जो जघन्य चेष्टा की गई है उसका नग्न दृश्य सबके सामने उपस्थित कर दिया जाय, जिससे वह पर्दा उठ जाय और भोले भाइयों को भी भट्टारकजी का कथन अपने असली रूप में दृष्टि-गोचर होने लगे—फिर भले ही वह उनके अनुकूल हो या प्रतिकूल। और इसलिए मुझे इतना और भी बतला देना चाहिये कि सोनीजी ने जो यह प्रतिपादन किया है कि 'ग्रंथकार ने विधवा के लिये तेरहवें अध्याय में दो ही मार्ग बतलाये हैं—एक जिनदीक्षाग्रहण करना और दूसरा वैधव्य-दीक्षा लेना—तीसरा विधवाविवाह नाम का मार्ग नहीं बतलाया', और उस पर से यह नतीजा निकाला है कि 'ग्रंथकार का आशय विधवाविवाह के अनुकूल नहीं है—होता तो वे वहीं पर विधवाविवाह नाम का एक तीसरा मार्ग और बतला देते', उसमें भी कुछ सार नहीं है—वह भी असलियत पर पर्दा डालने की ही एक चेष्टा है। तेरहवें अध्याय में जिस पद्यद्वारा जिन-दीक्षा अथवा वैधव्यदीक्षा के विकल्प रूप से ग्रहण करने की व्यवस्था की गई है उसमें **उत, स्वित्** और **वा** अव्ययों के साथ '**श्रेयान्**' पद पड़ा हुआ है * और यह इस बात को स्पष्ट बतला रहा है कि दोनों प्रकार की दीक्षा में से किसी एक का ग्रहण उसके लिये **श्रेष्ठ** है—अति उत्तम है। यह नहीं कहा गया कि इनमें से किसी एक का ग्रहण उसके लिये **लाज़िमी** है अथवा इस प्रकार के दीक्षाग्रहण से भिन्न दूसरा या तीसरा कोई **मध्यम मार्ग** उसके लिये है ही नहीं। मध्यम मार्ग ज़रूर है और उसे भट्टारकजी ने आठवें तथा ग्यारहवें अध्याय में '**पुनर्विवाह**' के रूप में सूचित किया है। और इसलिये उसे दुबारा यहाँ लिखने की ज़रूरत नहीं थी। यहाँ पर जो उत्कृष्ट मार्ग रह गया था उसी का समुच्चय किया गया

---

* यथा:—

विधवायास्ततो नार्या जिनदीक्षासमाश्रयः।
श्रेयानुतास्विद्वैधव्यदीक्षा वा गृह्यते तदा॥ १६८॥

है। और इसलिये यदि कोई विधवा जिनदीक्षा धारण न कर सके और वैधव्यदीक्षा के योग्य देशव्रत का ग्रहण, कण्ठसूत्र और कर्णभूषण आदि सम्पूर्ण आभूषणों का त्याग, शरीर पर सिर्फ दो वस्त्रों का धारण, खाट पर शयन तथा अंजन और लेप का त्याग, शोक तथा रुदन और विकथा-श्रवण की निवृत्ति, प्रातः स्नान, आचमन—प्राणायाम और तर्पण की नित्य प्रवृत्ति, तीनों समय देवता का स्तोत्रपाठ, द्वादशानुप्रेक्षा का चिन्तवन, ताम्बूलवर्जन और लोलुपतारहित एक बार भोजन, ऐसे उन सब नियमों का पालन करने के लिये समर्थ न होवे जिन्हें भट्टारकजी ने, **'सर्वमेतद्विधीयते'** जैसे वाक्य के साथ, वैधव्यदीक्षा—प्राप्त स्त्री के लिये **आवश्यक** बतलाया है, तो वह विधवा भट्टारकजी के उस पुनर्विवाह-मार्गका अवलम्बन लेकर यथाशक्ति श्रावकधर्म का पालन कर सकती है; ऐसा भट्टारकजी के इस उत्कृष्ट कथन का पूर्व कथन के साथ आशय और सम्बन्ध जान पड़ता है। **'पाराशरस्मृति'** में भी विधवा के लिये पुनर्विवाह की उस व्यवस्था के बाद, उसके ब्रह्मचारिणी रहने आदि को सराहा है—लिखा है कि 'जो स्त्री पति के मर जाने पर ब्रह्मचर्यव्रत में स्थिर रहती है—वैधव्यदीक्षा को धारण करके दृढ़ता के साथ उसका पालन करती है—वह मर कर ब्रह्मचारियों की तरह स्वर्ग में जाती है। और जो पति के साथ ही सती हो जाती है वह मनुष्य के शरीर में जो साढ़े तीन करोड़ बाल हैं उतने वर्ष तक स्वर्ग में वास करती है।' यथा:—

मृते भर्तरि या नारी ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता।
सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः॥ ३१॥
तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानवे।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं याऽनुगच्छति॥ ३२॥

पाराशरस्मृति के इन वाक्यों को पूर्ववाक्यों के साथ पढ़नेवाला कोई भी सहृदय विद्वान् जैसे इन वाक्यों पर से यह नतीजा नहीं निकाल सकता

कि पराशरजी ने विधवाविवाह का निषेध किया है उसी तरह पर भट्टारकजी के उक्त वाक्य पर से भी कोई समझदार यह नतीजा नहीं निकाल सकता कि भट्टारकजी ने विधवाविवाह का सर्वथा निषेध किया है। उस वाक्य का पूर्वकथनसम्बन्ध से इतना ही आशय जान पड़ता है कि जो विधवा जिनदीक्षा अथवा वैधव्यदीक्षा धारण कर सके तो वह बहुत अच्छा है—अभिनन्दनीय है—अन्यथा, विधुरों की तरह साधारण गृहस्थ का मार्ग उसके लिये भी खुला हुआ है ही।

अब मैं उस आवरण को भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ जो पुनर्विवाह-विषयक पद्य नं० १७४, १७५ और १७६ पर डाला गया है और जिसके नीचे उस सत्य को छिपाने की चेष्टा की गई है जिसका उल्लेख ऊपर उन पद्यों के साथ किया जा चुका है—भले ही लेखक कितने ही अंशों में भट्टारकजी के उस कथन से सहमत न हो अथवा अनेक दृष्टियों से उसे आपत्ति के योग्य समझता हो।

इस विषय में, सबसे पहले मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि इन पद्यों को, आगे पीछे के तीन और पद्यों सहित, 'अन्यमत' के श्लोक बतलाया गया है और उसकी एक पहचान इन पद्यों के शुरू में '**अथ विशेषः**' शब्दों का होना बतलाई गई है, जैसा कि पण्डित पन्नालालजी सोनी के एक दूसरे लेख के निम्न वाक्य से प्रकट है, जो 'सत्यवादी' के छठे भाग के अंक नम्बर २—३ में प्रकाशित हुआ है:—

> "भट्टारक महाराज अपने ग्रन्थ में जैन मत का वर्णन करते हुए अन्य मतों का भी वर्णन करते गये हैं, जिसकी पहचान के लिये अथ विशेषः, अन्यमतं, परमतं, स्मृतिवचनं और इति परमत स्मृतिवचनं इत्यादि शब्दों का उल्लेख किया है।"

यद्यपि मूल ग्रन्थ को पढ़ने से ऐसा मालूम नहीं होता—उसके 'अन्यमतं' 'परमतं' जैसे शब्द दूसरे जैनाचार्यों के मत की ओर इशारा

करते हुए जान पड़ते हैं—और न अब इस परीक्षालेख को पढ़ जाने के बाद कोई यह कहने की हिम्मत कर सकता है कि इस ग्रंथ में जिन वाक्यों के साथ 'अथ विशेषः' 'अन्यमतं' अथवा 'परमतं' जैसे शब्द लगे हुए हैं **वे ही जैनमत से बाहर के श्लोक हैं, बाक़ी और सब जैन-मत के ही श्लोकों का इसमें संग्रह है;** क्योंकि ऐसे चिन्हों से रहित दूसरे पचासों श्लोकों को अजैनमत के सिद्ध किया जा चुका है और सैंकड़ों को और भी सिद्ध किया जा सकता है। फिर भी यदि यह मान लिया जाय कि ये श्लोक अजैनमत के ही हैं तो उससे नतीजा? दूसरे मत के श्लोकों का उद्धरण प्रायः दो दृष्टियों से किया जाता है—अपने मत को पुष्ट करने अथवा दूसरों के मत का खण्डन करने के लिये। यहाँ पर उक्त श्लोक दोनों में से एक भी दृष्टि को लिये हुए नहीं हैं—वे वैसे ही (स्वयं रच कर या अपना कर) ग्रंथ का अंग बनाये गये हैं। और इसलिये उनके अजैन होने पर भी भट्टारकजी की ज़िम्मेदारी तथा उनके प्रतिपाद्य विषय का मूल्य कुछ कम नहीं हो जाता। अतः **उन पर अन्य मत का आवरण डालने की चेष्टा करना निरर्थक है।** इसके सिवाय, सोनीजी ने अपने उस लेख में कई जगह बड़े दर्प के साथ इन सब श्लोकों को '**मनुस्मृति**' का बतलाया है, और **यह उनका सरासर झूठ है।** सारी मनुस्मृति को टटोल जाने पर भी उसमें इनका कहीं पता नहीं चलता। **जो लोग अपनी बात को ऊपर रखने और दूसरों की आँखों में धूल डालने की धुन में इतना मोटा और साक्षात् झूठ लिख जाने तक की धृष्टता करते हैं वे अपने विरुद्ध सत्य पर पर्दा डालने के लिये जो भी चेष्टा न करें सो थोड़ा है। ऐसे अटकलपच्चू और ग़ैर-ज़िम्मेदाराना तरीक़े से लिखने वालों के वचन का मूल्य भी क्या होसकता है? इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं।**

इन्हीं सोनीजी ने, चतुर्थीकर्म-विषयक सारे पूर्वकथन पर पानी फेर कर १७४ वें पद्य में प्रयुक्त हुए '**चतुर्थीमध्ये**' पद का अर्थ अपने उस लेख में, '**चौथी पदी**' किया है और उस पर यहाँ तक जोर दिया है कि इसका अर्थ "**चौथी पदी ही करना पड़ेगा**", "**चौथी पदी ही होना चाहिये**", "**मराठी टीकाकार ने भी भूल की है**" *। परंतु अपनी अनुवाद-पुस्तक में जो अर्थ दिया है वह इससे भिन्न है। मालूम होता है बाद में आपको पंचांगविवाह के चौथे अंग (पाणिग्रहण) का कुछ खयाल आया और वही चतुर्थी के सत्यार्थ पर पर्दा डालने के लिये अधिक उपयोगी जँचा है! इसलिये आपने अपने उक्त वाक्यों और उनमें प्रयुक्त हुए '**ही**' शब्द के महत्व को भुलाकर, उसे ही चतुर्थी का वाच्य बना डाला है!! बाक़ी '**दत्ताम्**' पद का वही ग़लत अर्थ '**वाग्दान में दी हुई**' कायम रक्खा है, जैसा कि पूरे पद्य के आपके निम्न अनुवाद से प्रकट है:—

"पाणिपीडन नाम की चौथी क्रिया में अथवा सप्तपदी से पहले वर में जातिच्युतरूप, हीनजातिरूप या दुराचरणरूप दोष मालूम हो जायँ तो वाग्दान में दी हुई कन्या को उसका पिता किसी दूसरे श्रेष्ठ जाति आदि गुणयुक्त वर को देवे, ऐसा बुद्धिमानों का मत है।"

पूर्वकथनसम्बन्ध को सामने रखते हुए, जो ऊपर दिया गया है, इस अनुवाद पर से यह मालूम नहीं होता कि सोनीजी को 'चतुर्थीकर्म' का परिचय नहीं था और इसलिये '**चतुर्थीमध्ये**' तथा '**दत्ताम्**' पदों का अर्थ उनके द्वारा भूल से ग़लत प्रस्तुत किया गया है; बल्कि यह साफ़ जाना जाता है कि उन्होंने जान बूझकर, विवाहिता स्त्रियों के

* मराठी टीकाकार पं० कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवे ने "चवथ्या दिवशींचें कृत्य होण्याच्या पूर्वींच" अर्थ दिया है।

पुनर्विवाह पर पर्दा डालने के लिये, उक्त पदों के प्रकृत और प्रकरणसंगत अर्थ को बदलने की चेष्टा की है। अन्यथा, **'दत्ताम्'** का **'वाग्दान में दी हुई'** अर्थ तो किसी तरह भी नहीं बन सकता था, क्योंकि चतुर्थी के सोनीजी द्वारा आविष्कृत अर्थानुसार भी जब विवाहकार्य पाणिग्रहण की अवस्था तक पहुँच जाता है तब कन्यादान तो **'प्रदान'** नाम की दूसरी क्रिया में ही हो जाता है और उस वक्त वह कन्या **'कन्या'** न रहकर **'वधू'** तथा पाणिग्रहण के अवसर पर **'पत्नी'** बन जाती है+। फिर भी सोनीजी का उसे 'वाग्दान में दी हुई कन्या' लिखना और अन्यत्र यह प्रतिपादन करना कि 'विवाह कन्या का ही होता है' छल नहीं तो और क्या है? आपका यह छल याज्ञवल्क्यस्मृति के एक टीकावाक्य के अनुवाद में भी जारी रहा है और उसमें भी आपने 'वाग्दान में दी हुई कन्या' जैसे अर्थों को अपनी तरफ़ से लाकर घुसेड़ा है। इसके सिवाय उक्त स्मृति के **'दत्वा कन्या हरन् दण्ड्यो व्ययं दद्याच्च सोदयं'** को उसी (विवाह) प्रकरण का बतलाया है, जिसका कि **'दत्तामपि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत्'** वाक्य है—हालाँकि वह वाक्य भिन्न अध्याय के भिन्न प्रकरण (दाय भाग) का है तथा वाग्दत्ताविषयक स्त्रीधन के प्रसंग को लिये हुए है, और इसलिये उसे उद्धृत करना ही निरर्थक था। दूसरा वाक्य जो उद्धृत किया गया है उससे भी कोई समर्थन नहीं होता—न उसमें **'चतुर्थी मध्ये'** पद पड़ा हुआ है और न **'दत्ताम्'** का अर्थ टीका में ही **'वाग्दत्ता'** किया गया है। बाकी टीका के अन्त में

+जैसाकि 'आप्रदानात् भवेत्कन्या' नाम के उस वाक्य से प्रकट है जो इस प्रकरण के शुरू में उद्धृत किया जा चुका है। हाँ, सोनीजी ने अपने उस लेख में लिखा है कि "तीनपदी तक कन्या संज्ञा रहती है, पश्चात् चौथीपदी में उसकी कन्या संज्ञा दूर होजाती है"। यह लिखना भी आपका शायद वैसा ही अटकलपच्चू और बिना सिर पैर का जान पड़ता है जैसा कि उन श्लोकों को मनुस्मृति के बतलाना।

जो 'एतच्च सप्तमपदात्प्रागद्रष्टव्यम्' वाक्य दिया है वह मूल से बाहर की चीज है—मूल के किसी शब्द से सम्बंध नहीं रखती—उसे टीका की अपनी राय अथवा टीकाकार की खींचातानी कहना चाहिये। अन्यथा, याज्ञवल्क्यस्मृति में खुद उसके बाद 'अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः' आदि वाक्य के द्वारा अन्यपूर्वा स्त्री के भेदों में 'पुनर्भू' स्त्री का उल्लेख किया है और उसे 'पुनः संस्कृता' लिख कर पुनर्विवाह की अधिकारिणी प्रतिपादन किया है। साथ ही, इसके क्षतयोनि (पूर्व पति के साथ संगम को प्राप्त हुई) और अक्षतयोनि (संस्कार मात्र को प्राप्त हुई) ऐसे दो भेद किये हैं। पुनर्भू का विशेषस्वरूप 'मनुस्मृति' और 'वशिष्ठस्मृति' के उन वाक्यों से भी जाना जासकता है जो ऊपर उद्धृत किये जा चुके हैं। **ऐसी हालत में सोनी जी का अपने अर्थ को (ब्राह्मण) सम्प्रदाय के अविरुद्ध बतलाना और दूसरों के अर्थ को विरुद्ध ठहराना कुछ भी मूल्य नहीं रखता—वह प्रलापमात्र जान पड़ता है** *।

---

* ब्राह्मण सम्प्रदाय के वशिष्ठ ऋषि तो साफ़ लिखते हैं कि कन्या यदि किसी ऐसे पुरुष को दान कर दी गई हो जो कुलशील से विहीन हो, नपुंसक हो, पतित हो, रोगी हो, विधर्मी हो या वेशधारी हो, अथवा सगोत्री के साथ विवाह दी गई हो तो उसका हरण करना चाहिये—और इस तरह पर उस पूर्व विवाह को रद्द करना चाहिये। यथा:—

" कुलशील विहीनस्य पण्डादि पतितस्य च।
अपस्मारि विधर्मस्य रोगिणां वेशधारिणाम्॥
दत्तामपि हरेत्कन्यां सगोत्रोढां तथैव च॥" (शब्दकल्पद्रुम)

इस वाक्य में प्रयुक्त 'सगोत्रोढां' (समान गोत्री से विवाही हुई) पद 'दत्तां' पद पर अच्छा प्रकाश डालता है और उसे 'विवाहिता' सूचित करता है। सोमदेव ने भी अपने उस 'विकृतपत्यूढा' नामक वाक्य में स्मृतिकारों का जो मत उद्धृत किया है उसमें उस पुनर्विवाहयोग्य स्त्री को 'ऊढा' ही बतलाया है जिसका अर्थ होता है 'विवाहिता'।

इसी तरह पर १७५ वें पद्य में प्रयुक्त हुए '**दत्ता**' पद का अर्थ भी '**वाग्दत्ता कन्या**' गलत किया गया है, जो पूर्वोक्त हेतु से किसी तरह भी यहाँ नहीं बनता। इसके सिवाय, '**पतिसंगादधः**' का अर्थ आपने, 'पति के साथ संगम—संभोग—हो जाने के पश्चात्' न करके, '**पाणिपीडन से पहले**' किया है—'**पतिसंग**' को '**पाणिग्रहण**' बतलाया है और '**अधः**' का अर्थ '**पहले**' किया है। साथ ही, '**प्रवरै-क्याऽऽदिदोषाः**' के अर्थ में '**दोषाः**' का अर्थ छोड़ दिया है और 'आदि' को '**ऐक्य**' के बाद न रखकर उसके पहले रक्खा है, जिससे कितना ही अर्थदोष उत्पन्न हो गया है। इस तरह से सोनीजी ने इन पदों के उस समुचित अर्थ तथा आशय को बदल कर, जो शुरू में दिया गया है, एक क्षतयोनि स्त्री के पुनर्विवाह पर पर्दा डालने की चेष्टा की है। परन्तु इस चेष्टा से उस पर पर्दा नहीं पड़ सकता। '**पतिसंग**' **का अर्थ यहाँ 'पाणिपीडन' करना विडम्बना मात्र है और उसका कहीं से भी समर्थन नहीं हो सकता।** 'संग' और 'संगम' दोनों एकार्थवाचक शब्द हैं और वे स्त्री-पुरुष के मिथुनीभाव को सूचित करते हैं (संगमः, संगः स्त्रीपुंसोर्मिथुनी भावः) जिसे संभोग और Sexual intercourse भी कहते हैं। शब्दकल्पद्रुम में इसी आशय को पुष्ट करने वाला प्रयोग का एक अच्छा उदाहरण भी दिया है जो इस प्रकार है:—

अम्बिका च यदा स्नाता नारी ऋतुमती तदा।
संगं प्राप्य मुनेः पुत्रमसूतान्धं महाबलम्॥

'**अधः**' शब्द '**पूर्व**' या '**पहले**' अर्थ में कभी व्यवहृत नहीं होता परंतु '**पश्चात्**' अर्थ में वह व्यवहृत ज़रूर होता है; जैसाकि '**अधोभक्त**' पद से जाना जाता है जिसका अर्थ है 'भोजनान्ते पीय-मानं जलादिकं'—भोजन के पश्चात् पीये जाने वाले जलादिक (a dose

of water, medicine etc. to be taken after meals. V. S. Apte) । और इसलिये सोनीजी ने **'पतिसंगादधः'** का जो अर्थ **'पाणिपीडन से पहले'** किया है वह किसी तरह भी नहीं बन सकता । पाणिपीडन नामक संस्कार से पहले तो 'पति' संज्ञा की प्राप्ति भी नहीं होती—वह सप्तपदी के सातवें पद में जाकर होती है, जैसाकि पूर्व में उद्धृत **'नोदकेन'** पद्य के **'पतित्वं सप्तमे पदे'** वाक्य से प्रकट है। जब 'पति' ही नहीं तो फिर 'पतिसंग' कैसा ? परंतु यहाँ **'पतिसंगात्'** पद साफ़ पड़ा हुआ है । इसलिये वह सप्तपदी के बाद की संयोगावस्था को ही सूचित करता है । उस पर पर्दा नहीं डाला जा सकता ।

अब रहा गालव के उल्लेख वाला १७६ वाँ पद्य, इसके अनुवाद में सोनीजी ने और भी गजब ढाया है और सत्य का बिलकुल ही निर्दयता के साथ गला मरोड़ डाला है !! आप जानते थे कि स्त्री के पुनर्विवाह का प्रसंग चल रहा है और पहले दोनों पद्यों में उसीका उल्लेख है । साथ ही, यह समझते थे कि इन पद्यों में प्रयुक्त हुए **'दत्तां'** **'पुनर्दद्यात्'** जैसे सामान्य पदों का अर्थ तो जैसे तैसे 'वाग्दान में दी हुई' आदि करके, उनके प्रकृत अर्थ पर कुछ पर्दा डाला जा सकता है और उसके नीचे पुनर्विवाह को किसी तरह छिपाया जा सकता है परंतु इस पद्य में तो साफ़ तौर पर **'पुनरुद्वाहं'** पद पड़ा हुआ है, जिसका अर्थ **'पुनर्विवाह'** के सिवाय और कुछ होता ही नहीं और यह कथन-क्रम से स्त्रियों के पुनर्विवाह का ही वाचक है, इसलिये उस पर पर्दा नहीं डाला जा सकता । चुनाँचे आपने अपने उसी लेख में, जो 'जातिप्रबोधक' में प्रकाशित बाबू सूरजभानजी के लेख की समीक्षारूप से लिखा गया था, बाबू सूरजभानजी-प्रतिपादित इस पद्य के अनुवाद पर और उसके इस निष्कर्ष पर कि यह श्लोक स्त्रियों के पुनर्विवाह-विषय को लिये हुए है कोई आपत्ति नहीं की थी। प्रत्युत इसके लिख दिया था—

"आगे चलकर गालव महाशय के विषय में जो आपने लिखा है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि वे महाशय जैन नहीं हैं। किसी दि० जैन ऋषि का प्रमाण देकर पुनर्विवाह सिद्ध करते तो अच्छा होता।........ यह कहा जा चुका है कि १७१ से १७६ तक के श्लोक दि० जैन ऋषि प्रणीत नहीं हैं, मनुस्मृति के हैं।"

इससे जाहिर है कि **सोनीजी इस श्लोक पर से स्त्रियों के पुनर्विवाह की सिद्धि ज़रूर मानते थे** परन्तु उन्होंने उसे अजैन श्लोक बतला कर उसका तिरस्कार कर दिया था। अब इस अनुवाद के समय आपको अपने उस तिरस्कार की निःसारता मालूम पड़ी और यह जान पड़ा कि वह कुछ भी कार्यकारी नहीं है। इसलिये आपने और भी अधिक निष्ठुरता धारण करके, एक दूसरी नई तथा विलक्षण चाल चली और उसके द्वारा बिलकुल ही अकल्पित अर्थ कर डाला! अर्थात् **इस पद्य को स्त्रियों के पुनर्विवाह की जगह पुरुषों के पुनर्विवाह का बना डाला**!! इस कपटकला, कूटलेखकता और अनर्थ का भी कहीं कुछ ठिकाना है!!! भला कोई सोनीजी से पूछे कि '**कलौ तु पुनरुद्वाहं वर्जयेत्**' का अर्थ जो आपने "**कलियुग में एक धर्मपत्नी के होते हुए दूसरा विवाह न करे**" दिया है उसमें '**एक धर्मपत्नी के होते हुए**' यह अर्थ मूल के कौन से शब्दों का है अथवा पूर्व पद्यों के किन शब्दों पर से निकाला गया है तो इसका आप क्या उत्तर देंगे? क्या 'हमारी इच्छा' अथवा यह कहना समुचित होगा कि पुरुषों के अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिये—स्त्री के मर जाने पर भी वे कहीं इस मतानुसार पुनर्विवाह के अधिकार से वंचित न हो जाँय इसलिये—हमने अपनी ओर से ऐसा कर दिया है? कदापि नहीं। वास्तव में, आपका यह अर्थ किसी तरह भी नहीं बनता और न कहीं से उसका

समर्थन ही होता है। आपने एक 'भावार्थ' लगाकर उसे कुछ गले उतारने की चेष्टा की है और उसमें ब्राह्मणधर्म के अनुसार धर्मपत्नी, भोगपत्नी, प्रथम विवाह धर्म्य विवाह, दूसरा विवाह काम्य विवाह, सवर्णा स्त्री के होते हुए असवर्णा स्त्री से धर्म कृत्य न कराये जावें, आदि कितनी ही बातें लिखीं और कितने ही निरर्थक तथा अपने विरुद्ध वाक्य भी उद्धृत किये परन्तु बहुत कुछ सर पटकने पर भी **आप गालव ऋषि का तो क्या दूसरे भी किसी हिन्दू ऋषि का कोई ऐसा वाक्य उद्धृत नहीं कर सके जिससे पुरुषों के पुनर्विवाहविषयक स्वयंभू अधिकार का विरोध पाया जाय।** और इसलिये आपको यह कल्पना करते ही बना कि "कोई ब्राह्मण ऋषि दो विवाहों को भी धर्म्य विवाह स्वीकार करते हैं और तृतीय-विवाह का निषेध करते हैं। तब **संभव है कि गालव ऋषि दूसरे विवाह का भी निषेध करते हों।**" इतने पर भी आप अंत में लिखते हैं—"जो लोग इस श्लोक से स्त्रियों का पुनर्विवाह अर्थ निकालते हैं वह बिलकुल अयुक्त है। क्योंकि यह अर्थ स्वयं ब्राह्मणसम्प्रदाय के विरुद्ध पड़ता है।" **यह धृष्टता की पराकाष्ठा नहीं तो और क्या है? वह अर्थ ब्राह्मणसम्प्रदाय के क्या विरुद्ध पड़ता है उसे आप दिखला नहीं सके और न दिखला सकते हैं। आपका इस विषय में ब्राह्मण सम्प्रदाय की दुहाई देना उसके साहित्य की कोरी अनभिज्ञता को प्रकट करना अथवा भोले भाइयों को फँसाने के लिये व्यर्थ का जाल रचना है।** अस्तु।

इस सब विवेचन पर से सहृदय पाठक सहज ही में इस बात का अनुभव कर सकते हैं कि भट्टारकजी ने अपरित्यक्ता स्त्रियों के लिये भी—जिनमें विधवाएँ भी शामिल जान पड़ती हैं—पुनर्विवाह की साफ़ व्यवस्था की है और सोनीजी जैसे पंडितों ने उसे अपनी चित्तवृत्ति के

अनुकूल न पाकर अथवा कुछ लोकविरुद्ध समझ कर जो उस पर पर्दा डालने की चेष्टा की है वह कितनी नीच, निःसार तथा जघन्य है और साथ ही विद्वत्ता को कलंकित करने वाली है।

जो लोग इस त्रिवर्णाचार पर अपनी 'अटल श्रद्धा' का ढँढोरा पीटते हुए उसको प्रामाणिक ग्रंथ बतलाते हैं ‡ और फिर स्त्रियों के पुनर्विवाह का निषेध करते हैं उनकी स्थिति निःसंदेह बड़ी ही विचित्र और करुणाजनक है! वे खुद अपने को ठगते हैं और दूसरों को ठगते फिरते हैं!! उन्हें यदि सचमुच ही इस ग्रंथ को प्रमाण मानना था तो स्त्रियों के पुनर्विवाह-निषेध का साहस नहीं करना था; क्योंकि स्त्रियों के पुनर्विवाह का विधान तो इस ग्रंथ में है ही, वह किसी का मिटाया मिट नहीं सकता।

तर्पण, श्राद्ध और पिण्डदान।

(२८) हिन्दुओं के यहाँ, स्नान का अंग स्वरूप, तर्पण नाम का एक नित्य कर्म वर्णन किया है। पितरादिकों को पानी या तिलोदक (तिलों के साथ पानी) आदि देकर उनकी तृप्ति की जाती है, इसीका नाम तर्पण है। तर्पण के जल की देव और पितरगण इच्छा करते हैं, उसको ग्रहण करते हैं और उससे तृप्त होते हैं, ऐसा उनका सिद्धान्त है। यदि कोई मनुष्य नास्तिक्य भाव से अर्थात्, यह समझ कर कि 'देव पितरों को जलादिक नहीं पहुँच सकता,' तर्पण नहीं करता है तो जल के इच्छुक पितर उसके देह का रुधिर पीते हैं, ऐसा उनके यहाँ **योगि याज्ञवल्क्य** का वचन है। यथाः—

---

‡ पं० धन्नालालजी कासलीवाल ने भी १० वर्ष हुए 'सत्यवादी' में प्रकाशित अपने लेख द्वारा यह घोषणा की थी कि—"मेरा सोमसेन कृत त्रिवर्णाचार ग्रंथ पर, अटल श्रद्धान है और मैं उसे प्रमाणीक मानता हूँ"।

नास्तिक्यभावाद् यश्चापि न तर्पयति वै सुतः ।
पिबन्ति देहरुधिरं पितरो वै जलार्थिनः ॥

भट्टारकजी ने भी, इस त्रिवर्णाचार में, तर्पण को स्नान का एक अंग बतलाया है । इतना ही नहीं, बल्कि हिन्दुओं के यहाँ स्नान के जो पाँच अंग-संकल्प, सूक्तपठन मार्जन, अघमर्षण * और तर्पण-माने जाते हैं उन सबको ही अपनाया है । यथाः—

संकल्पं [ल्पः] सूक्त [क्त] पठनं मार्जनं चाघमर्षणम् ।
देवादि [षर्षि] तर्पणं चैव पंचांगं स्नानमाचरेत् [स्नानं पंचांगमिष्यते]
॥ २-१०५ ॥

यह श्लोक भी किसी हिन्दू ग्रंथ से लिया गया है । हिन्दुओं के

---

* 'अघमर्षण' पापनाशन को कहते हैं । हिन्दुओं के यहाँ यह स्नानांगकर्म पापनाशन क्रिया का एक विशेष अंग माना जाता है । वेद में 'ऋतं च सत्यं' नामका एक प्रसिद्ध सूक्त है, जिसे 'अघमर्षण सूक्त' कहते हैं और जिसका ऋषि भी 'अघमर्षण' है । इस सूक्त को पानी में निमग्न होकर तीन बार पढ़ने से सब पापों का नाश हो जाता है और यह उनके यहाँ अश्वमेध यज्ञ की तरह सब पापों का नाश करने वाला माना गया है, जैसा कि 'शंखस्मृति' के निम्नवाक्यों से प्रकट है:—

ततोऽम्भसि निमग्नस्तु त्रिः पठेदघमर्षणम् ॥ ६-१२ ॥
यथाऽश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः ।
तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ६-१३ ॥

वामन शिवराम ऐपटे ने भी अपने कोश में इस सूक्त की उक्त मान्यता का उल्लेख किया है, और लिखा है कि 'गुरुपत्नी, माता, तथा भगिनी आदि के साथ सम्भोग जैसे घोरतम पाप भी इस सूक्त को तीन बार पानी में पढ़ने से नाश को प्राप्त हो जाते हैं, ऐसा कहा जाता है' यथा—

The most heinous crimes, such as illicit intercourse with preceptor's wife, one's own mother, sister, daughter-in-law etc., are said to be expiated by repeating this सूक्त thrice in water.

'स्मृतिरत्नाकर' में यह ब्रैकटों में दिये हुए साधारण पाठभेद के साथ पाया जाता है और इसे 'अत्रि' ऋषि का वाक्य लिखा है। हिंदुओं

भट्टारकजी ने इस अघमर्षण को स्नान का अंग बनलाकर हिन्दुओं के एक ऐसे सिद्धान्त को अपनाया है जिसका जैनसिद्धान्तों के साथ कोई मेल नहीं। जैनसिद्धान्तों की दृष्टि से पापों को इस तरह पर स्नान के द्वारा नहीं धोया जा सकता। स्नान से शरीर का सिर्फ़ वाह्यमल दूर होता है, शरीर तक की शुद्धि नहीं हो सकती; फिर पापों का दूर होना तो बहुत ही दूर की बात है-वह कोई खेल नहीं है। पाप जिन मिथ्यात्व-असंयमादि कारणों से उत्पन्न होते हैं उनके विपरीत कारणों को मिलाने से ही दूर किये जा सकते हैं-जलादिक से नहीं। जैसाकि श्री अमितगति आचार्य के निम्नवाक्यों से भी प्रकट है:—

मलो विशोध्यते बाह्यो जलेनेति निगद्यताम्।
पापं निहन्यते तेन कस्येदं हृदि वर्तते ॥२६॥
मिथ्यात्वाऽसंयमाऽज्ञानैः कल्मषं प्राणिनार्जितम्।
सम्यक्त्व संयमज्ञानैर्हन्यते नान्यथा स्फुटम् ॥२७॥
कषायैरर्जितं पापं सलिलेन निवार्यते।
एतज्जडात्मनो ब्रूते नान्ये मीमांसका ध्रुवम् ॥२८॥
यदि शोधयितुं शक्तं शरीरमपि नो जलम्।
अन्तःस्थितं मनो दुष्टं कथं तेन विशोध्यते ॥२६

—धर्मपरीक्षा, १७ वाँ परिच्छेद।

भट्टारकजी के इस विधान से यह मालूम होता है कि वे स्नानसे पापों का धुलना मानते थे। और शायद यही वजह हो जो उन्होंने अपने ग्रन्थ में स्नान की इतनी भरमार की है कि उससे एक अच्छे भले आदमी का नाक में दम आ सकता है और वह उसीमें उलझा रहकर अपने जीवन के समुचित ध्येय से वंचित रह सकता है और अपना कुछ भी उत्कर्ष साधन नहीं कर सकता। मेरी इच्छा थी कि मैं स्नान की उस भरमार का और उसकी निःसारता तथा जैन सिद्धान्तों के साथ उसके विरोध का एक स्वतन्त्र शीर्षक के नीचे पाठकों को दिग्दर्शन कराऊँ परन्तु लेख बहुत बढ़ गया है इसलिये मजबूरन अपनी उस इच्छा को दबाना ही पड़ा।

ने देव, ऋषि और पितर भेद से तीन प्रकार का तर्पण माना है (तर्पणं च शुचिः कुर्यादहरहं स्नातको द्विजः । देवेभ्यश्च ऋषिभ्यश्च पितृभ्यश्च यथा क्रमम् ॥ इति शातातपः) । भट्टारकजी ने भी तीसरे अध्याय के पद्य नं- ७, ८, ९ में इन तीनों भेदों का इसी क्रम से विधान किया है । साथ ही, हिन्दुओं की उस विधि को भी प्रायः अपनाया है जो प्रत्येक प्रकार के तर्पण को किस दिशा की ओर मुँह करके करने तथा अक्षतादिक किस किस द्रव्य द्वारा उसे कैसे सम्पादन करने से सम्बन्ध रखती है । परन्तु अध्याय के अन्त में जो तर्पणमंत्र आपने दिये हैं उनमें पहले ऋषियों का, फिर पितरों का और अंत में देवताओं का तर्पण लिखा है। देवताओं के तर्पण में अर्हन्तादिक देवों को स्थान नहीं दिया गया किन्तु उन्हें ऋषियोंकी श्रेणीमें रक्खा गया है—हालाँकि पद्य नं० ८ में **'गौतमादिमहर्षीणां (न्वै) तर्पयेद् ऋषितीर्थतः'** ऐसा व्यवस्थावाक्य था—और यह आपका लेखनकौशल अथवा रचनावैचित्र्य है ! ! परंतु इन सब बातों को भी छोड़िये, सबसे बड़ी बात यह है कि भट्टारकजी ने तर्पण का सब आशय और अभिप्राय प्रायः वही रक्खा है जो हिंदुओं का सिद्धान्त है । अर्थात् , यह प्रकट किया है कि पितरादिक को पानी या तिलोदकादि देकर उनकी तृप्ति करना चाहिये; तर्पण के जल की देव पितरगण इच्छा रखते हैं, उसको ग्रहण करते हैं और उससे तृप्त होते हैं । जैसाकि नीचे लिखे वाक्यों से प्रकट है:—

> असंस्काराश्च ये केचिज्जलाशाः पितरः सुराः ।
> तेषां सन्तोषतृप्त्यर्थं दीयते सलिलं मया ॥ ११ ॥

अर्थात्—जो कोई पितर संस्कारविहीन मरे हों, जल की इच्छा रखते हों, और जो कोई देव जल की इच्छा रखते हों, उन सब के सन्तोष तथा तृप्ति के लिये मैं पानी देता हूँ—जल से तर्पण करता हूँ ।

केचिदस्मत्कुले जाता * अपुत्रा व्यन्तराः सुराः ।
ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीडनोदकम् ॥ १२ ॥

अर्थात्—हमारे कुलमें जो कोई पुत्रहीन मनुष्य मरकर व्यन्तर जातिके देव हुए हों, उन्हें मैं धोती आदि वस्त्रसे निचोड़ा हुआ पानी देता हूँ, उसे वे ग्रहण करें।

यह तर्पणके बाद धोती निचोड़नेका मंत्र× है। इसके बाद 'शरीरके अंगों परसे हाथ या वस्त्रसे पानी नहीं पोंछना चाहिये, नहीं तो शरीर कुत्ता चाटेकी समान अपवित्र होजायगा और पुनः स्नान करनेसे शुद्धि होगी' ‡ ऐसा अद्भुत विधान करके उसके कारणों को बतलाते हुए लिखा है—

---

* यहाँ छपी पुस्तकों में जो 'अपूर्वे' पाठ दिया है वह गलत है, सही पाठ 'अपुत्रा' है और वही जिनसेन त्रिवर्णाचार में भी पाया जाता है, जहाँ वह इसी ग्रंथ परसे उद्घृत है।

×यह मंत्र हिन्दुओं के निम्न मंत्र पर से, जिसे 'मन्त्रश्च' 'इति मंत्रेण' शब्दों द्वारा ख़ास तौर पर मंत्र रूप से उल्लेखित किया है, ज़रासा फेर बदल करके बनाया गया मालूम होता है—

ये के चास्मत्कुले जाता अपुत्रा गोत्रजा मृताः ।
ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीडनोदकम् ॥—स्मृतिरत्नाकर ।

‡ यथाः—

तस्मात्कायं न मृजीत ह्यम्बरेण करेण वा ।
श्वानलेहेन साम्यं च पुनः स्नानेन शुध्यति ॥ १६ ॥

हिन्दुओं के यहाँ इस पद्य के आशय से मिलता जुलता एक वाक्य इस प्रकार है—

तस्मात्स्नानो नावमृज्यात्स्नानशाट्या न पाणिना ।
स्नानवस्त्रेण हस्तेन यो द्विजोऽङ्गं प्रमार्जति ॥
वृथा भवति तत्स्नानं पुनः स्नानेन शुध्यति ।

'स्मृतिरत्नाकर' में यह वाक्य 'शिरोवारि शरीराम्बु वस्त्रतोयं यथाक्रमम् । पिबन्ति देवा मुनयः पितरो ब्राह्मणस्य तु ॥' के अनन्तर दिया है और इससे 'तस्मात्' पद का सम्बन्ध बहुत स्पष्ट होजाता है। इस दृष्टि से भट्टारकजी का उक्त १६ वाँ पद्य 'पिबंति शिरसो' नामक १८ वें पद्य के बाद होना चाहिये था।

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यावद्रोमाणि मानुषे।
वसन्ति तावत्तीर्थानि तस्मान्न परिमार्जयेत्॥ १७॥
पिबन्ति शिरसो देवाः पिबन्ति पितरो मुखात्।
मध्याच्च यक्षगन्धर्वा अधस्तात्सर्वजन्तवः॥ १८॥

अर्थात्—मनुष्यके शरीरमें जो साढे तीनकरोड़ रोम हैं, उतनेही उसमें तीर्थ हैं। दूसरे, शरीर पर जो स्नान जल रहता है उसे मस्तक परसे देव, मुख परसे पितर, शरीरके मध्यभाग परसे यक्ष गंधर्व और नीचेके भाग परसे अन्य सब जन्तु पीते हैं। इसलिये शरीरके अंगोंको पोंछना नहीं चाहिये (पोंछने से उन तीर्थोंका शायद अपमान या उत्थापन होजायगा, और देवादिकों के जल ग्रहण कार्य में विघ्न उपस्थित होगा !!)।

जैनसिद्धान्तसे जिन पाठकोंका कुछ भी परिचय है वे ऊपरके इस कथनसे भले प्रकार समझ सकते हैं कि भट्टारकजीका यह तर्पणविषयक कथन कितना जैनधर्म के विरुद्ध है। **जैनसिद्धांत के अनुसार न तो देवपितरगण पानी के लिये भटकते या मारे मारे फिरते हैं और न तर्पणके जलकी इच्छा रखते या उसको पाकर तृप्त और संतुष्ट होते हैं। इसीप्रकार न वे किसी की धोती आदिका निचोड़ा हुआ पानी ग्रहण करते हैं और न किसी के शरीर परसे स्नानजलको पीते हैं। ये सब हिंदूधर्म की क्रियाएँ और कल्पनाएँ हैं।** हिन्दुओं के यहाँ साफ़ लिखा है कि 'जब कोई मनुष्य स्नानके लिये जाता है तब प्याससे विह्वल हुए देव और पितरगण, पानी की इच्छा से वायु का रूप धारण करके, उसके पीछे पीछे जाते हैं। और यदि वह मनुष्य योंही स्नान करके वस्त्र (धोती आदि) निचोड़ देता है तो वे देवपितर निराश होकर लौट आते हैं। इसलिये तर्पण के पश्चात् वस्त्र निचोड़ना चाहिये पहले नहीं। जैसा कि उनके निम्नलिखित वचन से प्रकट है:—

स्नानार्थमभिगच्छन्तं देवाः पितृगणैः सह ।
वायुभूतास्तु गच्छन्ति तृषार्त्ताः सलिलार्थिनः ॥
निराशास्ते निवर्तन्ते वस्त्रनिष्पीडने कृते ।
अतस्तर्पणानन्तरमेव वस्त्रं निष्पीडयेत् ॥

—स्मृतिरत्नाकरे, वृद्धवसिष्ठः ।

परन्तु जैनियों का ऐसा सिद्धान्त नहीं है । जैनियों के यहाँ मरने के पश्चात् समस्त संसारी जीव अपने अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार देव, मनुष्य, नरक, और तिर्यंच, इन चार गतियों में से किसी न किसी गति में अवश्य चले जाते हैं । और अधिक से अधिक तीन समय तक निराहार रहकर तुरत दूसरा शरीर धारण करलेते हैं । इन चारों गतियों से अलग पितरों की कोई निराली गति नहीं होती, जहाँ वे बिलकुल ही परावलम्बी हुए असंख्यात या अनन्तकाल तक पड़े रहते हों । मनुष्यगति में जिस तरह पर वर्तमान मनुष्य—जो अपने पूर्वजन्मों की अपेक्षा बहुतों के पितर हैं—किसी के तर्पण जलको पीते नहीं फिरते उसी तरह पर कोई भी पितर किसी भी गति में जाकर तर्पण के जलकी इच्छा से विह्वल हुआ उसके पीछे पीछे मारा मारा नहीं फिरता । प्रत्येक गति में जीवों का आहारविहार उनकी उस गति, स्थिति तथा देशकाल के अनुसार होता है और उसका वह रूप नहीं है जो ऊपर बतलाया गया है । इस तरह पर **भट्टारकजी का यह सब कथन जैनधर्मके विरुद्ध है, जीवोंकी गतिस्थित्यादि-विषयक अजानकारी तथा अश्रद्धा को लिये हुए है** और कदापि जैनियों के द्वारा मान्य किये जाने के योग्य नहीं हो सकता ।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि हिन्दुओं के कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थों में भी इस बातका उल्लेख मिलता है कि जैनधर्म में इस तर्पण को स्थान नहीं है जैसाकि उनके **पद्मपुराण**+ के निम्न

+ देखो 'आनन्दाश्रमसिरीज़ पूना' की छपी हुई आवृत्ति ।

वाक्यों से प्रकट है जो कि ३६ वें अध्याय में एक दिगम्बर साधुद्वारा, राजा 'वेन' को जैनधर्म का कुछ स्वरूप बतलाते हुए, कहे गये हैं:—

पितॄणां तर्पणं नास्ति नातिथिर्वैश्वदेविकम् ।
कृष्णस्य न तथा पूजा ह्यर्हन्तध्यानमुत्तमम् ॥१६॥
एवं धर्मसमाचारो जैनमार्गे प्रदृश्यते ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं जैनधर्मस्य लक्षणम् ॥२०॥

और जैनियों के 'यशस्तिलक' ग्रंथ से भी इस विषय का समर्थन होता है; जैसाकि उसके चौथे आश्वास के निम्न वाक्य से प्रकट है, जोकि राजा यशोधर की जैनधर्म-विषयक श्रद्धा को हटाने के लिये उनकी माता द्वारा, एक वैदिकधर्मावलम्बी की दृष्टि से जैनधर्म की त्रुटियों को बतलाते हुए, कहा गया है:—

न तर्पणं देवपितृद्विजानां स्नानस्य होमस्य न चास्ति वार्ता ।
श्रुतेः स्मृतेर्बाह्यतरे च धीस्ते धर्मे कथं पुत्र ! दिगम्बराणाम् ॥

अर्थात्—जिस धर्म में देवों, पितरों तथा द्विजों (ऋषियों) का तर्पण नहीं, (श्रुतिस्मृतिविहित) स्नान की—उसी पंचांग स्नान की—और होमकी वार्ता नहीं, और जो श्रुति-स्मृति से अत्यन्त बाह्य है उस दिगम्बर जैनधर्म पर हे पुत्र! तेरी बुद्धि कैसे ठहरती है?—तुझे कैसे उसपर श्रद्धा होती है?

इतने पर भी सोनीजी, अपने अनुवाद में, भट्टारकजी के इस तर्पण-विषयक कथन को जैनधर्म का कथन बतलाने का दुःसाहस करते हैं—लिखते हैं "यह तर्पण आदि का विधान जैनधर्म से बाहर का नहीं है किन्तु जैनधर्म का ही है" !! आपने, कुछ अनुवादों के साथ में लम्बे लम्बे भावार्थ जोड़कर, भट्टारकजी के कथन को जिस तिस प्रकार से जैनधर्म का कथन सिद्ध करने की बहुतेरी चेष्टा की, परन्तु आप उसमें कृतकार्य नहीं हो सके। और उस चेष्टा में आप कितनी ही ऊटपटाँग बातें

लिख गये हैं जिनसे आपकी **श्रद्धा, योग्यता** और **गुणज्ञता** का खासा दृश्य सामने उपस्थित हो जाता है और उसे देखकर आपकी हालत पर बड़ा ही तर्स आता है । आप लिखते हैं—"व्यन्तरों का अनेक प्रकार का स्वभाव होता है । अतः किसी किसी का स्वभाव जल-ग्रहण करने का है । किसी किसी का वस्त्र निचोड़ा हुआ जल लेने का है । ये सब उनकी स्वभाविकी क्रियायें हैं ।" परन्तु कौन से जैनशास्त्रों में व्यन्तरों के इस स्वभावविशेष का उल्लेख है या इन क्रियाओं को उनकी स्वभाविकी क्रियाएँ लिखा है, इसे आप बतला नहीं सके । आप यहाँ तक तो लिखगये कि " जैनशास्त्रों में साफ़ लिखा है कि व्यन्तरों का **ऐसा** स्वभाव है और वे क्रीड़ानिमित्त **ऐसा** करते हैं—ऐसी क्रियायें करा कर वे शान्त होते हैं" परन्तु फिर भी किसी माननीय जैनशास्त्र का एक भी वाक्य प्रमाण में उद्धृत करते हुए आप से बन नहीं पड़ा तब आपका यह सब कथन **थोथा वाग्जाल** ही रह जाता है । मालूम होता है अनेक प्रकार के स्वभाव पर से आप सब प्रकार के स्वभाव का नतीजा निकालते हैं, और यह आपका विलक्षण तर्क है !! व्यन्तरों का सब प्रकार का स्वभाव मानकर और उनकी सब इच्छाओं को पूरा करना अपना कर्तव्य समझ कर तो सोनीजी बहुत ही आपत्ति में पड़ जायँगे और उन्हें व्यन्तरों के पीछे नाचते नाचते दम लेने की भी फ़ुर्सत नहीं मिलेगी । खेद है सोनीजीने यह नहीं सोचा कि प्रथम तो व्यन्तर देव क्रीड़ा के निमित्त जिन जिन चीज़ों की इच्छाएँ करें उनको पूरा करना श्रावकों का कोई कर्तव्य नहीं है—श्रावकाचार में ऐसी कोई विधि नहीं है—व्यन्तरदेव यदि मांसभक्षण की क्रीड़ा करने लगें तो कोई भी श्रावक पशुओं को मारकर उन्हें बलि नहीं चढ़ाएगा, और न स्त्रीसेवन की क्रीड़ा करने पर अपनी स्त्री या पुत्री ही उन्हें संभोग के लिये देगा । दूसरे, यदि किसी तरह पर उनकी इच्छा को पूरा भी किया

जाय तो वह तभी तो किया जा सकता है जब वैसी कोई इच्छा व्यक्त हो—कोई व्यन्तर क्रीड़ा करता हुआ किसी तरह पर प्रकट करे कि मुझे इस वक्त धोती निचोड़े का पानी चाहिये तो वह उसे दिया जा सकता है—परंतु जब वैसी कोई इच्छा या क्रीड़ा व्यक्त ही न हो अथवा उसका अस्तित्व ही न हो तब भी उसकी पूर्ति की चेष्टा करना—बिना इच्छा भी किसी को जल पीने के लिये मजबूर करना अथवा पीने वाले के मौजूद न होते हुए भी पिलाने का ढोंग करना—क्या अर्थ रखता है ? वह निरा पागलपन नहीं तो और क्या है? **क्या व्यन्तरदेवों को ऐसा असहाय या महाव्रती समझ लिया है जो वे बिना दूसरों के दिये स्वयं जल भी कहीं से ग्रहण न कर सकें? वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है।** भट्टारकजी का आशय यदि इस तर्पण से व्यन्तरों के क्रीड़ा-उद्देश्य की सिद्धि मात्र होता तो वे वैसी क्रीड़ा के समय ही अथवा उस प्रकार की सूचना मिलने पर ही तर्पण का विधान करते; क्योंकि कोई क्रीड़ा या इच्छा सार्वकालिक और स्थायी नहीं होती। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया, बल्कि प्रतिदिन और प्रत्येक स्नान के साथ में तर्पण का विधान किया है; और उनकी व्यवस्थानुसार एक दिन में बीसियों बार स्नान की नौबत आ सकती है। अतः भट्टारकजी का यह तर्पणविधान व्यन्तरों के क्रीड़ा उद्देश्य को लेकर नहीं है किन्तु सीधा और साफ़ तौर पर हिन्दुओं के सिद्धान्त का अनुसरण मात्र है। और इसलिए यह सोनीजी की अपनी ही कल्पना और अपनी ही ईजाद है जो वे इस तर्पण को व्यन्तरों की क्रीड़ा के साथ बाँधते हैं और उसे किसी तरह पर खींचखाँचकर जैनधर्म की कोटि में लानेका निष्फल प्रयत्न करते हैं। ११ वें श्लोक के भावार्थ में तो सोनीजी यह भी लिख गये हैं कि "व्यन्तरों को जल किसी उद्देश्य से नहीं दिया जाता है"! हेतु ? "क्योंकि यह बात श्लोक ही साफ़ कह रहा है कि कोई

बिना संस्कार किये हुए मर गये हों, मरकर व्यंतर * हुए हों और मेरे हाथ से जल लेने की वांछा रखते हों तो उनको मैं सहज (यह जल) देता हूँ। इसमें कहीं भी किसी विषय का उद्देश्य नहीं है।" परंतु श्लोक में तो जलदान का उद्देश्य साफ़ लिखा है 'तेषां संतोषतृप्त्यर्थं'—उनके सन्तोष और तृप्ति के लिये—और आपने भी अनुवाद के समय इसका अर्थ "उनके संतोष के लिये" दिया है। यह उद्देश्य नहीं तो और क्या है? इसके सिवाय पूर्ववर्ती श्लोक नं० १० में एक दूसरा उद्देश्य और भी दिया है और वह है 'उस पाप की विशुद्धि जो शारीरिक मल के द्वारा जल को मैला अथवा दूषित करने से उत्पन्न होता है'। यथाः—

× यन्मया दुष्कृतं पापं [दूषितं तोयं] शारीरमलसंभवम् [जात]
तत्पापस्य विशुद्ध्यर्थं देवानां तर्पयाम्यहम् ॥१०॥

ऐसी हालत में सोनीजी का यह तर्पण के उद्देश्य से इनकार करना, उसे आगे चलकर श्लोक के दूसरे अधूरे अर्थ के नीचे छिपाना और इस तरह स्वपरप्रयोजन के बिना ही ‡ तर्पण करने की बात कहना कितना हास्यास्पद जान पड़ता है, उसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। क्या यही गुरुमुख से शास्त्रों का सुनना, उनका मनन करना और भाषा की ठीक योग्यता का रखना कहलाता है, जिसके लिये आप अपना अहंकार प्रकट करते और दूसरों पर आक्षेप करते हैं? मालूम होता है सोनीजी उस समय कुछ बहुत ही विचलित और अस्थिरचित्त थे।

---

* 'व्यन्तर' का यह नामनिर्देश मूल श्लोक में नहीं है।

× यह हिन्दुओं का यक्ष्मतर्पण का श्लोक है और उनके यहाँ इसका चौथा चरण 'यक्ष्मैतत्ते तिलोदकम्' दिया है। (देखो 'आन्हिकसूत्रावलि')

‡ 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्तते'—बिना प्रयोजन उद्देश्य के तो मूर्ख की भी प्रवृत्ति नहीं होती। फिर सोनीजी ने क्या समझकर यह बिना उद्देश्य की बात कही है!!

उन्हें इस तर्पण को जैनधर्म का सिद्धान्त सिद्ध करने के लिये कोई ठीक युक्ति सूझ नहीं पड़ती थी, इसीसे वे वैसे ही यद्वा तद्वा कुछ अहकी बहकी बातें लिखकर ग्रंथ के कई पेजों को रँग गये हैं। और शायद यही वजह है जो वे दूसरों पर मूर्खतापूर्ण अनुचित कटाक्ष करने का भी दुःसाहस कर बैठे हैं, जिसकी चर्चा करना यहाँ निरर्थक जान पड़ता है।

१८ वें श्लोक के भावार्थ में, कितनी ही विचलित बातों के अतिरिक्त, सोनीजी लिखते हैं:—

" यद्यपि देवों में मानसिक आहार है, पितृगण कितने ही मुक्ति स्थान को पहुँच गये हैं इसलिये इनका पानी पीना असम्भव जान पड़ता है। इसी तरह यक्ष, गंधर्वों और सारे जीवों का भी शरीर के जल का पानी (पीना !) असम्भव है, पर फिर भी ऐसा जो लिखा गया है उसमें कुछ न कुछ तात्पर्य अवश्य छुपा हुआ है (जो सोनीजी की समझ के बाहर है और जिसके जानने का उनके कथनानुसार इस समय कोई साधन भी नहीं है!)।"

" यद्यपि इस श्लोक का विषय असम्भव सा जान पड़ता है परन्तु फिर भी वह पाया जाता है। अतः इसका कुछ न कुछ तात्पर्य अवश्य है। व्यर्थ बातें भी कुछ न कुछ अपना तात्पर्य ज्ञापन कराकर सार्थक हो जाती हैं (परन्तु इस श्लोक की व्यर्थ बातें तो सोनीजी को अपना कुछ भी तात्पर्य न बतला सकीं!)।"

इन उद्गारों के समय सोनीजी के मस्तिष्क की हालत उस मनुष्य जैसी मालूम होती है जो घर से यह खबर आने पर रो रहा था कि 'तुम्हारी स्त्री विधवा हो गई है' और जब लोगों ने उसे समझाया कि तुम्हारे जीते तुम्हारी स्त्री विधवा कैसे हो सकती है तब उसने सिसकियाँ लेते हुए कहा था कि 'यह तो मैं भी जानता हूँ कि मेरे जीते मेरी स्त्री विधवा कैसे हो सकती है परन्तु घर से जो आदमी खबर लाया है वह बड़ा ही विश्वासपात्र है; उसकी बात को झूठ कैसे कहा जा सकता

है ? वह ज़रूर विधवा हो गई है,' और यह कहकर और भी ज्यादा फूट फूटकर रोने लगा था; और तब लोगों ने उसकी बहुत ही हँसी उड़ाई थी। सोनीजी की दृष्टि में भट्टारकजी का यह ग्रंथ घर के उस विश्वासपात्र आदमी की कोटि में स्थित है। इसीसे साक्षात् असम्भव जान पड़ने वाली बातों को भी, इसमें लिखी होने के कारण, आप सत्य समझने और जैन-धर्मसम्मत प्रतिपादन करने की मूर्खता कर बैठे हैं! **यह है आपकी श्रद्धा और गुणज्ञता का एक नमूना!! अथवा गुरुमुख से शास्त्रों के अध्ययन और मनन की एक बानगी!!!**

सोनीजी को इस बात की बड़ी ही चिन्ताने घेरा मालूम होता है कि 'कहीं ऐसी असम्भव बातों को भी यदि झूठ मान लिया गया तो शास्त्र की कोई मर्यादा ही न रहेगी, फिर हर कोई मनुष्य चाहे जिस शास्त्र की बात को, जो उसे अनिष्ट होगी, फ़ौरन अलीक (झूठ) कह देगा, तब सर्वत्र अविश्वास फैल जायगा और कोई भी क्रिया ठीक ठीक न बन सकेगी!' इस बिना सिर पैर की निःसार चिन्ता के कारण ही आपने शास्त्र की—नहीं नहीं शास्त्र नाम की—मर्यादाका उल्लंघन न करनेका जो परामर्श दिया है उसका यही आशय जान पड़ता है कि शास्त्र में लिखी उलटी सीधी, भली बुरी, विरुद्ध अविरुद्ध और सम्भव असम्भव सभी बातों को बिना चूँ चरा किये और कान हिलाए मान लेना चाहिये, नहीं तो शास्त्र की मर्यादा बिगड़ जायगी!! वाह! क्या ही अच्छा सत्परामर्श है!! **अंधश्रद्धा का उपदेश इससे भिन्न और क्या होगा** यह कुछ समझ में नहीं आता!!! मालूम होता है सोनीजी को सत्य शास्त्र के स्वरूप का ही ज्ञान नहीं। सच्चे शास्त्र तो आप्त पुरुषों के कहे होते हैं—उनमें कहीं उलटी, बुरी, विरुद्ध और असम्भव बातें भी हुआ करती हैं? वे तो वादी-प्रतिवादी के द्वारा अनुल्लंघ्य, युक्ति तथा आगम से विरोधरहित, यथावत् वस्तुस्वरूप के उप-

देशक, सर्व के हितकारी और कुमार्ग का मथन करने वाले होते हैं *। ऐसे शास्त्रों के विषय में उक्त प्रकार की चिंता करने के लिये कोई स्थान ही नहीं होता—वे तो खुलेमैदान परीक्षा के लिये छोड़ दिये जाते हैं—उनके विषय में भी उक्त प्रकार की चिन्ता व्यक्त करना **अपनी श्रद्धा की कचाई और मानसिक दुर्बलता** को प्रकट करना है। इसके सिवाय, सोनीजी को शायद यह भी मालूम नहीं कि 'कितने ही **भ्रष्टचारित्र पंडितों और बठरसाधुओं (मूर्ख तथा धूर्त मुनियों)** ने जिनेन्द्रदेव के निर्मल शासन को मलिन कर दिया है—कितनी ही असत् बातों को, इधर उधर से अपनी रचनादिकों के द्वारा, शासन में शामिल करके उसके स्वरूप को विकृत कर दिया है' (इससे परीक्षा की और भी खास ज़रूरत खड़ी हो गई है‡)—; जैसा कि अनगारधर्मामृत की टीका में पं० आशाधरजी के द्वारा उद्धृत किसी विद्वान् के निम्न वाक्य से प्रकट है:—

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्बठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्॥

सोमसेन भी उन्हीं बठर अथवा धूर्त साधुओंमें से एक थे, और यह बात ऊपरकी आलोचना परसे बहुत कुछ स्पष्ट है। उनकी इस महा आपत्तिजनक रचना (त्रिवर्णाचार) को सत्यशास्त्र का नाम देना वास्तव में सत्य शास्त्रों का अपमान करना है। अतः सोनीजी की चिन्ता, इस विषय में,

---

* जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के निम्न वाक्य से प्रकट है:—
आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥ (रत्नकरण्ड श्रा०)

‡ इसी बातको लक्ष्य करके किसी कवि ने यह वाक्य कहा है—
जिनमत महल मनोज्ञ अति कलियुग छादित पंथ।
समझ बूझ के परखिये चर्चा निर्णय ग्रंथ॥
और बड़े बड़े आचार्यों ने तो पहले से ही **परीक्षाप्रधानी** होने का उपदेश दिया है—अन्धश्रद्धालु बनने का नहीं।

बिलकुल ही निर्मूल जान पड़ती है और उनकी अस्थिरचित्तता तथा ढुलमुलयक़ीनी को और भी अधिकता के साथ साबित करती है।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि सोनीजी की यह अस्थिरचित्तता बहुत दिनों तक उनका पिण्ड पकड़े रही है—सम्भवत: ग्रंथ के छप जाने तक भी आपका चित्त डाँवाडोल रहा है—और तब कहीं जाकर आपको इन पद्यों पर कुछ संदेह होने लगा है। इसीसे शुद्धिपत्र-द्वारा, १२वें और १७वें श्लोकके अनुवाद पीछे एक एक नया भावार्थ जोड़नेकी सूचना देते हुए, आपने उन भावार्थों में ११ से १३ और १७ से १९ नम्बर तक के छह श्लोकों पर 'क्षेपक' होने का संदेह प्रकट किया है—निश्चय उसका भी नहीं—और वह संदेह भी निर्मूल जान पड़ता है। इन पद्योंको क्षेपक माननें पर १० वें नम्बर का पद्य निरर्थक हो जाता है, जिसमें उद्देशविशेष से देवों के तर्पण की प्रतिज्ञा की गई है और उस प्रतिज्ञा के अनुसार ही अगले श्लोकों में तर्पण का विधान किया गया है। १२ वाँ श्लोक खुद वस्त्र-निचोड़ने का मंत्र है और हिन्दुओं के यहाँ भी उसे मंत्र लिखा है; जैसा कि पहले ज़ाहिर किया जा चुका है। सोनीजी ने उसे मंत्र ही नहीं समझा और वस्त्र निचोड़नेका कोई मंत्र न होनेके आधार पर इन श्लोकोंके क्षेपक होने की कल्पना कर डाली !! अत: ये श्लोक क्षेपक नहीं—ग्रंथ में वैसे ही पीछे से शामिल होगये अथवा शामिल कर लिये गये नहीं—किंतु भट्टारकजी की रचना के अंगविशेष हैं। जिनसेनत्रिवर्णाचार में सोमसेन-त्रिवर्णाचार की जो नक़ल की गई है उसमें भी वे उद्धृत पाये जाते हैं।

यहाँ तक के इस सब कथन से यह स्पष्ट है कि भट्टारकजी ने हिंदुओं के तर्पणसिद्धांत को अपनाया है और वह जैनधर्म के विरुद्ध है। सोनीजी ने उसे जैनधर्मसम्मत प्रतिपादन करने और इस तरह सत्य पर पर्दा डालने की जो अनुचित चेष्टा की है उसमें वे ज़रा भी सफल नहीं हो सके और अंत में उन्हें कुछ पद्यों पर थोथा संदेह करते ही बना। साथ में आपकी श्रद्धा और गुणज्ञता आदि का जो प्रदर्शन हुआ सो जुदा रहा।

अब रही **श्राद्ध** और **पिण्डदान** की बात। ये विषय भी जैन धर्म से बाहर की चीज हैं और हिंदूधर्म से खास सम्बंध रखते हैं। भट्टारकजी ने इन्हें भी अपनाया है और अनेक स्थानों पर इनके करने की प्रेरणा तथा व्यवस्था की है *। पितरों का उद्देश्य करके दिया

---

* जिसके कुछ नमूने इस प्रकार हैं:—

तीर्थतटे प्रकर्तव्यं प्राणायामं तथाचमम्।
सन्ध्या श्राद्धं च पिण्डस्य दानं गेहेऽथवाशुचौ ॥३-७७॥

इसमें श्राद्ध तथा पिण्डदान को तीर्थतट पर या घर में किसी पवित्र स्थान पर करने की व्यवस्था की है।

नान्दीश्राद्धं च पूजां च'''। सर्वंकुर्याच्च तस्याग्रे'''॥६-१६॥

इसमें 'नान्दीश्राद्ध' के करने की प्रेरणा की गई है, जो हिन्दुओं के श्राद्ध का एक विशेष है।

एकमेव पितुश्राद्धं कुर्याद्देशे दशाहनि।
ततो वै मातृके श्राद्धं कुर्यादाद्यादि षोडश ॥१३-७८॥

इसमें अवस्थाविशेष को लेकर माता और पिता के श्राद्धों का विधान किया गया है।

तद्देहप्रतिबिम्बार्थं मण्डपे तद्विनापि वा।
स्थापयेदेकमश्मानं तीरे पिण्डादिदत्तये ॥ १६६ ॥
पिण्डं तिलोदकं चापि कर्ता दद्याच्छिलाग्रतः।
सर्वेपि बन्धवो दद्युः स्नातास्तत्र तिलोदकं ॥ १७० ॥
एवं दशाहपर्यन्तमेतत्कर्म विधीयते।
पिण्डं तिलोदकं चापि कर्ता दद्यात्तदान्वहं ॥ १७६ ॥
पिण्डप्रदानतः पूर्वमन्ते च स्नानमिष्यते।
पिण्डः कपित्थमात्रश्च स च शाल्यन्धसा कृतः ॥१७७॥
तत्पाकश्च बहिः कार्यस्तत्पात्रं च शिलापि च।
कर्तुः संव्यानकं चापि बहिः स्थाप्यानि गोपिते ॥ १७८ ॥

—१३ वाँ अध्याय।

इन पद्यों में मृतक संस्कार के अनन्तर वाले पिण्डदान का विधान है और उसके विषय में लिखा है कि 'पिण्डादिक देने के लिये जलाशय के किनारे पर उस मृतक की देह के प्रतिनिधिरूप

हुआ अन्नादिक पितरों के पास पहुँच जाता है और उनकी तृप्ति आदि सम्पादन करता है, ऐसी श्रद्धा से शास्त्रोक्तविधि के साथ जो अन्नादिक

से एक पत्थर की स्थापना करनी चाहिये, संस्कारकर्ता को उस पत्थर के आगे पिण्ड और तिलोदक देना चाहिये और स्नान किये हुए बन्धुओं को भी वहाँ पर तिलोदक चढ़ाना चाहिये। संस्कारकर्ता को बराबर दस दिन तक इसी तरह पर पिण्ड और तिलोदक देते रहना चाहिये, पिण्डदान से पहले और पीछे भी स्नान करना चाहिये और वह पिण्ड पके चावलों का कपित्थ (कैथ या बेल) के आकार जितना होना चाहिये। चावल भी घर से बाहर पकाये जायँ और पकाने का पात्र, वह पत्थर, तथा पिण्डदान-समय पहनने के वस्त्र ये सब चीज़ें बाहर ही किसी गुप्त स्थान में रखनी चाहियें।'

श्रद्धयान्नप्रदानं तु सद्भ्यः श्राद्धमितीष्यते।
मासे मासे भवेच्छ्राद्धं तद्दिने वत्सरावधि ॥ १६३ ॥
अत ऊर्ध्वं भवेदब्दश्राद्धं तु प्रतिवत्सरं।
आद्वादशाब्दमेवैतत्क्रियते प्रेतगोचरम् ॥ १६४ ॥

इन पद्यों में प्रेत के उद्देश्य से किये गये श्राद्ध का स्वरूप और उसके भेदों का उल्लेख किया गया है। लिखा है कि श्रद्धा से—श्रद्धा विशेष से—किये गये अन्नदान को श्राद्ध कहते हैं और उसके दो भेद हैं १ मासिक और २ वार्षिक। जो मृतक तिथि के दिन हर महीने साल भर तक किया जाय वह मासिक श्राद्ध है और जो उसके बाद प्रतिवर्ष बारह वर्ष तक किया जाय उसे वार्षिक श्राद्ध जानना चाहिये। यहाँ श्राद्ध का जो व्युत्पत्यात्मक स्वरूप दिया है वह प्रायः वही है जो हिन्दुओं के यहाँ पाया जाता है और जिसे उनके 'श्राद्धतत्व' में 'वैदिकप्रयोगाधीनयौगिक' लिखा है, जैसा कि अगले फुट नोट से प्रकट है। और इसमें जिस श्रद्धा का उल्लेख है वह भी वही 'पित्रुद्देश्यक श्रद्धा' अथवा 'प्रेतोद्देश्यक श्रद्धा' है जिसे हिन्दुओं के पद्मपुराण में भी जैनियों की ओर से 'निरर्थिका' बतलाया है और जो जैनदृष्टि से बहुत कुछ आपत्ति के योग्य है। श्रद्धा के इस सामान्य प्रयोग की वजह से कुछ लोगों को जो भ्रम होता था वह अब दूर हो सकेगा।

दिया जाता है उसका नाम श्राद्ध * है। हिंदुओं के यहाँ तर्पण और श्राद्ध ये दोनों विषय क़रीब क़रीब एक ही सिद्धांत पर अवस्थित हैं। दोनों को 'पितृयज्ञ' कहते हैं। भेद सिर्फ़ इतना है कि तर्पण में अंजलि से जल छोड़ा जाता है, किसी ब्राह्मणादिक को खिलाया नहीं जाता। देव पितरगण उसे सीधा ग्रहण करलेते हैं और तृप्त हो जाते हैं। परंतु श्राद्ध में प्रायः ब्राह्मणों को भोजन खिलाया जाता है अथवा सूखा अन्नादिक दिया जाता है। और जिस प्रकार लैटरबॉक्स में डाली हुई चिट्ठी दूर देशांतरों में पहुँच जाती है उसी प्रकार मानो ब्राह्मणों के पेट में से वह भोजन देव पितरों के पास पहुँच कर उनकी तृप्ति कर देता है। इसके सिवाय कुछ क्रियाकांड का भी भेद है। पिण्डदान भी श्राद्ध का ही एक रूपविशेष है, उसका भी उद्देश्य पितरों को तृप्त करना है और वह भी 'पितृयज्ञ' कहलाता है। इसमें पिण्ड को पृथ्वी आदिक पर डाला जाता है—किसी ब्राह्मणादिक के पेट में नहीं—और उसे प्रकट रूप में कौए आदिक खाजाते हैं। इस तरह पर श्राद्ध और पिण्डदान ये दोनों कर्म प्रक्रियादि के भेद से, पितृतर्पण के ही भेदविशेष हैं—इन्हें प्रकारांतर से '**पितृतर्पण**' कहा भी जाता है—और इसलिये इनके विषय में अब मुझे अधिक कुछ भी लिखने की जरूरत नहीं है। सिर्फ़ इतना और बतला देना चाहता हूँ कि हिंदू ग्रंथों में 'श्राद्ध' नाम से भी इस विषयका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि वह जैनधर्मसम्मत नहीं है, जैसाकि उनके '**पद्मपुराण**' के निम्न वाक्यों से प्रकट है, जो कि ३६वें अध्याय में उसी दिगम्बरसाधु-द्वारा, श्राद्ध के निषेध में, राजा 'वेन' के प्रति कहे गये हैं:—

---

* श्राद्धं—शास्त्रोक्तविधानेन पितृकर्म इत्यमरः। पित्रुद्देश्यक-श्रद्धयाऽन्नादि दानम्। ······'श्रद्धया दीयते यस्मात् श्राद्धं तेन निगद्यते' इति पुलस्त्यवचनात्। 'श्रद्धया अन्नादेर्दानं श्राद्धं' इति वैदिकप्रयोगाधीनयौगिकम्' इति श्राद्धतत्त्वम्। अपिच, सम्बोधनपदोपनीतान् पित्रादीन् चतुर्थ्यन्तपदेनोद्दिश्य हविस्त्यागः श्राद्धम्। —शब्दकल्पद्रुम।

श्राद्धं कुर्वन्ति मोहेन त्वयाद्दे पितृतर्पणम्।
काऽऽस्ते मृत: समश्नाति कीदृशोऽसौ नरोत्तम ॥ २९ ॥
किं ज्ञानं कीदृशं कार्यं केन दृष्टं वदस्व न: ।
मिष्टमन्नं प्रभुक्त्वा तु तृप्तिं यान्ति च ब्राह्मणा: ॥ ३० ॥
कस्य श्राद्धं प्रदीयेत सा तु श्रद्धा निरर्थिका ।
अन्यदेवं प्रवक्ष्यामि वेदानां कर्मदारुणम् ॥ ३१ ॥

इन वाक्यों में श्राद्ध को साफ़ तौर पर 'पितृतर्पण' लिखा है, और उससे श्राद्ध का उद्देश्य भी कितना ही स्पष्ट हो जाता है। साथ ही यह बतलाया है कि **जिस** (पितृतृप्ति उद्देश्य की) **श्रद्धा से उसका विधान किया जाता है वह श्रद्धा ही निरर्थक है**--उसमें कुछ सार ही नहीं—इस श्राद्धसे पितरोंकी कोई तृप्ति नहीं होती किन्तु ब्राह्मणों की तृप्ति होती है। इसी तरह पर उक्त पुराण के १३ वें अध्याय में भी दिगम्बर जैनों की ओर से श्राद्ध के निषेध का उल्लेख मिलता है।

ऐसी हालत में जैनग्रंथों से श्राद्धादि के निषेध-विषयक अवतरणों के देने की—जो बहुत कुछ दिये जा सकते हैं—यहाँ कोई ज़रूरत मालूम नहीं होती। जैनसिद्धांतों से वास्तव में इन विषयों का कोई मेल ही नहीं है। और अब तो बहुत से हिंदू भाइयों की भी श्रद्धा श्राद्ध पर से उठती जाती है और वे उसमें कुछ तत्व नहीं देखते। हाल में स्वर्गीय मगनलाल गाँधीजी के विवेकी वीरपुत्र केशव भाई ने अपने पिता की मृत्यु के १० वें दिन जो मार्मिक उद्गार महात्मा गाँधीजी पर प्रकट किये हैं और जिन्हें महात्माजी ने बहुत पसंद किया तथा कुटुम्बीजनोंने भी अपनाया वे इस विषय में बड़ा ही महत्व रखते हैं और उनसे कितनी ही उपयोगी शिक्षा मिलती है। वे उद्गार इस प्रकार हैं:—

"श्राद्ध करने में मुझे श्रद्धा नहीं है। और असत्य तथा मिथ्या का आचरण कर मैं अपने पिता का तर्पण

कैसे करूँ? इसकी अपेक्षा तो जो वस्तु पिताजीको प्रिय थी वही करूँगा। गीता का पारायण तीन दिन करूँगा और तीनों दिन १२ घण्टे रोज़ चर्खा चलाऊँगा"। –हि० नव०

परंतु हमारे सोनीजी, जैन पंडित होकर भी, अभीतक लकीर के फ़कीर बने हुए हैं, 'वाक्यवाक्यं प्रमाणं' की नीति का अनुसरण करना ही अपना कर्तव्य समझते हैं और लोगों को 'अन्धश्रद्धालु' बनने तथा बने रहने का उपदेश देते हैं, यह बड़ा ही आश्चर्य है !! उन्हें कम से कम केशव भाई के इस उदाहरण से ही कुछ शिक्षा लेनी चाहिये।

मेरा विचार था कि मैं और भी कुछ विरुद्ध कथनों को दिखलाऊँ, विरुद्ध कथनों के कितने ही शीर्षक नोट किये हुए पड़े हैं—खासकर 'त्रिवर्णाचार के पूज्य देवता' शीर्षक के नीचे मैं कुदेवों की पूजा को दिखला कर उसकी विस्तृत आलोचना करना चाहता था परंतु उसके लिये लम्बा लिखने की ज़रूरत थी और लेख बहुत बढ़गया है इसलिये उस विचार को भी छोड़ना ही पड़ा। मैं समझता हूँ विरुद्ध कथनों का यह सब दिग्दर्शन काफ़ी से भी ज़्यादा हो गया है और इसलिये इतने पर ही सन्तोष किया जाता है।

इन सब विरुद्ध कथनों के मौजूद होते हुए और अजैन विषयों तथा वाक्यों के इतने भारी संग्रहकी उपस्थितिमें—अथवा ग्रंथकी स्थिति के इस दिग्दर्शन के सामने—सोनीजी के निम्न वाक्यों का कुछ भी मूल्य नहीं रहता, जो उन्होंने ग्रंथ के अनुवाद की भूमिका में दिये हैं:—

(१) "हमें तो ग्रंथ-परिशीलन से यही मालूम हुआ कि ग्रंथकर्ता की जैनधर्म पर असीम भक्ति थी, अजैन विषयों से वे परहेज करते थे। लोग खामुखाँ अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये उनपर अवर्णवाद लगाते हैं।"

(२) "ग्रंथ की मूल भित्ति आदिपुराण पर से खड़ी हुई है।" ......"इस ग्रंथ के विषय ऋषिप्रणीत आगम में कहीं संक्षेप से और

कहीं विस्तार से पाये जाते हैं । अतएव हमें तो इस ग्रंथ में न अप्रमाणता ही प्रतीत होती है और न आगमविरुद्धता ही ।"

मालूम होता है ये वाक्य महज़ लिखने के लिये ही लिखे गये हैं, अथवा ग्रंथ का रंग जमाना ही इनका एक उद्देश्य जान पड़ता है । **अन्यथा, ग्रंथ के परिशीलन, तुलनात्मक अध्ययन और विषय की गहरी जाँच के साथ इनका कुछ भी सम्बंध नहीं है** । सोनीजी के हृदय में यदि किसी समय विवेक जागृत हुआ तो उन्हें अपने इन वाक्यों और इसी प्रकार के दूसरे वाक्यों के लिये भी, जिन में से कितने ही ऊपर यथास्थान उद्धृत किये जा चुके हैं, ज़रूर खेद होगा और आश्चर्य अथवा असंभव नहीं जो वे अपनी भूल को स्वीकार करें । यदि ऐसा हो सका और शैतान ने कान में फूँक न मारी तो यह उनके लिये निःसन्देह बड़े ही गौरव का विषय होगा । अस्तु ।

उपसंहार ।

त्रिवर्णाचार की इस सम्पूर्ण परीक्षा और अनुवादादि-विषयक आलोचना पर से सहृदय पाठकों तथा विवेकशील विचारकों पर ग्रंथ की असलियत खुले बिना नहीं रहेगी और वे सहज ही में यह नतीजा निकाल सकेंगे कि यह ग्रंथ जिसे भट्टारकजी 'जिनेन्द्रागम' तक लिखते हैं वास्तव में कोई **जैनग्रंथ नहीं किंतु जैनग्रंथों का कलंक है** । इसमें रत्नकरण्डश्रावकाचारादि जैसे कुछ आर्ष ग्रंथों के वाक्यों का जो संग्रह किया गया है वह ग्रंथकर्ता की एक प्रकार की चालाकी है, धोखा है, मुलम्मा है, अथवा विरुद्धकथनरूपी जाली सिक्कों को चलाने आदि का एक साधन है । भट्टारकजी ने उनके सहारे से अथवा उनकी ओट में उन मुसलमानों की तरह अपना उल्लू सीधा करना चाहा है जिन्होंने भारत पर आक्रमण करते समय गौओं के एक समूह को अपनी सेना के आगे कर दिया था । और जिस प्रकार गोहत्या के भय से हिन्दुओं

ने उनपर आक्रमण नहीं किया उसी प्रकार शायद आर्षवाक्यों की अवहेलना का कुछ खयाल करके उन जैन विद्वानों ने जिनके परिचय में यह ग्रंथ अबतक आता रहा है इसका जैसा चाहिये वैसा विरोध नहीं किया। परंतु आर्षवाक्य और आर्षवाक्यों के अनुकूल कहेगये दूसरे प्रतिष्ठित विद्वानों के वाक्य अपने अपने स्थान पर माननीय तथा पूजनीय हैं; भट्टारकजी ने उन्हें यहाँ जैनधर्म, जैनसिद्धान्त, जैननीति तथा जैनशिष्टाचार आदि से विरोध रखने वाले और जैनादर्श से गिरे हुए कथनों के साथ में गूँथ कर अथवा मिलाकर उनका दुरुपयोग किया है और इस तरह पर समूचे ग्रंथ को **विषमिश्रित भोजन के समान** बना दिया है, जो त्याग किये जाने के योग्य है। विषमिश्रित भोजन का विरोध जिस प्रकार भोजन का विरोध नहीं कहलाता उसी तरह पर इस त्रिवर्णाचार के विरोध को भी आर्षवाक्यों अथवा जैनशास्त्रों का विरोध या उनकी कोई अवहेलना नहीं कहा जा सकता। जो लोग भ्रमवश अभीतक इस ग्रंथ को किसी और ही रूप में देख रहे थे—जैन शास्त्र के नाम की मुहर लगी होने से इसे साक्षात् जिनवाणी अथवा जिनवाणी के तुल्य समझ रहे थे और इसलिये इसकी प्रकट विरोधी बातों के लिये भी अपनी समझ में न आने वाले अविरोध की कल्पनाएँ करके शान्त होते थे—उन्हें अपने उस अज्ञान पर अब जरूर खेद होगा, वे भविष्य में बहुत कुछ सतर्क तथा सावधान हो जायँगे और योंही इन त्रिवर्णाचार जैसे भट्टारकीय ग्रंथों के आगे सिर नहीं झुकाएँगे। वास्तव में, **यह सब ऐसे ग्रंथों का ही प्रताप है जो जैन-समाज अपने आदर्श से गिरकर बिलकुल ही अनुदार, अन्धश्रद्धालु तथा संकीर्णहृदय बनगया है, उसमें अनेक प्रकार के मिथ्यात्वादि कुसंस्कारों ने अपना घर बना लिया है और वह बुरी तरह से कुरीतियों के जाल में**

फँसा हुआ है। साथ ही, उसके व्यक्तियों में आम, तौर, पर, ढूँढने पर भी जैनत्व का कोई खास लक्षण दिखलाई नहीं पड़ता। इन सब त्रुटियों को दूरकरके अपना उद्धार करने के लिये समाज को ऐसे विकृत तथा दूषित साहित्य से अपने व्यक्तियों को सुरक्षित रखना होगा और ऐसे जाली, ढोंगी तथा कपटी ग्रंथों का सबल विरोध करके उनके प्रचार को रोकना होगा। **साथ ही, विचारस्वातंत्र्य को उत्तेजन देना होगा, जिससे सत्य असत्य, योग्य अयोग्य और हेयादेय की खुली जाँच हो सके और उसके द्वारा समाज के व्यक्तियों की साम्प्रदायिक मोहमुग्धता तथा अन्धी श्रद्धा दूर होकर उन्हें यथार्थ वस्तुस्थिति के परिज्ञान-द्वारा अपने विकाश का ठीक मार्ग सूझ पड़े और उसपर चलने का यथेष्ट साहस भी बन सके।** इन्हीं सदुद्देश्यों को लेकर इस परीक्षा के लिये इतना परिश्रम किया गया है। आशा है इस परीक्षा से बहुतों का अज्ञान दूर होगा, भट्टारकीय साहित्य के कितने ही विषयों पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा और उससे जैन अजैन सभी भाई लाभ उठाएँगे।

अन्त में सत्य के उपासक सभी जैन विद्वानों से मेरा सादर निवेदन है कि वे लेखक के इस सम्पूर्ण कथन तथा विवेचन की यथेष्ट जाँच करें और साथ ही भट्टारकजी के इस ग्रंथ पर अब अपने खुले विचार प्रकट करने की कृपा करें। यदि परीक्षा से उन्हें भी यह ग्रंथ ऐसा ही निकृष्ट तथा हीन जँचे तो समाजहित की दृष्टि से उनका यह जरूर कर्तव्य होना चाहिये कि वे इसके विरुद्ध अपनी आवाज उठाएँ और समाज में इसके विरोध को उत्तेजित करें, जिससे धूर्तोंकी की हुई जैनशासन की यह मलिनता दूर हो सके। इत्यलम्।

सरसावा जि० सहारनपुर
ज्येष्ठ कृ० १३, सं० १९८५ } जुगलकिशोर मुख्तार

धर्मपरीक्षाकी परीक्षा ।

कृत्वा कृतीः पूर्वकृताः पुरस्तात्प्रत्यादरं ताः पुनरीक्षमाणः ।
तथैव जल्पेदथ योन्यथा वा स काव्यचोरोऽस्तु स पातकी च ॥

—सोमदेवः ।

श्वेताम्बर जैनसम्प्रदायमें; श्रीधर्मसागर महोपाध्यायके शिष्य **पद्मसागर** गणीका बनाया हुआ 'धर्मपरीक्षा' नामका एक संस्कृत ग्रंथ है, जिसे, कुछ समय हुआ, सेठ देवचंदलालभाईके जैनपुस्तकोद्धार फंड बम्बईने छपाकर प्रकाशित भी किया है । यह ग्रंथ संवत् १६४५ का बना हुआ है । जैसा कि इसके अन्तमें दिये हुए निम्नपद्यसे प्रकट है:—

तद्राज्ये विजयिन्यनन्यमतयः श्रीवाचकाग्रेसरा
द्योतन्ते भुवि धर्मसागरमहोपाध्यायशुद्धा धिया ।
तेषां शिष्यकणेन पंचयुगषट्चंद्रांकिते (१६४५) वत्सरे
वेलाकूलपुरे स्थितेन रचितो ग्रन्थोऽयमानन्दतः ॥१४८३॥

दिगम्बर जैनसम्प्रदायमें भी 'धर्मपरीक्षा' नामका एक ग्रंथ है जिसे श्रीमाधवसेनाचार्यके शिष्य **अमितगति** नामके आचार्यने विक्रमसंवत् १०७० में बनाकर समाप्त किया है । यह ग्रंथ भी छपकर प्रकाशित हो चुका है । इस ग्रंथका रचना-संवत् सूचक अन्तिम पद्य इसप्रकार है:—

संवत्सराणां विगते सहस्रे, ससप्ततौ (१०७०) विक्रमपार्थिवस्य ।
इदं निषिध्यान्यमतं समाप्तं, जिनेन्द्रधर्मामितयुक्तिशास्त्रम् ॥ २० ॥

इन दोनों ग्रंथोंका प्रतिपाद्य विषय प्रायः एक है । दोनोंमें 'मनोवेग' और 'पवनवेग' की प्रधान कथा और उसके अंतर्गत अन्य अनेक उपकथाओंका समान रूपसे वर्णन पाया जाता है; बल्कि एकका साहित्य दूसरे

के साहित्यसे यहाँतक मिलता जुलता है कि एकको दूसरेकी नक़ल कहना कुछ भी अनुचित न होगा। श्वेताम्बर 'धर्मपरीक्षा' जो इस लेखका परीक्षा विषय है, दिगम्बर 'धर्मपरीक्षा' से ५७५ वर्ष बादकी बनी हुई है। इसलिए यह कहनेमें कुछ भी संकोच नहीं हो सकता कि पद्मसागर गणीने अपनी धर्मपरीक्षा अमितगतिकी 'धर्मपरीक्षा' परसे ही बनाई है और वह प्रायः उसकी नक़ल मात्र है। इस नक़लमें पद्मसागर गणीने अमितगतिके आशय, ढंग (शैली) और भावोंकी ही नक़ल नहीं की, बल्कि उसके अधिकांश पद्योंकी प्रायः अक्षरशः नक़ल कर डाली है और उस सबको अपनी कृति बनाया है, जिसका खुलासा इस प्रकार है:—

पद्मसागर गणीकी धर्मपरीक्षामें पद्योंकी संख्या कुल १४८४ है। इनमेंसे चार पद्य प्रशस्तिके और छह पद्य मंगलाचरण तथा प्रतिज्ञाके निकालकर शेष १४७४ पद्योंमेंसे १२६० पद्य ऐसे हैं, जो अमितगतिकी धर्मपरीक्षासे ज्योंके त्यों उठाकर रक्खे गये हैं। बाक़ी रहे २१४ पद्य, वे सब अमितगतिके पद्यों परसे कुछ परिवर्तन करके बनाये गये हैं। परिवर्तन प्रायः छंदोभेदकी विशेषताको लिये हुए है। अमितगतिकी धर्मपरीक्षाका पहला परिच्छेद और शेष १९ परिच्छेदोंके अन्तके कुछ कुछ पद्य अनुष्टुप् छन्दमें न होकर दूसरेही छंदोंमें रचे गये हैं। पद्मसागर गणीने उनमेंसे जिन जिन पद्योंको लेना उचित समझा है, उन्हें अनुष्टुप् छन्दमें बदलकर रख दिया है, और इस तरहपर अपने ग्रंथमें अनुष्टुप् छंदोंकी एक लम्बी धारा बहाई है। इस धारामें आपने परिच्छेद-भेदको भी बहा दिया है! अर्थात्, अपने ग्रंथको परिच्छेदों या अध्यायोंमें विभक्त न करके उसे बिना हॉलटिंग स्टेशन वाली एक लम्बी और सीधी सड़कके रूपमें बना दिया है!! परन्तु अन्तमें पाँच पद्योंको, उनकी रचनापर मोहित होकर अथवा उन्हें सहजमें अनुष्टुप् छंदका रूप न दे सकने आदि किसी कारणविशेषसे, ज्योंका त्यों भिन्न

नित्र छंदोंमें भी रहने दिया है; जिससे अन्तमें जाकर ग्रंथका अनुष्टुप्-छंदी नियम भंग हो गया है। अस्तु; इन पाँचों पद्योंमेंसे पहला पद्य नमूनेके तौरपर इस प्रकार है:—

इदं व्रतं द्वादशभेदभिन्नं, यः श्रावकीयं जिननाथदृष्टम्।
करोति संसारनिपातभीतः प्रयाति कल्याणमसौ समस्तम् ॥१४७६॥

यह पद्य अमितगति-परीक्षाके १६ वें परिच्छेदमें नं० ६७ पर दर्ज है। इस पद्यके बाद एक पद्य और इसी परिच्छेदका देकर तीन पद्य २० वें परिच्छेदसे उठाकर रक्खे गये हैं, जिनके नम्बर उक्त परिच्छेदमें क्रमशः ८७, ८८ और ८६ दिये हैं। इस २० वें परिच्छेदके शेष सम्पूर्ण पद्योंको, जिनमें धर्मके अनेक नियमोंका निरूपण था, ग्रंथकर्ताने छोड़ दिया है। इसी प्रकार दूसरे परिच्छेदोंसे भी कुछ कुछ पद्य छोड़े गये हैं, जिनमें किसी किसी विषयका विशेष वर्णन था। अमितगति धर्मपरीक्षाकी पद्यसंख्या कुल १६४१ है जिनमें २० पद्योंकी प्रशस्ति भी शामिल है, और पद्मसागर–धर्मपरीक्षाकी पद्यसंख्या प्रशस्तिसे अलग १४८० है; जैसा कि ऊपर जाहिर किया जा चुका है। इसलिए सम्पूर्ण छोड़े हुए पद्योंकी संख्या लगभग ४४० समझनी चाहिए। **इस तरह लगभग ४४० पद्योंको निकालकर, २१४ पद्योंमें कुछ छंदादिकका परिवर्तन करके और शेष १२६० पद्योंकी ज्योंकी त्यों नक़ल उतारकर ग्रंथकर्त्ता श्रीपद्मसागर गणीने इस 'धर्मपरीक्षा' को अपनी कृति बनानेका पुण्य सम्पादन किया है!** जो लोग दूसरोंकी कृतिको अपनी कृति बनाने रूप पुण्य सम्पादन करते हैं उनसे यह आशा रखना तो व्यर्थ है कि वे उस कृतिके मूलकर्ताका आदरपूर्वक स्मरण करेंगे, प्रत्युत उनसे जहाँतक बन पड़ता है, वे उस कृतिके मूलकर्ताका नाम छिपाने या मिटानेकी ही चेष्टा किया करते हैं! ऐसा ही यहाँपर पद्मसागर गणीने भी किया है। अमितगतिका कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करना तो दूर

रहा, आपने अपनी शक्तिभर यहाँ तक चेष्टाकी है कि ग्रंथभरमें अमितगतिका नाम तक न रहने पावे और न दूसरा कोई ऐसा शब्द ही रहने पावे जिससे यह ग्रंथ स्पष्ट रूपसे किसी दिगम्बर जैनकी कृति समझ लिया जाय। उदाहरणके तौरपर यहाँ इसके कुछ नमूने दिखलाये जाते हैं:—

१-श्रुत्वा वाचमशेषकल्मषमुषां साधोर्गुणाशंसिनीं
नत्वा केवलिपादपंकजयुगं मर्त्यामरेन्द्रार्चितम्।
आत्मानं व्रतरत्नभूषितमसौ चक्रे विशुद्धाशयो॥
भव्यः प्राप्य यतेर्गिरोऽमितगतेर्व्यर्थाः कथं कुर्वते ॥१०१॥

यह पद्य अमितगतिकी धर्मपरीक्षाके १९ वें परिच्छेदका अन्तिम पद्य है। इसमें मुनिमहाराजका उपदेश सुनकर पवनवेगके श्रावकव्रत धारण करनेका उल्लेख करते हुए, चौथे चरणमें लिखा है कि 'भव्यपुरुष अपरिमित ज्ञानके धारक मुनिके उपदेशको पाकर उसे व्यर्थ कैसे कर सकते हैं।' साथ ही, इस चरणमें अमितगतिने अन्यपरिच्छेदोंके अन्तिम पद्योंके समान युक्तिपूर्वक गुप्तरीतिसे अपना नाम भी दिया है। पद्मसागर गणीको अमितगतिका यह गुप्त नाम भी असह्य हुआ और इसलिए उन्होंने अपनी धर्मपरीक्षामें, इस पद्यको नं० १४७७ पर ज्योंका त्यों उद्धृत करते हुए, इसके अन्तिम चरणको निम्न प्रकारसे बदल दिया है:—

"मित्रादुत्तमतो न किं भुवि नरः प्राप्नोति सद्वस्तवहो।"

इस तबदीलीसे प्रकट है कि यह केवल अमितगतिका नाम मिटानेकी गरजसे ही की गई है। अन्यथा, इस परिवर्तनकी यहाँपर कुछ भी जरूरत न थी।

२-त्यक्तबाह्यान्तरग्रंथो निःकषायो जितेंद्रियः।
परीषहसहः साधुर्जातरूपधरो मतः ॥१८—७६॥

इस पद्यमें अमितगतिने साधुका लक्षण **'जातरूपधरः'** अर्थात् नग्नदिगम्बर बतलाया है। साधुका लक्षण नग्नदिगम्बर प्रतिपादन करनेसे कहीं दिगम्बर जैनधर्मको प्रधानता प्राप्त न हो जाय, अथवा यह ग्रंथ

किसी दिगम्बर जैनकी कृति न समझ लिया जाय, इस भयसे गणीजी महाराजने इस पद्यकी जो कायापलट की है वह इस प्रकार है:—

त्यक्तबाह्यान्तरो ग्रंथो निष्क्रियो विजितेंद्रियः ।
परीषहसहः साधुर्भवाम्भोनिधितारकः ॥१३७८॥

यहाँ **'जातरूपधरो मतः'** के स्थानमें **'भवाम्भोनिधितारकः'** (संसारसमुद्रसे पार करनेवाला) ऐसा परिवर्तन किया गया है। साथ ही, **'निःकषायः'** की जगह **'निष्क्रियः'** भी बनाया गया है, जिसका कोई दूसरा ही रहस्य होगा।

३-कन्ये नन्दासुनन्दाख्ये कच्छस्य नृपतेर्नृपा ।
जिनेन योजयामास नीतिकीर्ती इवामले ॥१८—१४॥

दिगम्बरसम्प्रदायमें, ऋषभदेवका विवाह राजा कच्छकी नन्दा और सुनन्दा नामकी दो कन्याओंके साथ होना माना जाता है। इसी बातको लेकर अमितगतिने उसका ऊपरके पद्यमें उल्लेख किया है। परन्तु श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें, ऋषभदेवकी स्त्रियोंके नामोंमें कुछ भेद करते हुए, दोनों ही स्त्रियोंको राजा कच्छकी पुत्रियाँ नहीं माना है। बल्कि सुमंगलाको स्वयं ऋषभदेवके साथ उत्पन्न हुई उनकी सगी बहन बतलाया और सुनन्दाको एक दूसरे युगलियेकी बहन बयान किया है जो अपनी बहनके साथ खेलता हुआ अचानक बाल्यावस्थामें ही मर गया था। इसलिए पद्मसागरजीने अमितगतिके उक्त पद्यको बदलकर उसे नीचेका रूप देदिया है, जिससे यह ग्रंथ दिगम्बर ग्रंथ न समझा जाकर श्वेताम्बर समझ लिया जाय:—

सुमंगलासुनन्दाख्ये कन्ये सह पुरन्दरः ।
जिनेन योजयामास नीतिकीर्ती इवामले ॥ १३४७ ॥

इस प्रकार, यद्यपि ग्रंथकर्ता महाशयने अमितगतिकी कृतिपर अपना कर्तृत्व और स्वामित्व स्थापित करने और उसे एक श्वेताम्बर ग्रंथ बनानेके लिए बहुत कुछ अनुचित चेष्टाएँ की हैं, परन्तु तो भी वे इस (धर्मपरीक्षा)

ग्रंथ को पूर्णतया श्वेताम्बर ग्रंथ नहीं बना सके। बल्कि अनेक पद्योंको निकाल डालने, परिवर्तित कर देने तथा ज्योंका त्यों कायम रखनेकी वजहसे उनकी यह रचना कुछ ऐसी **विलक्षण** और **दोषपूर्ण** होगई है, जिससे **ग्रंथकी चोरी**का सारा भेद खुल जाता है। साथही, ग्रंथकर्ताकी **योग्यता** और उनके दिगम्बर तथा श्वेताम्बर धर्मसम्बन्धी **परिज्ञान** आदिका भी अच्छा परिचय मिल जाता है। पाठकोंके सन्तोषार्थ यहाँ इन्हीं सब बातोंका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है:—

(१) अमितगति-धर्मपरीक्षाके पाँचवें परिच्छेदमें, 'वक्र' नामके द्विष्ट पुरुषकी कथाका वर्णन करते हुए, एक स्थान पर लिखा है—जिस समय 'वक्र' मरणासन्न हुआ तब उसने, अपने 'स्कंद' नामक शत्रुका समूल नाश करनेके लिए, पुत्रपर अपनी आन्तरिक इच्छा प्रकटकी और उसे यह उपाय बतलाया कि 'जिस समय मैं मर जाऊँ उस समय तुम मुझे मेरे शत्रुके खेतमें ले जाकर लकड़ीके सहारे खड़ा कर देना। साथही, अपने समस्त गाय, भैंस तथा घोड़ोंके समूहको उसके खेतमें छोड़ देना, जिससे वे उसके समस्त धान्यका नाश कर देवें। और तुम किसी वृक्ष या घासकी ओटमें मेरे पास बैठकर स्कंदके आगमनकी प्रतीक्षा करते रहना। जिस वक्त वह क्रोधमें आकर मुझपर प्रहार करे तब तुम सब लोगोंको सुनानेके लिए ज़ोरसे चिल्ला उठना और कहना कि स्कंदने मेरे पिताको मार डाला है। ऐसा करनेपर राजा स्कंदद्वारा मुझे मरा जान कर स्कंदको दण्ड देगा, जिससे वह पुत्रसहित मर जायगा।' इस प्रकरण के तीन पद्य इस प्रकार हैं:—

एष यथा क्षयमेति समूलं कंचन कर्म तथा कुरु वत्स।
येन वसामि चिरं सुरलोके हृष्टमनाः कमनीयशरीरः॥ ८८॥
क्षेत्रममुष्य विनीय मृतं मां यष्टिनिषण्णतनुं सुत कृत्वा।
गोमहिषीहयवृन्दमशेषं शस्यसमूहविनाशि विमुंच ॥ ८९॥

वृक्षतृणान्तरितो मम तीरे तिष्ठ निरीक्षितुमागतिमस्य ।
कोपपरेण कृते मम घाते पूत्कुरु सर्वजनश्रवणाय ॥ ९० ॥

इन तीनों पद्योंके स्थानमें पद्मसागर गणीने अपनी धर्मपरीक्षामें निम्नलिखित दो पद्य अनुष्टुप् छन्दमें दिये हैं:—

समूलं क्षयमेत्येष यथा कर्म तथा कुरु ।
वसामि यत्स्फुरद्देहः स्वर्गे हृष्टमनाः सुखम् ॥ २८३ ॥
वृक्षाद्यन्तरितस्तिष्ठ त्वमस्यागतिमीक्षितुम् ।
आयातेऽस्मिन्मृतं हत्वा मां पूत्कुरु जनश्रुते: ॥ २८४ ॥

इन पद्योंका अमितगतिके पद्योंके साथ मिलान करनेपर पाठकोंको सहजमें ही यह मालूम हो जायगा कि दोनों पद्य क्रमशः अमितगतिके पद्य नं० ८८ और ९० परसे कुछ छील छालकर बनाये गये हैं और इनमें अमितगतिके शब्दोंकी प्रायः नकल पाई जाती है । परन्तु साथही उन्हें यह जाननेमें भी विलम्ब न होगा कि अमितगतिके पद्य नं० ८९ को पद्मसागरजीने बिलकुल ही छोड़ दिया है—उसके स्थानमें कोई दूसरा पद्य भी बनाकर नहीं रक्खा । इसलिए उनका पद्य नं० २८४ बड़ा ही विचित्र मालूम होता है । उसमें उस उपायके सिर्फ उत्तरार्धका कथन है, जो यक्षने मरते समय अपने पुत्रको बतलाया था । उपायका पूर्वार्ध न होनेसे यह पद्य इतना **असम्बद्ध और बेढंगा** होगया है कि प्रकृत कथनसे उसकी कुछ भी संगति नहीं बैठती । इसी प्रकारके पद्य और भी अनेक स्थानोंपर पाये जाते हैं, जिनके पहलेके कुछ पद्य छोड़ दिये गये हैं और इसलिये वे **परकटे हुए कबूतरकी समान लँडूरे** मालूम होते हैं ।

(२) अमितगतिने अपनी धर्मपरीक्षाके १५ वें परिच्छेदमें, **'युक्तितो घटते यन्न'** इत्यादि पद्य नं० ४७ के बाद, जिसे पद्मसागरजीने भी अपने ग्रंथमें नं० १०८९ पर ज्योंका त्यों उद्धृत किया है, नीचे लिखे दो पद्यों-द्वारा एक स्त्रीके पंच भर्तार होनेको अति निंद्य कर्म ठहराया है; और इस तरह

पर द्रौपदीके पंचपति होनेका निषेध किया है। वे दोनों पद्य इस प्रकार हैं:—

सम्बंधा भुवि विद्यन्ते सर्वे सर्वस्य भूरिशः।
भर्तॄणां क्वापि पंचानां नैकया भार्यया पुनः ॥४८॥
सर्वे सर्वेषु कुर्वन्ति संविभागं महाधियः।
महिलासंविभागस्तु निन्द्यानामपि निन्दितः ॥४९॥

पद्मसागरजीने यद्यपि इन पद्योंसे पहले और पीछेके बहुतसे पद्योंकी एकदम ज्योंकी त्यों नक़ल कर डाली है, तो भी आपने इन दोनों पद्योंको अपनी धर्मपरीक्षामें स्थान नहीं दिया। क्योंकि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें, हिन्दुओंकी तरह, द्रौपदीके पंचभर्त्तार ही माने जाते हैं। पाँचों पाँडवोंके गलेमें द्रौपदीने वरमाला डाली थी और उन्हें अपना पति बनाया था, ऐसा कथन श्वेताम्बरोंके 'त्रिशष्ठिशलाकापुरुषचरित' आदि अनेक ग्रंथोंमें पाया जाता है। उक्त दोनों पद्योंको स्थान देनेसे यह ग्रंथ कहीं श्वेताम्बर-धर्मके अहातेसे बाहर न निकल जाय, इसी भयसे शायद गणीजी महाराजने उन्हें स्थान देनेका साहस नहीं किया। परन्तु पाठकोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि गणीजीने अपने ग्रंथमें उस श्लोकको ज्योंका त्यों रहने दिया है जो आक्षेपके रूपमें ब्राह्मणोंके सम्मुख उपस्थित किया गया था और जिसका प्रतिवाद करनेके लिए ही अमितगति आचार्यको उक्त दोनों पद्योंके लिखनेकी ज़रूरत पड़ी थी। वह श्लोक यह है:—

द्रौपद्याः पंच भर्तारः कथ्यन्ते यत्र पाण्डवाः।
जनन्यास्तव को दोषस्तत्र भर्तृद्वये सति ॥ ६७९ ॥

इस श्लोकमें द्रौपदीके पंचभर्त्तार होनेकी बात कटाक्ष रूपसे कही गई है। जिसका आगे प्रतिवाद होनेकी ज़रूरत थी और जिसे गणीजीने नहीं किया। यदि गणीजीको एक स्त्रीके अनेक पति होना अनिष्ट न था तब आपको अपने ग्रंथमें यह श्लोक भी रखना उचित न था और न इस विषयकी कोई चर्चा ही चलानेकी ज़रूरत थी। परन्तु आपने ऐसा न करके अपनी

धर्मपरीक्षामें उक्त श्लोक और उसके सम्बंधकी दूसरी चर्चाको, विना किसी प्रतिवादके, ज्योंका त्यों स्थिर रक्खा है; इस लिए कहना पड़ता है कि आपने ऐसा करके निःसन्देह भारी भूल की है। और इससे आपकी योग्यता तथा विचारशीलताका भी बहुत कुछ परिचय मिल जाता है।

(३) श्वेताम्बरी धर्मपरीक्षामें, एक स्थानपर, ये तीन पद्य दिये हैं:—

विलोक्य वेगतः खर्या क्रमस्योपरि मे क्रमः।
भग्नो मुशलमादाय दत्तनिष्ठुरघातया ॥ ५१५ ॥
अथैतयोर्महारादिः प्रवृत्ता दुर्निवारणा।
लोकानां प्रेक्षणीभूता राक्षस्योरिव रुष्टयोः ॥ ५१६ ॥
अरे ! रक्षतु ते पादं त्वदीया जननी स्वयम्।
रुष्टखर्या निगद्येति पादो भग्नो द्वितीयकः ॥ ५१७ ॥

इन पद्योंमेंसे पहला पद्य ज्योंका त्यों वही है जो दिगम्बरी धर्मपरीक्षाके ९वें परिच्छेदमें नं० २७ पर दर्ज है। दूसरे पद्यमें सिर्फ 'इत्थं तयोः' के स्थानमें 'अथैतयोः' का और तीसरे पद्यमें 'चोडे' के स्थानमें 'अरे' और 'रुष्टयर्क्ष्या' के स्थानमें 'रुष्टखर्या' का परिवर्तन किया गया है। पिछले दोनों पद्य दिगम्बरी धर्मपरीक्षाके उक्त परिच्छेदमें क्रमशः नं० ३२ और ३३ पर दर्ज हैं। इन दोनों पद्योंसे पहले अमितगतिने जो चार पद्य और दिये थे और जिनमें 'ऋक्षी' तथा 'खरी' नामकी दोनों स्त्रियोंके वाग्युद्धका वर्णन था उन्हें पद्मसागरजीने अपनी धर्मपरीक्षासे निकाल दिया है। अस्तु; और सब बातोंको छोड़कर, यहाँ पाठकोंका ध्यान उस परिवर्तनकी ओर आकर्षित किया जाता है जो 'रुष्टयर्क्ष्या' के स्थानमें 'रुष्टखर्या' बनाकर किया गया है। यह परिवर्तन वास्तवमें बड़ा ही विलक्षण है। इसके द्वारा यह विचित्र अर्थ घटित किया गया है कि जिस खरी नामकी स्त्रीने पहले ऋक्षीके उपास्य चरणको तोड़ डाला था उसीने ऋक्षीको यह चैलेंज देते हुए कि 'ले ! अब तू और तेरी मा अपने चरणकी रक्षा कर' स्वयं अपने उपास्य दूसरे चरणको भी तोड़ डाला ! परन्तु खरीको अपने उपास्य चरण पर क्रोध आने और उसे तोड़ डालनेकी कोई वजह न थी। यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो उक्त चैलेंजमें जो कुछ कहा गया है वह सब व्यर्थ पड़ता है। क्योंकि जब खरी ऋक्षीके उपास्य चरणको पहले ही तोड़ चुकी थी, तब उसका ऋक्षीसे यह कहना कि 'ले ! अब तू अपने चरणकी रक्षा कर मैं उस पर आक्रमण करती हूँ' बिलकुल ही भद्दा और असमंजस मालूम होता है। वास्तवमें, दूसरा चरण ऋक्षीके द्वारा, अपना बदला चुकानेके लिए, तोड़ा गया था और उसीने खरीको ललकार कर उपर्युक्त वाक्य कहा था। ग्रंथकर्ताने इसपर कुछ भी ध्यान न देकर विना सोचे समझे वैसे ही परिवर्तन कर डाला है, जो बहुत ही भद्दा मालूम होता है।

(४) अमितगति–धर्मपरीक्षाके छठे परिच्छेदमें, ‘ यज्ञा ’ ब्राम्हणी और उसके जारपति ‘ वटुक ’ का उल्लेख करते हुए, एक पद्य इस प्रकारसे दिया है—

प्रपेदे स वचस्तस्या निःशेषं हृष्टमानसः ।
जायन्ते नेदृशे कार्ये दुष्प्रबोधा हि कामिनः ॥ ४४ ॥

इस पद्यमें लिखा है कि ‘ उस कामी वटुकने यज्ञाकी आज्ञाको (जो अपने निकल भागनेका उपाय करनेके लिए दो मुर्दे लानेके विषयमें थी) बड़ी प्रसन्नताके साथ पालन किया; सच है कामी पुरुष ऐसे कार्योंमें दुष्प्रबोध नहीं होते। अर्थात्, वे अपने कामकी बातको कठिनतासे समझनेवाले न होकर शीघ्र समझ लेते हैं। पद्म-सागरजीने यही पद्य अपनी धर्मपरीक्षामें नं० ३१५ पर दिया है परन्तु साथ ही इसके उत्तरार्धको निम्न प्रकारसे बदलकर रक्खा है:—

“ न जाता तस्य शंकापि दुष्प्रबोधा हि कामिनः ॥ ”

इस परिवर्तनके द्वारा यह सूचित किया गया है कि ‘ उस वटुकको उक्त आज्ञाके पालनमें शंका भी नहीं हुई, सच है कामी लोग कठिनतासे समझनेवाले होते हैं ’। परन्तु बटुकने तो यज्ञाकी आज्ञाको पूरी तौरसे समझकर उसे विना किसी शंकाके प्रसन्नताके साथ शीघ्र पालन किया है तब वह कठिनतासे समझनेवाला ‘ दुष्प्रबोध ’ क्यों ? यह बात बहुत ही खटकनेवाली है; और इस लिए ऊपरका परिवर्तन बड़ा ही बेढंगा मालूम होता है। नहीं मालूम ग्रंथकर्ताने इस परिवर्तनको करके पद्यमें कौनसी खूबी पैदा की और क्या लाभ उठाया ! इस प्रकारके व्यर्थ परिवर्तन और भी अनेक स्थानोंपर पाए जाते हैं जिनसे ग्रंथकर्ताकी **योग्यता** और **व्यर्थाचरण**का अच्छा परिचय मिलता है।

श्वेताम्बरशास्त्र-विरुद्ध कथन।

(५) पद्मसागर गणीने, अमितगतिके पद्योंकी ज्योंकी त्यों नकल करते हुए, एक स्थान पर ये दो पद्य दिये हैं:—

क्षुधा तृष्णा भयद्वेषौ रागो मोहो मदो गदः ।
चिन्ता जन्म जरा मृत्युर्विषादो विस्मयो रतिः ॥ ८९२ ॥
खेदः स्वेदस्तथा निद्रा दोषाः साधारणा इमे ।
अष्टादशापि विद्यन्ते सर्वेषां दुःखहेतवः ॥ ८९३ ॥

इन पद्योंमें उन १८ दोषोंका नामोल्लेख है, जिनसे दिगम्बर लोग अर्हन्तदेवोंको रहित मानते हैं। उक्त दोषोंका, २१ पद्योंमें, कुछ विवरण देकर फिर ये दो पद्य और दिये हैं:—

एतैर्ये पीडिता दोषैस्तैर्मुच्यन्ते कथं परे ।
सिंहानां हतनागानां न खेदोस्ति मृगक्षये ॥ ९१५ ॥
सर्वे रागिणि विद्यन्ते दोषा नात्रास्ति संशयः ।
रूपिणीव सदा द्रव्ये गन्धस्पर्शरसादयः ॥ ९१६ ॥

इन पद्योंमें लिखा है कि ' जो देव इन क्षुधादिक दोषोंसे पीड़ित हैं, वे दूसरोंको दुःखोंसे मुक्त कैसे कर सकते हैं ? क्योंकि हाथियोंको मारनेवाले सिंहोंको मृगोंके मारनेमें कुछ भी कष्ट नहीं होता। जिस प्रकार पुद्गल द्रव्यमें स्पर्श, रस और गंधादिक गुण हमेशा पाए जाते हैं, उसी प्रकार ये सब दोष भी रागी देवोंमें पाए जाते हैं।' इसके बाद एक पद्यमें ब्रह्मादिक देवताओं पर कुछ आक्षेप करके गणीजी लिखते हैं कि सूर्यसे अंधकारके समूहकी तरह जिस देवतासे ये संपूर्ण दोष नष्ट हो गये हैं वही सब देवोंका अधिपति अर्थात् देवाधिदेव है और संसारी जीवोंके पापोंका नाश करनेमें समर्थ है।' यथाः—

एते नष्टा यतो दोषा भानोरिव तमश्चयाः ।
स स्वामी सर्वदेवानां पापनिर्दलनक्षमः ॥ ९१८ ॥

इस प्रकार गणीजी महाराजने देवाधिदेव अर्हन्त भगवान्‌का १८ दोषोंसे रहित वह स्वरूप प्रतिपादन किया है जो दिगम्बरसम्प्रदायमें माना जाता है। परंतु यह स्वरूप श्वेताम्बरसम्प्रदायके स्वरूपसे विलक्षण मालूम होता है, क्योंकि श्वेताम्बरोंके यहाँ प्रायः दूसरे ही प्रकारके १८ दोष माने गये हैं। जैसा कि मुनि आत्मारामजीके ' तत्त्वादर्श' में उल्लिखित नीचे लिखे दो पद्योंसे प्रगट हैः—

अंतरायदानलाभवीर्यभोगोपभोगगाः ।
हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च ॥ १ ॥
कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा च विरतिस्तथा ।
रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाऽप्यमी ॥ २ ॥

इन पद्योंमें दिये हुए १८ दोषोंके नामोंमेंसे रति, भीति (भय), निद्रा, राग और द्वेष ये पाँच दोष तो ऐसे हैं जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें समान रूपसे माने गये हैं। शेष दानान्तराय, लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, हास्य, अरति, जुगुप्सा, शोक, काम, मिथ्यात्व, अज्ञान और विरति नामके १३ दोष दिगम्बरोंके माने हुए क्षुधा, तृषा, मोह, मद, रोग, चिन्ता, जन्म, जरा, मृत्यु, विषाद, विस्मय, खेद और स्वेद नामके दोषोंसे भिन्न हैं। इस लिए गणीजीका उपर्युक्त कथन श्वेताम्बरशास्त्रोंके विरुद्ध है। मालूम होता है कि अमितगतिधर्मपरीक्षाके १३ वें परिच्छेदसे इन सब पद्योंको ज्योंका त्यों उठाकर रखनेकी धुनमें आपको इस विरुद्धताका कुछ भी भान नहीं हुआ।

(६) एक स्थानपर, पद्मसागरजी लिखते हैं कि 'कुन्तीसे उत्पन्न हुए पुत्र तपश्चरण करके मोक्ष गये और मद्रीके दोनों पुत्र मोक्षमें न जाकर सर्वार्थसिद्धिको गये'। यथाः—

कुन्तीशरीरजाः कृत्वा तपो जग्मुः शिवास्पदम् ।
मद्रीशरीरजौ भव्यौ सर्वार्थसिद्धिमीयतुः ॥ १०९५ ॥

यह कथन यद्यपि दिगम्बरसम्प्रदायकी दृष्टिसे सत्य है और इसी लिए अमितगतिने अपने ग्रंथके १५ वें परिच्छेदमें इसे नं० ५५ पर दिया है। परन्तु श्वेताम्बरसम्प्रदायकी दृष्टिसे यह कथन भी विरुद्ध है। श्वेताम्बरोंके 'पांडवचरित्र' आदि ग्रंथोंमें 'मद्री'के पुत्रोंका भी मोक्ष जाना लिखा है और इस तरह पर पाँचों ही पाण्डवोंके लिए मुक्तिका विधान किया है।

(७) पद्मसागरजीने, अपनी धर्मपरीक्षामें, एक स्थान पर यह पद्य दिया है:—

चार्वाकदर्शनं कृत्वा भूपौ शुक्रबृहस्पती ।
प्रवृत्तौ स्वेच्छया कर्तुं स्वकीयेन्द्रियपोषणम् ॥ १३६५ ॥

इसमें शुक्र और बृहस्पति नामके दो राजाओंको 'चार्वाक' दर्शनका चलानेवाला लिखा है, परन्तु मुनि आत्मारामजीने, अपने 'तत्त्वादर्श' ग्रंथके ४ थे परिच्छेदमें, '**शील-तरंगिणी**' नामक किसी श्वेताम्बरशास्त्रके आधार पर, चार्वाक मतकी उत्पत्तिविषयक जो कथा दी है उससे यह मालूम होता है कि चार्वाक मत किसी राजा या क्षत्रिय पुरुषके द्वारा न चलाया जाकर केवल बृहस्पति नामके एक ब्राह्मणद्वारा प्रवर्तित हुआ है, जो अपनी बालविधवा बहनसे भोग करना चाहता था। और इस लिए बहनके हृदयसे पाप तथा लोकलज्जाका भय निकालकर अपनी इच्छा पूर्तिकी गरजसे ही उसने इस मतके सिद्धान्तोंकी रचना की थी। इस कथनसे पद्मसागरजीका उपर्युक्त कथन भी श्वेताम्बर शास्त्रोंके विरुद्ध पड़ता है।

(८) इस श्वेताम्बर 'धर्मपरीक्षा' में, पद्य नं० ७८२ से ७९९ तक, गधेके शिरच्छेदका इतिहास बतलाते हुए, लिखा है कि—

'ज्येष्ठाके गर्भसे उत्पन्न हुआ शंभु (महादेव) सात्यकिका बेटा था। घोर तपश्चरण करके उसने बहुतसी विद्याओंका स्वामित्व प्राप्त किया था। विद्याओंके वैभवको देखकर वह दसवें वर्षमें भ्रष्ट हो गया। उसने चारित्र (मुनिधर्म) को छोड़कर विद्याधरोंकी आठ कन्याओंसे विवाह किया। परन्तु वे विद्याधरोंकी आठों ही पुत्रियाँ महादेवके साथ रतिकर्म करनेमें समर्थ न हो सकीं और मर गईं। तब महादेवने पार्वतीको रतिकर्ममें समर्थ समझकर उसकी याचना की और उसके साथ विवाह किया। एक दिन पार्वतीके साथ भोग करते हुए उसकी 'त्रिशूल' विद्या नष्ट हो गई। उसके नष्ट होनेपर वह 'ब्राह्मणी' नामकी दूसरी विद्याको सिद्ध करने लगा। जब वह 'ब्राह्मणी' विद्याकी प्रतिमाको सामने रखकर जप कर रहा था तब उस विद्याने अनेक प्रकारकी विक्रिया करनी शुरू की। उस विक्रियाके समय जब महादेवने एक वार उस प्रतिमा पर दृष्टि डाली तो उसे प्रतिमाके स्थान पर एक चतुर्मुखी मनुष्य दिखलाई पड़ा, जिसके मस्तक पर गधेका सिर था। उस गधेके सिरको बढता हुआ देखकर उसने शीघ्रताके साथ उसे काट डाला। परन्तु वह सिर महादेवके हाथको चिपट गया, नीचे नहीं गिरा। तब ब्राह्मणी विद्या महादेवकी साधनाको व्यर्थ करके चली गई। इसके बाद रात्रिको महादे-

वने श्रीवर्धमानस्वामीको श्मशानभूमिमें ध्यानारूढ देखकर और उन्हें विद्यारूपी मनुष्य समझकर उन पर उपद्रव किया। प्रातःकाल जब उसे यह मालूम हुआ कि वे श्रीवर्धमान जिनेंद्र थे तब उसे अपनी कृति पर बहुत पश्चात्ताप हुआ। उसने भगवानकी स्तुति की और उनके चरण छूए। चरणोंको छूते ही उसके हाथसे चिपटा हुआ वह गधेका सिर गिर पड़ा।'

यह सब कथन श्वेताम्बर शास्त्रोंके बिलकुल विरुद्ध है। श्वेताम्बरोंके 'आवश्यक' सूत्रमें महादेवकी जो कथा लिखी है और जिसको मुनि आत्मारामजीने अपने 'तत्त्वादर्श' नामक ग्रंथके १२ वें परिच्छेदमें उद्धृत किया है उससे यह सब कथन बिलकुल ही विलक्षण मालूम होता है। उसमें महादेव (महेश्वर) के पिताका नाम 'सात्यकि' न बतलाकर स्वयं महादेवका ही असली नाम 'सात्यकि' प्रगट किया है और पिताका नाम 'पेढाल' परिव्राजक बतलाया है। लिखा है कि, 'पेढालने अपनी विद्याओंका दान करनेके लिए किसी ब्रह्मचारिणीसे एक पुत्र उत्पन्न करनेकी जरूरत समझकर 'ज्येष्ठा' नामकी साध्वीसे व्यभिचार किया और उससे सात्यकि नामके महादेव पुत्रको उत्पन्न करके उसे अपनी संपूर्ण विद्याओंका दान कर दिया'। साथ ही, यह भी लिखा है कि 'वह सात्यकि नामका महेश्वर महावीर भगवानका अविरतसम्यग्दृष्टि श्रावक था'। इस लिए उसने किसी चारित्रका पालन किया, मुनिदीक्षा ली, घोर तपश्चरण किया और उससे भ्रष्ट हुआ, इत्यादि बातोंका उसके साथ कोई सम्बंध ही नहीं है। महादेवने विद्याधरोंकी आठ कन्याओंसे विवाह किया, वे मर गईं, तब पार्वतीसे विवाह किया, पार्वतीसे भोग करते समय त्रिशूल विद्या नष्ट हो गई, उसके स्थानमें ब्राह्मणी विद्याको सिद्ध करनेकी चेष्टा की गई, विद्याकी विक्रिया, गधेके सिरका हाथके चिपट जाना और फिर उसका वर्धमान स्वामीके चरण छूने पर छूटना, इन सब बातोंका भी वहां कोई उल्लेख नहीं है। इनके स्थानमें लिखा है कि 'महादेव बड़ा कामी और व्यभिचारी था, वह अपनी विद्याके बलसे जिस किसीकी कन्या या स्त्रीसे चाहता था विषय-सेवन कर लेता था, लोग उसकी विद्याके भयसे कुछ बोल नहीं सकते थे, जो कोई बोलता था उसे वह मार डालता था,' इत्यादि। अन्तमें यह भी लिखा है कि 'उमा (पार्वती) एक वेश्या थी, महादेव उस पर मोहित होकर उसीके घर रहने लगा था। और 'चंद्रप्रद्योत' नामके राजाने, उमासे मिलकर और उसके द्वारा यह भेद मालूम करके कि भोग करते समय महादेवकी समस्त विद्याएँ उससे अलग हो जाती हैं, महादेवको उमासहित भोगमग्नावस्थामें अपने सुभटों द्वारा मरवा डाला था और इस तरह पर नगरका उपद्रव दूर किया था'। इसके बाद महादेवकी उसी भोगावस्थाकी पूजा प्रचलित होनेका कारण बतलाया है। इससे पाठक भले प्रकार समझ सकते हैं कि पद्मसागरजी गणीका उपर्युक्त कथन श्वेताम्बर शास्त्रोंके इस कथनसे कितना विलक्षण और विभिन्न है और वे कहां तक इस धर्मपरीक्षाको श्वेताम्बरत्वका रूप देनेमें समर्थ हो सके हैं। गणीजीने बिना सोचे समझे

ही यह सब प्रकरण दिगम्बर धर्मपरीक्षाके १२ वें परिच्छेदसे ज्योंका त्यों नकल कर डाला है। सिर्फ एक पद्य नं० ७८४ में 'पूर्वे' के स्थानमें 'वर्षे' का परिवर्तन किया है। अमितगतिने 'दशमे पूर्वे' इस पदके द्वारा महादेवको दशपूर्वका पाठी सूचित किया था। परन्तु गणीजीको अमितगतिके इस प्रकरणकी सिर्फ इतनी ही बात पसंद नहीं आई और इसलिए उन्होंने उसे बदल डाला है।

(९) पद्मसागरजी, अपनी धर्मपरीक्षामें, जैनशास्त्रानुसार 'कर्णराज' की उत्पत्तिका वर्णन करते हुए, लिखते हैं कि—

'एक दिन व्यास राजाके पुत्र पाण्डुको वनमें क्रीडा करते हुए किसी विद्याधरकी 'कामसुद्रिका' नामकी एक अंगूठी मिली। थोड़ी देरमें उस अंगूठीका स्वामी चित्रांगद नामका विद्याधर अपनी अंगूठीको ढूँढ़ता हुआ वहाँ आ गया। पाण्डुने उसे उसकी वह अंगूठी दे दी। विद्याधर पांडुकी इस प्रकार निःस्पृहता देखकर वन्धुत्वभावको प्राप्त हो गया और पाण्डुको कुछ विषण्णचित्त जानकर उसका कारण पूछने लगा। इसपर पांडुने कुन्तीसे विवाह करनेकी अपनी उत्कट इच्छा और उसके न मिलनेको अपने विषादका कारण बतलाया। यह सुनकर उस विद्याधरने पांडुको अपनी वह कामसुद्रिका देकर कहा कि इसके द्वारा तुम कामदेवका रूप बनाकर कुन्तीका सेवन करो, पीछे गर्भ रह जानेपर कुन्तीका पिता तुम्हारे ही साथ उसका विवाह कर देगा। पाण्डु कामसुद्रिकाको लेकर कुन्तीके घर गया और बराबर सात दिनतक कुन्तीके सात विषयसेवन करके उसने उसे गर्भवती कर दिया। कुन्तीकी माताको जब गर्भका हाल मालूम हुआ तब उसने गुप्त रूपसे प्रसूति कराई और प्रसव हो जाने पर बालकको एक मंजूषामें बन्द करके गंगामें बहा दिया। गंगामें बहता हुआ वह मंजूषा चंपापुरके राजा 'आदित्य' को मिला, जिसने उस मंजूषामेंसे उक्त बालकको निकालकर उसका नाम 'कर्ण' रक्खा, और अपने कोई पुत्र न होनेके कारण बड़े ही हर्ष और प्रेमके साथ उसका पालन पोषण किया। आदित्यके मरने पर वह बालक चम्पापुरका राजा हुआ। चूंकि 'आदित्य' नामके राजाने कर्णका पालनपोषण करके उसे वृद्धिको प्राप्त किया था इस लिए कर्ण 'आदित्यज' कहलाता है, वह ज्योतिष्क जातिके सूर्यका पुत्र कदापि नहीं है *।'

पद्मसागरजीका यह कथन भी श्वेताम्बर शास्त्रोंके प्रतिकूल है। श्वेताम्बरोंके श्रीदेवविजयगणिविरचित '**पांडवचरित्र**' में पांडुको राजा 'विचित्रवीर्य' का पुत्र लिखा है और उसे 'मुद्रिका' देनेवाले विद्याधरका नाम 'विशालाक्ष' बतलाया है। साथ ही यह भी लिखा है कि 'वह विद्याधर अपने किसी शत्रुके द्वारा एक वृक्षके नितम्बमें लोहेकी कीलोंसे कीलित था। पांडुने उसे देखकर उसके शरीरसे वे

* यह सब कथन नं० १०५९ से १०९० तकके पद्योंमें वर्णित है और अमितगतिधर्मपरीक्षाके १५ वें परिच्छेदसे उठाकर रक्खा गया है।

लोहेकी कीलें खींचकर निकालीं; चंदनादिकके लेपसे उसे सचेत किया और उसके घावोंको अपनी मुद्रिकाके रत्नजलसे धोकर अच्छा किया। इस उपकारके बदलेमें विद्याधरने पांडुको, उसकी चिन्ता मालूम करके, अपनी एक अंगूठी दी और कहा कि, यह अंगूठी स्मरण मात्रसे सब मनोवांछित कार्योंको सिद्ध करनेवाली है, इसमें अदृश्यीकरण आदि अनेक महान् गुण हैं। पाण्डुने घरपर आकर उस अंगूठीसे प्रार्थना की कि 'हे अंगूठी ! मुझे कुन्तीके पास ले चल,' अंगूठीने उसे कुन्तीके पास पहुँचा दिया। उस समय कुन्ती, यह मालूम करके कि उसका विवाह पाण्डुके साथ नहीं होता है, गलेमें फाँसी डालकर मरनेके लिए अपने उपवनमें एक अशोक वृक्षके नीचे लटक रही थी। पांडुने वहाँ पहुँचते ही गलेसे उसकी फाँसी काट डाली और कुन्तीके सचेत तथा परिचित हो जानेपर उसके साथ भोग किया। उस एक ही दिनके भोगसे कुन्तीको गर्भ रह गया। बालकका जन्म होने पर धात्रीकी सम्मतिसे कुन्तीने उसे मंजूषामें रखकर गंगामें बहा दिया। कुन्तीकी माताको, कुन्तीकी आकृति आदि देखकर, पूछनेपर पीछेसे इस कृत्यकी खबर हुई। वह मंजूषा 'अतिरथि' नामके एक सारथिको मिला, जिसने बालकको उसमेंसे निकालकर उसका नाम 'कर्ण' रक्खा। चूंकि उस सारथिकी स्त्रीको, मंजूषा मिलेनेके उसी दिन प्रातः काल, स्वप्नमें आकर सूर्यने यह कहा था कि हे वत्स ! आज तुझे एक उत्तम पुत्रकी प्राप्ति होगी। इस लिए सूर्यका दिया हुआ होनेसे बालकका दूसरा नाम सूर्यपुत्र भी रक्खा गया।

श्वेताम्बरीय पांडवचरित्रके इस संपूर्ण कथनसे पद्मसागरजीके पूर्वोक्त कथनका कहाँतक मेल है और वह कितना सिरसे पैर तक विलक्षण है, इसे पाठकोंको बतलानेकी ज़रूरत नहीं है। वे एक नजर डालते ही दोनोंकी विभिन्नता मालूम कर सकते हैं। अस्तु; इसी प्रकारके और भी अनेक कथन इस धर्मपरीक्षामें पाए जाते हैं जो दिगम्बरशास्त्रोंके अनुकूल तथा श्वेताम्बर शास्त्रोंके प्रतिकूल हैं और जिनसे ग्रंथकर्ताकी साफ़ चोरी पकड़ी जाती है।

ऊपरके इन सब विरुद्ध कथनोंसे पाठकोंके हृदयोंमें आश्चर्यके साथ यह प्रश्न उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगा कि 'जब गणीजी महाराज एक दिगम्बरग्रंथको श्वेताम्बरग्रंथ बनानेके लिए प्रस्तुत हुए थे तब आपने श्वेतांबरशास्त्रोंके विरुद्ध इतने अधिक कथनोंको उसमें क्यों रहने दिया ? क्यों उन्हें दूसरे कथनोंकी समान, जिनका दिग्दर्शन इस लेखके शुरूमें कराया गया है, नहीं निकाल दिया या नहीं बदल दिया ? उत्तर इस प्रश्नका सीधा सादा यही हो सकता है कि या तो गणीजीको श्वेताम्बरसम्प्रदायके ग्रन्थों पर पूरी श्रद्धा नहीं थी, अथवा उन्हें उक्त सम्प्रदायके ग्रन्थोंका अच्छा ज्ञान नहीं था। इन दोनों बातोंमेंसे पहली बात बहुत कुछ संदिग्ध मालूम होती है और उसपर प्रायः विश्वास नहीं किया जा सकता। क्योंकि गणीजीकी यह कृति ही उनकी श्वेताम्बर-सम्प्रदाय-भक्ति

और साम्प्रदायिक मोहमुग्धताका एक अच्छा नमूना जान पड़ती है और इससे आपकी श्रद्धाका बहुत कुछ पता लग जाता है। इस लिये दूसरी बात ही प्रायः सत्य मालूम होती है। श्वेताम्बरग्रन्थोंसे अच्छी जानकारी न होनेके कारण ही आपको यह मालूम नहीं हो सका कि उपर्युक्त कथन तथा इन्हींके सदृश और दूसरे अनेक कथन भी श्वेताम्बर सम्प्रदायके विरुद्ध हैं; और इस लिए आप उनको निकाल नहीं सके। जहाँ तक मैं समझता हूँ पद्मसागरजीकी योग्यता और उनका शास्त्रीय ज्ञान बहुत साधारण था। वे श्वेताम्बर सम्प्रदायमें अपने आपको विद्वान् प्रसिद्ध करना चाहते थे; और इस लिए उन्होंने एक दूसरे विद्वान्की कृतिको अपनी कृति बनाकर उसे भोले समाजमें प्रचलित किया है। नहीं तो, एक अच्छे विद्वान्की ऐसे जघन्याचरणमें कभी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उसके लिए ऐसा करना बड़े ही कलंक और शर्मकी बात होता है। पद्मसागरजीने, यद्यपि, यह पूरा ही ग्रन्थ चुरानेका साहस किया है और इस लिए आप पर कविकी यह उक्ति बहुत ठीक घटित होती है कि '**अखिलप्रबंधं हर्त्रे साहसकर्त्रे नमस्तुभ्यं**'; परंतु तो भी आप, शर्मको उतारकर अपने मुँह पर हाथ फेरते हुए, बड़े अभिमानके साथ लिखते हैं कि:—

गणेशनिर्मितां धर्मपरीक्षां कर्तुमिच्छति।
मादृशोऽपि जनस्तत्र चित्रं तत्कुलसंभवात्॥ ४॥
यस्तरुर्भज्यते हस्तिवरेण स कथं पुनः।
कलभेनेति नाशंक्यं तत्कुलीनत्वशक्तितः॥ ५॥
चक्रे श्रीमत्प्रवचनपरीक्षा धर्मसागरैः।
वाचकेन्द्रैस्ततस्तेषां शिष्येणैषा विधीयते॥ ६॥

अर्थात्—गणधरदेवकी निर्माण की हुई धर्मपरीक्षाको मुझ जैसा मनुष्य भी यदि बनानेकी इच्छा करता है तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि मैं भी उसी कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ। जिस वृक्षको एक गजराज तोड़ डालता है उसे हाथीका बच्चा कैसे तोड़ डालेगा, यह आशंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि स्वकीय कुलशक्तिसे वह भी उसे तोड़ डाल सकता है। मेरे गुरु धर्मसागरजी वाचकेन्द्रने 'प्रवचनपरीक्षा' नामका ग्रन्थ बनाया है और मैं उनका शिष्य यह 'धर्मपरीक्षा' नामका ग्रंथ रचता हूँ। इस प्रकार पद्मसागरजीने बड़े अहंकारके साथ अपना ग्रंथकर्तृत्व प्रगट किया है। परन्तु आपकी इस कृतिको देखते हुए कहना पड़ता है कि **आपका यह कोरा और थोथा अहंकार विद्वानोंकी दृष्टिमें केवल हास्यास्पद होनेके सिवाय और कुछ भी नहीं है।** यहाँ पाठकोंपर अमितगतिका वह पद्य भी प्रगट किया जाता है, जिसको बदलकर ही गणीजीने ऊपरके दो श्लोक (नं० ४–५) बनाए हैं:—

धर्मो गणेशेन परीक्षितो यः कथं परीक्षेतमहं जडात्मा।
शक्तो हि यं भक्तुमिभाधिराजः स भज्यते किं शशकेन वृक्षः॥ १५॥

इस पद्यमें अमितगति आचार्य, अपनी लघुता प्रकट करते हुए, लिखते हैं कि—'जो धर्म गणधर देवके द्वारा परीक्षा किया गया है वह मुझ जडात्मासे कैसे परीक्षा किया जासकता है? जिस वृक्षको गजराज तोड डालनेमें समर्थ है क्या उसे शशक भंग कर सकता है?' इसके बाद दूसरे पद्यमें लिखा है—'परन्तु विद्वान् मुनीश्वरोंने जिस धर्ममें प्रवेश करके उसके प्रवेशमार्गको सरल कर दिया है उसमें मुझ जैसे मूर्खका प्रवेश हो सकता है; क्योंकि वज्रसूचीसे छिद्र किये जाने पर मुक्तामणिमें सूतका नरम डोरा भी प्रवेश करते देखा जाता है।' पाठकगण देखा, कैसी अच्छी उक्ति और कितना नम्रतामय भाव है। कहाँ मूलकर्ताका यह भाव, और कहाँ उसको चुराकर अपनी कृति बनानेवालेका उपर्युक्त अहंकार! मैं समझता हूँ यदि पद्मसागरजी इसी प्रकारका कोई नम्र भाव प्रगट करते तो उनकी शानमें कुछ भी फर्क न आता। परन्तु मालूम होता है कि आपमें इतनी भी उदारता नहीं थी और तभी आपने, साधु होते हुए भी, दूसरोंकी कृतिको अपनी कृति बनानेरूप यह असाधु कार्य किया है!!

इसी तरह पर और भी कितने ही ग्रन्थ श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जाली तथा अर्ध-जाली पाए जाते हैं, जिन सबकी जाँच, परीक्षा तथा समालोचना होनेकी जरूरत है। श्वे० सम्प्रदायके निष्पक्ष विद्वानोंको आगे आकर इसके लिये खास परिश्रम करना चाहिये और वैसे ग्रन्थोंके विषयमें यथार्थ वस्तुस्थितिको समाजके सामने रखना चाहिये। ऐसा किया जाने पर विचारस्वातंत्र्य फैलेगा, विवेक जागृत होगा और वह साम्प्रदायिकता तथा अन्धी श्रद्धा दूर हो सकेगी जो जैन समाजकी प्रगतिको रोके हुए है। इत्यलम्।

बम्बई। ता० ८ अगस्त सन् १९१७।

अकलंकप्रतिष्ठापाठकी जाँच।



'अकलंक-प्रतिष्ठापाठ' या 'प्रतिष्ठाकल्प' नामका एक ग्रंथ है, जिसे 'अकलंक-संहिता' भी कहते हैं और जो जैनसमाजमें प्रचलित है। कहा जाता है कि 'यह ग्रन्थ उन भट्टाकलंक देवका बनाया हुआ है जो 'राजवार्तिक' और 'अष्टशती' आदि ग्रन्थोंके कर्ता हैं और जिनका समय विक्रमकी ८ वीं शताब्दी माना जाता है। यद्यपि विद्वानोंको इस कथन पर संदेह भी है, परन्तु तो भी उक्त कथन वास्तवमें सत्य है या नहीं इसका अभीतक कोई निर्णय प्रगट नहीं हुआ। अतः यहाँ इसी विषयका निर्णय करनेके लिए यह लेख लिखा जाता है:—

यह तो स्पष्ट है कि इस ग्रन्थमें ग्रन्थके बननेका कोई सन्-संवत् नहीं दिया। परन्तु ग्रन्थकी संधियोंमें ग्रन्थकर्ताका नाम 'भट्टाकलंकदेव' जरूर लिखा है। यथाः—

इत्यार्षे श्रीमद्भट्टाकलंकदेवसंगृहीते प्रतिष्ठाकल्पनाम्नि ग्रंथे सूत्रस्थाने प्रतिष्ठादिचतुष्टयनिरूपणीयो नाम प्रथमः परिच्छेदः ॥ १ ॥

संधियोंको छोड़कर पद्योंमें भी ग्रन्थकर्ताने अपना नाम 'भट्टाकलंकदेव' प्रकट किया है। जैसा कि आदि अन्तके निम्न लिखित दो पद्योंसे ज़ाहिर है:—

"प्रतिष्ठाकल्पनामासौ ग्रंथः सारसमुच्चयः।
भट्टाकलंकदेवेन साधुसंगृह्यते स्फुटम् ॥ ५ ॥"
"भट्टाकलंकदेवेन कृतो ग्रंथो यथागमम्।
प्रतिष्ठाकल्पनामासौ स्थेयादाचंद्रतारकम् ॥"

'राजवार्तिक' के कर्ताको छोड़कर, भट्टाकलंकदेव नामके कोई दूसरे विद्वान् आचार्य जैनसमाजमें प्रसिद्ध नहीं हैं। इस लिए मालूम होता है कि, संधियों और पद्योंमें 'भट्टाकलंकदेव' का नाम लगा होनेसे ही यह ग्रन्थ राजवार्तिकके कर्ताका बनाया हुआ समझ लिया गया है। अन्यथा, ऐसा समझ लेने और कथन करनेकी कोई दूसरी वजह नहीं है। भट्टाकलंकदेवके बाद होनेवाले किसी माननीय प्राचीन आचार्यकी कृतिमें भी इस ग्रन्थका कोई उल्लेख नहीं मिलता। प्राचीन शिलालेख भी इस विषयमें मौन हैं— उनसे कुछ पता नहीं चलता। ऐसी हालतमें पाठक समझ सकते हैं कि उक्त कथन कहाँ तक विश्वास किये जानेके योग्य हो सकता है। अस्तु। जहाँतक मैंने इस ग्रन्थको देखा और इसके साहित्यकी जाँच की है उससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ वास्तवमें राजवार्तिकके कर्ता भट्टाकलंकदेवका बनाया हुआ नहीं है; उनसे बहुत पीछेका बना हुआ है। भट्टाकलंकदेवके साहित्य और उनकी कथनशैलीसे इस ग्रन्थके साहित्य और कथनशैलीका कोई मेल नहीं है। इसका अधिकांश साहित्य-शरीर ऐसे ग्रन्थोंके आधार-पर बना हुआ है जिनका निर्माण भट्टाकलंकदेवके अवतारसे बहुत पीछेके समयोंमें हुआ

है। यहाँ पाठकोंके संतोषार्थ कुछ प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं, जिनसे पाठकोंको इस बातका भी अनुभव हो जायगा कि यह ग्रन्थ कब बना है और किसने बनाया है:—

(१) इस प्रतिष्ठापाठके पाँचवें परिच्छेदमें बहुतसे पद्य ऐसे पाए जाते हैं जो भगवज्जिनसेनप्रणीत 'आदिपुराण' से ज्योंके त्यों या कुछ परिवर्तनके साथ उठाकर रक्खे गये हैं। नमूनेके तौर पर कुछ पद्य इस प्रकार हैं:—

चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापणं च यत्।
शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदार्चनम् ॥ २३ ॥

यह पद्य आदिपुराणके ३८ वें पर्वका २८ वाँ पद्य है और यहाँ ज्योंका त्यों बिना किसी परिवर्तनके रक्खा गया है।

ताः सर्वा अप्यर्हदीज्यापूर्विका यत इत्यतः।
विधिज्ञास्तामुशन्तीज्यां वृत्तिं प्राथमकल्पकीम् ॥ २० ॥

इस पद्यका उत्तरार्ध और आदिपुराणके उक्त पर्व सम्बन्धी ३४ वें पद्यका उत्तरार्ध दोनों एक हैं। परन्तु पूर्वार्ध दोनों पद्योंके भिन्न भिन्न पाए जाते हैं। आदिपुराणके उक्त ३४ वें पद्यका पूर्वार्ध है 'एवं विधविधानेन या महेज्या जिनेशिनाम्'। ग्रन्थकर्त्ताने इस पूर्वार्धको अपने इसी परिच्छेदके ३० वें पद्यका पूर्वार्ध बनाया है। और इस तरह पर आदिपुराणके एक पद्यको दो टुकड़ोंमें विभाजित करके उन्हें अलग अलग स्थानों पर रक्खा है।

बलिस्नपनमन्यच्च व्रतमुद्यापनादिकम्।
उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम् ॥ २९ ॥

यह पद्य आदिपुराणके ३८ वें पर्वमें नं० ३३ पर इसी प्रकारसे दर्ज है, सिर्फ 'मित्यन्यत् त्रिसंध्यासेवया समम्' की जगह यहां 'मन्यच्च व्रतमुद्यापनादिकम्' ऐसा परिवर्तन पाया जाता है। इस परिवर्तनसे ग्रन्थकर्त्ताने 'त्रिसंध्यासेवा' के स्थानमें 'व्रत' और 'उद्यापनादिक' को खास तौरसे पंच प्रकारके पूजनमें शामिल किया है। अस्तु; इन उदाहरणोंसे प्रकट है कि यह ग्रन्थ (प्रतिष्ठापाठ) भगवज्जिनसेनके आदिपुराणसे पहलेका बना हुआ नहीं है। परन्तु भट्टाकलंकदेव भगवज्जिनसेनसे पहले हो चुके हैं। भगवज्जिनसेनने, 'भट्टाकलंक-श्रीपाल-पात्रकेसरिणां गुणाः' इत्यादि पद्यके द्वारा, आदिपुराणमें, उनका स्मरण भी किया है। ऐसी हालतमें यह ग्रन्थ कदापि भट्टाकलंकदेवका बनाया हुआ नहीं हो सकता। और इस लिए कहना होगा कि यह प्रतिष्ठापाठ भगवज्जिनसेनके आदिपुराणसे पीछेका—अर्थात्, विक्रमकी ९ वीं शताब्दीके बादका—बना हुआ है।

(२) इस ग्रन्थके तीसरे परिच्छेदमें एक स्थान पर, प्राणायामका स्वरूप बतलाते हुए, कुछ पद्य दिये हैं। उनमेंसे एक पद्य इस प्रकार है:—

द्वादशान्तात्समाकृष्य यः समीरः प्रपूर्यते ।
स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोविदैः ॥ ६८ ॥

यह पद्य और इसके बादके दो पद्य और, जो 'निरुणद्धि' और 'निःसार्यते' शब्दोंसे प्रारंभ होते हैं, ज्ञानार्णवके २९ वें प्रकरणमें क्रमशः नं० ४,५ और ६ पर दर्ज हैं। इससे प्रकट है कि यह ग्रन्थ ज्ञानार्णवके बादका बना हुआ है। ज्ञानार्णव ग्रन्थके कर्ता श्रीशुभचंद्र आचार्यका समय विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके लगभग माना जाता है। उन्होंने अपने इस ग्रंथमें, समंतभद्र, देवनन्दि और जिनसेनका स्मरण करते हुए, 'श्रीमद्भट्टाकलंकस्य पातु पुण्या सरस्वती' इस पद्यके द्वारा भट्टाकलंकदेवका भी बड़े गौरवके साथ स्मरण किया है। इस लिए यह प्रतिष्ठापाठ, जिसमें शुभचन्द्रके वचनोंका उल्लेख पाया जाता है, भट्टाकलंकदेवका बनाया हुआ न होकर विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके बादका बना हुआ है, यह कहनेमें कोई संकोच नहीं होता।

(३) एकसंधि भट्टारकका बनाया हुआ, 'जिनसंहिता' नामका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थसे सैंकड़ों पद्य ज्योंके त्यों या कुछ परिवर्तनके साथ उठाकर इस प्रतिष्ठापाठमें रक्खे गये हैं। कई स्थानों पर उक्त संहिताका नामोल्लेख भी किया है और उसके अनुसार किसी खास विषयके कथनकी प्रतिज्ञा या सूचना की गई है। यथाः—

द्वितीये मंडले लोकपालानामष्टकं भवेत् ।
इति पक्षान्तरं जैनसंहितायां निरूपितम् ॥ ७-१८ ॥
यदि व्यासात्पृथक्तेषां बलिदानं विवक्षितम् ।
निरूप्यते तच्च जैनसंहितामार्गतो यथा ॥ १०-८ ॥

पहले पद्यमें जैनसंहिताके अनुसार कथनकी सूचना और दूसरेमें प्रतिज्ञा की गई है। दूसरे पद्यमें जिस 'बलिदान' के कथनकी प्रतिज्ञा है उसका वर्णन करते हुए जो पद्य दिये हैं उनमेंसे बहुतसे पद्य ऐसे हैं जो उक्त संहितासे ज्योंके त्यों उठाकर रक्खे गये हैं। जैसा कि नं० ४७ के उत्तरार्धसे लेकर नं० ६१ के पूर्वार्ध तकके १४ पद्य बिल्कुल वही हैं जो उक्त संहिताके २४ वें परिच्छेदमें नं० ३ से १६ तक दर्ज हैं। इन पद्योंमेंसे एक पद्य नमूनेके तौर पर इस प्रकार है:—

पाशिनो धान्यदुग्धान्नं वायोः संपिष्टशर्वरी ।
यक्षस्य पायसं भक्तं साज्यं क्षीरान्नमीशिनः ॥ ५ ॥

यहाँ पाठकोंको यह जानकर और भी आश्चर्य होगा कि इस प्रतिष्ठापाठका मंगलाचरण भी उक्त संहितापरसे लिया गया है। वह मंगलाचरण इस प्रकार है:—

विज्ञानं विमलं यस्य विशदं विश्वगोचरं ।
नमस्तस्मै जिनेन्द्राय सुरेन्द्राभ्यर्चितांघ्रये ॥ १ ॥
वंदित्वा च गणाधीशं श्रुतस्कंधमुपास्य च ।
ऐदंयुगीनामाचार्यानपि भक्त्या नमाम्यहम् ॥ २ ॥

मंगलाचरणके ये दोनों पद्य उक्त संहिताके शुरूमें क्रमशः नं० २ और ३ पर दर्ज हैं। सिर्फ दूसरे पद्यके उत्तरार्धमें भेद है। संहितामें वह उत्तरार्ध इस प्रकारसे दिया है:—

संग्रहिष्यामि मंदानां वोधाय जिनसंहिताम्।

पाठक समझ सकते हैं कि जिस ग्रन्थमें मंगलाचरण भी ग्रन्थकर्ताका अपना बनाया हुआ न हो, वह ग्रन्थ क्या भट्टाकलंकदेव जैसे महाकवियोंका बनाया हुआ हो सकता है ? कभी नहीं। वास्तवमें यह ग्रन्थ एक संग्रह* ग्रन्थ है। इसमें न सिर्फ अर्थोंका बल्कि शब्दोंका भी संग्रह किया गया है। ग्रन्थकर्ताकी उक्तियाँ इसमें बहुत कम हैं। जैसा कि इसके एक निम्न लिखित पद्यसे भी प्रगट है:—

श्लोकाः पुरातनाः किञ्चिल्लिख्यंते लक्ष्यबोधकाः।
प्रायस्तदनुसारेण मदुक्ताश्च क्वचित् क्वचित्॥ १०॥

भट्टारक एकसंधिका समय विक्रमकी १३ वीं शताब्दी पाया जाता है। इसलिए यह प्रतिष्ठापाठ, जिसमें उक्त भट्टारकजीकी संहिताकी बहुत कुछ नकल की गई है, विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके बादका बना हुआ है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

(४) इस प्रतिष्ठापाठको १३ वीं शताब्दीके बादका बना हुआ कहनेमें एक प्रबल प्रमाण और भी है। और वह यह है कि इसमें पं० आशाधरजीके बनाए हुए 'जिनयज्ञकल्प' नामक प्रतिष्ठापाठ और 'सागारधर्मामृत' के बहुतसे पद्य, ज्योंके त्यों या कुछ परिवर्तनके साथ, पाये जाते हैं; जिनका एक एक नमूना इस प्रकार है:—

किमिच्छकेन दानेन जगदाशा प्रपूर्य यः।
चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हद्यज्ञः कल्पद्रुमो मतः॥ ५-२७॥
देशकालानुसारेण व्यासतो वा समासतः।
कुर्वन्करुणां क्रियां शक्तो दातुश्चित्तं न दूषयेत्॥ ५-७३॥

पहला पद्य 'सागरधर्मामृत' के दूसरे अध्यायका २८ वाँ और दूसरा पद्य 'जिनयज्ञकल्प' के पहले अध्यायका १४० वाँ पद्य है। जिनयज्ञकल्पको, पंडित आशाधरजीने, वि० सं० १२८५ में और सागारधर्मामृतको उसकी टीकासहित वि० सं० १२९६ में बनाकर समाप्त किया है। इससे स्पष्ट है कि यह अकलंकप्रतिष्ठापाठ विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके बादका बना हुआ है।

(५) इस ग्रंथके तीसरे परिच्छेदमें, एक स्थान पर यह दिखलाते हुए कि जिनमंदिरमें विलासिनीके नाचके लिए एक सुन्दर नाचघर (नृत्यमंडप) भी होना चाहिए, एक पद्य इस प्रकारसे दिया है:—

नृत्यद्विलासिनीरम्यनृत्यमंडपमंडितम्।
पुरः पार्श्वद्वये यक्षयक्षीभवनसंयुतम्॥ ११७॥

---

* ग्रन्थकी प्रतिज्ञा और संधियोंमें भी इसे ऐसा ही प्रगट किया है।

यह ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचारके चौथे पर्वका १९७ वाँ पद्य है। उक्त त्रिवर्णाचारके और भी बहुतसे पद्य इस ग्रंथमें पाये जाते हैं। इसी तीसरे परिच्छेदमें लगभग २५ पद्य और हैं, जो उक्त त्रिवर्णाचारसे उठाकर रक्खे गये हैं। इससे प्रकट है कि यह ग्रंथ (प्रतिष्ठापाठ) ब्रह्मसूरित्रिवर्णाचारके वादका वना हुआ है। ब्रह्मसूरिका समय विक्रमकी प्रायः १५ वीं शताब्दी पाया जाता है। इस लिए यह प्रतिष्ठापाठ विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके वादका वना हुआ है।

(६) इस ग्रंथके शुरूमें मंगलाचरणके वाद ग्रंथ रचनेकी जो प्रतिज्ञा की गई है उसमें 'नेमिचंद्रप्रतिष्ठापाठ'का भी एक उल्लेख है। यथाः—

अथ श्रीनेमिचन्द्रीयप्रतिष्ठाशास्त्रमार्गतः।
प्रतिष्ठायास्तदायुक्तरांगानां स्वयमंगिनाम्॥ ३॥

नेमिचन्द्र-प्रतिष्ठापाठ 'गोम्मटसार' के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीका वनाया हुआ न होकर उन गृहस्थ नेमिचंद्रसूरिका वनाया हुआ है जो देवेन्द्रके पुत्र तथा ब्रह्मसूरिके भानजे थे और जिनके वंशादिकका विशेष परिचय पानेके लिए पाठकोंको उक्त प्रतिष्ठापाठ पर लिखे हुए उस नोटको देखना चाहिए जो जैनहितैषीके १२ वें भागके अंक नं. ४–५ में प्रकाशित हुआ है। उक्त नोटमें नेमिचंद्र-प्रतिष्ठापाठके वननेका समय विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके लगभग वतलाया गया है। ऐसी हालतमें विवादस्थ प्रतिष्ठापाठ विक्रमकी १६ वीं शताब्दीका या उससे भी कुछ पीछेका वना हुआ मालूम होता है। परन्तु इसमें तो कोई संदेह नहीं कि वह १६ वीं शताब्दीसे पहलेका वना हुआ नहीं है। अर्थात्, विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके वादका वना हुआ है। परन्तु कितने वादका वना हुआ है, इतना निश्चय करना अभी और वाकी है।

(७) 'सोमसेनत्रिवर्णाचार' के पहले अध्यायमें एक प्रतिज्ञावाक्य इस प्रकारसे दिया है:—

यत्प्रोक्तं जिनसेनयोग्यगणिभिः सामन्तभद्रैस्तथा
सिद्धान्ते गुणभद्रनाममुनिभिर्भट्टाकलंकैः परैः।
श्रीसूरिद्विजनामधेयविवुधैराशाधरैर्वाग्वरै—
स्तद्दृष्ट्वा रचयामि धर्मरसिकं शास्त्रं त्रिवर्णात्मकम्॥

इस वाक्यमें जिन आचार्योंके अनुसार कथन करनेकी प्रतिज्ञाकी गई है उनमें 'भट्टाकलंक' का भी एक नाम है। इन भट्टाकलंकसे 'अकलंक-प्रतिष्ठापाठ' के कर्ताका ही अभिप्राय जान पड़ता है, 'राजवार्तिक' के कर्ताका नहीं। क्योंकि सोमसेनत्रिवर्णाचारमें जिस प्रकार 'जिनसेन' आदि दूसरे आचार्योंके वाक्योंका उल्लेख पाया जाता है उस प्रकार राजवार्तिकके कर्ता भट्टाकलंकदेवके वनाये हुए किसी भी ग्रन्थका प्रायः कोई

उल्लेख नहीं मिलता। प्रत्युत, अकलंक-प्रतिष्ठापाठके बहुतसे पद्यों और कथनोंका समावेश उसमें जरूर पाया जाता है। ऐसी हालतमें, सोमसेन त्रिवर्णाचारमें 'अकलंक-प्रतिष्ठापाठ' का उल्लेख किया गया है, यह कहना समुचित प्रतीत होता है। सोमसेनत्रिवर्णाचार वि० सं० १६६५ में बनकर समाप्त हुआ है और अकलंकप्रतिष्ठापाठका उसमें उल्लेख है। इस लिए अकलंक-प्रतिष्ठापाठ वि० सं० १६६५ से पहले बन चुका था, इस कहनेमें भी कोई संकोच नहीं होता।

नतीजा इस संपूर्ण कथनका यह है कि **विवादस्थ प्रतिष्ठापाठ राजवार्तिकके कर्ता भट्टाकलंकदेवका बनाया हुआ नहीं है और न विक्रमकी १६ वीं शताब्दीसे पहलेका ही बना हुआ है।** बल्कि उसकी रचना विक्रमकी १६ वीं शताब्दी या १७ वीं शताब्दीके प्रायः पूर्वार्धमें हुई है। अथवा यों कहिए कि वह वि० सं० १५०१ और १६६५ के मध्यवर्ती किसी समयका बना हुआ है।

अब रही यह बात कि, जब यह ग्रन्थ राजवार्तिकके कर्ता भट्टाकलंकदेवका बनाया हुआ नहीं है और न 'भट्टाकलंकदेव' नामका कोई दूसरा विद्वान् जैनसमाजमें प्रसिद्ध है, तब इसे किसने बनाया है? इसका उत्तर इस समय सिर्फ इतना ही हो सकता है कि, या तो यह ग्रन्थ 'अकलंक' या 'अकलंकदेव' नामके किसी ऐसे अप्रसिद्ध भट्टारक या दूसरे विद्वान् महाशयका बनाया हुआ है जो उपर्युक्त समयके भीतर हुए हैं और जिन्होंने अपने नामके साथ स्वयं ही 'भट्ट' की महत्त्वसूचक उपाधिको लगाना पसंद किया है *। अथवा इसका निर्माण किसी ऐसे व्यक्तिने किया है जो इस ग्रन्थके द्वारा अपने किसी क्रियाकांड या मंतव्यके समर्थनादिरूप कोई इष्ट प्रयोजन सिद्ध करना चाहता हो और इस लिए उसने स्वयं ही इस ग्रन्थको बनाकर उसे भट्टाकलंकदेवके नामसे प्रसिद्ध किया

---

* बादको 'हिस्ट्री ऑफ कनडीज़ लिटरेचर' (कनडी साहित्यका इतिहास) से मालूम हुआ कि इस समयके भीतर 'भट्टाकलंकदेव' नामके एक दूसरे विद्वान् हुए हैं जो दक्षिणकनाडामें हाडुवल्लिमठके अधिपति भट्टारकके शिष्य थे और जिन्होंने विक्रमकी १७ वीं शताब्दीमें (ई० स० १६०४ में) कनडीभाषाका एक बडा व्याकरण संस्कृतमें लिखा है, जिसका नाम है 'कर्णाटकशब्दानुशासनम्' और जिसपर संस्कृतकी एक विस्तृत टीकाभी आपकी ही लिखी हुई है। हो सकता है कि यह प्रतिष्ठापाठ आपकी ही रचना हो। परंतु फिर भी इसमें मंगलाचरणका दूसरे ग्रन्थसे उठाकर रक्खा जाना कुछ खटकता जरूर है; क्यों कि आप संस्कृतके अच्छे विद्वान कहे जाते हैं। यदि आपका उक्त शब्दानुशासन मुझे देखनेके लिये मिल सकता तो इस विषयका कितना ही संदेह दूर हो सकता था। लेखक।

हो और इस तरह पर यह ग्रन्थ भी एक जाली ग्रन्थ बना हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि, यह ग्रन्थ कोई महत्वका ग्रन्थ नहीं है। इसमें बहुतसे कथन ऐसे भी पाए जाते हैं जो जैनधर्मके विरुद्ध हैं, अथवा जैनसिद्धान्तोंसे जिनका कोई मेल नहीं है। चूँकि यह लेख सिर्फ ग्रन्थकी ऐतिहासिकता—ग्रन्थकर्ता और ग्रन्थके बननेका समय—निर्णय करनेके लिए ही लिखा गया है इस लिए यहाँ पर विरुद्ध कथनोंके उल्लेखको छोड़ा जाता है। इस प्रकारके विरुद्ध कथन और भी प्रतिष्ठापाठोंमें पाए जाते हैं; जिन सबकी विस्तृत आलोचना होनेकी ज़रूरत है। अवसर मिलने पर प्रतिष्ठापाठोंके विषय पर एक स्वतंत्र लेख लिखा जायगा और उसमें यह भी दिखलाया जायगा कि उनका वह कथन कहाँ तक जैनधर्मके अनुकुल या प्रतिकूल है।

देवबन्द। ता० २६ मार्च, सन् १९१७

पूज्यपाद-उपासकाचारकी जाँच।

—:o:—

सन् १९०४ में, 'पूज्यपाद' आचार्यका बनाया हुआ 'उपासकाचार' नामका एक संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। उसे कोल्हापुरके पंडित श्रीयुत कलापा भरमापाजी निटवेने, मराठी पद्यानुवाद और मराठी अर्थसहित, अपने 'जैनेंद्र' छापाखानेमें छापकर प्रकाशित किया था। जिस समय ग्रन्थकी यह छपी हुई प्रति मेरे देखनेमें आई तो मुझे इसके कितनेही पद्योंपर संदेह हुआ और यह इच्छा पैदा हुई कि इसके पद्योंकी जाँच की जाय, और यह मालूम किया जाय कि यह ग्रन्थ कौनसे पूज्यपाद आचार्यका बनाया हुआ है। तभीसे मेरी इस विषयकी खोज जारी है। और उस खोजसे अबतक जो कुछ नतीजा निकला है उसे प्रकट करनेके लिये ही यह लेख लिखा जाता है।

सबसे पहले मुझे देहलीके 'नया मंदिर' के शास्त्र-भंडारमें इस ग्रन्थकी हस्तलिखित प्रतिका पता चला। इस प्रतिके साथ छपी हुई प्रतिका जो मिलान किया गया तो उससे मालूम हुआ कि उसमें छपी हुई प्रतिके निम्नलिखित छह श्लोक नहीं हैं—

पूर्वापरविरोधादिदूरं हिंसाद्यपासनम्।
प्रमाणद्वयसंवादि शास्त्रं सर्वज्ञभाषितम्॥ ७॥
गोपुच्छिकश्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः।
निष्पिच्छश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः॥ १०॥
नास्त्यर्हतः परो देवो धर्मो नास्ति दयां विना।
तपः परञ्च नैर्ग्रन्थ्यमेतत्सम्यक्त्वलक्षणं॥ ११॥

मांसाशिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु ।
धर्मभावो न जीवेषु मधूदुम्बरसेविषु ॥ १५ ॥
चित्ते भ्रान्तिर्जायते मद्यपानात् भ्रान्तं चित्तं पापचर्यामुपैति ।
पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढास्तस्मान्मद्यं नैव देयं न पेयं ॥ १६ ॥
अणुव्रतानि पंचैव त्रिःप्रकारं गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि इत्येतद् द्वादशात्मकम् ॥ २२ ॥

साथ ही, यह भी मालूम हुआ कि देहलीवाली प्रतिमें नीचे लिखे हुए दस श्लोक छपी हुई प्रतिसे अधिक हैं—

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदञ्च चतुःपदम् ।
आसनं शयनं कुप्यं भांडं चेति बहिर्दश ॥ ७ ॥
मृद्वी च द्रवसंपन्ना मातृयोनिसमानिका ।
सुखानां सुखिनः प्रोक्ता तत्पुण्यप्रेरिता स्फुटम् ॥ ५३ ॥
सज्जातिः सद्गृहस्थत्वं पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता ।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाणं चेति सप्तधा ॥ ५६ ॥
खर्जूरं पिंडखर्जूरं कादल्यं शर्करोपमान् ।
मृद्विक्षादिके भोगांश्च भुंजते नात्र संशयः ॥ ६० ॥
ततः कुत्सितदेवेषु जायन्ते पापपाकतः ।
ततः संसारगर्तासु पञ्चधा भ्रमणं सदा ॥ ६१ ॥
प्रतिग्रहोन्नतस्थानं पादक्षालनमर्चनम् ।
नमस्त्रिविधयुक्तेन एषणा नव पुण्ययुक् ॥ ६४ ॥
श्रुतिस्मृतिप्रसादेन तत्वज्ञानं प्रजायते ।
ततो ध्यानं ततो ज्ञानं बंधमोक्षो भवेत्ततः ॥ ७० ॥
नामादिभिश्चतुर्भेदैर्जिनसंहितया पुनः ।
यंत्रमंत्रक्रमेणैव स्थापयित्वा जिनाकृतिम् ॥ ७६ ॥
उपवासो विधातव्यो गुरूणां स्वस्य साक्षिकः ।
सोपवासो जिनैरुक्तो न च देहस्य दंडनम् ॥ ८१ ॥
दिवसस्याष्टमे भागे मन्दीभूते दिवाकरे ।
तं नक्तं प्राहुराचार्या न नक्तं रात्रिभोजनम् ॥ ९२ ॥

श्लोकोंकी इस न्यूनाधिकताके अतिरिक्त दोनों प्रतियोंमें कहीं कहीं पद्योंका कुछ क्रमभेद भी पाया गया, और वह इस प्रकार है—

देहलीवाली प्रतिमें, छपी हुई प्रतिके ५५ वें पद्यसे ठीक पहले उसी प्रतिका ५७ वाँ पद्य, नम्बर ७० के श्लोकसे ठीक पहले नं० ६८ का श्लोक, नं० ७३ वाले पद्यके

अनन्तर नं० ७१ का पद्य, नं० ७८ वाले पद्यसे पहले नं० ७९ का पद्य और नं० ९२ के श्लोकके अनन्तर उसी प्रतिका अन्तिम श्लोक नं० ९६ दिया है। इसी तरह ९० नम्बरके पद्यके अनन्तर उसी प्रतिके ९४ और ९५ नम्बरवाले पद्य क्रमशः दिये हैं।

इस क्रमभेदके सिवाय, दोनों प्रतियों के किसी किसी श्लोकमें परस्पर कुछ पाठ-भेद भी उपलब्ध हुआ; परन्तु वह कुछ विशेष महत्व नहीं रखता, इसलिये उसे यहाँपर छोडा जाता है।

देहलीकी इस प्रतिसे संदेहकी कोई विशेष निवृत्ति न हो सकी, बल्कि कितने ही अंशोंमें उसे और भी ज्यादा पुष्टि मिली और इसलिये ग्रन्थकी दूसरी हस्तलिखित प्रतियोंके देखनेकी इच्छा बनी ही रही। कितने ही भंडारोंको देखनेका अवसर मिला और कितनेही भंडारोंकी सूचियाँ भी नज़रसे गुजरीं, परन्तु उनमें मुझे इस ग्रन्थका दर्शन नहीं हुआ। अन्तको पिछले साल जब मैं 'जैनसिद्धान्तभवन' का निरीक्षण करनेके लिये आरा गया और वहाँ करीब दो महीनेके ठहरना हुआ, तो उस वक्त भवनसे मुझे इस ग्रन्थकी दो पुरानी प्रतियाँ कनडी अक्षरोंमें लिखी हुई उपलब्ध हुईं—एक ताडपत्रोंपर और दूसरी कागजपर। इन प्रतियोंके साथ छपी हुई प्रतिका जो मिलान किया गया तो उससे मालूम हुआ कि इन दोनों प्रतियोंमें छपी हुई प्रतिके वे छह श्लोक नहीं हैं जो देहलीवाली प्रतिमें भी नहीं हैं, और न वे दस श्लोक ही हैं जो देहली की प्रतिमें छपी हुई प्रतिसे अधिक पाए गये हैं और जिन सबका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इसके सिवाय, इन प्रतियोंमें छपी हुई प्रतिके नीचे लिखे हुए पन्द्रह श्लोक भी नहीं हैं—

क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम्।
जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेदः खेदो मदोरतिः ॥ ४ ॥
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवः।
त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥ ५ ॥
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरंजनः।
विद्यन्ते येषु ते नित्यं तेऽत्र संसारिणः स्मृताः ॥ ६ ॥
स्वतत्वपरतत्वेषु हेयोपादेयनिश्चयः।
संशयादिविनिर्मुक्तः स सम्यग्दृष्टिरुच्यते ॥ ९ ॥
रक्तमात्रप्रवाहेण स्त्री निन्द्या जायते स्फुटम्।
द्विधातुजं पुनर्मांसं पवित्रं जायते कथम् ॥ १९ ॥
अक्षरैर्न विना शब्दास्तेऽपि ज्ञानप्रकाशकाः।
तद्रक्षार्थं च षट् स्थाने मौनं श्रीजिनभाषितम् ॥ ४१ ॥
दिव्यदेहप्रभावर्ताः सप्तधातुविवर्जिताः।
गर्भोत्पत्तिर्न तत्रास्ति दिव्यदेहास्ततोमताः ॥ ५७ ॥

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः ।
अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भैषजाद्भवेत् ॥ ६९ ॥
येनाकारेण मुक्तात्मा शुक्लध्यानप्रभावतः ।
तेनायं श्रीजिनोदेवो बिम्बाकारेण पूज्यते ॥ ७२ ॥
आप्तस्यासन्निधानेऽपि पुण्यायाकृतिपूजनम् ।
तार्क्ष्यमुद्रा न किं कुर्युर्विषसामर्थ्यसूदनम् ॥ ७३ ॥
जन्मजन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः ।
तेनैवाभ्यासयोगेन तत्रैवाभ्यस्यते पुनः ॥ ७४ ॥
अष्टमी चाष्टकर्माणि सिद्धिलाभा चतुर्दशी ।
पंचमी केवलज्ञानं तस्मात्तत्र यमाचरेत् ॥ ७९ ॥
कालक्षेपो नकर्तव्य आयुःक्षीणं दिने दिने ।
यमस्य करुणा नास्ति धर्मस्य त्वरिता गतिः ॥ ९४ ॥
अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥ ९५ ॥
जीवंतं मृतकं मन्ये देहिनं धर्मवर्जितम् ।
मृतो धर्मेण संयुक्तो दीर्घजीवी भविष्यति ॥ ९६ ॥

छपी हुई प्रतिसे इन प्रतियोंमें अधिक पद्य कोई नहीं है; क्रम-भेदका उदाहरण सिर्फ एक ही पाया जाता है और वह यह है कि, छपी हुई प्रतिमें जो पद्य ५० और ५१ नम्बरों पर दिये है वे पद्य इन प्रतियोंमें क्रमशः ३९ और ३८ नम्बरों पर—अर्थात्, आगे पीछे—पाये जाते हैं। रही पाठभेदकी बात, वह कुछ उपलब्ध जरूर होता है और कहीं कहीं इन दोनों प्रतियोंमें परस्पर भी पाया जाता है। परंतु वह भी कुछ विशेप महत्व नहीं रखता और उसमें ज्यादातर छापे की तथा लेखकों की भूलें शामिल हैं। तो भी दो एक खास खास पाठभेदोंका यहाँ परिचय करा देना मुनासिब मालूम होता है; और वह इस प्रकार है—

(१) तीसरे पद्यमें ' निर्ग्रन्थः स्यात्तपस्वी च ' (तपस्वी निर्ग्रन्थ होता है) के स्थानमें आराकी प्रतियोंमें ' निर्ग्रन्थेन भवेन्मोक्षः' (निर्ग्रंथ होनेसे मोक्ष होता है) ऐसा पाठ दिया है। देहलीवाली प्रतिमें भी यही पाठ ' निर्ग्रन्थ न भवेन्मोक्षः' ऐसे अशुद्ध रूपसे पाया जाता है।

(२) छपी हुई प्रतिके ३० वें पद्यमें 'न पापं च अमी देयाः' ऐसा जो एक चरण है वह ताडपत्रवाली प्रतिमें भी वैसा ही है। परंतु आराकी दूसरी प्रतिमें उसका रूप ' न परेपाममीदेयाः' ऐसा दिया है और देहलीवाली प्रतिमें वह ' न दातव्या इमे नित्यं ' इस रूपमें उपलब्ध होता है।

(३) छपी हुई प्रतिमें एक पद्य * इस प्रकार दिया हुआ है—

वृक्षा दावाग्निनालग्नास्तत्सख्यं कुर्वते वने।
आत्मारूढतरोरग्निमागच्छन्तं न वेत्यसौ ॥ ९१ ॥

इस पद्यका पूर्वार्ध कुछ अशुद्ध जान पडता है और इसी से मराठीमें इस पद्यका जो यह अर्थ किया गया है कि 'वनमें दावाग्निसे ग्रसे हुए वृक्ष उस दावाग्निसे मित्रता करते हैं, परन्तु जीव स्वयं जिस देहरूपी वृक्षपर चढा हुआ है उसके पास आती हुई अग्निको नहीं जानता है' वह ठीक नहीं मालूम होता। आराकी प्रतियोंमें उक्त पूर्वार्धका शुद्ध रूप '**वृक्षा दावाग्निलग्ना ये तत्संख्या कुरुते वने**' इस प्रकार दिया है और इससे अर्थकी संगति भी ठीक वैठ जाती है—यह आशय निकल आता है कि 'एक मनुष्य वनमें, जहाँ दावाग्नि फैली हुई है, वृक्षपर चढा हुआ, उन दूसरे वृक्षोंकी गिनती कर रहा है जो दावाग्निसे ग्रस्त होते जाते हैं (यह कह रहा है कि अमुक वृक्षको आग लगी, वह जला और वह गिरा।) परन्तु स्वयं जिस वृक्षपर चढा हुआ है उसके पास आती हुई आगको नहीं देखता है। इस अलंकृत आशयका स्पष्टीकरण भी ग्रंथमें अगले पद्य द्वारा किया गया है और इससे दोनों पद्योंका सम्बंध भी ठीक वैठ जाता है।

आराकी इन दोनों प्रतियोंमें ग्रन्थकी श्लोकसंख्या कुल ७५ दी है; यद्यपि, अंतके पद्यों पर जो नंवर पडे हुए हैं उनसे वह ७६ मालूम होती है। परन्तु '**न वेत्तिमद्यपानतः**' इस एक पद्यपर लेखकोंकी गलतीसे दो नम्बर ८ और ९ पड गये हैं जिससे आगेके संख्यांकोंमें वरावर एक एक नम्बरकी वृद्धि होती चली गई है। देहलीवाली प्रतिमें भी इस पद्यपर भूलसे दो नम्बर १३ और १४ डाले गये हैं और इसी लिये उसकी श्लोकसंख्या १०० होने पर भी वह १०१ मालूम होती है। छपी हुई प्रतिकी श्लोकसंख्या ९६ है। इस तरह आराकी प्रतियोंसे छपी हुई प्रतिमें २१ और देहलीवाली प्रतिमें २५ श्लोक वढे हुए हैं। ये सव वढे हुए श्लोक '**क्षेपक**' हैं जो मूल ग्रन्थकी भिन्न भिन्न प्रतियोंमें किसी तरह पर शामिल हो गये हैं और मूल ग्रन्थके अंगभूत नहीं हैं। इन श्लोकोंको निकालकर ग्रन्थको पढनेसे उसका सिलसिला ठीक वैठ जाता है और वह वहुत कुछ सुसम्वद्ध मालूम होने लगता है। प्रत्युत इसके, इन श्लोकोंको शामिल करके पढनेसे उसमें वहुत कुछ वेढंगापन आ जाता है और वह अनेक प्रकारकी गडवडी तथा आपत्तियोंसे पूर्ण जँचने लगता है। इस वातका अनुभव सहृदय पाठक स्वयं ग्रन्थपरसे कर सकते हैं।

इन सव अनुसंधानोंके साथ ग्रन्थको पढनेसे ऐसा मालूम होता है कि छपी हुई प्रति जिस हस्तलिखित प्रति परसे तय्यार की गई है उसमें तथा देहलीकी प्रतिमें जो

* देहलीकी प्रतिमें भी यह पद्य प्रायः इसी प्रकारसे है, सिर्फ इतना भेद है कि उसमें पूर्वार्धको उत्तरार्ध और उत्तरार्धको पूर्वार्ध वनाया गया है।

पद्य बढ़े हुए हैं उन्हें या तो किसी विद्वान्ने व्याख्या आदिके लिये अपनी प्रतिमें टिप्पणीके तौरपर लिख रक्खा था या ग्रन्थकी किसी कानडी आदि टीकामें वे विषयसमर्थानादिके लिये 'उक्तंच' आदि रूपसे दिये हुए थे; और ऐसी किसी प्रतिसे नकल करते हुए लेखकोंने उन्हें मूल ग्रन्थका ही एक अंग समझकर नकल कर डाला है। ऐसे ही किसी कारणसे ये सब श्लोक अनेक प्रतियोंमें प्रक्षिप्त हुए जान पडते हैं। और इसलिये यह कहनेमें कोई संकोच नहीं हो सकता कि ये बढ़े हुए पद्य दूसरे अनेक ग्रन्थोंके पद्य हैं। नमूनेके तौर पर यहाँ चार पद्योंको उद्धृत करके बतलाया जाता है कि वे कौन कौनसे ग्रन्थके पद्य हैं:—

गोपुच्छिकश्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः।
निष्पिच्छश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः॥ १०॥

यह पद्य इन्द्रनन्दिके "नीतिसार" ग्रन्थका पद्य है और उसमें भी नं० १० पर दिया हुआ है।

सज्जातिः सद्गृहस्थत्वं पारिव्राज्यं सुरेंद्रता।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाणं चेति सप्तधा॥ ५६॥

यह पद्य, जो देहलीवाली प्रतिमें पाया जाता है, श्रीजिनसेनाचार्यके 'आदिपुराण'का पद्य है और इसका यहाँ पूर्वापरपद्योंके साथ कुछ भी मेल मालूम नहीं होता।

आप्तस्यासन्निधानेऽपि पुण्यायाकृतिपूजनम्।
तार्क्ष्यमुद्रा न किं कुर्युर्विषसामर्थ्यसूदनम्॥ ७३॥

यह श्रीसोमदेवसूरिके 'यशस्तिलक' ग्रंथका पद्य है और उसके आठवें आश्वासमें पाया जाता है।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शास्वतः।
नित्यं सन्निहितोमृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥ ९५॥

यह 'चाणक्य-नीति'का श्लोक है।

टीका-टिप्पणियोंके श्लोक किस प्रकारसे मूल ग्रन्थमें शामिल हो जाते हैं, इसका विशेष परिचय पाठकोंको 'रत्नकरंडकश्रावकाचारकी जाँच'* नामके लेखद्वारा कराया जायगा।

यहाँ तकके इस सब कथनसे यह बात बिलकुल साफ हो जाती है कि छपी हुई प्रतिको देखकर उसके पद्योंपर जो कुछ संदेह उत्पन्न हुआ था वह अनुचित नहीं था बल्कि यथार्थ ही था, और उसका निरसन आराकी प्रतियों परसे बहुत कुछ हो जाता है। साथ ही, यह बात ध्यानमें आ जाती है कि यह ग्रन्थ जिस रूपसे छपी हुई प्रतिमें तथा देहलीवाली प्रतिमें पाया जाता है उस रूपमें वह पूज्यपादका 'उपासकाचार'

* माणिकचंद्रग्रंथमाला में प्रकाशित 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' पर जो ८४ पृष्ठोंकी विस्तृत प्रस्तावना लिखी गई है उसीमें रत्नकरण्डक श्रा० की यह सब जाँच शामिल है।
लेखक।

नहीं है; बल्कि छपी हुई प्रतिमेंसे, ऊपर दिये हुए, २१ श्लोक और देहलीवाली प्रतिमेंसे २५ श्लोक कम कर देनेपर वह पूज्यपादका उपासकाचार रहता है, और उसका रूप प्रायः वही है जो आराकी प्रतियोंमें पाया जाता है। संभव है कि ग्रन्थके अन्तमें कुछ पद्योंकी प्रशस्ति और हो और वह किसी जगहकी दूसरी प्रतिमें पाई जाती हो। उसके लिये विद्वानोंको अन्य स्थानोंकी प्रतियाँ भी खोजनी चाहिएँ।

अब देखना यह है कि, यह ग्रंथ कौनसे पूज्यपाद आचार्यका बनाया हुआ है। 'पूज्यपाद' नामके आचार्य एकसे अधिक हो चुके हैं। उनमें सबसे ज्यादा प्रसिद्ध और बहुमाननीय आचार्य 'जैनेन्द्र' व्याकरण तथा 'सर्वार्थसिद्धि' आदि ग्रन्थोंके कर्ता हुए हैं। उनका दूसरा नाम 'देवनन्दी' भी था; और देवनन्दी नामके भी कितने ही आचार्योंका पता चलता है ×। इससे, पर्याय नामकी वजहसे यदि उनमेंसे ही किसीका ग्रहण किया जाय तो किसका ग्रहण किया जाय, यह कुछ समझमें नहीं आता। ग्रन्थके अन्तमें अभी तक कोई प्रशस्ति उपलब्ध नही हुई और न ग्रंथके शुरूमें किसी आचार्यका स्मरण किया गया है। हाँ आराकी एक प्रतिके अन्तमें समाप्तिसूचक जो वाक्य दिया है वह इस प्रकार है—

"इति श्रीवासुपूज्यपादाचार्यविरचित उपासकाचारः समाप्तः ॥"

इसमें 'पूज्यपाद' से पहले 'वासु' शब्द और जुडा हुआ है और उससे दो विकल्प उत्पन्न हो सकते हैं। एक तो यह कि यह ग्रन्थ 'वासुपूज्य' नामके आचार्यका बनाया हुआ है और लेखकके किसी अभ्यासकी वजहसे—पूज्यपादका नाम चित्तपर ज्यादा चढा हुआ तथा अभ्यासमें अधिक आया हुआ होनेके कारण—'पाद' शब्द उसके साथमें गलतीसे और अधिक लिखा गया है; क्योंकि 'वासुपूज्य' नामके भी आचार्य हुए है—एक 'वासुपूज्य' श्रीधर आचार्यके शिष्य थे, जिनका उल्लेख माघनंदिश्रावकाचारकी प्रशस्तिमें पाया जाता है और 'दानशासन' ग्रंथके कर्ता भी एक 'वासुपूज्य' हुए हैं, जिन्होंने शक संवत् १३४३ में उक्त ग्रंथकी रचना की है। दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि यह ग्रन्थ 'पूज्यपाद' आचार्यका ही बनाया हुआ है और उसके साथमें 'वासु' शब्द, लेखकके वैसे ही किसी अभ्यासके कारण, गलतीसे जुड गया है। ज्यादातर खयाल यही होता है कि यह पिछला विकल्प ही ठीक है; क्योंकि आराकी दूसरी प्रतिके अंतमें भी यही वाक्य दिया हुआ है और उसमें 'वासु' शब्द नहीं है। इसके सिवाय, छपी हुई प्रति और देहलीकी प्रतिमें भी यह ग्रन्थ पूज्यपादका ही बनाया हुआ लिखा है। साथ ही, 'दिगम्बरजैनग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ' नामकी सूचीमें भी पूज्यपादके नामके साथ एक श्रावकाचार ग्रन्थका उल्लेख मिलता है।

× एक देवनंदी विनयचंद्रके शिष्य और 'द्विसंधान' काव्य की 'पदकौमुदी' टीकाके कर्ता नेमिचंद्रके गुरु थे, और एक देवनंदी आचार्य ब्रह्मलाज्यकके गुरु थे जिसके पढनेके लिये संवत् १६२७ में 'जिनयज्ञकल्प' की वह प्रति लिखी गई थी जिसका उल्लेख सेठ माणिकचंद्रके 'प्रशस्तिसंग्रह' रजिष्टरमें पाया जाता है।

इन सब बातोंसे यह तो पाया जाता है कि यह ग्रन्थ पूज्यपादाचार्यका बनाया हुआ है; परंतु कौनसे 'पूज्यपाद' आचार्यका बनाया हुआ है, यह कुछ मालूम नहीं होता।

ऊपर जिस परिस्थितिका उल्लेख किया गया है उसपरसे, यद्यपि, यह कहना आसान नहीं है कि यह ग्रन्थ अमुक पूज्यपाद आचार्यका बनाया हुआ है, परंतु इस ग्रन्थके साहित्यको सर्वार्थसिद्धि, समाधितन्त्र और इष्टोपदेश नामक ग्रन्थोंके साहित्यके साथ मिलान करने पर इतना ज़रूर कह सकते हैं कि यह ग्रन्थ उक्त ग्रन्थोंके कर्ता श्रीपूज्यपादाचार्यका बनाया हुआ तो नहीं है। इन ग्रन्थोंकी लेखनी जिस प्रौढताको लिये हुए है, विषय-प्रतिपादनका इनमें जैसा कुछ ढंग है और जैसा कुछ इनका शब्दविन्यास पाया जाता है, उसका इस ग्रन्थके साथ कोई मेल नहीं है। सर्वार्थसिद्धिमें श्रावकधर्म-का भी वर्णन है, परंतु वहाँ लक्षणादिरूपसे विषयके प्रतिपादनमें जैसी कुछ विशेषता पाई जाती है वह यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होती। यदि यह ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धिके कर्ताका ही बनाया हुआ होता तो, चूँकि यह श्रावकधर्मका एक स्वतंत्र ग्रन्थ था इसलिये, इसमें श्रावकधर्म-सम्बन्धी अन्य विशेषताओंके अतिरिक्त उन सब विशेषताओंका भी उल्लेख जरूर होना चाहिए था जो सर्वार्थसिद्धिमें पाई जाती हैं। परंतु ऐसा नहीं है; बल्कि कितनी ही जगह कुछ कथन परस्पर विभिन्न भी पाया जाता है, जिसका एक नमूना नीचे दिया जाता है:—

सर्वार्थसिद्धिमें 'अनर्थदंडविरति' नामके तीसरे गुणव्रतका स्वरूप इस प्रकार दिया है—

"असत्युपकारे पापादानहेतुरनर्थदण्डः। ततो विरतिरनर्थदण्ड-विरतिः॥ अनर्थदण्डः पंचविधः। अपध्यानं, पापोपदेशः, प्रमादचरितम्, हिंसाप्रदानम्, अशुभश्रुतिरिति। तत्र परेषां जयपराजयवधबन्धनाङ्गच्छेदपरस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानम्। तिर्यक्क्लेशवाणिज्यप्राणिवधकारंभादिषु पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः। प्रयोजनमन्तरेण वृक्षादिच्छेदनभूमिकुट्टनसलिलसेचनाद्यवद्यकार्यं प्रमादाचरितं। विषकण्टकशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादिहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानम्। हिंसारागादिप्रवर्धनदुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिः॥"

इस स्वरूपकथनमें अनर्थदंडविरतिका लक्षण, उसके पांच भेदोंका नामनिर्देश और फिर प्रत्येक भेदका स्वरूप बहुत ही जँचे तुले शब्दोंमें बतलाया गया है। और यह सब कथन तत्वार्थसूत्रके उस मूल सूत्रमें नहीं है जिसकी व्याख्यामें आचार्यमहोदयने यह सब कुछ लिखा है। इसलिये यह भी नहीं कहा जा सकता कि मूल ग्रन्थके अनुरोधसे उन्हें वहाँ पर ऐसा लिखना पड़ा है। वास्तवमें, उनके मतानुसार, जैन सिद्धान्तका इस विषयमें ऐसा ही आशय जान पड़ता है और उसीको उन्होंने प्रदर्शित किया है। अब उपासकाचारमें दिये हुए इस मतके स्वरूपको देखिये—

पाशमण्डलमार्जारविषशस्त्रकृशानवः ।
न पापं च अमी देयास्तृतीयं स्याद्गुणव्रतम् ॥ १९ ॥

इसमें अनर्थदंडविरतिका सर्वार्थसिद्धिवाला लक्षण नहीं है और न उसके पाँच भेदोंका कोई उल्लेख है। बल्कि यहाँ इस व्रतका जो कुछ लक्षण अथवा स्वरूप बतलाया गया है वह अनर्थदंडके पाँच भेदोंमें से 'हिंसाप्रदान' नामके चौथे भेद की विरतिसे ही सम्बन्ध रखता है। इसलिये, सर्वार्थसिद्धिकी दृष्टिसे, यह लक्षण लक्ष्यके एक देशमें व्यापनेके कारण अव्याप्ति दोषसे दूषित है, और कदापि सर्वार्थसिद्धिके कर्ताका नहीं हो सकता।

इस प्रकारके विभिन्न कथनोंसे भी यह ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धिके कर्ता श्रीपूज्यपाद स्वामीका बनाया हुआ मालूम नहीं होता, तब यह ग्रन्थ दूसरे कौनसे पूज्यपाद आचार्यका बनाया हुआ है और कब बना है, यह बात अवश्य जाननेके योग्य है और इसके लिये विद्वानोंको कुछ विशेष अनुसंधान करना होगा। मेरे खयालमें यह ग्रन्थ पं० आशाधरके बादका—१३ वीं शताब्दीसे पीछेका बना हुआ मालूम होता है। परंतु अभी मैं इस बातको पूर्ण निश्चयके साथ कहनेके लिये तय्यार नहीं हूँ। विद्वानोंको चाहिए कि वे स्वयं इस विषयकी खोज करें, और इस बातको मालूम करें कि किन किन प्राचीन ग्रन्थोंमें इस ग्रन्थके पद्योंका उल्लेख पाया जाता है। साथही, उन्हें इस ग्रन्थकी दूसरी प्राचीन प्रतियोंकी भी खोज लगानी चाहिए। संभव है कि उनमेंसे किसी प्रतिमें इस ग्रन्थकी प्रशस्ति उपलब्ध हो जाय।

इस लेखपरसे पाठकोंको यह बतलानेकी जरूरत नहीं है कि भंडारोंमें कितने ही ग्रन्थ कैसी संदिग्धावस्थामें मौजूद हैं, उनमें कितने अधिक क्षेपक शामिल हो गये हैं और वे मूल ग्रन्थकर्ताकी कृतिको समझनेमें क्या कुछ भ्रम उत्पन्न कर रहे हैं। ऐसी हालतमें, प्राचीन प्रतियों परसे ग्रन्थोंकी जाँच करके उनका यथार्थ स्वरूप प्रगट करनेकी और उसके लिये एक जुदाही **विभाग** स्थापित करनेकी कितनी अधिक ज़रूरत है, इसका अनुभव सहृदय पाठक स्वयं कर सकते हैं। प्राचीन प्रतियाँ दिनपर दिन नष्ट होती जाती हैं। उनसे शीघ्र स्थायी काम ले लेना चाहिए। नहीं तो उनके नष्ट हो जानेपर यथार्थ वस्तुस्थितिके मालूम करनेमें फिर बडी कठिनता होगी और अनेक प्रकारकी दिक्कतें पैदा हो जायँगी। कमसे कम उन खास खास ग्रन्थोंकी जाँच तो जरूर हो जानी चाहिए जो बडे बडे प्राचीन आचार्योंके बनाये हुए हैं अथवा ऐसे आचार्योंके नामसे नामांकित हैं और इसलिये उनमें उसी नामके प्राचीन आचार्योंके बनाए हुए होनेका भ्रम उत्पन्न होता है। आशा है, हमारे दूरदर्शी भाई इस विषयकी उपयोगिताको समझकर उसपर जरूर ध्यान देनेकी कृपा करेंगे।

सरसावा, जि. सहारनपुर।
ता० २५ नवम्बर सन् १९२१

जुगलकिशोर मुख्तार

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	१७–१८	उठाधरी	उठाईधरी आ
७	७	करनेका	करने और धो
९	१	मजबूर	कुछ मजबूर
,,	२	वर्णाश्च: पाती	वर्णान्तःपाती
१४	३	ऐं	ऐं
१६	३	३२	३३
,,	१३	सदृशः	सदृशाः
३२	४	विभिन्न	दो विभिन्न
५९	१	ॐ	औं
९३	२३	बुरात्याति	बुराख्याति
१००	२२	उत्सर्ग के	उत्सर्ग
१५२	१०	उधार	उद्धार
१८३	२५	अननें	अनेन
१८८	१४	उनके	उनकी
,,	१५	भार्यात्यमेव	भार्यात्यमेव
१८९	२३	सद्रव्यपूर्णम्	सद्द्रव्यपूर्णः
,,	२६	बो भर्वाति	बोभवीति
१९०	१२	द्राघीयं	द्राघीयं
,,	११	पुन्मंगलीयं	पुनर्मंगलीयं
,,	१४	परिवेष्टनं	परीवेष्टनं
१९०	१४	गोषाषे	गोशीर्षे
,,	१५	शुंपाताधं	शुंपाताधं
,,	२३	पायन	पान
,,	२१	हृत्य	हृत्य
१९१	५	श्वशुरालये	श्वशुरालये
१९३	४	वरको	वह उस वरं
१९६	२६	पति	पतिशब्दः
१९९	२३	यह	वह
२१५	१६	पापापनोदनः	पापापनोदनः
२२५	२३	जनता	जानता
२१२०	६	दाहनम्	दारुणम्

(ञ

વાચકમુખ્ય શિવશ્રીના પ્રશિષ્ય અને અગ્યાર અંગના જાણુ ઘોષનંદિ મુનિના શિષ્ય હતા, અને વિદ્યાગુરૂ તરીકે મહાવાચક ક્ષમણ મુંડપાદના શિષ્ય વાચનાચાર્ય મૂલના શિષ્ય હતા.

૧૪૭ તેમનો સમય અનિશ્ચિત છે. પોતે જે ઉચ્ચ નાગરી શાખાના હોવાનું ભાષ્યમાં જણાવે છે તે નામની શાખા આર્ય દિન્નસૂરિના શિષ્ય શાંતિ શ્રેણિકના સમયમાં નીકળી (કલ્પસૂત્ર થેરાવલી) આર્યદિન્ન વીરાત્ ૪૨૧ માં થયાનો ઉલ્લેખ છે તેથી ઉક્ત શાખા તે પછી થયેલ હોવાથી ઉમાસ્વાતિ તેની પહેલાં થયેલા ન સંભવે. તેથી સહેજે વિક્રમ સંવતના પ્રારંભ પછી લગભગ તેમને મૂકાય. પરન્તુ અન્યત્ર-પ્રજ્ઞાપના ટીકામાં એમ જણાવેલું છે કે 'શ્રી આર્ય મહાગિરિના બે શિષ્યો-યમલભ્રાતા બહુલ અને બલિસ્સહ થયા. તેમાં બલિસ્સહના શિષ્ય તત્ત્વાર્થાદિ ગ્રંથકાર ઉમાસ્વાતિ વાચક થયા; તેના શિષ્ય શ્યામાર્ય પ્રજ્ઞાપનાના કરનાર શ્રી વીરાત્ ૩૭૬ માં દિવંગત થયા, તેના શિષ્ય સ્કંદિલ જીતમર્યાદાના કરનાર થયા'[૮૯] જો આ માનીએ તો ઉમાસ્વાતિ વીરાત્ ૩૭૬ ની પહેલાં થયેલા સંભવે.

૧૪૮ આ તત્ત્વાર્થાધિગમ સૂત્રમાં દશ અધ્યાય છે. પહેલામાં મોક્ષમાર્ગના સાધનરૂપ સમ્યગ્દર્શન-જ્ઞાન-ચારિત્ર એ રત્નત્રય બતાવી તેની પ્રાપ્તિના સાધન તરીકે ૭ તત્ત્વો, ૪ નિક્ષેપ, પ્રમાણ, નય, નિર્દેશ અને અનુયોગદ્વાર બતાવી, જ્ઞાન અજ્ઞાન અને નયનું સ્વરૂપ બતાવે છે, બીજામાં અધ્યવસાયો, તેનાં ભેદ અને લક્ષણ, ઇંદ્રિયો, ગતિ, યોનિ, શરીર અને આયુષ્ય આદિ સ્પષ્ટ કરેલ છે. ત્રીજામાં

---

૮૯. આજ પ્રમાણે ધર્મસાગરની પટ્ટાવલી કહે છે. ડા. સતીશચંદ્ર વિદ્યાભૂષણ તેમને ઈ સ. ૧ થી ૮૫ દરમ્યાન મૂકે છે. જુઓ જૈન શ્રે૦ મંડળ મહેસાણાની તત્ત્વાર્થાધિગમ સૂત્રની આવૃત્તિનો ઉપોદ્ઘાત તથા તે સૂત્ર સભાષ્ય આર્હત પ્રભાકરના દ્વિતીય મયૂખમાં પ્રકટ થયેલ છે તેની પ્રસ્તાવના; અને 'શ્રી ઉમાસ્વાતિવાચક અને તત્ત્વાર્થાધિગમ સૂત્ર' એ લેખ જૈન સા૦ સંશોધક ૩, ૧ પૃ. ૬૨.

નારકભૂમિ-ત્યાંના જીવોની દશા, મનુષ્ય ક્ષેત્ર તેમજ મનુષ્ય અને તિર્યંચનો અધિકાર છે. ચોથામાં દેવનો અધિકાર તથા જુદા જુદા જીવોના આયુષ્યનું વર્ણન છે; આ ચાર અધ્યાયમાં જીવ સ્વરૂપ બતાવી, પાંચમામાં અજીવ, તેના ભેદો, દ્રવ્યની વ્યાખ્યા,-લક્ષણ આદિનું સ્વરૂપ છે; છઠ્ઠામાં આસ્રવના સાધન તરીકે મન વચન કાયાના યોગ બતાવી આઠ કર્મના પરિણામનું ચિત્ર દોર્યું છે, સાતમામાં પાંચ મહાવ્રત, તેની ભાવના, બાર અણુવ્રત, તેના અતિચાર સ્પષ્ટ કરી બે પ્રકારના ધર્મ (ગૃહસ્થ અને ત્યાગ) નું સ્વરૂપ સમજાવ્યું છે. આઠમા અધ્યાયમાં બંધતત્ત્વની આઠ કર્મોની કર્મપ્રકૃતિઓની તેના વિપાકની અને પ્રદેશબંધની ચર્ચા કરી છે. નવમામાં સંવર અને નિર્જરા સંબંધી કહેતાં ત્રણ ગુપ્તિ, પાંચ સમિતિ, દશ પ્રકારનો ત્યાગધર્મ, બાર ભાવના, બાવીસ પરિષહ બતાવવા ઉપરાંત પાંચ પ્રકારનાં ચારિત્ર અને બાર પ્રકારના તપનું સ્વરૂપ કહી પાંચ પ્રકારના નિર્ગ્રંથનું વર્ણન કરેલ છે. દશમામાં મોક્ષતત્ત્વ-કેવલજ્ઞાન પ્રાપ્તિથી શરૂ થતી દશા સૂચવી સર્વ કર્મના ક્ષયરૂપ મોક્ષદશા બતાવી છે.

૧૪૯ આ તત્ત્વાર્થસૂત્ર પર અનેક ટીકાઓ રચાઇ છે,[૯૦] અને તે વાત તે તત્ત્વજ્ઞાનનો આકર ગ્રંથ છે એમ સિદ્ધ કરે છે. ઉમાસ્વાતિએ પાંચસો પ્રકરણ રચ્યાં હતાં તેમાં ઉક્ત સૂત્ર ઉપરાંત પ્રશમરતિ (પી. ૩, ૪૭, વે૦ નં. ૧૬૪૫, સટીક પ્ર૦ જૈ૦ ધ. સભા, સભાષાંતર જૈન શ્રે. મં.), શ્રાવકપ્રજ્ઞપ્તિ, પૂજા પ્રકરણ, જંબૂદ્વીપ

૯૦ શ્વેતામ્બર સંપ્રદાયમાં સિદ્ધસેન દિવાકર કે સમન્તભદ્ર પ્રણીત ગંધહસ્તિમહાભાષ્ય (? અનુપલબ્ધ છે), હરિભદ્ર અને યશોભદ્રસૂરિ શિષ્ય કૃત તત્ત્વાર્થ ટીકા (કાં. વડો, નં. ૧૩૨). દેવગુપ્ત તેમજ સિદ્ધસેન ગણિ કૃત વ્યાખ્યા (પ્ર૦ દે૦ લા૦ નં. ૬૭, વે૦ નં. ૧૬૧૨), મલયગિરિ કૃત વ્યાખ્યા, (અનુપલબ્ધ) ચિરન્તનમુનિકૃત ટિપ્પણ (સ્યાદ્વાદમંજરીની રચના પછી થયેલ), યશોવિજયકૃત વૃત્તિ (અપૂર્ણ પ્ર૦ મનસુખભાઇ ભગુભાઇ અમ૦) વગેરે છે. દિગંબરમાં પણ અનેક છે.

સૂત્રોનું(અંગોનું) ભાષાંતર સંસ્કૃત ભાષામાં કરવા માટે વિચાર કર્યો. આ વિચાર સંઘને તેમજ તેમના ગુરૂ વૃદ્ધવાદીને સંમત ન થયો અને લોકભાષામાંથી પંડિતોની સંસ્કૃત ભાષામાં સૂત્રોને અવતારવાના વિચાર માટે તેમને 'સંઘબહાર'ની શિક્ષા થઈ. આ પરથી સમજાશે કે જૈનોમાં પ્રાકૃતનું–લોકભાષાનું–પોતાની શાસ્ત્રભાષાનું કેટલું બધું મહત્ત્વ માનવામાં આવતું હતું. ૯૬આ **સિદ્ધસેન** એટલા બધા પ્રખર વિદ્વાન્ હતા કે તેમણે જૈન સાહિત્યમાં એક નવો યુગ ફેલાવ્યો એમ કહેવામાં જરા પણ અતિશયોક્તિ નથી. દંતકથા પ્રમાણે **વિક્રમ** રાજાએ પ્રતિબોધ પામી **સિદ્ધસેન**ને લઇને **શત્રુંજય** (પાલિતાણા) સંઘ કાઢયો હતો તેમજ તે રાજાના સમયમાં **ભાવડશા** નામના જૈને પણ તે તીર્થનો સંઘ કાઢયો હતો. હવે આપણે **'સિદ્ધસેન યુગ'** જોઈશું.



૯૬. 'જૈન અને બૌદ્ધોના ધર્મગ્રન્થો પ્રાકૃત અર્થાત્ પ્રચલિત (લૌકિક) ભાષામાં લખેલા હોવાથી તેમના (પછીથી થયેલા) ઉપાશ્રય (અપાસરા) તથા મઠોમાં પ્રાકૃતનું શિખવવું પણ થતું હતું, પરંતુ વિશેષ જ્ઞાન સંપાદન કરવાવાળા જૈન અને બૌદ્ધ વિદ્યાર્થીઓને માટે સંસ્કૃતનું પઠન અનિવાર્ય હતું; કારણ કે કાવ્ય, નાટક, તર્ક આદિ અનેક વિષયોના ગ્રંથોની રચના સંસ્કૃતમાંજ થઇ હતી. આ રીતે નાટક આદિની રૂચિવાળા સંસ્કૃતના વિદ્યાર્થીઓને પ્રાકૃત પણ પઢવી પડતી, કારણકે નાટકોમાં વિદૂષક, સ્ત્રીઓ તથા નીચા દરજ્જાનાં પાત્રોની ભાષા પ્રાકૃત હોવાનો નિયમ હતો'—ઓઝાજી રા૦ ઇ. પ્રથમ ખંડ પૃ. ૧૭.

પ્રકરણ ૩ જું.

સિદ્ધસેન-યુગ.

[વિ. સં. ૧ થી વિ. સં. ૩૦૦]

સિદ્ધસેન સ્તુતિ.

× × × सुअकेवलिणा जओ भणियं ॥
आयरिय सिद्धसेणेण सम्मइए पइट्ठिअजसेण ।
दूसम-णिसा-दिवागर कप्पत्तणओ तदक्खेणं ॥

—દુઃષમા (કાળરૂપી) નિશામાં દિવાકર જેવા હોઈને 'દિવાકર' નામવાળા અને પ્રતિષ્ઠિત યશવાળા શ્રુતકેવલી આચાર્ય સિદ્ધસેને સન્મતિમાં (કહ્યું છે):—

—હરિભદ્રસૂરિ-પંચવસ્તુક. ગા. ૧૦૪૮

श्री सिद्धसेन-हरिभद्रमुखाः प्रसिद्धा
स्ते सूरयो मयि भवन्तु कृतप्रसादाः ।
येषां विमृश्य सततं विविधान् निबन्धान्
शास्त्रं चिकीर्षति तनुप्रतिभोऽपिमादृक् ॥

—શ્રી સિદ્ધસેન હરિભદ્ર પ્રમુખ સૂરિઓ મારાપર કૃપાવન્ત થાઓ કે જેમના વિવિધ નિબંધોને સતત વિચારતાં મારા જેવો અલ્પ પ્રતિભાવાળો પણ શાસ્ત્ર કરવાની ઇચ્છા રાખે છે.

—વાદિદેવસૂરિ-સ્યાદ્વાદરત્નાકર.

उदितोर्हन्मतव्योम्नि सिद्धसेनदिवाकरः ।
चित्रं गोभिः क्षितौ जह्रे कविराजवुधप्रभाः ॥

—સિદ્ધસેન (રૂપી) દિવાકર (સૂર્ય) અર્હન્મતરૂપી આકાશમાં ગો (કિરણ, વાણી)થી પૃથ્વીપર કવિરાજ (બૃહસ્પતિ-ગુરૂ, કવિઓ) અને બુધ (બુધ ગ્રહ, વિદ્વાન)ની પ્રભા શરમાઈ-હરાઇ ગઇ એ વિચિત્ર છે.

—મુનિરત્નસૂરિ-અમમચરિત્ર.

स्फुरन्ति वादिखद्योताः साम्प्रते दक्षिणापथे ।

नूनमस्तंगते वादी सिद्धसेनो दिवाकरः ॥

—વાદી સિદ્ધસેન દિવાકર (રૂપી સૂર્ય) અસ્તંગત થતાં દક્ષિણાપથમાં હવે વાદિઓરૂપી આગીઆ સ્ફુરે છે.

—પ્રભાચંદ્રસૂરિ–પ્રભાવકચરિત.

तमःस्तोमं स हन्तु श्रीसिद्धसेन दिवाकरः ।

यस्योदये स्थितं मूकै रुलूकैरिव वादिभिः ॥

—તમસ્‌ના પુંજને હણવા શ્રી સિદ્ધસેન દિવાકરનો ઉદય થયો કે વાદીઓ રૂપી ઘુવડો ચૂપ થઇ ગયા.

—પ્રદ્યુમ્નસૂરિ–સમરાદિત્યસંક્ષેપ. (સં. ૧૩૨૪)

સિદ્ધસેન–વચનો.

उदधाविव सर्वे सिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः ।

न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥

—જુઓ ૪ થી દ્વાત્રિંશિકા શ્લો. ૧૪

न शब्दो न रूपं रसो नाऽपि गन्धो न वा स्पर्शलेशो न वर्णो न लिंगम् ।

न पूर्वापरत्वं न यस्यास्ति संज्ञा स एकः परात्मा गति में जिनेन्द्रः ॥

—સિદ્ધસેનકૃત ૨૧ મી મહાવીર–દ્વાત્રિંશિકા શ્લોક ૧૫

—જેમ સર્વ નદીઓ સમુદ્રમાં સમાઇ છે તેમ હે પ્રભુ ! સર્વ દૃષ્ટિઓ તારામાં સમાઈ છે; વળી જેમ જૂદી જૂદી નદીઓમાં સમુદ્ર નથી દેખાતો, તેમ તે દૃષ્ટિઓમાં તું વિસેષે દેખાતો નથી.

—જે શબ્દ નથી, રૂપ નથી , રસ નથી તેમ ગંધ પણ નથી, વળી જે સ્પર્શ નથી વર્ણ નથી, લિંગ–ચિન્હ નથી, જેને નથી પૂર્વત્વ કે નથી પરત્વ, તેમ જેને સંજ્ઞા નથી એવો એક પરમાત્મા જિનેન્દ્ર મારી ગતિ છે.

जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः पुरातनैरेव समो भविष्यति ।

पुरातने विष्यत्य नव स्थितेपु कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ॥

સિદ્ધસેનકૃત ૬ ઠી દ્વાત્રિંશિકા શ્લો. ૫.

—દિવાકરજી પુરાતન–પ્રિયોને ઉદ્દેશી કહે છે કે પુરાતન પુરાતન શું પુકાર્યા કરો છો ? આ જન (હું) પણ મર્યા પછી, કંઇ કાલ વીત્યે પુરાતન

બની જાશે અને પછી અન્ય પુરાતનોનીજ સમાન આની (મારી) પણ ગણના થતી જશે-અર્થાત્ મર્યા પછી સર્વ પુરાતન મનાય છે. ભલા, આવી અનવસ્થિત પુરાતનતાને કારણે ક્યો બુદ્ધિમાન્ મનુષ્ય કોઈ જાતની પરીક્ષા કર્યા વગર આંખ મોં બંધ રાખી કેવલ પુરાતનોના નામથીજ ગમે તે સિધ્ધાન્તનો સ્વીકાર કરી લે ?

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा न निव्वडइ ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो नमो अणेगंतवादस्स ॥
भद्दं मिच्छादंसणसमूहमईअस्स अमयसायस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्ग सुहाहिगम्मस्स ॥

—જેના વિના લોકનો વ્યવહાર પણ સર્વથા નિવડતો–ચાલી શકતો નથી તે-ભુવનના એક ગુરૂ સમાન અનેકાંતવાદને નમસ્કાર.

—શ્રી જિનવચનરૂપ ભગવાન્ સદા ભદ્રવંત-જયવંત રહો, કે જે અન્ય દર્શનોના સમૂહરૂપ છે, અમૃતતુલ્ય સ્વાદવાળું છે, તથા જેનો મર્મ સમજવાને સંવેગ સુખની પ્રાપ્તિ આવશ્યક છે. ૩-૬૯ અને ૭૦ સન્મતિસૂત્ર.

૧૫૨. જૈન ધર્મના પ્રમાણશાસ્ત્રના મૂલ પ્રતિષ્ઠાપક આચાર્ય સિદ્ધસેન દિવાકર અને પછી આપ્તમીમાંસા દ્વારા સ્યાદ્વાદ (અનેકાન્તવાદ) નું સમર્થન કરનાર સ્વામી સમન્તભદ્ર–બંને જૈનધર્મના મહાન્ પ્રભાવક અને સમર્થ સંરક્ષક મહાત્મા થઈ ગયા છે. પૂર્વ પરંપરાથી ચાલી આવતી માન્યતા અનુસાર સિદ્ધસેન શ્વેતામ્બર સંપ્રદાયમાં વિક્રમરાજાના સમયમાં અને સામન્તભદ્ર દિગંબર સંપ્રદાયમાં વિક્રમની બીજી સદીમાં થયા છે. ક્વચિત્ સામન્તભદ્રને વનવાસી તરીકે પોતાના સંપ્રદાયમાં શ્વેતામ્બરો સ્વીકારે છે અને વાદિમુખ્ય અને સ્તુતિકાર તરીકે હરિભદ્રસૂરિ, હેમચંદ્ર, મલયગિરિ આદિ ટાંકે છે પણ આપ્તમીમાંસાના કર્ત્તા તરીકે તેમને સ્વીકારેલા જણાતા નથી.

૧૫૩. વિક્રમનાં 'નવરત્નો'૯૭ પૈકી 'ક્ષપણક' એ સિદ્ધસેન

---

૯૭. धन्वन्तरि-क्षपणकोऽमरसिंहशंकु-वेतालभट्ट-घटखर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥
—જ્યોતિર્વિદાભરણ.

હોવા ઘટે એમ ડૉ. સતીશચંદ્ર કહે છે. ૯૮ઉપલબ્ધ જૈન વાઙ્મયનું સૂક્ષ્મનિરીક્ષણ કરતાં જણાય છે કે સિદ્ધસેન પહેલાં જૈનદર્શનમાં તર્કશાસ્ત્ર સંબંધી કોઈ સ્વતંત્ર સિદ્ધાંત પ્રચલિત હતો નહિ. તેની પૂર્વે પ્રમાણશાસ્ત્ર સંબંધી વાતો કેવળ આગમ-ગ્રંથોમાં જ અસ્પષ્ટ રૂપે સંકલિત હતી. અને તે સમયસુધી તે વાતોનું કંઇ વિશેષ પ્રયોજન પણ હતું નહિ. સિદ્ધસેનસૂરિના પહેલાનો જમાનો તર્કપ્રધાન નહોતો પરંતુ આગમપ્રધાન હતો. માત્ર આપ્તપુરૂષનાં વચન ત્યાં સુધી સર્વથા શિરોધાર્ય સ્વીકારાતાં. જૈનધર્મના સહચર બ્રાહ્મણ અને બૌદ્ધ ધર્મની પણ એ અવસ્થા હતી પરંતુ મહર્ષિ ગૌતમના 'ન્યાયસૂત્ર'ના સંકલન પછી ધીમે ધીમે તર્કનું જોર વધવા લાગ્યું અને જુદાજુદા દર્શનોના વિચારોનું સમર્થન કરવા માટે સ્વતંત્ર સિદ્ધાંતોની રચના થવા લાગી. તાર્કિક બ્રાહ્મણો થયા ને તેમની સામે બૌધ્ધોમાંથી નાગાર્જુન નામના બુદ્ધિશાલી મહાશ્રમણે મધ્યમાવતાર રચ્યું. બ્રાહ્મણ અને બૌદ્ધ વિદ્વાનોમાં તર્કશાસ્ત્રીય યુદ્ધ વધતું ગયું.

૧૫૪. આ વાગ્યુદ્ધની શબ્દધ્વનિ નિર્જન વનોમાં ઘૂમનાર જૈન નિર્ગ્રન્થોના કાનસુધી પ્હોંચી. ધ્યાનમગ્ન નિર્ગ્રન્થ આ ધ્વનિનો અર્થ સમજવાનો પ્રયત્ન કરી રહ્યા હતા એટલામાં તેમને ભગવાન્ મહાવીરના 'મોક્ષમાર્ગ'નો ઉપહાસ કરનારા શબ્દો પણ અસ્ફુટ રીતે સાંભળવામાં આવ્યા. આથી 'ક્ષપણક' (જૈન શ્રમણ યા નિર્ગ્રંથ) પણ પોતાની 'શાસનરક્ષા'ના ઉપાય શોધવા લાગ્યા.

૧૫૫. આ નિર્ગ્રંથમાંથી સર્વથી પ્રથમ આચાર્ય ઉમાસ્વાતિએ તત્ત્વાર્થાધિગમ સૂત્ર (મોક્ષશાસ્ત્ર)ની રચના કરીને સમગ્ર જૈન તત્ત્વોને

પંચરાત્ર અને બીજા બ્રાહ્મણીય સંસ્કૃત ગ્રંથોમાં તેમજ અવદાન કલ્પલતા અને બીજા બૌદ્ધ ગ્રન્થોમાં જૈન મુનિઓને ક્ષપણક કહેવામાં આવ્યા છે.

૯૮. જુઓ ઉક્ત ડૉક્ટર કૃત 'ન્યાયાવતાર'ની ભૂમિકા તથા તેમનો The History of the Midieval School of Indian Logic (મધ્યકાલીન ભારતીય ન્યાયશાસ્ત્રનો ઇતિહાસ) પૃ. ૧૩-૨૨.

એકત્ર સંગ્રહીત કર્યું. (કોઈ ઉમાસ્વાતિને સિદ્ધસેન પછી મૂકે છે.) તે સૂત્રકાર પોતાના જીવનમાં તે કાર્યને પૂર્ણ કરી પાછળના પ્રતિભાશાલી વિદ્વાનો માટે સૂચના કરી ગયા કે આમાં સંગૃહીત જૈન તત્ત્વોનો અર્થ પ્રમાણ અને નયદ્વારા નિશ્ચિત કરવો જોઇએ. [**પ્રમાણનયૈરધિગમઃ**]. એ પ્રમાણ અને નયની વ્યવસ્થા કરવા માટે નવીન શાસ્ત્ર રચના કરવાનું કાર્ય પછીના આચાર્યોએ ઉપાડી લીધું. તેમાં પ્રથમ અગ્રણી સિદ્ધસેન હતા. તેમણે સૌથી પહેલાં 'ન્યાયાવતાર' નામના તર્કપ્રકરણની સંસ્કૃતમાં રચના કરીને જૈન પ્રમાણનો પાયો સ્થિર કર્યો; અર્થાત્ ન્યાયાવતાર એ સંસ્કૃત જૈનસાહિત્યમાં પદ્યબંધ આદિ–તર્કગ્રંથ હોઈ સમસ્ત જૈન તર્ક સાહિત્યનો પ્રથમ પાયો છે–તેણે જૈનતર્કપરિભાષાનું જે પ્રસ્થાન શરૂ કર્યું તે અત્યારસુધી અખંડિત છે, તેથીજ એના પ્રણેતા સિદ્ધસેન જૈન તર્કશાસ્ત્રના પ્રસ્થાપક છે.

૨૫૬. વિશેષમાં [૯૯]સન્મતિ પ્રકરણ નામના મહાતર્ક ગ્રંથને પ્રાકૃતમાં આર્યાછંદમાં રચી 'નયવાદ'નું મૂલ દૃઢ કરી અનેકાન્તવાદનું સ્થાપન કર્યું. એ ત્રણ કાંડમાં વિભક્ત છે. પહેલા કાંડમાં માત્ર 'નય' (દૃષ્ટિબિંદુ) સંબંધી ખૂબ વિશદ ચર્ચા કરીને 'નયવાદ' (philosophy of Standpoints)નું નિરૂપણ કર્યું છે. બીજા કાંડમાં માત્ર જ્ઞાનની ખાસ કરી પાંચ જ્ઞાનને લગતી ચર્ચા છે. અને ત્રીજા કાંડમાં જ્ઞેય તત્ત્વનું નિરૂપણ છે. કોઇપણ વસ્તુ જ્ઞેયરૂપે કેવી માનવી જોઈએ, અને જૈનદૃષ્ટિ પ્રમાણે જ્ઞેય વસ્તુનું સ્વરૂપ કેવું હોવું જોઇએ. એની સામાન્ય ચર્ચા સાથે એમાં પદે પદે અનેકાન્તવાદ (Relative

૯૯. જૈન સાહિત્યમાં તો અત્યારસુધી 'સંમતિતર્ક' એ નામ પ્રસિધ્ધ છે, પરંતુ તેનું ખરૂં નામ સન્મતિતર્ક હોવું ઘટે, કારણકે 'સન્મતિ' એ શ્રી મહાવીરનું બીજું નામ છે (જુઓ ધનંજય નામમાલા), અને તે મહાવીરના તર્કને બતાવવા એ નામ સાર્થક છે, વળી જૂની પ્રતમાં 'સન્મતિ' એવો પાઠ મળે છે. પં. સુખલાલ અને પં. બહેચરદાસ.

philosophy) સ્થાપન કરવાનો, તેને સમજાવવાનો, તેની બારીકીઓ વર્ણવવાનો પ્રયત્ન છે તથા સાથે સાથે અનેકાન્તવાદમાં ઉપસ્થિત થતા દોષો બતાવવાનો તેમજ અનેકાન્તવાદ ઉપર થતા આક્ષેપોને દૂર કરવાનો બુદ્ધિગમ્ય અને પ્રબલ પ્રયત્ન છે; તેથી છેવટે ગ્રંથના અંતમાં અનેકાંતવાદનું ભદ્ર થાઓ એવી શુભ ઇચ્છા દર્શાવી એ સન્મતિતર્ક પ્રકરણ પૂર્ણ કર્યું છે.

૧૫૭. આ પ્રકરણ રચવામાં બે ઉદ્દેશ જણાય છે (૧) સ્વસંપ્રદાયમાં વિચારશક્તિ અને તર્કબળ કેળવી પ્રજ્ઞાનો વિકાસ કરવો અને (૨) જૈનેતર દર્શનના વિદ્વાનોમાં જૈન મૂળતત્ત્વોની પ્રતિષ્ઠા કરવી. પહેલો ઉદ્દેશ પોતાના સમયસુધીમાં જે જે રૂઢ તથા સ્થૂલ માન્યતાઓ પરંપરાએ ચાલી આવતી હતી તેને પોતાની ઉંડી માર્મિક અને અદૃષ્ટપૂર્વ સમીક્ષા તેમજ પરીક્ષા કરી એક બાજુએ રાખી પોતાનો તદ્દન સ્વતંત્ર તેમજ નવો વાદ મૂકીને સ્થાપન કરી સિદ્ધ કર્યો છે. આગમના શબ્દોનો સ્પર્શ કરી વળગી રહેવું એ એક વાત છે, અને તે શબ્દોમાં વિચારપૂર્વક સમભાવથી ઉંડા ઉતરી સત્ય મેળવવું એ બીજી વાત છે. આ બીજી વાત પર પોતે ભાર મૂકી નવી સ્વતંત્ર વિચારસરણી પોતે ઉભી કરી છે અને તેમાં સમ્યગ્દર્શન પોતે સ્વીકાર્યું છે. બીજો ઉદ્દેશ તેમણે એ રીતે બતાવી આપ્યો છે કે તત્કાલીન બધાં ભારતીય દર્શનોની સમીક્ષા કરી બૌદ્ધ દર્શનની બધી શાખાઓ તેમજ બધાં વૈદિક દર્શનોનું જૈનદૃષ્ટિએ શું સ્થાન છે તે જણાવ્યું છે.

૧૫૮. ખરી રીતે તેમણે બધાં દર્શનોને અનેકાન્તવાદમાં ગોઠવ્યાં છે, કારણકે તેમણે નયવાદનું સુંદર પૃથક્કરણ કરી ઉપલબ્ધ તત્કાલીન સમગ્ર દર્શનોને સ્યાદ્વાદની—અનેકાંતવાદની સાંકળની કડીઓ જેવા ભિન્ન ભિન્ન નયોમાં યોગ્ય રીતે ગોઠવ્યાં છે અને તે રીતે તેની મહત્તા આંકી છે. જે દર્શનો માત્ર પોતાની પ્રરૂપણા સિવાય બીજી પ્રરૂપણાઓને ઘટતું સ્થાન નથી આપતાં, તે બધાંને તેમણે એકતરફી અને અધૂરાં સાબિત કરવાનો ખાસ પ્રયત્ન કર્યો છે અને નયવાદનું

તત્ત્વજ્ઞાનના પ્રદેશમાં કેવું સ્થાન છે, એ સમજાવવા પ્રબળ પુરુષાર્થ દાખવ્યો છે. જેઓ વગર...સમજ્યે અનેકાંતનો ઉપહાસ કરતા તેઓને તેનું સ્વરૂપ સમજાવવા આકર્ષક ચર્ચા કરી છે. અને છેવટે કહ્યું છે કે જેના વિના વ્યવહારનું એક પણ કામ સિદ્ધ નથી થઈ શકતું એવા અનેકાંતવાદને નમસ્કાર હો! આ પર સ્વોપજ્ઞવૃત્તિ પોતે રચેલી હોવી જોઇએ એવી પ્રો. લૉયમાનની સંભાવના છે.[૧૦૦]

૧૫૯. સિદ્ધસેન દિવાકરની કૃતિઓના અવલોકનથી માલૂમ પડે છે કે તેઓ જબરા સ્પષ્ટભાષી અને સ્વતંત્રવિચારના ઉપાસક હતા. પ્રકૃતિથી ભારે તેજસ્વી અને પ્રતિભાએ 'શ્રુતકેવલી' હતા. તેમની કૃતિઓમાં જે સ્વતંત્ર વિચારની ઝળક દેખાય છે તે અન્ય કોઈની પણ કૃતિમાં નથી. તેમના ગ્રંથોને જોવાથી તેમજ તેમના સંબંધે પછીના ગ્રંથકારોએ જે કહ્યું છે તે પરથી જણાય છે કે જૈન ધર્મના કેટલાએક પરંપરાગત વિચારોથી સિધ્ધસેનનો વિચારભેદ હતો. તેઓ સાક્ષાત્ જૈન સૂત્રોના કથનને પણ પોતાની તર્કબુધ્ધિરૂપ કસોટીપર કસી તદનુકૂલ અર્થ કરતા હતા; પછી તે પૂર્વપરંપરાને કે પૂર્વાચાર્યોના અભિપ્રાયને સંમત હોય યા નહિ. 'મૃત રૂઢગૌરવ' જેને પ્રિય છે એવા પંડિતોને માટે તો તેમણે પોતાની ૩૨ પૈકી એક દ્વાત્રિંશિકામાં પ્રહાર કરી હૃદયનો જોશ માર્મિકતાથી પ્રકટ કર્યો છે. (આના નમુનારૂપે આ પ્રકરણના પ્રારંભમાં **जनोऽयमन्यस्य** એ શ્લોક ટાંકયો છે.)

૧૬૦. એમ કહેવાય છે કે સિધ્ધસેને બત્રીશ દ્વાત્રિંશિકા (બત્રીશી)ઓ (૩૨ શ્લોકનું પ્રકરણ તે એક બત્રીશી એમ) ગૂઢ અને ગભીરાર્થક સંસ્કૃતમાં રચી હતી તેમાં ઉપરોક્ત ન્યાયાવતારનો (તેના ૩૨ શ્લોક છે) પણ એક બત્રીશી તરીકે સમાવેશ થતો હતો. આ બત્રીશ બત્રીશીમાં હાલ ન્યાયાવતાર સહિત ૨૧ બત્રીશીઓ પ્રાપ્ત થાય છે. શરૂઆતની કેટલીક બત્રીશીઓમાં ભગવાન્ મહાવીરની

૧૦૦. પંડિત સુખલાલ અને પં. બહેચરદાસના કથન પરથી તેમજ તેમના લેખ નામે 'સન્મતિ તર્ક અને તેનું મહત્વ' પરથી.

અનુપમ સ્તુતિ છે. ત્યાર પછી કેટલીકમાં નામે ૯ મી વેદવાદ, ૧૨ મી ન્યાય, ૧૩ મી સાંખ્યપ્રબોધ, ૧૪ મી વૈશેષિક, ૧૫ મી બૌદ્ધસંતાન દ્વાત્રિંશિકામાં જૈનેતર દર્શનોનું વર્ણન છે. એકમાં (૭ મી વાદોપનિષદ દ્વાત્રિંશિકામાં) વાદકળાનો મર્મ અને વળી એકમાં (૮ મી વાદદ્વા-ત્રિંશિકામાં) વિવાદની દુર્દશાનું ચિત્ર છે.

૧૬૧. આ બત્રીશીઓજ હરિભદ્રસૂરિના ષડ્દર્શનસમુચ્ચય અને માધવાચાર્યના સર્વદર્શનસંગ્રહની પ્રાથમિક ભૂમિકા છે. આના પર કોઇ-પણ વિદ્વાને વ્યાખ્યા કે ટીકા લખવાનો પરિશ્રમ સેવ્યો જણાતો નથી. તેનું કારણ સમજી શકાતું નથી. આ બત્રીશીઓ સ્તુતિરૂપ હોવા છતાં તેમાં દાર્શનિક વિષયો પણ છે. વૈદિક, જૈન અને બૌદ્ધ એ સમકા-લીન સમગ્ર ભારતીય દર્શનોનાં સ્વરૂપ તેમાં બતાવેલ છે. એટલે કદાચ તે અતિ ગૂઢાર્થક હોઇને તેનું રહસ્ય પ્રકટ કરવાની કોઇની હિંમત ચાલી ન હોય. આમાં ઘણા અપૂર્વ વિચારો ભર્યા છે. આવી અદ્‌ભૂત અપૂર્વ કૃતિઓ સમસ્ત જૈન સાહિત્યમાં મળવી વિરલ છે. શ્રી હેમચંદ્ર જેવા સમર્થ વિદ્વાને તેનું મહત્ત્વ પોતાની અયોગ્ય વ્યવચ્છેદ દ્વાત્રિંશિકામાં એ રીતે ગાયું છે કેઃ—

क्व सिध्धसेनस्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क्व चैषा ।

અર્થાત્—સિદ્ધસેન સૂરિની રચેલી મહાન્ અર્થવાળી સ્તુતિઓ ક્યાં, ને અશિક્ષિત મનુષ્યના આલાપ જેવી મારી આ રચના ક્યાં ?

૧૬૨. આ કથનથી જણાય છે કે સિદ્ધસેન સૂરિની સ્તુતિઓ કેટલી મહત્ત્વની છે ! આમાંની ઘણી ખરી બત્રીશીઓમાં મુખ્યતઃ અર્હત્ મહાવીરની અનેક પ્રકારે સ્તવના કરવામાં આવી છે, તેથી તેને 'સ્તુતિઓ' કહેવામાં આવે છે અને તેટલાં માટે તેનાં અવત-રણો લેતાં હરિભદ્ર હેમચંદ્રાદિએ તે સૂરિનો 'સ્તુતિકાર' એ નામથી ઉલ્લેખ કર્યો છે. આ બત્રીશીઓમાં પસંદ કરાયેલ વિવિધ છંદો ના અનુષ્ટુપ્, ઉપજાતિ, વસંતતિલકા, વૈતાલીય, પૃથ્વી, શિખરિણી, હરિણ મંદાક્રાંતા, પુષ્પિતા, વંશસ્થ, આર્યા, શાલિનીનો ઉપયોગ દાર્શનિ જૈનસાહિત્યમાં સર્વથી પ્રથમ છે.

૧૬૩. સન્મતિ, બત્રીશીઓ વગેરે કૃતિઓ જોતાં સાંખ્ય વૈશેષિક અને બૌદ્ધ એ ત્રણ જૈનેતર દર્શનો ઉપરાંત ન્યાય, વેદ, ઉપનિષદ્ આદિ બીજાં તત્કાલીન પ્રસિદ્ધ જૈનેતર દર્શનોના અભ્યાસની ઉંડી અને વિસ્તૃત છાપ દિવાકરશ્રીના માનસમાં પડી છે. વૈશેષિક સૂત્ર અને ન્યાયદર્શનના અભ્યાસે તો સન્મતિની રચનામાં દિવાકર શ્રીને ખાસ પ્રેરણા આપ્યાનું ભાન થાય છે તેથી એ દર્શનોનાં સૂત્રો અને સન્મતિ વચ્ચે ભાષા તેમજ ગદ્ય-પદ્યનો ભેદ હોવા છતાં શુદ્ધ તર્કદૃષ્ટિના ઉપયોગનું એમાં મુખ્ય સામ્ય છે. સાંખ્યાચાર્ય ઈશ્વરકૃષ્ણની કારિકાઓ સાથે સન્મતિ સરખાવતાં ભાષા અને સંપ્રદાયનો ભેદ બાદ કરીએ તો એમાં છંદનું તેમજ પોતપોતાના વિષયને તર્કપદ્ધતિએ ગોઠવવાનું સામ્ય નજરે પડશે. શૂન્યવાદી બૌદ્ધાચાર્ય નાગાર્જુનની મધ્યમકારિકા અને વિજ્ઞાનવાદી વસુબન્ધુની વિંશિકા તથા ત્રિંશિકા સાથે સિદ્ધસેનની કૃતિઓ સરખાવતાં એમ લાગે છે કે એ આચાર્યો ઉપર એક બીજાની અસર અવશ્ય છે.[૧૦૧]

૧૬૪. શ્વેતામ્બરોમાં સિદ્ધાન્ત એટલે આગમના ગ્રંથોમાં એમ છે કે કેવલી (સર્વજ્ઞ) ને કેવલજ્ઞાન અને કેવલદર્શન-એ બંને યુગપત્ એટલે એક સાથે થતા નથી. એક વખતે કેવલજ્ઞાન અને એક વખત કેવલદર્શન એમ વારંવાર થયાં કરે છે અર્થાત્ એક ક્ષણ (સમય) કેવલજ્ઞાન રહે છે અને બીજી ક્ષણે (સમયે) કેવલદર્શન-એમ પ્રતિક્ષણ ક્રમશઃ કેવલજ્ઞાન અને કેવલદર્શનસ્વરૂપ કેવલીનો ઉપયોગ ફર્યા કરે છે. સિદ્ધસેન સૂરિને આ વિચાર સંમત નથી. તેઓ આ વિચારને યુક્તિસંગત ન માનતાં તેને તર્ક અને યુક્તિથી અયુક્ત સિદ્ધ કરે છે. તેમના વિચારે તો કેવલીને કેવલજ્ઞાન અને કેવલદર્શન બંને યુગપત્-એકી સાથે હોવાનું યુક્તિસંગત છે અને વાસ્તવિકપણે અંતમાં તેઓ વળી બંનેમાં પરસ્પર કાંઈ ભેદ જ નથી માનતા-બંનેને એકજ બતાવે છે. આ વિચારનો તેમણે પોતાના 'સન્મતિ પ્રકરણ' માં ખૂબ ઊહા-

૧૦૧ પં. સુખલાલ અને બહેચરદાસના લેખ નામે 'સન્મતિ તર્ક અને તેનું મહત્ત્વ' માંથી.

પોહ કર્યો છે. આ વિચારભેદને કારણે તે સમયના સિદ્ધાન્તગ્રંથ-પાઠી અને આગમભક્ત આચાર્યગણ તેમને 'તર્કમન્ય' જેવાં તિરસ્કારસૂચક વિશેષણો આપતા હતા, અને ત્યારપછી **જિનભદ્ર** ક્ષમાશ્રમણ આદિ આગમપ્રધાન આચાર્યોએ આગમપ્રમાણની દલીલથીજ તે વિચારનું ખંડન કર્યું છે. (જુઓ જિનભદ્રીય **વિશેષાવશ્યક** અને બીજા સિદ્ધસેન કૃત **તત્ત્વાર્થ**સૂત્ર પર બૃહદ્વ્યાખ્યા).

૧૬૫. **સિદ્ધસેનસૂરિ** પ્રત્યેનો આદર દિગંબરી વિદ્વાનોમાં રહેલો દેખાય છે. **હરિવંશ** પુરાણના કર્ત્તા **જિનસેનસૂરિએ**, **તત્ત્વાર્થ** ટીકા નામે **રાજવાર્ત્તિક**ના કર્ત્તા **અકલંકદેવે**, **સિદ્ધિવિનિશ્ચય**ના ટીકાકાર **અનંતવીર્યે**, **ભગવતી આરાધના**ના રચનાર **શિવકોટિએ** રત્નમાલામાં, **પાર્શ્વનાથ** ચરિતના કર્ત્તા **વાદિરાજસૂરિએ**, **એકાંતમંડન**ના કર્ત્તા **લક્ષ્મીભદ્ર** આદિ દિગંબર વિદ્વાનોએ **સિદ્ધસેનસૂરિ** સંબંધી અને તેમના **સન્મતિતર્ક** ગ્રંથ સંબંધી ભક્તિભાવથી ઉલ્લેખ કર્યો છે; ને વળી આ ઉલ્લેખોથી એમ જણાય છે કે દિગંબર ગ્રંથકારોમાં (ઘણા) સમય સુધી **સિદ્ધસેન**ના ગ્રંથોનો પ્રચાર હતો, અને એટલો બધો હતો કે તેનાપર તેઓએ ટીકા પણ રચી છે.

૧૬૬. શ્વેતામ્બરાચાર્યોમાં શ્રી **હરિભદ્રસૂરિએ સિદ્ધસેન**ને 'શ્રુતકેવલી' ની કોટિમાં મૂકયા છે; **સિદ્ધસેન** બીજાએ **ન્યાયાવતાર** પર અને તર્કપંચાનન **અભયદેવસૂરિએ સન્મતિ** તર્ક પર ટીકા રચીને **સિદ્ધસેનસૂરિ** જૈન તર્કશાસ્ત્ર વિષયે સૂત્રધાર હતા તેનું સગૌરવ સમર્થન કર્યું છે. પ્રચંડ તાર્કિક **વાદિદેવસૂરિએ** તેમને પોતાના માર્ગદર્શક જણાવ્યા છે. પ્રસિદ્ધ આચાર્ય **હેમચંદ્રે** તેમની કૃતિઓ સામે પોતાની વિદ્વન્મનોરંજક કૃતિઓને પણ 'અશિક્ષિત મનુષ્યના આલાપવાળી' જણાવી છે, અને **સિદ્ધહૈમશબ્દાનુશાસન**માં ઉદાહરણ પ્રસંગે 'अनु सिद्धसेनं कवयः' એ પ્રયોગવડે **સિદ્ધસેન**ને સર્વોત્કૃષ્ટ કવિ તરીકે સ્વીકારેલ છે. છેવટમાં **યશોવિજય** ઉપાધ્યાયે **સન્મતિ** તર્કનો ઉલ્લાસપૂર્વક છૂટથી ઉપયોગ કર્યો છે.

૧૬૭ **સિદ્ધસેને** 'કલ્યાણમંદિર' એથી શરૂ થતું **પાર્શ્વનાથ**

સ્તવન સંસ્કૃતમા રચ્યું છે કે જે ઘણું બુદ્ધિપ્રધાન અને મનોહર કાવ્ય છે. તેમના પ્રબંધમાં એમ વાત છે કે મહાકાલ પ્રાસાદમાં તે સ્તવન રચેલું અને તેના પ્રભાવથી ત્યાં પાર્શ્વપ્રતિમા કાઢી હતી. સિદ્ધસેનનું બીજું નામ 'ગંધહસ્તી' હતું એમ કહેવાય છે અને તેમણે આચારાંગના પ્રથમ અધ્યયન નામે 'શસ્ત્રપરિજ્ઞા' પર વિવરણ રચ્યું હતું[૧૦૨] કે જે 'ગન્ધહસ્તિવિવરણ' કહેવાય છે. હાલ તે ઉપલબ્ધ નથી.

૧૬૮. તેમનું જન્મસ્થાન નિશ્ચિત રીતે વિદિત નથી, પણ ઉજ્જયિની અને તેની આજુબાજુએ તેઓએ જીવન ગાળ્યું હોય એમ જણાય છે, તેથી તેમના ગ્રંથોની રચના પણ તેજ પ્રદેશમાં થયાનો સંભવ છે. તેઓ જાતે બ્રાહ્મણ અને કુલધર્મે વૈદિક હતા. પણ પાછળથી પાદલિપ્તસૂરિ સંતાનીય સ્કંદિલાચાર્યના શિષ્ય જૈનાચાર્ય વૃદ્ધવાદીની પાસે જૈન દીક્ષા લીધી હતી.

૧૬૯. 'દાન, શીલ, તપ અને ભાવનાના સંસ્કારોમાં જૈનોનું વારસાગત ચઢીયાતાપણું કબૂલ કરવામાં આવે તો બૌદ્ધિક સંસ્કારોનું તેવું ચઢીયાતાપણું બ્રાહ્મણજાતિનું સ્વીકારવું જોઇએ. એ વાતની સાક્ષી અનેક બ્રાહ્મણ જૈનાચાર્યોની કૃતિઓ પૂરે છે. વૈશ્યજાતીય હેમચંદ્ર અને યશોવિજય જેવા તો અપવાદ માત્ર ગણાય. દિવાકર જન્મે બ્રાહ્મણ જાતિના અને પોતાનીજ પરંપરામાં વ્યાકરણ, કાવ્ય, વેદ અને ઉપનિષદ્ આદિ ઉપરાંત તત્કાલીન સમગ્ર વૈદિક દર્શનોને તેમજ બૌદ્ધદર્શનને પી ગયેલા. એમનો સંસ્કૃત ભાષા ઉપરનો કાબુ અને કવિત્વ એમની કૃતિઓમાં ચમત્કારક રીતે નજરે પડે છે. પૂર્વાશ્રમના દાર્શનિક પ્રૌઢ અભ્યાસે તેમની બુદ્ધિને તીક્ષ્ણ અને દર્પણ જેવી સ્વચ્છ બનાવી હતી. હૃદય તેમનું સરળ અને ગુણપક્ષપાતી હતું. પરીક્ષાશક્તિ અને નિર્ભયતા તેઓમાં સ્વતઃસિદ્ધ હતાં, તેથી જૈન આગમ જોતાં વેંતજ બીજા કોઈ સાધારણ વિદ્વા-

૧૦૨ આચારાંગના વૃત્તિકાર શીલાંક સૂરિ છેવટે જણાવે છે કેઃ—

शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहनं च 'गंधहस्ति' कृतम् ।

तस्मात् सुखबोधार्थं गृह्णाम्यहमंजसा सारम् ॥

ન્તે ન ભાસે એવું મહાવીરભાષિત તત્ત્વ તેમની પ્રતિભાને ભાસ્યું અને તેમની વિરક્ત વૃત્તિ સાથે નિર્ભયતા જાગી ઉઠી; પરિણામે તેમણે દીર્ઘતપસ્વી મહાવીરનું શાસન સ્વીકાર્યું અને પોતાની સમગ્ર શક્તિ એ શાસનને અર્પી, તેની વ્યવસ્થા અને પ્રભાવના કરવામાંજ પોતાના પાંડિત્યનો ઉપયોગ કર્યો. આ વાત તેમની કૃતિઓ[૧૦૩] પરથી સ્પષ્ટ છે."[૧૦૪] ધર્મશાસ્ત્રમાં પણ આઠ પ્રભાવક પુરૂષોની ગણનામાં સિદ્ધસેનની ગણના કવિપ્રભાવકમાં કરી છે.

૧૭૦. તેમના પ્રભાવક ચરિતમાંના પ્રબંધ પ્રમાણે વિક્રમ નૃપ રાજ્યે વિશાલામાં (અવન્તીમાં) કાત્યાયન ગોત્રીય દેવર્ષિ નામના દ્વિજને દેવશ્રી (દેવસિકા) નામની પત્નિથી સિદ્ધસેન નામનો પુત્ર અતિ પ્રજ્ઞાશાલી હતો. તે બુદ્ધિમાન હોવાથી બાલાવસ્થામાં સર્વશાસ્ત્રમાં નિષ્ણાત થયો તેમજ વાદ કરવામાં ઘણી કુશળતા મેળવેલી હોવાથી તે કાળના સમર્થ વાદીઓમાં તેની ગણના થતી હતી. એક વેળાએ પાદલિપ્ત સૂરિના સંતાનીય સ્કંદિલાચાર્યના શિષ્ય વૃદ્ધવાદી (કે જે મૂલ મુકુંદ નામના બ્રાહ્મણ હતા તે વૃદ્ધવાદી તરીકે પ્રસિદ્ધ થયા હતા) સાથે તેનો મેળાપ થયો. તેની વાદ કરવાની ઇચ્છા હોવાથી બન્નેનો રાજસભામાં વાદ થયો અને સિદ્ધસેનનો પરાજય થયો. આથી તે વૃદ્ધવાદીનો શિષ્ય થયો ને દીક્ષાકાલે 'કુમુદચંદ્ર' નામ રાખ્યું. પણ તેની વિશેષ પ્રસિદ્ધ 'સિદ્ધસેન દિવાકર' એ નામથીજ થઇ. પ્રભાવક ચરિતમાં વૃદ્ધવાદિ પ્રબંધમાં વિશેષ જણાવ્યું છે કે

---

૧૦૩ 'શ્રી સિદ્ધસેન દિવાકર કૃત ગ્રંથમાલા' એ નામનું પુસ્તક જૈન-ધર્મપ્રસારકસભા ભાવનગર તરફથી સં. ૧૯૬૫માં પ્રસિદ્ધ થયું છે તેમાં ૨૧ બત્રીશીઓ, ન્યાયાવતાર અને સન્મતિતર્ક મૂલ છપાયાં છે. ન્યાયાવતાર પં. સુખલાલના ભાષાંતર અને વિવેચન સહિત જૈ. સા. સંશોધકમાં અને ડા વૈદ્યની અંગ્રેજી પ્રસ્તાવના-મૂલ ને ટીકા સહિત જૈન શ્વે. ઑફીસ તરફથી હમણાં બહાર પડેલ છે.

૧૦૪. પં. સુખલાલ અને પં. બહેચરદાસનો લેખ 'સન્મતિતર્ક અને તેનું મહત્ત્વ.'

ગોવાળીઆઓ ઉપદેશ સાંભળવા આવ્યા ત્યારે તેમને પ્રાકૃત રાસમાં તાલ સાથે હુંબડક-હુંબોડા લઇને તેણે સમજાવ્યું કેઃ—

નવિ મારિઅઈ નવિ ચોરીઅઈ પરદારહ સંગુ નિવારિઅઇ
થોવા થોવું દાઇઅઈ તઉ સગ્ગિ ટુગટુગુ જાઈઇ.

આ દેશી ગાથાને બીજા પ્રબંધકારે (ચતુર્વિંશતિ પ્રબંધકાર) એવી રીતે ઉપયોગમાં લીધી છે કે સિદ્ધસેનને પ્રતિજ્ઞા હતી કે જે મને વાદમાં જીતે તેનો શિષ્ય થાઉં. તે વૃદ્ધવાદીપાસે ભૃગુપુર–ભૃગુકચ્છ આવ્યો ને રસ્તામાંજ તેને મળતાં 'વાદ કરો, જીતો ને શિષ્ય કરો, નહિતો હાર સ્વીકારો' એમ સિદ્ધસેને કહેતાં વૃદ્ધવાદીએ કહ્યું વાદ કરવા તૈયાર છું પરંતુ અહીં સભ્ય ક્યાં છે? સભ્યો વગર વાદમાં જીત હારનો કોણ નિર્ણય કરે?' સિદ્ધસેને કહ્યું 'આ ગોવાળીઆ તે સભ્યો.' વૃદ્ધવાદીએ કહ્યું 'ત્યારે બોલ'. સિદ્ધસેને સંસ્કૃતમાં બોલવા માંડયું તે ગોવાળીઆ સમજ્યા નહિ એટલે પછી વૃદ્ધવાદી કાલ સમજી કચ્છ બાંધી રમતા રમતા ઉપરની 'નવિ મારિયઇ' એ ગાથા વગેરે[૧૦૫] બોલ્યા. ગોવાળીઆએ વૃદ્ધવાદીની જીત જાહેર કરી. પછી

---

૧૦૫ 'નવિ મારિયઇ'નો અર્થ એ છે કે 'મારવું નહિ, ચોરવું નહિ, થોડું થોડું (શક્તિ પ્રમાણે) દેવું–દાન કરવું તો ધીમેથી સ્વર્ગે જવાય.' આ ગાથા સાથે બીજી પણ ગાથા ચતુર્વિંશતિ પ્રબંધકારે (સં. ૧૪૦૫) મૂકી છે કેઃ—

'ગુલસિઉ ચાવઇ તિલ તાંદલી, વેડિઇ વજાવઈ વાંસલી,
પહિરણી ઓઢણિ હુઇ કાંબલી, ઈણપરિ આવઇ પૂજઇ રૂલી.
કાલઉ કંબલુ અનુ નીવાડુ, છાસિહિં ખાલડુ ભરિઉ નિ પાડુ,
અઇ વડુ પડિયઉ નીલઈ ડાડિ, અવર કિસઉ ગઉ સિંગ નિલાડી.'

ત્યારે પૌ૰ રામચંદ્રસૂરિએ વિક્રમચરિત્ર (સં. ૧૪૯૦) માં 'નવિ મારિયઇ' ની સાથે બીજી દેશી ગાથાઓ મૂકી છેઃ—

'વચન નવ કીજઈ દહીતણું, એહ વાત સાચી ભણું,
કીજઇ જીવદયાનું જતન, સાવયકુલિ ચિંતામણિ રતન.
ઘડ ઘડાવ નવી કીજઇ ઘણું, મરમ બોલ્લ દુઃખ કહિતણું,
કુડી સાખી મ દેયો આલ, એ તુહ ધરમ કહ્યું ગોવાલ.
ગરડસ વીધી મારિઇ, મારિ તુ સહી ઉગારિઈ,
કુડ કપટ દરથ વારિઇ, ઘણાપરિ આપકાજ સારિઇ.'

રાજસભામાં વાદ થયો ને ત્યાં પણ સિદ્ધસેનની હાર થતાં તે વૃદ્ધવાદીનો શિષ્ય થયો. આ કિંવદન્તિમાં કેટલું તથ્ય છે તે એક બાજુ રાખીએ, પણ 'નવિ મારિયઇ'ની ગાથા સાથે હાલની દેશી ભાષાનું સામ્ય જણાય છે તો દેશી ભાષાનાં મૂળ ઘણાં જૂનાં છે એમ કહી શકાય.

૧૭૧. 'સિદ્ધસેનસૂરિ માટે એક બીજી કિંવદન્તી પણ પ્રચલિત છે કે તેમણે એક વખત જૈનશ્રમણ સંઘની સામે એવો વિચાર પ્રકટ કર્યો હતો કે 'જૈનાગમગ્રંથ' કે જે પ્રાકૃત ભાષામાં છે તેથી તેની પ્રત્યે વિદ્વાનોનો આદર વિશેષ થતો નથી-વિદ્વદ્વગણ તેને ગ્રામીણ ભાષાના ગ્રન્થ સમજી તેનું અવલોકન કરતા નથી-તે માટે જો શ્રમણ-ગણ અનુમતિ આપે તો હું તેનું સંસ્કૃત ભાષામાં પરિવર્તન કરી નાંખવા ઇચ્છું છું.' દિવાકરના આ વિચારો સાંભળી શ્રમણ-સંઘ એકદમ ચોંકી ઉઠયો અને કહેવા લાગ્યો કે 'મહારાજ, આ અકર્તવ્ય વિચારને આપના હૃદયમાં સ્થાન આપી આપે તીર્થંકર, ગણધર અને જિનપ્રવચનની મોટી 'આશાતના' (અવજ્ઞા) કરી છે. આવા કલુષિત વિચાર કરવા માટે અને શ્રમણસંઘની સામે આવા ઉદ્ગાર કાઢવા માટે જૈનશાસ્ત્રાનુસાર આપ 'સંઘબાહ્ય'ના મોટા દંડની શિક્ષાના અધિકારી થયા છો.' સિદ્ધસેન તો સંઘનું આ કથન સાંભળી ચકિત થયા અને પોતાના સરલ વિચારથી પણ સંઘને આટલી અપ્રીતિ થઈ તે માટે પોતાને બહુ ખેદ થયો. સંઘને તરતજ તેમણે ક્ષમા-પ્રાર્થના કરી કે જે પ્રાયશ્ચિત્ત દેવું હોય તે આપો. એમ કહેવાય છે કે સંઘે તેને શાસ્ત્રાનુસાર બાર વર્ષ સુધી 'બહિષ્કૃત' રૂપમાં રહેવાનું 'પારાંચિત' નામનું પ્રાયશ્ચિત્ત આપ્યું કે જે દિવાકરે સાદર સ્વીકારી (વિક્રમરાજાને પ્રતિબોધી) સંઘની આજ્ઞાનું પાલન કર્યું. પ્રાયશ્ચિત્તની મર્યાદા પૂરી થતાં સંઘે તેમને પુનઃ સંઘમાં લઈ પૂર્વવત્ તેમનો સત્કાર કર્યો.[૧૦૬] 'આ કિંવદન્તીમાં કેટલો તથ્યાંશ છે તે વિચારવા જેવી

---

૧૦૬. ભદ્રેશ્વરસૂરિ પોતાની પ્રાકૃત કથાવલીમાં પાટણ તાડપત્ર પ્રત પૃ. ૩૦૦ ઉપર જણાવે છે કેઃ—'लज्जंतो य पाययं जिणसासणं ति लोउ-

વાત છે. આ રૂપકમાં કંઈ ને કંઈ તથ્યાંશ—ઐતિહાસિક સત્ય અવશ્ય છે. સિદ્ધસેનસૂરિના વિચારસ્વાતંત્ર્ય અને સ્પષ્ટભાષિત્વનો પરિચય ઉપર કરાવ્યો છે તેથી એમ જાણી શકાય છે કે જો જૈનાગમોના સંબંધમાં તેમણે એવી કોઈ વાત શ્રમણસંઘ પાસે જણાવી હોય અથવા કૃતિરૂપે ઉપસ્થિત કરી હોય; અને તેથી પુરાણપ્રિય અને આગમપ્રવણ શ્રમણવર્ગને મોટો અસંતોષ થયો હોય તો તેમાં કાંઈ અસંભવ નથી.

૧૭૨. 'વિશેષમાં શ્વેતામ્બર સાહિત્યમાં સંસ્કૃત ભાષાના પદ્યાત્મક પ્રૌઢ ગ્રંથોના પ્રથમ પ્રણેતા સિદ્ધસેન છે. તેમની પહેલાં સંસ્કૃત ભાષાનો વિશેષ અભ્યાસ કે આદર નહોતો. ત્યાં સુધી તો જૈનશ્રમણોમાં પ્રાકૃત ભાષાનું પ્રભુત્વ હતું. શ્રમણોના અભ્યાસના વિષયો પણ ઘણા નહોતા. આગમ સાહિત્યનાં મૂળસૂત્રોને કંઠસ્થ કરાતાં-વંચાતાં, તે સિવાય સંસ્કૃતમાં રહેલાં વ્યાકરણ, કાવ્ય, કોષાદિનો અભ્યાસ વિશેષ કરીને નહિ હોય. સિદ્ધસેને સન્મતિતર્કના અંતે કહ્યું છે કે 'तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थसंपायणम्मि जइअव्वं' એટલે 'સૂત્ર (મૂલપાઠ)ને અધિગત કર્યા સાથે અર્થસંપાદન કરવામાં પણ યતિ-

---

सीए सिद्धसेण (णो) विण्णवइ संघं-'जइ भणह तो करेमि सक्कयं पि सिद्धंतं'। संघो भणइ-"चिंतिएणा वि इमेण पायच्छित्ती, किं पुण जंपिएण; ता चरसु तुमं पायच्छित्तं ॥' એટલે કે 'પ્રાકૃત' જિનશાસન' એ લોકોક્તિથી લજ્જમાન થઈ સિદ્ધસેને સંઘને વિનંતિ કરી કે જો કહો તો (સર્વ પ્રાકૃત) સિદ્ધાંતને સંસ્કૃતમાં કરૂં. પરંતુ સંઘે કહ્યું કે 'આવું ચિંતવવાથી પણ પ્રાયશ્ચિત્ત છે તો પછી બોલવાથી તો કેમ નહિ ? માટે તમે પ્રાયશ્ચિત્ત લ્યો.' આ વાતને પુષ્ટિ અન્ય પ્રબંધો પરથી મળે છે-જુઓ વૃદ્ધવાદીપ્રબંધ પ્રભાવકચરિત પૃ. ૯૧ થી ૧૦૩, રાજશેખરકૃત ચતુર્વિંશતિ પ્રબંધમાં વૃદ્ધવાદી સિદ્ધસેન પ્રબંધ, પૃ. ૨૦, પી. રામચંદ્રસૂરિકૃત વિક્રમચરિત્ર, ચારિત્રસુંદરકૃત કુમારપાલચરિત્ર, શુભશીલગણિકૃત વિક્રમાદિત્ય-ચરિત વગેરે.

ઓએ યત્ન કરવો જોઇએ' એવો ઉપદેશ આપ્યો છે તે ઉક્ત વિચારને પુષ્ટિ આપે છે. અર્થપરિજ્ઞાન વિના અને વ્યાકરણ, કાવ્ય, કોષ આદિ સર્વ–સાધારણ જ્ઞાન વિના મનુષ્યને તત્ત્વબોધ થઈ શકતો નથી અને બીજાને તે કરાવી શકતો નથી. સર્વ–સાધારણ પરિજ્ઞાનનાં ઉક્ત સર્વ સાધન ભારતવર્ષમાં પ્રાચીનકાલથી એક માત્ર સંસ્કૃત ભાષામાંજ ઉપલબ્ધ થાય છે. જૈનશ્રમણોને તે માટે બહુજ્ઞ અને વિશિષ્ટ વિદ્વાન્ બનાવવા માટે સંસ્કૃત ભાષાના અધ્યયન–અધ્યાપનની જરૂર હતી. આ જરૂર ત્યારે પૂરી થઇ શકે છે કે જ્યારે ઉત્તમ અને પ્રૌઢ વિચારના ગ્રંથ તે ભાષામાં રચાયેલાં હોય અને જેને શીખવાની શ્રમણોને ખાસ આવશ્યકતા માલૂમ પડતી હોય. આ માટે સિદ્ધસેને સંસ્કૃતમાંજ પોતાના પ્રૌઢ અને ગંભીર વિચાર લિપિબદ્ધ કરવાનું શરૂ કર્યું હતું, પરંતુ જૈનશ્રમણોમાં સંસ્કૃતમાં નવોજ પ્રવેશ હતો તેથી પોતાને સંસ્કૃત ભાષામાં લખવાનું વિશેષ પ્રિય હોવા છતાં સર્વ શ્રમણોને પોતાના મૌલિક અને તેથી નવીન વિચારોનો પરિચય કરાવવા માટે શ્રમણસમૂહની સાધારણ અને પ્રિયભાષા કે જે તે સમયે પ્રાકૃત હતી તેમાં પણ લખવાની જરૂર લાગતાં 'સન્મતિપ્રકરણ' પ્રાકૃતભાષામાં પોતે રચ્યું એમ અનુમાન થાય છે. એમ જો ન હોત તો પોતે સંસ્કૃત ભાષાના અત્યંત અનુરાગી અને મહાકવિ હોઇને પ્રાકૃત જેવી સરલ અને સાધારણ ભાષામાં શું કામ લખત? એટલે સિદ્ધસેન જૈનસમાજમાં સંસ્કૃત ભાષાના વિશિષ્ટ લેખક અને પ્રચારક હતા.[૧૦૭]



૧૦૭. આ પ્રકરણ મુખ્યત્વે શ્રી જિનવિજયજીનો હિંદી લેખ 'સિદ્ધસેન ઔર સામન્તભદ્ર' પરથી (જૈન સા૦ સંશોધક ખંડ ૧ અંક ૧.) લીધેલ છે.

પ્રકરણ ૪ થું.

વિક્રમ સં. ૧ થી ૩૦૦.

વિમલસૂરિ, મથુરાસ્તૂપો, મથુરાસંઘ, દિગંબર-શ્વેતામ્બર ભેદ, જૈન ન્યાયશાસ્ત્રનો પ્રથમ યુગ.

अन्ने वि जे महारिसि गणहर अणगार लद्धमाहप्पे।
मणवयणकायगुत्ते सव्वे सिरसा नमंसामि ॥

—વિમલસૂરિકૃત પઉમચરિયં.

—[૨૪ જિન ઉપરાંત] બીજા પણ જે મહા ઋષિઓ ગણધરો અણગારો મુનિઓ કે જેમણે મહાત્મપદ પ્રાપ્ત કર્યું છે અને જેઓ મનવચનકાય ગુપ્તિવાળા છે એમને નમસ્કાર કરું છું.

जारासियं विमलंको विमलं को तारिसं लहइ अत्थं ।
अमयमइयं च सरसं सरसंचिय पाइयं जस्स ॥

—કુવલયમાલા રચ્યા સં. ૮૩૪.

—જેવી કીર્તિ વિમલાંકે (પઉમચરિયકારે) મેળવી તેવી વિમલ કીર્તિ કોણ મેળવી શકે તેમ છે ? કે જેની પ્રાકૃત અમૃતમયી અને સરસ છે.

૧૭૩. આ સમયમાં વિમલસૂરિએ પ્રાકૃતમાં પઉમચરિયમ્ (પદ્મચરિત્ર-જૈન રામાયણ) રચ્યું. વીરાત્ ૫૩૦ (વિ. સં. ૬૦). ૧૦૭ આ ઉપરથી અનુમાન થાય છે કે તે સમયમાં રામાયણની

---

૧૦૭. પઉમચરિયના કર્તા વિમલસૂરિ નાગિલ કુલના રાહુ આચાર્યના શિષ્ય વિજયસૂરિના શિષ્ય હતા. રચનાસમય:—

पंचेव य वाससया दुसमाए तीस वरिस संजुत्ता ।
वीरे सिद्धिमुवगए तओ णिबद्धं इमं चरियं ॥

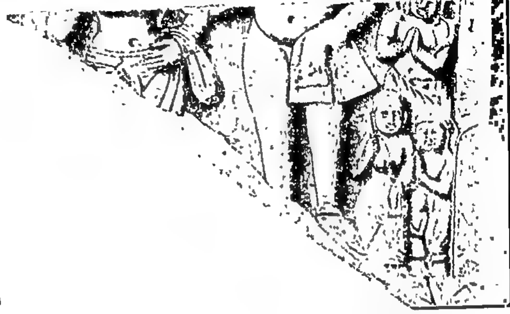
આ પ્રમાણે વીરાત્ સં. ૫૩૦ એ વર્ષ મૂલમાં સ્પષ્ટ આપ્યું છે, (છતાં પણ તેની રચનાશૈલી અને ભાષાકૃતિ ઉપરથી ડા. હર્માન યાકોબી એમ માને છે કે ૪ થા ૫ મા સૈકા કરતાં એ ગ્રંથ જૂનો નથી.) એજ આચાર્યે

કથા લોકોમાં બહુ પ્રિય થઈ પડી હોવી જોઈએ. વિ. સં. ૧૦૮માં ઉપર્યુક્ત **ભાવડ**શાના પુત્ર **જાવડ**શાએ **શત્રુંજય** તીર્થનો ઉદ્ધાર કર્યો એમ સં. ૪૭૭ માં રચાયેલું મનાતું ધનેશ્વર સૂરિકૃત **શત્રુંજય** માહાત્મ્ય જણાવે છે. આ સમય લગભગ પૌષધશાળાની (હાલના ઉપાશ્રયની) સ્થાપના થઈ; વજ્રસ્વામી નામના એક પ્રભાવશાલી જૈનાચાર્ય આ સમામાં થયા. (સ્વર્ગવાસ વીરાત ૫૮૪–વિ. સં. ૧૧૪).

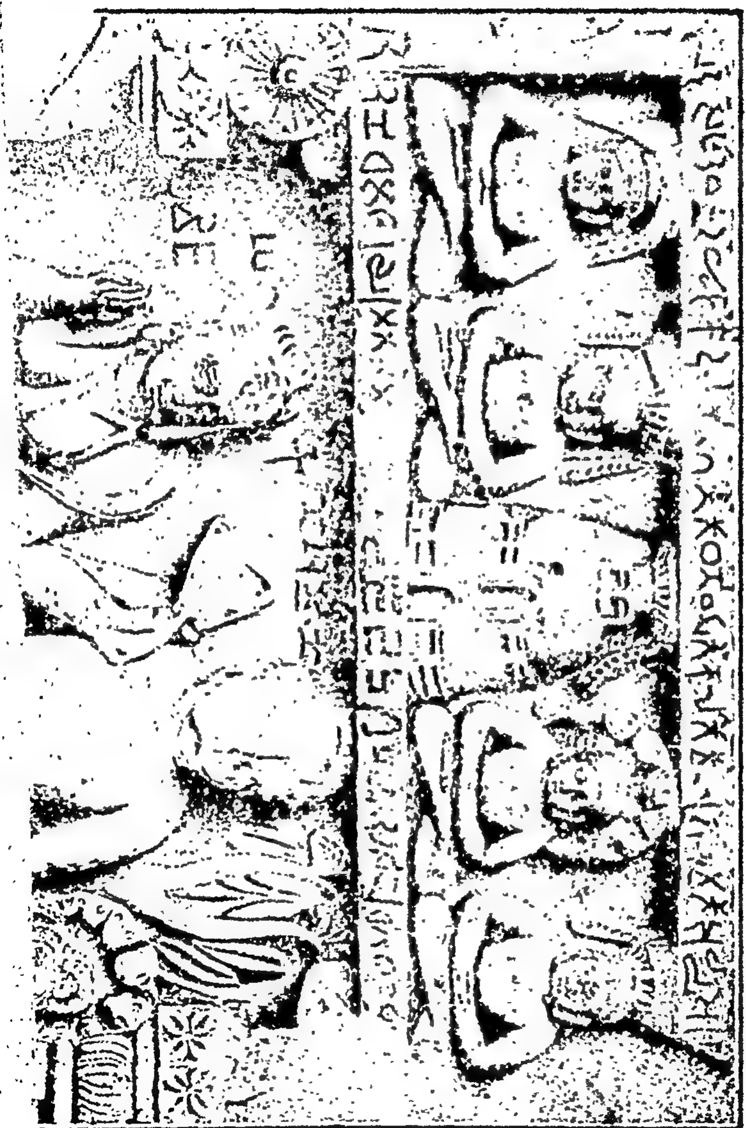
૧૭૪. વિ. સં. ની બીજા શતાબ્દીના બનેલા **મથુરા**ના કંકાલી ટીલાવાળા જૈન સ્તૂપથી તથા ત્યાંના કેટલાંક બીજાં સ્થાનોથી મળેલા પ્રાચીન શિલાલેખો તથા મૂર્તિઓથી સ્પષ્ટ જણાય છે કે તે સમયે પણ ત્યાં ત્યાં જૈન ધર્મનો સારો પ્રસાર હતો, એટલું જ નહિ પરંતુ **મથુરા** જૈનોનું એક કેન્દ્રસ્થાન હતું. **અર્હત્ વર્ધમાન**નું એક નાનું મંદિર બંધાવ્યાનો તેમાં લેખ છે, ઉપરાંત કેટલાક આચાર્યોના ગણ, શાખા વગેરેનો ઉલ્લેખ છે. આ આચાર્યોનાં નામ, ગણ શાખા વગેરે શ્વેતાંબર કલ્પસૂત્રમાં જે આપેલ છે તેની સાથે મળતાં આવે છે તેથી તે શ્વેતાંબર સિદ્ધ થાય છે.[૧૦૮]

ભારતની કથા ઉપર પણ **પઉમચરિય** જેવો હરિવંશ ચરિય નામનો પણ પ્રાકૃત ગ્રંથ રચ્યો હતો એમ કુવલયમાલામાં જણાવ્યું છે, પણ હજુ તે ગ્રંથ ઉપલબ્ધ થયો નથી. **પઉમચરિય** ડા. યાકોબીથી સંશોધિત ભાવનગરની જૈન ધ. પ્ર. સભાએ મુદ્રિત કરાવી પ્રસિદ્ધ કરેલ છે. પી. ૪, ૧૦૪.

૧૦૮ ખરો અર્થ કરી આ લેખોને જૈન બતાવનાર ડા. ભગવાનલાલ ઇંદ્રજી હતા. આ માટે જુઓ જર્મનમાં ડા. બુહ્લરનો મૂળ ગ્રંથ અને તેનો ડા. બર્જેસે કરેલ અંગ્રેજી અનુવાદ 'On the Indian Sect of the Jainas' પૃ. ૪૧–૪૪ અને પરિશિષ્ટ પૃ. ૪૮ થી ૬૦; Archaeological Survey Reports Vol. III plates 13–15; Smith's Mathura Antiquities. આ છેલ્લા પુસ્તકમાં એક જૈન મૂર્તિ અને નીચે બે શ્રાવક તથા ત્રણ શ્રાવિકાઓની ઉભી મૂર્તિઓ છે. આ ત્રણે સ્ત્રીઓએ લંઘા પહેરેલા છે. આ પરથી તે વખતનો પોશાક કેવો હતો તે જણાય છે.



સં. ૯૫માં જૈન યતિ કણ્હની મૂર્તિ–મથુરા. પૃ. ૧૨૪ [ડૉ. ત્રિભોવનદાસના સૌજન્યથી.]



મથુરાસંઘ-પરિષદ્

जेसि इमो अणुओगो पयरइ अज्जावि अड्ढ भरहम्मि।
बहुनयरनिग्गयजसे ते वंदे खंदिलायरिए ॥ —नंदीसूत्रं गाथा ३२

—જેનો અનુયોગ અદ્યાપિ અર્ધ ભરત (ક્ષેત્ર)માં પ્રવર્ત્તે છે-પ્રચલિત છે અને જેનો યશ બહુ નગરોમાં પ્રસિદ્ધ છે-વ્યાપી રહ્યો છે તે સ્કન્દિલાચાર્યને હું વંદું છું.

૧૭૫ અગાઉ જણાવેલ પાટલિપુત્ર સંઘ-પરિષદ્‌માં જૈન સૂત્રો-આગમોને બને તેટલા સંકલિત કરવામાં આવ્યાં હતાં, છતાં તે શ્રુતિની છિન્નભિન્નતા ઉત્તરોત્તર વધતી ગઇ-એટલે ત્યાર પછી, વીર નિર્વાણથી છઠ્ઠા સૈકામાં-પાટલિપુત્ર પરિષદ્‌થી લગભગ ચારસેં વર્ષે-આર્યશ્રી સ્કંદિલ[109] અને વજ્ર[110] સ્વામિની નિકટના સમયમાં એક બીજી ભીષણ બારદુકાળી આવી. તે હકીકતનું વર્ણન આપતાં જણાવવામાં આવે છે કે:-"[111]બાર વર્ષનો ભયંકર દુકાળ પડયે સાધુઓ અન્નને માટે જુદે જુદે સ્થલે હીંડતા-ફરતા હોવાથી શ્રુતનું ગ્રહણ ગુણન અને ચિંતન ન કરી શકયા, એથી તે શ્રુત વિપ્રનષ્ટ થયું અને જ્યારે ફરી વાર સુકાળ થયો, ત્યારે મથુરામાં શ્રી સ્કંદિલાચાર્ય પ્રમુખ સંઘે મોટો સાધુસમુદાય ભેગો કરી જે જેને સાંભર્યું તે બધું [112]કાલિક

૧૦૯-૧૧૦ જુઓ મેરૂતુંગ સૂરિની વિચાર શ્રેણી.

૧૧૧ જિનદાસ મહત્તરકૃત નંદિચૂર્ણિમાં 'बारस संवच्छरिए महंते दुब्भिक्खे काले भत्तट्ठा अण्णण्णतो हिंडियाणं गहणगुणणणुप्पेहाभावाओ विप्पणट्ठे सुत्ते, पुणो सुभिक्खे काले जाए महुराए महंते साधुसमुदए खंदिलायरियप्पमुहसंघेण जो जं संभरइ त्ति इव संघडियं कालियसुयं। जम्हा एव महुराए कयं तम्हा माहुरी वायणा भण्णइ। વગેરે. તેજ પ્રમાણે હરિભદ્રકૃત નંદી ટીકામાં છે, તથા મલયગિરિકૃત નંદી ટીકા પૃ. ૫૧ આ. સમિતિમાં છે. આ સ્કંદિલાચાર્ય પછી હિમવત્, નાગાર્જુન, ભૂતદિન્ન, લોહિત્ય દૂષ્યગણિ અને દેવવાચક (નંદીસૂત્ર કર્ત્તા) અનુક્રમે આવે છે.

૧૧૨ કાલિકશ્રુત માટે જુઓ નંદિસૂત્ર.

શ્રુત સંઘટિત કર્યું." આ દુકાળે તો માંડ માંડ બચી રહેલ તે શ્રુતની ઘણી વિશેષ હાનિ કરી. આ ઉદ્ધાર **શૂરસેન**[113] દેશના પાટનગર **મથુરા**માં થયેલ હોવાથી તે શ્રુતમાં શૌરસેની ભાષાનું મિશ્રણ થયું હોવું સંભવિત છે. આ મથુરા સંઘમાં થયેલ સંકલનને '**માથુરી વાચના**' કહેવામાં આવે છે.

૧૭૬. આ સમય લગભગ એટલે વીરાત્ ૫-૬ સૈકા પછી શ્વેતામ્બર મત પ્રમાણે વીરાત્ ૬૦૯[114] (વિ. સં. ૨૩૯) માં અને દિગમ્બરોની માન્યતા પ્રમાણે વિ. સં. ૧૩૬ માં દિગંબરો અને શ્વેતાંબરો એમ બે પક્ષ પડયા. પક્ષાપક્ષીમાં વધારો થતો ગયો. દિગંબરો અને શ્વેતામ્બરો એકજ પિતાના પુત્રો સ્વસ્વમત (નગ્નવાદ ને વસ્ત્રવાદ વગેરે) લઇ શબ્દાશબ્દીના વાદોમાં ઉતરી મૂળ તાત્ત્વિક વાતના ભુલાવામાં પડી એક બીજાનું બળ તોડવા લાગ્યા. ઉત્તરમાંથી દિગંબરો મુખ્ય ભાગે દક્ષિણ દેશમાં ઉતર્યા, અને તેમનું મૌલિક સાહિત્ય પ્રધાનપણે આચાર્ય કુંદકુંદ, **સમંતભદ્ર** વગેરેથી ત્યાંજ ઉત્પન્ન થઈ પોષાયું–વધ્યું; અને શ્વેતામ્બરો મુખ્ય ભાગે ઉત્તરહિંદ, પશ્ચિમ દેશમાં–રાજપુતાના, ગૂજ-

---

૧૧૩ જુઓ **પ્રજ્ઞાપના સૂત્ર**–આર્યદેશ વિચાર.

૧૧૪ छव्वाससयाइं नवुत्तराइं तइया सिध्धिं गयस्स वीरस्स।
तो बोडियाण दिठ्ठी रहवीरपुरे समुप्पण्णा ॥ १४५ ॥ भा०
रहवीरपुरं नयरं दीवगमुज्जाण अज्जकण्हे य।
सिवभूइस्सु वहिंमि य पुच्छा थेराण कहणा य ॥ १४६ मू० भा०

—(શ્રી) વીર સિદ્ધિ પ્રાપ્ત થયા પછી ૬૦૯ વર્ષે બોટિકોની દૃષ્ટિ (દિગંબર મત) ઉત્પન્ન થઈ. રથવીરપુર (નામનું નગર) તેમાં દીપક (નામનું ઉદ્યાન) ત્યાં આર્યકૃષ્ણ (નામના આચાર્ય આવ્યા.) તેમને **શિવભૂતિ** (તે મત કાઢનાર) શિષ્યે સુવિધિથી પૂછ્યું, તે સ્થવિર (ગુરૂ)એ કહ્યું. (વગેરે ઉત્પત્તિની વાત આગળ આવે છે)

—હરિભદ્રસૂરિકૃત **આવશ્યકસૂત્ર** બૃહદ્‌વૃત્તિ. પૃ. ૩૨૩

રાત, અને સૌરાષ્ટ્રમાં ઉતર્યા. ઉત્તર કરતાં પશ્ચિમ હિંદમાં શ્વેતામ્બર સંપ્રદાયની સત્તા વધેલી તેથીજ છેલ્લા લગભગ પંદરસો વરસનું તે સંપ્રદાયનું સાહિત્ય પ્રધાનપણે કાઠીઆવાડમાં અને ગૂજરાતમાં લખાયું ને વિકસિત થયું. દિગંબર સાહિત્ય દક્ષિણ હિન્દમાં રચાયું અને વિકસ્યું.

૧૭૭ વિક્રમ બીજા સૈકામાં સમંતભદ્ર નામના સમર્થ જૈનાચાર્યે આપ્તમીમાંસા નામનો મહાન ગ્રંથ રચ્યો ને પોતે વનવાસ સેવતાં 'વનવાસી કહેવાયા. પછી બૌદ્ધાચાર્યોએ અનેક રાજાઓને પ્રતિબોધી બૌદ્ધધર્મી કર્યા, સૌરાષ્ટ્ર વગેરે દેશમાં સર્વ તીર્થોને સ્વાધીન લીધાં ને બૌદ્ધ પ્રતિમાઓ બેસાડવામાં આવી. હજી પણ તળાજા વગેરેના પર્વતોમાંની ગુફાઓ બૌદ્ધત્વની સાક્ષી પુરે છે.

૧૭૮ ઉપરોક્ત દિગંબર અને શ્વેતામ્બર બંને શાખાઓના શરુઆતના ગ્રંથો જોતાં એમ સ્પષ્ટ જણાય છે કે તેની નિરુપણપદ્ધતિ માત્ર સિદ્ધાંતરુપે હતી. તત્ત્વજ્ઞાન હોય કે આચાર હોય—બંનેનું નિરુપણ ઉપનિષદ્ જેવી સરળ પ્રાચીન પદ્ધતિએ થતું. વૈદિક દર્શનોમાં ન્યાયદર્શને વિશિષ્ટ સ્થાન અને વિદ્વત્પ્રિયતા મેળવ્યા પછી જૈન સાહિત્યમાં પણ નવો યુગ દાખલ થયો. ન્યાયદર્શનની તર્કપદ્ધતિનો પ્રભાવ બૌદ્ધ સાહિત્ય ઉપર પ્રથમ પડયો. બૌદ્ધ સાહિત્ય અને વૈદિક સાહિત્ય એમ બંનેની મિશ્રિત અસર જૈન વાઙ્મય ઉપર પણ થઈ, તેથી જૈનાચાર્યો પણ બૌદ્ધાચાર્યોની પેઠે પોતાની આગમ—સિદ્ધાંતની (પ્રાકૃત) ભાષા ઉપરાંત સંસ્કૃત ભાષામાં ગ્રંથો રચવા લાગ્યા.

૧૭૯ આ પહેલાં જૈન સાહિત્યમાં સંસ્કૃત ભાષાને સ્થાન નહોતું એમ માનવાને કોઈ ખાસ પ્રમાણ નથી; પણ એટલું ખરું કે આ સંસ્કૃત યુગ પહેલાં જૈન સાહિત્યમાં પ્રાકૃત ભાષાનું સામ્રાજ્ય હતું. જૈન સાહિત્યમાં સંસ્કૃત ભાષાને અને તર્કપદ્ધતિને પ્રથમ પ્રતિષ્ઠિત કરનાર શ્વેતાંબર આચાર્ય કે દિગંબર આચાર્ય, એ કહેવું કઠણ છે; પણ એમ કહી શકાય છે કે બંને સંપ્રદાયના આ પરિવર્તન વચ્ચે વધારે અંતર ન હોવું જોઈએ.

૧૮૦ **જૈન ન્યાયશાસ્ત્રનો પહેલો યુગ**—વિક્રમ પાંચમા સૈકા સુધીનો ગણતાં તે 'બીજારોપણ' યુગમાં "દિગંબર સાહિત્યમાં તર્કપદ્ધતિની સ્પષ્ટ પ્રતિષ્ઠા આચાર્ય **સમન્તભદ્રે** અને શ્વેતાંબર સાહિત્યમાં તર્ક-પદ્ધતિની બલવતી પ્રતિષ્ઠા આચાર્ય **સિદ્ધસેન** દિવાકરે કરી. આ બંનેના સમયની ઉત્તરસીમા ઇ. સ. પાંચમા સૈકાથી આગળ લંબાવી શકાય તેમ નથી અને પૂર્વસીમા લગભગ ઈ. સ. ના આરંભ પહેલાં નિર્દિષ્ટ કરી શકાય તેમ નથી. એમ કહેવાય છે કે **સમંતભદ્રે** તત્ત્વાર્થ પર ગંધહસ્તિ **મહાભાષ્ય** રચ્યું કે જેનું આદિ મંગલ હાલ ઉપલબ્ધ **આપ્તમીમાંસા**—દેવાગમ સ્તોત્ર છે. બાકીનું મળતું નથી. **સિદ્ધસેને** પણ **તત્ત્વાર્થ** પર **ગંધહસ્તિ** મહાભાષ્ય રચ્યું હતું પણ તે મળતું નથી. બંનેએ પોતાના દરેક ગ્રંથોમાં જૈન દર્શન, તેના પ્રણેતા અર્હન્ અને અને તેનો મુખ્ય સિદ્ધાંત અનેકાંતઃ એટલાં તત્ત્વોની તર્કપદ્ધતિથી સૂક્ષ્મચર્ચા કરી અન્ય દર્શનો, તેના પ્રણેતાઓ અને એકાંતનો સોપહાસ પ્રતિવાદ—નિરાસ કર્યો છે. **સમંતભદ્રની** કૃતિઓ **આપ્તમીમાંસા**, **યુક્ત્યનુશાસન** સ્વયંભૂસ્તોત્ર છે. **સિદ્ધસેનની ન્યાયાવતાર**, **સન્મતિતર્ક** અને ઉપલબ્ધ એકવીસ **બત્રીસીઓ** છે. બંનેએ પોતપોતાના સંપ્રદાયમાં જૈન ન્યાયનું બીજારોપણ કર્યું."[૧૧૫]

---

૧૧૫ જુઓ પં. સુખલાલનો "જૈન ન્યાયનો ક્રમિક વિકાસ' એ નિબંધ ભાવનગર ગૂજરાતી સાહિત્ય પરિષદ્નો રીપોર્ટ.

પ્રકરણ ૫ મું.

ગુપ્ત અને વલભી સમય.

આચાર્ય મલ્લવાદી, જિનભદ્ર ક્ષમાશ્રમણ.

(વિ. સં. ૩૦૦ થી ૮૦૦).

संसारवार्द्धिविस्तारात्रिस्तारयतु दुस्तरात् ।
श्री मल्लवादिसूरि र्वो यानपात्रप्रमः प्रभुः ॥ —પ્રભાવકચરિત.

—દુસ્તર એવા સંસાર વૃદ્ધિ રૂપી સમુદ્રમાંથી નાવ જેવા શ્રી મલ્લવાદી [સૂ]રિ પ્રભુ અમારો નિસ્તાર કરો.

जिनवचननतं विषमं भावार्थं यो विवेच्य शिष्येभ्य ।
इत्थमुपादिशदमलं परोपकारैकक्रतचेताः ॥
तं नमत बोधजलधिं गुणमंदिरमखिलवाग्मिनां श्रेष्ठं ।
चरणश्रियोपगूढं जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणं ॥

—મલયગિરિ-ક્ષેત્ર સમાસ ટીકા. ક્ષ. ૨, નં. ૧૬.

માત્ર પરોપકારી ચિત્તવાળા જેમણે જિનવચનમાં રહેલા વિષમ ભાવા-[ર્થ]ને વિવેચન કરી શિષ્યોને નિર્મલ ઉપદેશ આ પ્રમાણે આપ્યો એવા બો-[ધ]ના સમુદ્ર, ગુણમંદિર, સકલ વાગ્મિમાં શ્રેષ્ઠ, અને ચરણ-ચારિત્ર પ્રભાથી [આ]શ્લિષ્ઠ જિનભદ્ર ક્ષમાશ્રમણને નમીએ છીએ.

वाक्यैं विंशेपातिशयैं विश्वसंदेहहारिभिः ।
जिनमुद्रं जिनभद्रं किं क्षमाश्रमणं स्तुवे ॥

—મુનિચંદ્રસૂરિ અમમચરિત્ર.

जिनभद्रगणिं स्तौमि क्षमाश्रमणमुत्तमम् ।
यः श्रुताज्जीतमुदद्ध्रे शौरिः सिन्धोः सुधामिव ॥

—તિલકાચાર્ય-આવશ્યકવૃત્તિ.

—વિશેષ અતિશયવાળાં વિશ્વ સંદેહ હરનારાં વાક્યોથી જે જિનમુદ્ર જે-[જિ]ન જેવા છે તેવા જિનભદ્ર ક્ષમાશ્રમણને શું-કંઇ રીતે સ્તવું ?

—વિષ્ણુએ જેમ સાગરમાંથી સુધા-અમૃત ઉદ્ધૃત કર્યું તેમ જેણે શ્રુત-[મ]ાંથી જીત (કલ્પ)ને ઉધ્ધૃત કર્યું એવા ઉત્તમ ક્ષમાશ્રમણ જિનભદ્રને સ્તવું છું.

૧૮૧ ગુપ્ત સમયમાં જૈન ધર્મની શી સ્થિતિ હતી તે જાણવાનું કશું સાધન હજુ પ્રકાશમાં આવ્યું નથી સિવાય કે તે સમય આગમો પર રચાયેલ ભાષ્યો અને ચૂર્ણિઓનો હતો એટલું જણાય છે. ભારતના એ સુવર્ણયુગમાં જૈન ધર્મ કેવા જીવને જીવતો હતો તેની કલ્પના કરવા પૂરતુંયે કોઇ સામયિક પ્રમાણ દૃષ્ટિગોચર થતું નથી.

૧૮૨. વિક્રમ છઠી ને સાતમી સદીમાં થયેલા પોતાના પૂર્વજ આચાર્યો સંબંધી નવમા શતકની આદિમાં થયેલા કુવલયમાલાના કર્ત્તા ઉદ્યોતનસૂરિ જે કંઈ તેની પ્રશસ્તિમાં ૧૧૬ જણાવે છે તે સદી માટે ઉપયોગી ગણાશે.

---

૧૧૬ તે પ્રશસ્તિમાં પોતાના પૂર્વજનો પરિચય તેમણે આ પ્રમાણે આપ્યો છે કે:—

'ઉત્તરાપથમાં ચંદ્રભાગા નદી જ્યાં વહે છે તે પવ્વઇયા (પાર્વતિકા) પુરી નામની સમૃદ્ધિશાલી નગરી તોરરાજની રાજધાની હતી. તોરરાજના ગુરૂ ગુપ્તવંશીય હરિગુપ્ત આચાર્યે ત્યાં નિવેશ કર્યો હતો. તેના શિષ્ય મહાકવિ દેવગુપ્ત-(તેના] 'મહત્તર' પદ ધારક શિવચંદ્રે જિનવંદનાર્થે ભમતા ભમતા ક્રમે ભિલ્લમાલ નગરે સ્થિતિ કરી. તેના શિષ્ય યક્ષદત્ત ગણિ નામના ક્ષમાશ્રમણ મહાત્મા યશઃશાલી થયા. તેના મુખ્ય શિષ્યો તપ-વીર્ય-વચન-લબ્ધિસંપન્ન થયા કે જેમણે ગૂર્જર દેશને દેવગૃહોથી રમ્ય બનાવ્યો. તે પૈકી નાગ, વૃન્દ, મમ્મટ, દુર્ગ, આચાર્ય અગ્નિશર્મા, અને છઠ્ઠા વટેશ્વર મુખ્ય હતા. વટેશ્વરે આકાશવપ્ર (?) નામના નગરમાં એક રમ્ય જિનમંદિર બંધાવ્યું કે જેના મુખ દર્શનથી ક્રોધ પામેલો શાંત થઇ જાય. તેના અંતિમ શિષ્ય તત્ત્વાચાર્ય તપ-શીલ આદિ નામ પ્રમાણે યથાર્થ ગુણવાળા હતા, અને તેના શિષ્ય દાક્ષિણ્ય ચિન્હ (ઉપનામવાળા) ઉદ્યોતન સૂરિએ હ્રી દેવીએ આપેલ દર્શનના ભાવથી વિલસીને કુવલયમાલા કથા રચી. આચાર્ય વીરભદ્ર અને હરિભદ્ર તેના વિદ્યાગુરૂ હતા.'

(આમાંથી) ગૂજરાતમાં પ્રસરેલા જૈન ધર્મના પ્રારંભિક ઈતિહાસ પર પ્રકાશ પડે છે—અણહિલપુરના શાસનકાળમાં ઉત્કર્ષ પામેલો જૈન ધર્મ, મૂળ કઈ બાજુએથી તળ ગૂજરાતમાં પ્રવિષ્ટ થયો અને કયા આચાર્યના સંયમ-બળે ગૂર્જરભૂમિ જૈન મંદિરોથી મંડિત થઇ એ વિષયનો કેટલોક ખુલાસો

૧૮૩ ગુપ્ત વંશના એક જૈનાચાર્ય નામે હરિગુપ્ત ૧૧૭ તે ગુપ્ત સમ્રાટને વિચલિત કરનાર તોરમાણ-હૂણ સમ્રાટ્ તોરમાણના ગુરૂ હતા. તોરમાણ વિક્રમ છઠ્ઠી સદીમાં થયો. એક દેવગુપ્ત નામના

આમાંથી મળી આવે છે. જૈન ધર્મ પાળનારી બધી વૈશ્ય જાતિઓ-ઓસવાલ, પોરવાડ, શ્રીમાલ, વગેરેનું મૂળસ્થાન ભિન્નમાલ કેમ છે અથવા ભિન્નમાલથી નીકળેલી એ જાતિઓએ શા કારણથી જૈન ધર્મનો સ્વીકાર કર્યો-એ બહુ મહત્ત્વનાં પ્રશ્નના ઉકેલની દિશા પણ આમાંથી સૂઝી આવે તેમ છે. ઉલ્લેખેલ તોરમાણ-તોરરાય તે હૂણોનો પ્રબળ નેતા-હૂણ સમ્રાટ કે જેણે ગુપ્ત સામ્રાજ્યને તોડયું, અને માલવભૂમિને વિ. સં. ૫૬૬ માં જીતી, તે છે. તેના પુત્ર મહાવીર મિહિરકુલની રાજધાની સાકલ (પંજાબનું સિયાલકોટ) હતું. પવ્વઇયા (સં. પાર્વતિકા કે પાર્વતી) નગરી યવનચંગની Polafato નામનું પંજાબનું પાટનગર કદાચ હોય; ચંદ્રભાગા તે પંજાબની ચંદ્રભાગા-ચીનાબ નદી.

૧૧૭ કનિંગહામ સાહેબને સને ૧૮૯૪માં અહિચ્છત્રમાંથી એક તાંબાનો સિક્કો મળી આવ્યો હતો જેની એક બાજુએ પુષ્પસહિત કળશ છે અને બીજી બાજુએ શ્રી महाराज हरिगुप्तस्य આવું વાક્ય આલેખેલું છે. તેનો સમય વિક્રમ છઠ્ઠા સૈકાનો ઠરે છે. અક્ષરોની આકૃતિ પરથી અને નામની સરખામણી ઉપરથી આ સિક્કો કોઇ ગુપ્તવંશી રાજાનોજ હોવો જોઇએ. સિક્કા પાડનારની મૂર્તિ પરથી જે રાજાનો હોય તેની ધાર્મિક ભાવના જણાય છે. યાજ્ઞિક-વૈદિક ધર્માનુયાયી રાજાના સિક્કાપર યજ્ઞીય અશ્વની, વિષ્ણુભક્તના પર લક્ષ્મીની, શિવભક્તના પર વૃષભની, બૌદ્ધના પર ચૈત્યની આકૃતિઃ એમ ધર્મભાવના પ્રમાણે આકૃતિઓ અંકિત કરવામાં આવેલી જણાય છે. તો ઉક્ત હરિગુપ્તના સિક્કાપરની કલશની આકૃતિ તે જૈનધર્માનુયાયી હોય એમ પુરવાર થાય, કારણકે પુષ્પ સહિત કલશ એ જૈનોમાં સુપ્રસિદ્ધ કુંભકલશ સંજ્ઞક છે. જૈનોએ કુંભકલશને એક માંગલિક વસ્તુ ગણેલી છે; અને દરેક મંગલકાર્યમાં શુભ ચિન્હ તરીકે તેનું મુખ્યપણે આલેખન કરવામાં આવે છે. મથુરામાંથી મળી આવેલા કુશાણ સમયના જૈન સ્થાપત્યાવશેષોમાં આ કુંભકલશની આકૃતિઓ મળી આવે છે, અને જૂનાં હસ્તલિખિત પુસ્તકોમાંયે એ અનેક રીતે ઉપલબ્ધ થાય છે—જિનવિજયનો કુવલયમાલાપરનો લેખ.

જૈનાચાર્ય થયા કે જેને ગુપ્તવંશના રાજર્ષિ[૧૧૮] તરીકે તેમજ ત્રિપુરૂષ ચરિત્રના કર્તા તરીકે કુવલયમાલા-કારે જણાવ્યા છે તે ઉપરોક્ત હરિગુપ્તના શિષ્ય 'મહાકવિ' દેવગુપ્ત હોય.

૧૮૪ આચાર્ય હરિગુપ્તના પ્રશિષ્ય અને દેવગુપ્તના શિષ્ય શિવચંદ ગણિ મહત્તર પંજાબમાંથી નીકળી તીર્થ યાત્રાના નિમિત્તે ફરતા ફરતા છેવટે ભિન્નમાલ નગરમાં[૧૧૯] સ્થિર થઈ રહ્યા હતા.

---

૧૧૮. ગુપ્તવંશના આ દેવગુપ્ત તે કદાચ બાણભટ્ટે હર્ષચરિત્રમાં જણાવેલા સ્થાણ્વીશ્વર હર્ષવર્ધનની બહેન રાજ્યશ્રીના પતિ જે કનોજનો સ્વામી ગ્રહવર્મા હતો તેનો ઉચ્છેદ કરનાર માલવાનો રાજા દેવગુપ્ત હોઇ શકે. આ માલવપતિ દેવગુપ્ત ગુપ્તવંશીય હતો. એમ બીજા પુરાવાથી ઠરાવાય છે. (વૈદ્યકૃત મધ્યયુગીન ભારત ભાગ ૧ પૃ. ૧૮) કનોજ પર તેણે કરેલા આક્રમણનો બદલો લેવા માટે તેના પર હર્ષવર્દ્ધનના મોટા ભાઇ રાજ્યવર્દ્ધને ચઢાઈ કરી અને તેમાં તે દેવગુપ્તની હાર થઇ હતી. આના પરિણામે તેણે પોતાનું રાજ્ય અને કુટુંબ છોડી પોતાનાજ સજાતીય અને પ્રભાવશાલી વૃદ્ધ આચાર્ય હરિગુપ્ત પાસે જૈનદીક્ષા લીધી હોય તે બનવા જોગ છે. યુદ્ધમાં પરાજય પામેલા રાજાઓ માટે દેહનાશ કે સંન્યાસ એ બેજ શરણભૂત હોવાની માન્યતા આપણા સાહિત્યમાં સુપ્રસિદ્ધજ છે.-જિનવિજયનો કુવલયમાલા પરનો લેખ.

૧૧૯ આ ભિનમાલ તે પ્રાચીન ગૂર્જરદેશની મૂળ રાજધાની તરીકે ઇતિહાસમાં પ્રસિદ્ધ છે અને એનું બીજું નામ શ્રીમાલ છે. મધ્યકાલીન જૈન ઇતિહાસનો આ ભિનમાલ સાથે ઘણો સંબંધ રહેલો છે. હાલની જે જૈન જાતિઓ રાજપૂતાના પશ્ચિમ ભારત અને પંજાબ તથા સંયુક્ત પ્રાંતમાં વસે છે તે બધીનું મૂળ ઉત્પત્તિસ્થાન એ ભિનમાલ છે. મધ્યકાલીન ભારતના રાજપૂત રાજવંશો જે પ્રદેશમાં અને જે સમયમાં ઉદ્ભવ પામે છે તેજ પ્રદેશમાં અને તેજ સમયમાં એ જૈન જાતિઓનો પણ પ્રાદુર્ભાવ થાય છે, એથી જૈનધર્માનુયાયી શ્રીમાલ, પોરવાડ, અને ઓસવાલ વગેરે જૈન જાતિઓના મૂળ પુરૂષોનો સંબંધ રાજપૂત ક્ષત્રિઓ સાથે હોવાનું જે કહેવામાં આવે છે તેમાં ઘણું તથ્ય સમાએલું છે.

શિવચંદ્રગણિના શિષ્ય યક્ષદત્તગણિ થયા અને તેમના અનેક પ્રભાવશાલી શિષ્યોએ ગૂર્જર દેશમાં ઠામ ઠામ જૈનમંદિરો કરાવરાવી એ દેશને રમ્ય બનાવ્યો હતો (કુવલયમાલા પ્રશસ્તિ). આ ઉલ્લેખ જૈન મંદિરોના ઇતિહાસની દૃષ્ટિએ ઘણો અગત્યનો છે. જૈનોના સાંપ્રદાયિક ઇતિહાસમાં ચૈત્યવાસ વિષેની જે હકીકત નોંધાયેલી મળી આવે છે તેના વિષે આ ઉલ્લેખ ઘણો સૂચક છે, તેમજ સાતમા સૈકામાં ગૂજરાતમાં જૈન તીર્થો વિદ્યમાન હતા, અને તેમની યાત્રાર્થે દૂરદૂરથી જૈનો ગૂર્જર દેશમાં આવતા હતા એ બાબત પણ આ નોંધથી સ્પષ્ટ થાય છે. (જિનવિજયનો કુવલયમાલા પરનો લેખ.)

૧૮૫. ઉક્ત યક્ષદત્ત ગણિના એક શિષ્ય વડેશ્વર (વટેશ્વર) ક્ષમાશ્રમણ હતા જેમણે આગાસવપ્પ (આકાશવપ્ર) નગરમાં[૧૨૦] જૈન

૧૨૦. 'આ નગર તે હાલનું વડનગર-જેનું પ્રાચીન નામ આનંદપુર છે-હોય કારણકે જેનું વપ્ર (કોટ) આકાશ છે એટલે જે કોટ વગરનું નગર છે તે, આકાશ વપ્ર, એવો અર્થ થાય. પ્રાચીન કાળમાં કોટ વગરનાં નગરો ભાગ્યેજ થતાં. આનંદપુર આમાંનું જ હતું. એ પુરને ફરતો કિલ્લો પાટણના રાજા કુમારપાળે સં. ૧૨૦૮ માંજ પ્રથમ બંધાવ્યો હતો. તેથી હું અનુમાનું છું કે પ્રસ્તુત આકાશવપ્ર એ આનંદપુર જ હશે.' શ્રીજિનવિજયનો કુવલયમાલા પરનો લેખ. આ સંબંધમાં મુનિ કલ્યાણવિજય પૂછતાં મને તા. ૩૦-૧૧-૨૮ ના પત્રથી જણાવે છે કે 'કુવલયમાલાનું' 'આગાસવપ્પ' નગર તે વડનગર કે આનંદપુર નહિં પણ મારવાડ અને સિન્ધની સરહદમાં આવેલ 'અમરકોટ' છે એમ મેં નિશ્ચય કર્યો છે. કુવલયમાલાની રચના મારવાડના જવાલિપુર (જલોર)માં થયેલી છે, તેમાં ભિલ્લમાલ નગરનો ઉલ્લેખ પણ છે અને ત્યાંજ 'આગાસવપ્પ' નગરનો પણ ઉલ્લેખ છે. 'આકાશવપ્ર' એ 'અમ્બરકોટ'નો પર્યાય છે અને 'અમરકોટ' એ 'અમ્બરકોટ'નો અપભ્રંશ છે. ભિલ્લમાલ, જલોર, થરાદની માફક અમરકોટ પણ એક અતિ પ્રાચીન સ્થલ છે. પંજાબથી વટેશ્વર અથવા એમના એમના પૂર્વજો અમરકોટમાં આવીને વસ્યા અને તે પછી એમનો પરિવાર જલોર ભિલ્લમાલ થરાદ વિગેરેમાં પ્રસર્યો હતો." આ કલ્યાણવિજય મુનિનો અભિપ્રાય વધુ વિશ્વસનીય જણાય છે.

મંદિર બંધાવરાવ્યું. (કુવલયમાલા પ્રશસ્તિ). ઉક્ત વડેસરના શિષ્ય તત્ત્વાચાર્ય નામે થયા તે તપ તેજથી મોહદ્યોપક હતા. આ કદાચ આચારાંગ અને સૂત્રકૃતાંગ સૂત્ર પર સંસ્કૃત વ્યાખ્યાઓ રચનાર શીલાંક અપરનામ તત્ત્વાદિત્ય સૂરિ હોય.[૧૨૧]

મલ્લવાદી.

૧૮૬. દંતકથા પ્રમાણે વલભીપુરમાં (હાલનું વળા–કાઠીઆવાડ) §શીલાદિત્ય રાજા હતો તે બૌદ્ધ થયો હતો. પછી ધનેશ્વરસૂરિએ તેને જૈન કર્યો. આ સુરિએ સં. ૪૭૭ માં શત્રુંજય માહાત્મ્ય રચ્યું કહેવાય છે.

અન્ય કથન પ્રમાણે (દ્વાદશાર) નયચક્રવાલ (કાં. વડોદરા નં. ૨૮) નામના પ્રસિદ્ધ ન્યાય ગ્રંથના રચનાર મલ્લવાદીનામના 'શ્વેતપટ ક્ષમાશ્રમણે' તે રાજાની સભામાં બૌધ્ધોને હરાવી સૌરાષ્ટ્રમાંથી દૂર કર્યા–[૧૨૨]વીરાત્ ૮૮૪ (વિ. સં. ૪૧૪).

---

૧૨૧. તત્ત્વાચાર્ય અને તત્ત્વાદિત્ય એ નામોમાં સામ્ય છે. શીલાંક એ ઉપનામ છે, ને તેમાં રહેલ શીલ તે તપતેજથી મોહદ્યોપક–પ્રકટગુણ અને આદિત્ય સમાન એ વિશેષણો તત્ત્વાચાર્ય માટે કુવલયમાલાકારે મૂક્યા છે તે પરથી બંને એક હોવા સંભવ છે. છતાં આચારાંગ સૂત્રની ટીકામાં આપેલા રચનાસંવતનો જ્યાં સુધી સ્પષ્ટ નિર્ણય ન થાય ત્યાં સુધી આ વિચારની ચોક્કસાઇ થઇ શકે તેમ નથી. આ તત્ત્વાચાર્યના શિષ્ય ઉદ્યોતનસૂરિએ કુવલયમાલા રચી તે સંબંધી હવે પછી કહેવામાં આવ્યું છે.

—જિ૦ નો ઉક્ત લેખ.

§ વિક્રમાદિત્ય તે હિંદુ, શીલાદિત્ય તે બૌદ્ધ, ધર્માદિત્ય તે જૈન, એમ નામ પડયાં લાગે છે એવો પં. સુખલાલનો મત છે.

૧૨૨ श्रीवीरवत्सरादथ शताष्टके चतुरशीतिसंयुक्ते ।
जिग्ये स मल्लवादी बौद्धांस्तद् व्यन्तरांश्चापि ॥

प्रभा. च. पृ. ७४.

૧૮૭. નયચક્રવાલ-ટુંકમાં નયચક્ર એ જૈન-ન્યાયનો ગ્રંથ છે. "ન્યાયમાં તો જૈન સાહિત્ય લગભગ બધું સંસ્કૃતમાંજ લખાયેલું છે. જૈન ન્યાયની વિશેષતા એના અનેકાન્તદર્શનમાં છે. અનેકાન્ત દર્શન એટલે નય અને પ્રમાણોનો મેળ. જૈનેતર દર્શનોમાં ચર્ચાયેલી જ વસ્તુ જ્યારે જૈનદર્શન ચર્ચે છે ત્યારે તે ચર્ચામાં ફક્ત મુખ્ય વિશેષતા અનેકાન્ત દષ્ટિની જ હોય છે. એજ વસ્તુને જ્યારે નય અને પ્રમાણથી એટલે એક દૃષ્ટિબિંદુથી તેમજ અનેક દૃષ્ટિબિંદુઓથી વિચારવામાં આવે છે, ત્યારે તે જૈનદર્શનની કસોટીમાં ઉતરી તેને માન્ય થાય છે. વિષય ગમે તે હોય પણ તેને જોવા અને વિચારવાની પદ્ધતિ જૈનદર્શનમાં એક છે અને તે પદ્ધતિ અનેકાન્તવાદની. આ કારણથી અનેકાન્ત જ જૈનતત્ત્વનો આત્મા છે. 'કઈ વસ્તુ માનવી, કઇ ન માનવી, માનવી તો કેવા રૂપમાં માનવી, દેશકાળ પરત્વે કયા અંશમાં પરિવર્તન કરવું અને કયા અંશમાં ન કરવું' એ બધું જો અનેકાન્ત દષ્ટિએ વિચારાય તો તે જૈન પ્રકાર.

૧૮૮. "આજ કારણથી અનેકાન્તનું મહત્વ સ્થાપનારા અને તેનું સ્વરૂપ વર્ણવવા વાળા સેંકડો ગ્રંથો જૈન સાહિત્યમાં લખાયેલા છે. દશમા સૈકા પછી લખાયેલ ગ્રંથોને બાદ કરીએ તો તે વિષયના બે મહાન્ ગ્રંથો જૈન સાહિત્યમાં છે. એ બેમાં એક સિદ્ધસેન દિવાકર કૃત સન્મતિતર્ક (કે જેના વિષે અગાઉ કહેવાઈ ગયું છે) અને બીજો આ પ્રસ્તુત મલ્લવાદી કૃત નયચક્ર. નયચક્રમાં તેના નામ પ્રમાણે મુખ્ય વિષય 'નય'નો છે અને સન્મતિમાં 'નય' ઉપરાન્ત જ્ઞાન અને જ્ઞેયનું પણ વર્ણન છે. સન્મતિ મૂળ પ્રાકૃતમાં છે ને નયચક્ર સંસ્કૃતમાં છે. સન્મતિ પર અભયદેવસૂરિકૃત સંસ્કૃત ટીકા છે કે જેના વિષે હવે પછી જોઇશું, અને નયચક્ર પર સંસ્કૃત ટીકા શ્રી સિંહ ક્ષમાશ્રમણની રચેલી છે. મૂલ અને ટીકાના રચનાર આ ચારે ધુરંધર વિદ્વાનોએ જૈન ન્યાયના વિકાસમાં અસાધારણ ફાળો આપ્યો છે. પ્રસ્તુત બે ગ્રન્થોમાં સન્મતિતર્ક મૂળ ઉપલબ્ધ છે જ્યારે

નયચક્ર મૂળ ઉપલબ્ધ નથી, માત્ર તેની ટીકા સુલભ છે. ઉપાધ્યાય શ્રી યશોવિજયજીએ નષ્ટ ભ્રષ્ટ અને ખંડિતપ્રાય પ્રતિઓ પરથી નયચક્રનો છેલ્લો આદર્શ તૈયાર કર્યો હોય તેમ તેની કોઇ કોઇ પ્રતિમાં મળતા છેલ્લા ઉલ્લેખથી દેખાય છે. છતાં તેની પણ શુદ્ધ પ્રત મળતી નથી. મૂળ નહીં, વિષય નયનો, ચર્ચા સૂક્ષ્મ, પદ્ધતિ વિવિધ ભાંગા-વાળી, અને શાસ્ત્રાર્થો લાંબા તથા દાર્શનિક અને તે ઉપરાંત પુષ્કળ અશુદ્ધિ તેથી આ ગહન ગ્રંથના ઉદ્ધારનું કાર્ય ગહનતમ બન્યું છે. છતાં આવી સ્થિતિમાં પણ એ ગ્રંથ સચવાઇ રહેલ છે એ માત્ર જૈન સાહિત્યનુંજ નહિ પણ ભારતીય સાહિત્યનું સુદ્ધાં સદ્‌ભાગ્ય છે."[૧૨૩]

૧૮૯. આ મલ્લવાદીએ બૌદ્ધાચાર્ય ધર્મકીર્ત્તિ કૃત સુપ્રસિદ્ધ ન્યાયબિન્દુ પર અન્ય બૌદ્ધાચાર્ય ધર્મોત્તર કૃત ટીકા પર ટિપ્પન નામે ધર્મોત્તર ટિપ્પન રચ્યું કહેવાય છે. આ આચાર્યે નયચક્ર ઉપરાંત સન્મતિતર્કવૃત્તિ આદિ રચેલ જણાય છે ને તેમનું ચરિત્ર પ્રભાવક ચરિત્ર, પ્રબંધચિંતામણિ, સમ્યક્ત્વસપ્તતિવૃત્તિ, પ્રબંધકોષ આદિમાં મળે છે. શ્રી હેમાચાર્ય પોતાના સિદ્ધહેમ શબ્દાનુશાસનમાં તાર્કિક શિરોમણિ—ઉત્કૃષ્ટ તાર્કિક કહી આ આચાર્યનો ઉલ્લેખ કરે છે.[૧૨૪] આમનો સમય પ્રભાવક ચ૦કાર વિ. સં. ૪૧૪ નો આપે છે. પરંતુ ન્યાયબિંદુ—ટીકાકાર ધર્મોત્તરનો સમય પાશ્ચાત્ય વિદ્વાનો વિક્રમ સાતમી સદીમાં (સને ૮૩૭ લગભગ) મૂકે છે તે ગણત્રીએ આ ટિપ્પનકાર તેની પછીના સમયમાં વિદ્યમાન સંભવે.[૧૨૫] યાતો ટિપ્પનકાર મલ્લવાદી બીજા મલ્લવાદી હોવા ઘટે.

---

૧૨૩. પં. સુખલાલ અને પં. બહેચરદાસનો લેખ નામે 'નયચક્ર'-જૈનયુગ ભાદ્રપદ સં. ૧૯૮૪.

१२४. उत्कृष्टेऽनूपेन २।२।३९।। अनुमल्लवादिनः तार्किकाः ।

—સિદ્ધહેમ શબ્દાનુશાસન બૃહત્ ટીકા.

૧૨૫. ડૉ. સતીશચંદ્રકૃત History of the Mediaval School of Indian Logic પૃ. ૩૪-૩૫. પંડિત લાલચંદ-જેસલમેર ભં. સૂચી અપ્ર-

૧૯૦. જૈન સાધુઓના આચારમાં શિથિલતા આવી ને તેને પરિણામે કેટલાક જૈન સાધુઓ 'ચૈત્યવાસી' થયા. વીરાત્ ૮૮૨ ૧૨૧(વિ. સં. ૪૧૨)

૧૯૧. ચૈત્યવાસી સંબંધી થોડુંક કહીશું. મૂલમાર્ગ—શ્રી મહાવીરપ્રણીત આચાર માર્ગના તીવ્ર વિચારભેદને લીધે દિગંબર ને શ્વેતામ્બર પક્ષ પડયા એ કહેવાઈ ગયું છે. ત્યારબાદ કંઈક શિથિલતા પ્રવેશ પામતાં ચૈત્યવાસી સાધુઓના શિથિલતાપ્રદર્શક આચારવિધિઓના નિયમો થયા અને પ્રકટપણે તેનું 'ચૈત્યવાસી' નામ વીરાત્ ૮૮૨ કે ૮૮૪ માં પડયું. તેવા નિયમોનું દિગ્દર્શન, ચૈત્યવાસ સામે પ્રબલ રીતે ઝુઝનારા—સમર્થ સુધારક અને પ્રખર વિદ્વાન જૈનાચાર્ય હરિભદ્રસૂરિ 'સંબોધપ્રકરણ' નામના પોતાના ગ્રંથમાં સારી રીતે આપે છેઃ—"ચૈત્ય અને મઠમાં તેઓ વાસ કરે, પૂજા માટે આરતી કરે, જિનમંદિર અને શાળા (પૌષધશાળા—વ્યાખ્યાનમંદિર) ચણાવે, મંદિરના દ્રવ્ય (દેવદ્રવ્ય)નો સ્વજાત માટે ઉપયોગ કરે, શ્રાવકો પાસે શાસ્ત્રની સૂક્ષ્મ વાતો કહેવા—બતાવવાનો નિષેધ કરે, મુહૂર્ત કાઢી આપે, નિમિત્ત બતાવે, રંગેલાં સુગંધિત યા ધૂપિત વસ્ત્રો પહેરે, સ્ત્રીઓ સામે ગાય, સાધ્વીઓનું લાવેલું વાપરે, ધનનો સંચય કરે,

સિદ્ધ ગ્રંથકૃત્ પરિચય પૃ. ૨૯; વે૦ નં. ૧૦૪૧-૪૨. ન્યાયબિન્દુ એ મૂળ બૌદ્ધ તાર્કિક દિઙ્નાગના એક ગ્રંથ પર વાર્તિક છે. ધર્મોત્તર કૃત ન્યાયબિન્દુ ટીકા માટે જુઓ પી. ૩, ૩૩. મલ્લવાદિકૃત ધર્મોત્તરટિપ્પનની સં. ૧૨૩૧ માં લખાયેલ તાડપત્રની પ્રત પાટણભંડારમાં છે. પી. ૫, પરિ. પૃ. ૧.

૧૨૧. ધર્મસાગર પોતાની પટ્ટાવલીમાં વીરાત્ ૮૮૨ चैत्यस्थितिः એમ જણાવે છે,—જુઓ જૈન તત્ત્વાદર્શ. પરંતુ वारस वाससएहिं सड्ढेहिं निव्वुअस्स वीरस्स । जिणघरमठ आवासो पगप्पिओ सायसीलेहिं ॥ —ગાથાસહસ્રી. ગા. ૯૮. પી. ૩, ૨૮૪. તેમાં વીરાત્ ૧૨૫૦ (વિ. સં ૭૮૦) કહેલ છે.

કેશલોચ ન કરે, મિષ્ટાહાર મેળવે–તાંબૂલ ઘી દૂધ વગેરે તથા ફળફૂલ અને સચિત્ત પાણી વાપરે, અનેક પાત્રાદિ જોડા વાહન વસ્ત્રો શય્યા રાખે, કેડ પર કારણ વગર કટિવસ્ત્ર રાખે, તેલ ચોળાવે, સ્ત્રીઓનો પ્રસંગ રાખે, મૃત ગુરુઓનાં દાહસ્થળો પર પીઠ ચણાવે, બલિ કરે, જિનપ્રતિમા વેચે, ગૃહસ્થોનું બહુમાન રાખે, સ્ત્રીઓ સમક્ષ વ્યાખ્યાન આપે, પૈસાથી નાનાં બાલકોને ચેલા કરે, વૈદું મંત્રાદિ કરે, અનેક ઉજમણાં કરે, સાધુઓની 'પ્રતિમા'–વ્રતવિશેષ ન પાળે વગેરે વગેરે."[127] આમ ચૈત્યવાસી સાધુઓ અમર્યાદ બની વધતા ગયા.

---

૧૨૭. संबोध प्रकरण (પ્ર૦ અમદાવાદની જૈન ગ્રંથ પ્રકાશક સભા) જુઓ પૃ. ૧૩ થી ૧૮ કે જેમાં गुर्वधिकारમાં પાસત્થાદિ અનેક અવંદનિક મુનિઓનો ચિતાર આપ્યો છે. તેમાંથી થોડી ગાથાઓ અત્ર મૂકવામાં આવે છે:—

चेइयमढाइवासं पूयारंभाइ निच्चवातित्तं ।
देवाइदव्वभोगं जिणहरसालाइकरणं च ॥६१॥
मयकिच्च जिणपूयापरूवणं मयधणाणं जिणदाणे ।
गिहिपुरओ अंगाइपवयणकहणं धणट्ठाए ॥६८॥
नरयगइहेउ जोउस निमित्ततेगिच्छमंत जोगाइं ।
मिच्छत्तरायसेवं नीयाण वि पावसाहिज्जं ॥६३॥
वत्थाइं विविहवण्णाइं अइसियसद्दाइं धूववासाइं ।
पहिरज्जइ जत्थ गणे तं गच्छं मूलगुणमुक्कं ॥४६॥
अन्नत्थियवसहा इव पुरओ गायंति जत्थ महिलाणं ।
जत्थ जयारमयारं भणंति आलं सयं दिंत्ति ॥४९॥
संनिहि माहाकम्मं जलफलकुसुमाइ सव्व सच्चित्तं ।
निच्चं दुतिवार भोयण विगइलवंगाइ तंबोलं ॥५७॥
कीवो न कुणइ लीयं, लज्जइ पडिमाइ जल्लमुवणेइ ।
सोवाहणो य हिंडेइ, बंधइ कडिपट्टयमकज्जे ॥३४॥

૧૯૨. શિવશર્મસૂરિ નામના એક મહાન્ આચાર્ય થયા તેમનો સમય અનિશ્ચિત છે. તેમણે ૪૭૫ ગાથાનો કર્મપ્રકૃતિ [૧૨૮]નામનો ગ્રંથ દૃષ્ટિવાદના બીજા પૂર્વમાંથી ઉદ્ધાર કરી રચ્યો છે (મુદ્રિત), તો તેમને વિ૦ સં. ૫૦૦ ના અરસામાં મૂકી શકાય. વળી તેમણે શતક નામનો કર્મ ગ્રંથ (૭ પ્રાચીન કર્મ ગ્રંથ પૈકી પાંચમો) ગાથા ૧૧૧ માં રચ્યો છે.

૧૯૩ ચંદ્રર્ષિ મહત્તર થયા તે ઘણા પ્રાચીન સમયમાં થયા જણાય છે તે પ્રાયઃ આ સમયમાં થયા હશે એમ ગણી અહીં તેમનો ઉલ્લેખ કર્યો છે. તેમણે પંચસંગ્રહ [૧૨૯]નામનો કર્મ વિષયક ગ્રંથ રચ્યો છે–તેમાં શતક, સપ્તતિકા, કષાયપ્રાભૃત, સત્કર્મ અને કર્મ પ્રકૃતિ એ પાંચરૂપ પાંચ વસ્તુઓનો સંગ્રહ કર્યો છે તેથી તે પંચ-સંગ્રહ કહેવાય છે. (મુદ્રિત). તેની ગાથા ૯૬૩ છે અને તે પર તેજ કર્તાએ–સ્વોપજ્ઞવૃત્તિ ૯૦૦૦ શ્લોક પ્રમાણ રચી છે. આમાં 'સપ્તતિકા' (સત્તરિકા)ને પોતે દૃષ્ટિવાદના નિસ્યંદરૂપ જણાવે છે.

વલભી'સંઘ'–પરિષદ્—

૧૯૪ આ પછી જૈન 'સૂત્રો'–આગમો સંબંધમાં નવી ઘટના.

वत्थोवगरणपत्ताइ दव्वं नियनिस्सएण संगहियं ।
गिहि गेहंमि वजेसिं ते किणिणो जाण न हु मुणिणो ॥९१॥
गिहिपुरओ सज्झायं करंति अण्णोण्णमेव झुझंति ।
सीसाइयाण कज्जे कलहविवायं उईरेंति ॥१६२॥
किं बहुणा भणिएणं बालाणं ते हवंति रमणिज्जा ।
दक्खाणं पुण एए विराहगा छन्नपावदहा ॥१६३॥

૧૨૮ કર્મપ્રકૃતિ પર મલયગિરિએ રચેલી વૃત્તિ મુદ્રિત થઇ છે (પ્ર. જૈન ધ. સભા, ને દે. લા. નં. ૧૧)

૧૨૯ 'સટીકાઃ સત્વારઃ પ્રાચીનાઃ કર્મગ્રન્થાઃ'ની પ્રસ્તાવના. પંચસંગ્રહ મૂળ અને તે પરની સ્વોપજ્ઞ વૃત્તિ આ૦ સમિતિ નં. ૪૭ માં મુદ્રિત.

૪૯. ૧૩૦પ્રકૃતિની અકૃપાથી પાડેલી બારદુકાળીએ વીરાત્ ૧૦ મા

૧૩૦ સમયસુન્દરગણિ પોતાના સામાચારી શતકમાં જણાવે છે કેઃ—

श्री देवर्धिगणि क्षमाश्रमणेन श्री वीराद् अशीत्यधिक नवशत (९८०) वर्षे जातेन द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षवशात् बहुतर साधु–व्यापत्तौ बहुश्रुतविच्छित्तौ च जातायां + + + भविष्यद् भव्यलोकोपकाराय, श्रुतभक्तये च श्री संघाग्रहात् मृतावशिष्ट तदाकालीन सर्वसाधून् वलभ्यामाकार्य तन्मुखाद् विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटिताऽत्रुटितान् आगमा लापकान् अनुक्रमेण स्वमत्या संकलय्य पुस्तकारूढाः कृताः। ततो मूलतो गणधर भाषितानामपि तत्संकलनान्तरं सर्वेषामपि आगमानां कर्ता श्री देवर्धिगणि क्षमाश्रमण एव जातः।

અર્થાત્—' શ્રી દેવર્ધિગણિ ક્ષમાશ્રમણે, બારદુકાળીને લીધે ઘણા સાધુઓનો નાશ થયે અને અનેક બહુશ્રુતોનો વિચ્છેદ થયે, શ્રુતભક્તિથી પ્રેરાઇ ભાવી પ્રજાના ઉપકાર માટે શ્રી વીરાત્ ૯૮૦ વર્ષે શ્રી સંઘના આગ્રહથી તે કાળે બચેલા સાધુઓને વલભીપુરમાં બોલાવી તેઓના મુખથી અવશેષ રહેલ ઓછા વધતા, ત્રુટિત અને અત્રુટિત આગમના પાઠોના અનુક્રમે પોતાની બુદ્ધિથી સાંકળી પુસ્તકારૂઢ કર્યાં. આવી રીતે મૂળમાં સૂત્રો ગણધરોનાં ગુંથેલાં હોવા છતાં દેવર્ધિગણિએ તેનું પુનઃ સંકલન કરેલું હોવાથી તે બધાં આગમોના કર્ત્તા શ્રી દેવર્ધિગણિ ક્ષમાશ્રમણજ કહેવાયા.

શ્રી વિનયવિજયે લોકપ્રકાશ (સં. ૧૭૦૮) માં નીચેનું જણાવેલું છે તે વધારે ઉપયુક્ત છેઃ—

दुर्भिक्षे स्कन्दिलाचार्य–देवर्धिगणिवारके।
गणनाऽभावतः साधु–साध्वीनां विस्मृतं श्रुतम् ॥
ततः सुभिक्षे संजाते संघस्य मेलकोऽभवत्।
वलभ्यां च मथुरायां च सूत्रार्थघटनाकृते ॥
वलभ्यां संगते संघे देवर्धिगणिरग्रणीः।
मथुरायां संगते स्कन्दिलाचार्योऽग्रणीरभूत् ॥
ततश्च वाचनाभेदस्तत्र जातः क्वचित् क्वचित्।
विस्मृतस्मरणे भेदो जातु स्यादुभयोरपि ॥

સૈકામાં દેશ પર પોતાનો પંજો ચલાવ્યો, તે વખતે તો ઘણા બહુશ્રુત વિદ્વાનોનું અવસાન થવા સાથે જે જીર્ણશીર્ણ શ્રુત રહેલું હતું, તે બહુજ છિન્નભિન્ન થઇ ગયું હતું. શ્રી દેવર્ધિગણિ ક્ષમાશ્રમણે બાર દુકાળોને લીધે ઘણા સાધુઓનાં નાશ થતાં અને અનેક બહુશ્રુતોનો વિચ્છેદ થતાં, શ્રુતભક્તિથી પ્રેરાઈ ભાવી પ્રજાના ઉપકાર માટે વીરાત્ ૯૮૦ માં (વિ. સં. ૫૧૦ માં) શ્રી સંઘના આગ્રહથી તે કાળે બચેલા સાધુઓને ઉપર્યુક્ત વલભીપુરમાં બોલાવી તેઓના મુખથી અવશેષ

ततैस्ततोऽर्वाचीनैश्च गीतार्थैः पापभीरुभिः।
मतद्वयं तुल्यतया कक्षीकृतमनिर्णयात् ॥

—દુર્ભિક્ષ થતાં સ્કન્દિલાચાર્ય અને દેવર્ધિગણિના વારામાં ગણનાતા (હમેશ ભણી જવાના) અભાવથી સાધુ સાધ્વીને શ્રુત વિસ્મૃત થયું. પછી સુકાળ થતાં સંઘનું મળવું વલભીમાં અને મથુરામાં સૂત્રાર્થની ઘટના કરવા માટે થયું, વલભીમાં મળેલા સંઘમાં અગ્રણી દેવર્ધિગણિ હતા, મથુરામાં મળેલા સંઘના સ્કન્દિલાચાર્ય અગ્રણી હતા. ત્યાર પછી અહીં તહીં તેમાં વાચનાભેદ-પાઠભેદ થયો. બન્નેનો ભેદ વિસ્મૃતનું સ્મરણ કરતાં નિયમે થાય. ત્યાર પછી અર્વાચીન પાપભીરૂ ગીતાર્થોએ આગળથી નિર્ણય બાંધ્યા. વગર બંને મતને સરખી રીતે કક્ષામાં મૂક્યા.

શ્રી મલયગિરિજીનો પણ જ્યોતિષ્કરંડ વૃત્તિ પૃ. ૪૧ (પ્ર૦ રતલામ ઋષભદેવ કેશરીમલ)માં લગભગ ઉપર જેવો ઉલ્લેખ છે:-इह स्कन्दिलाचार्य प्रवृत्तौ दुःषमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्त्या साधूनां पटनगुणनादिकं सर्वमप्यनेशत्, ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयोः संघयो र्मेलापकोऽभवत् । तद्यथ-एको वलभ्यां, एको मथुरायां, तत्र च सूत्रार्थसंघटनेन परस्परं वाचनाभेदो जातः । विस्मृतयो र्हि सूत्रार्थयो-स्मृत्वा स्मृत्वासंघटने भवत्यवश्यं वाचनाभेदो, न काचिदनुपपत्तिः ॥ જુઓ ગચ્છાચાર પ્રકીર્ણક ટીકા-વિજયવિમલકૃત પૃ. ૩ (પ્ર. દયાવિમલગ્રંથમાલા) આ ઉપરથી કોઈને એમ થાય કે વલભી અને મથુરાની વાચનાઓ લગભગ એક કાલે થઈ તો તે માન્યતા યોગ્ય નથી કારણ કે સ્કંદિલાચાર્ય (માથુરી વાચના કરનાર), દેવર્ધિગણિ (વલભી વાચના કરનાર વીરાત્ ૯૯૩) કરતાં ઘણા જૂના છે. જુઓ આગળ ફુટનોટ.

રહેલ ઓછાવત્તા, ત્રુટિત અને અત્રુટિત આગમના પાઠો—આલાપોને અનુક્રમે પોતાની બુદ્ધિથી સાંકળી પુસ્તકારૂઢ કર્યાં. આવી રીતે મૂળમાં સિદ્ધાન્તો 'ગણધરો'ના ગૂંથેલાં, તેનું દેવર્ધિગણિએ પુનઃ સંકલન કર્યું. આ **વલભીપુર પરિષદ્**માં થયેલ સંકલનને **'વલભી વાચના'** કહેવામાં આવે છે. આ સૂત્ર ગ્રંથોનું છેલ્લું સંસ્કરણ છે.

૧૯૫. આ સર્વ ચાલુ પરંપરા છે. પરંતુ મુનિ કલ્યાણવિજયની આ બાબતના સંબંધે કરેલી શોધખોળને પરિણામે તેમનો મત નોંધવા યોગ્ય છે કે "વલભી વાચના એટલે દેવર્ધિગણિની નહિ પણ વાચક 'નાગાર્જુનની વાચના' એમ હું માનું છું. આ સંબંધમાં કથાવલીમાં ઉલ્લેખ છે." એટલે કે મથુરામાં આર્ય સ્કન્દિલના પ્રમુખપણા નીચે અને વલભીમાં **નાગાર્જુન**ના પ્રમુખપણે એમ બે સંઘો મળેલા, અને વાચનાઓ થયેલી. એ બે આચાર્યો પરસ્પર મળવા પામેલા નહિ, અને બંનેના વાચનાભેદો ચાલુ રહ્યા. કાલક્રમે દેવર્ધિગણિ ક્ષમાશ્રમણે એકજ વાચનાને વ્યાપક બનાવવા આર્ય સ્કન્દિલની વાચના સર્વ સંમતિથી ચાલુ રાખી, અને નાગાર્જુનની વાચનામાં રહેલા પાઠ ભેદોને 'નાગાર્જુનીય' પાઠભેદ તરીકે નોંધી લીધા તેથીજ આજે ટીકા ગ્રંથોમાં 'નાગાર્જુનીય એ પ્રમાણે પાઠ સ્વીકારે છે' એમ કહી ટીકાકારો પાઠભેદનો ઉલ્લેખ કરે છે. આ મત પ્રમાણે દેવર્ધિગણિ ક્ષમાશ્રમણે સ્વતંત્ર વાચના કરી એમ ન કહી શકાય. પણ એક વાચનાને સર્વ માન્યતાનું કાયમી રૂપ આપી બીજું કાર્ય વાચનાના પાઠભેદોને નોંધી સાચવી રાખવાનું મહત્ત્વનું કર્યું એટલુંજ કહી શકાય.[૧૩૧]

---

૧૩૧ વિનયવિજયકૃત સુબોધિકામાં પ્રાચીન ગાથા મૂકી છે તે એ છે કેઃ—

वलहि पुरंमि नयरे देवड्ढि पमुह सयलसंघेहिं।
पुव्वे आगम लिहिउ नवसय असी आणु वीराउ॥

હી. હં. પ્રકાશિત પૃ. ૪૩૩.

આમાં પૂર્વાગમ વીરાત્ ૯૮૦ માં વલભીપુર નગરે દેવર્ધિપ્રમુખ સકલ સંઘે લખ્યો એ હકીકત છે.

૧૯૬. આ સમયમાં દેવર્દ્ધિગણિથી અન્ય [૧૩૨]દેવવાચકે નંદિ-સૂત્ર રચ્યું તેમાં જૈનેતર શ્રુતનો ઉલ્લેખ છેઃ ભારત (મહાભારત), રામાયણ, ભીમાસુરક્ખ (?), કૌટિલ્ય (ચાણાક્યનું અર્થશાસ્ત્ર), સગડભદ્દિઆઓ (?), ખોડમુખ–ઘોડયમુહ (ઘોટકમુખ–વાત્સાયનનો પૂર્વગામી કામશાસ્ત્રનો રચનાર), કપ્પાસિઅ, નાગસુહુમ (નાગસૂક્ષ્મ ?). કણગસત્તરી (કણાદસત્તરી), વૈશેષિક, બુદ્ધવચન (બૌદ્ધ શાસ્ત્ર), તૈરાસિય (ત્રૈરાશિક ?), કાપિલિક (કપિલનું શાસ્ત્ર), લોકાયત (ચાર્વાક), ષષ્ઠિતંત્ર, માઢર (વ્યાસ), પુરાણ, વ્યાકરણ, ભાગવત (શ્રીમદ્ ભાગવત), પાતંજલ (યોગસૂત્ર), પુસ્સદેવય (પુષ્પદેવ=કામ-સૂત્ર ?), લેખ્ય (લેખનશાસ્ત્ર), ગણિત, શકુનરૂત, નાટકો યા બહોતેર કલાઓ, સાંગોપાંગ ચાર વેદો.[૧૩૩]

૧૯૭. દેવર્દ્ધિગણિના સમયમાં સિદ્ધસેનગણિ થયા મનાય છે. કે જેમણે ઉમાસ્વાતિના તત્ત્વાર્થાધિગમસૂત્ર પર તત્ત્વાર્થ ટીકા નામની ટીકા રચી. તેમાં 'પ્રમાણ' અને 'નય' એ જૈન તર્કશાસ્ત્રના મુખ્ય લાક્ષણિક અંગ છે તેપર વિશેષ ચર્ચા કરી છે; તેઓ દિન્નગણિના શિષ્ય સિંહગિરિના શિષ્ય ભાસ્વામિના શિષ્ય હતા એમ તેની પ્રશસ્તિમાં પોતે જણાવે છે. તેઓ આગમપ્રધાન વિદ્વાન્ હતા.

---

૧૩૨ જુઓ હરિચંદ્ર ગણિકૃત પ્રશ્નપદ્ધતિ, પ્રશ્નોત્તર ૨૫, પૃ. ૩, પ્ર૦ જૈન આત્માનંદ સભા ભાવનગર.

૧૩૩ જુઓ નંદીસૂત્ર-સૂત્ર ૪૨ પૃ. ૧૯૪ પ્ર૦ આગમોદય સમિતિ. આ ગણાવેલાં તે પૈકી કેટલાંકનો ઉલ્લેખ બીજાં સૂત્ર–અંગોમાં છે. જુઓ અનુયોગદ્વાર સૂત્ર ૪૧ અને ૧૪૪ પૃ. ૩૬ અને ૨૧૮ આગમોદય સમિતિ: નામે ભારહં, રામાયણં, ભીમાસુરુક્કં, કોડિલ્લયં, ઘોડયમુહં, સગડભદ્દિઆઓ, કપ્પાસિઅં, ણાગસુહુમં, કણગસત્તરી, વેસિયં, વઇસેસિયં, બુદ્ધ સાસણં, કાવિલં, લોગાયતં, સટ્ઠિતંતં, માઢર પુરાણં, વાગરણં, નાડગાઇ, અથવા બોત્તેર કલા સંગોપાંગ ચાર વેદા. પાંચમા અંગ ભગવતી સૂત્રમાં, (૧,૨) બ્રાહ્મણ શાસ્ત્રોનો ઉલ્લેખ છે કેઃ રિઉવેદ, જજુવેદ–સામવેદહ–અથવ્વવેદ–ઇતિહાસ પંચમાણં, નિઘંટુછટ્ઠાણં, ચઉણ્હં વેદાણં, સંગોવંગાણં સરહસ્સાણં સારએ વારએ ધારએ, પારએ છડંગવી, સટ્ઠિતંત વિસારએ, સંખાણે, સિક્ખાકપ્પે વાગરણે છંદે નિરુત્તે જોતિસા-અયણે, અન્નેસુ ય બહૂસુ બંભન્નએસુ પરિવ્વાયએસુ, નયેસુ સુપરિ-નિટ્ઠિએ.

૧૯૮. આ સમય પછી લગભગ—જૈન પરંપરા કથન પ્રમાણે વિ. સં. ૫૩૦ (યા ૫૮૫)માં[૧૩૪] થયેલા હરિભદ્ર સૂરિએ ૧૪૪૪ પ્રકરણો રચ્યાં તે પૈકી કેટલાંકમાં સર્વ દર્શનોનો નિષ્પક્ષપાતપૂર્વક સમન્વય કરી સર્વનું ન્યાયદૃષ્ટિથી તોલન કર્યું છે, કેટલાકમાં જૈનયોગની શૃંખલાબદ્ધ વ્યવસ્થા કરી છે, કેટલાક ગ્રંથો ટીકા-વૃત્તિરૂપે છે. પ્રાકૃતમાં પ્રસિદ્ધ સમરાદિત્ય કથા રચી છે. તેમણે પોતાના શિષ્યોને બૌદ્ધો પાસે તેઓના સિદ્ધાન્તો શીખવા મોકલ્યા હતા; અને તેમના એક ગ્રંથ નામે લલિતવિસ્તરા વૃત્તિથી[૧૩૫] (સં. ૯૬૨ માં ઉપમિતિભવ પ્રપંચા નામનો મહાન્ રૂપક ગ્રંથ સંસ્કૃતમાં રચનાર) સિદ્ધર્ષિસૂરિ બૌદ્ધ થતાં બચી ગયેલ હતા. આ મહાન્ યુગકાર હરિભદ્રસૂરિ સંબંધીનું 'હરિભદ્રયુગ' નામનું જૂદું પ્રકરણજ આ પછી મૂકવામાં આવ્યું છે.

---

૧૩૪. પ્રદ્યુમ્નસૂરિ પોતાના વિચારસાર પ્રકરણમાં પ્રાચીન ગાથાઓ ટાંકે છે કેઃ—

(૧) पंचसए पणतीए विक्कम भूवाउ झत्ति अत्थमिओ ।
हरिभद्दसूरिसूरो धम्मरओ देउ मुक्खसुहं ॥३०॥ अहवा
(२) पणदसदससएहिं हरिसूरी आसि तत्थ पुव्वकई ।
तेरसवरिससएहिं अईएहिंवि बप्पहट्टिपहू ॥३१॥

અર્થાત્ (૧) હરિભદ્રસૂરિ વિક્રમ ભૂપથી ૫૩૦ માં અસ્ત થયા. (૨) હરિ(ભદ્ર) સૂરિ (વીરાત્) ૧૦૫૫ માં (=૫૮૫ વિ. સં. માં) હતા ને બપ્પભટ્ટિ સૂરિ વીરાત્ ૧૩૦૦ માં હતા.

पंचसए વાળી ગાથા સમયસુંદરે સં. ૧૬૩૦ માં રચેલી ગાથા સહસ્રીમાં પણ ટાંકી છે, તે ગાથામાં पणतीए ને બદલે पणसीए (એટલે ૫૮૫) જોઇએ એમ વેબરે સુધારેલ છે, વીરાત્ ૧૦૫૫ એ રીતે મળી રહે, પણ વિચારામૃત સંગ્રહમાં હરિભદ્રનો કાળ વીરાત ૧૦૫૦ (पंचाशता) લખેલ છે પણ તે पंच पंचाशता ને બદલે ભુલ હોય. (ડા. યાકોબી)

૧૩૫. શ્રી સિદ્ધર્ષિસૂરિ પોતેજ પોતાના ઉક્ત ગ્રંથમાં છેવટે જણાવે છે કે—

नमोऽस्तु हरिभद्राय तस्मै प्रवरसूरये ।
मदर्थे निर्मिता एव वृत्ति र्ललितविस्तरा ॥

૧૯૯. વલભી સંઘ આગમના સંકલનાર્થે મળ્યો તે વખતે વલભીપુરમાં **શીલાદિત્ય** રાજા હતો ને વલભીપુરમાં **શીલાદિત્ય** નામના રાજાઓ થતા ગયા. ત્યાં એટલે **સૌરાષ્ટ્ર**માં શત્રુંજય તીર્થનું માહાત્મ્ય વિક્રમરાજાના સમયથીજ થતું ચાલ્યું અને સૌરાષ્ટ્રમાં જ જૈનોના પવિત્ર ગ્રંથો પુસ્તકારૂઢ થયા,–એ તેમજ **નેમિનાથ** તીર્થંકરનું ચરિત્ર ગિરિનાર સાથે સંબંધ ધરાવે છે–એ સર્વ વાત સ્પષ્ટ બતાવે છે કે જૈનોએ **સૌરાષ્ટ્ર**માં ઘણા પ્રાચીન સમયથી પગપેસારો કરી સૌરાષ્ટ્રને પોતાની ભૂમિ બનાવી હતી. ભૃગુકચ્છમાં આર્ય ખપુટાચાર્ય આદિ વિક્રમરાજાના સમય લગભગ થયા એ પણ બતાવે છે કે ગૂજરાતમાં જૈનોનું આગમન ઘણા પ્રાચીનકાળથી હતું.

૨૦૦. વલભીપુરનો **સીથીઅન** આદિ પરદેશી જાતોનાં તથા અન્ય આક્રમણોથી ત્રણ વખત ભંગ થયો એમ જૈન પ્રબંધકાર કહે છે.[૧૩૬] 'ભંગ' નો અર્થ 'સર્વથા નાશ' નથી થતો. પહેલો ભંગ વિ. સં. ૩૭૫ માં થયો.[૧૩૭] **શી**લાદિત્ય રાજા એ સૂર્યવંશી હતા તેના વંશજો તથા જૈનોનાં ઘણાં કુટુંબો વલભીપુરની પડતીથી મારવાડ વગેરે દેશોમાં જઈ રહ્યા. એમ કહેવાય છે કે વલભી રાજાના ગુહસેન–ગોહીલ વંશજ, ને તેમાંથી ઈડરનું રાજ્ય થયું ને ત્યાંથી તે **ચી**તોડ ગયા ને ત્યાંથી ઉદયપુર રાજાઓ થયા ને તેમાંથી **શી**શોદીઆ થયા.[૧૩૮] વલભીના ભંગ વિષમસમયમાં જૈન મૂર્તિઓનો ભિ-

---

૧૩૬. જુઓ પ્રબંધચિંતામણિ આદિ. તિત્થોગાલી પયન્નો (કે જે હજુ સુધી મુદ્રિત થયો નથી) તેમાં વલભીભંગની વાત છે.

૧૩૭. पणसयरी वाससयं तिण्णि सयाइं अइक्कमेऊणं ।
विक्कमकालाऊ तउ वलहीभंगो समुप्पन्नो ॥

અર્થાત્—વિક્રમકાલથી ૩૭૫ વર્ષ અતિક્રમતાં વલભીભંગ થયો–ગાથા સહસ્રી પી. ૩. ૨૮૫) વળી પ્રભાવકચરિત પણ પૃ. ૭૪ માં વીરાત ૮૪૫ વર્ષે વલભીનો ભંગ તુરુષ્કના હાથે થયો અને ત્યાંથી તેઓ ભૃગુપુરનો નાશ કરવા ગયા એમ જણાવે છે. પરંતુ જિનપ્રભ તીર્થકલ્પમાં સત્યપુર કલ્પે છે કે ગજ્જણવઇ (ગીજનીનો પાતશાહ) હમ્મીરદ્વારા વિ. સં. ૮૪૫ માં વલભીભંગ થયો હતો તે વધુ વિશ્વસનીય લાગે છે.

૧૩૮. "વાસ્તવમાં વલભીમાં શીલાદિત્ય નામના ૬ રાજા થયા, પરંતુ જૈન લેખકોને કેવળ એક (અર્થાત્ છેલ્લા) શીલાદિત્ય થયાનું જ્ઞાનમાં હતું.

લ્લમાલ આદિ સ્થલે સંચાર થયો હતો. (જિનપ્રભ કૃત સત્યપુર કલ્પ વગેરે.)

૨૦૧. વિ. સં. ૫૧૦ (૫૨૩) માં[૧૩૯] હાલના ગૂજરાતમાં **આનન્દપુર-વૃદ્ધનગર** (હાલનું વડનગર) એક મોટું શહેર હતું. ત્યાં ધ્રુવસેન રાજા રાજ્ય કરતો હતો. ત્યાં **ધનેશ્વરસૂરિ** નામના જૈનાચાર્યે તે રાજાના પુત્રના મરણથી થયેલ શોક શમાવવા જૈનાગમ નામે

મેવાડમાં પણ શીલાદિત્ય નામનો રાજા વિ. સં. ૭૦૩ માં થયો હતો. બંનેને જૈનોએ એક માની મેવાડના રાજાઓનું વલભીથી આવવાનું માની લીધું અને ટૉડે તેને સ્વીકારી લીધું. ચીની યાત્રી હુએન્ત્સંગ (વિ. સં. ૬૯૬ આસપાસ) વલભીમાં ગયો ત્યારે તે નગર બહુ ઉન્નત દશામાં હતું. વલભીનો નાશ વિ. સં. ૮૨૬ માં સિંધના અરબોએ કર્યો હતો. (૨) વલભીમાંથી ઉદયપુરનો રાજવંશ થયો એ કથન કપોલકલ્પિત છે. ધનેશ્વરસૂરિના સં. ૪૭૭ માં રચાએલા મનાતા શત્રુંજય માહાત્મ્યમાં સં. ૧૧૯૯ થી ૧૨૩૦ માં રાજ્ય કરનાર કુમારપાળનો વૃત્તાંત આવે છે તેથી તે પુસ્તક સં. ૧૩ મી સદી યા તે પછી આધુનિક ધનેશ્વરથી બન્યું હોવું જોઇએ તેથી તેમાંનું વલભીપુરનું કથન બહુ પાછળનું હોવાથી વિશ્વાસ યોગ્ય નથી.” (વાંચો-રાજપૂતાનેકા ઇતિહાસ-પહલા ખંડ. રા. બ. ગૌ. હી. ઓઝા કૃત પૃ. ૩૮૫ થી ૩૮૯)

૧૩૯. કલ્પસૂત્રમાં જણાવેલું છે કેઃ “समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स नववाससयाइं विइक्कंताइं, दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे काले गच्छइ, वायणंतरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छइ इइदीसइ ॥१४७॥

અર્થાત્-સર્વ દુઃખ જેણે પ્રક્ષીણ કર્યાં છે એવા શ્રમણ ભગવાન્ મહાવીરના નવ શત વર્ષો અતિક્રમ્યા પછી દશમા શતકમાં એંસીમો સંવત્સર કાલ જાય છે-વાચનાંતરમાં પુનઃ ત્રાણુમો સંવત્સર ચાલે છે. આ બે જુદી જુદી વાચના-પાઠ છે તેથી કોઇ અનુમાન કરે છે કે કલ્પસૂત્ર-દેવર્ધિ ક્ષમાશ્રમણથી લખાયાનું વર્ષ વીરાત્ ૯૮૦ (વિ. સં. ૫૧૦) છે, ને રાજસભામાં વાંચવાનું શરૂ થયાનું વર્ષ વીરાત્ ૯૯૩ (વિ. સં. ૫૨૩) છે. ડા. યાકોબીની કલ્પસૂત્ર આવૃત્તિ પૃ. ૬૭.

કલ્પસૂત્રની વાચના કરી હતી, અને તે વાચના હજુ સુધી જૈન સંઘ સમક્ષ તેના પર્યુષણ નામના તહેવારમાં થયાં કરે છે.

૨૦૨. વળી એમ કહેવાય છે કે બીજા કાલિકસૂરિ થયા તેમણે જે અત્યાર સુધી પર્યુષણનું 'સાંવત્સરી' પર્વ ભાદ્રપદ શુદિ પાંચમ ને રોજ થતું હતું અને ચોમાસી પૂર્ણિમાએ થતી હતી તેને બદલે ચોથની સંવત્સરી અને ચતુર્દશીની ચોમાસી કરાવી ને તે વીરાત્ ૯૯૩ માં ચતુર્વિધ સંઘે આચર્યું.[૧૪૦]

૨૦૩. અનુમાને ૭ મા સૈકા અગાઉ થયેલા પંચ કલ્પમહાભાષ્યના કર્તા (પી. ૧, ૧૦૩) સંઘદાસ ક્ષમાશ્રમણે વસુદેવ હિંડી નામનો ચરિત ગ્રંથ પ્રાકૃતમાં આરંભ્યો તે ધર્મસેન ગણિ મહત્તરે પૂરો કર્યો. એપરથી જણાય છે કે તે કાલે વસુદેવ ચરિત લોકમાં વિશેષ પ્રચલિત હશે. આઠમા સૈકા પહેલાંનો બીજો ધમ્મિલ હિંડી

---

૧૪૦. જુઓ તિત્થોગાલી (તીર્થોદ્ગાર) પયન્નાની નીચલી ગાથાઓ કે જે જિનપ્રભસૂરિએ પોતાની સંદેહવિષૌષધિ નામની કલ્પસૂત્ર ટીકામાં તેમજ રત્નશેખરસૂરિએ શ્રાદ્ધવિધિમાં ટાંકી છેઃ—

'सालाहणेन रन्ना संघाएसेण कारिओ भयवं ।
पज्जोसवणं चउत्थी चाउम्मासं चउदसीए ॥
चउमास–पडिक्कमणं पक्खिय दिवसंमि चउविहो संघो ।
नवसयतेणउएहिं आयरणं तं पमाणं ति ॥

—'સાલાહણના રાજ્યમાં સંઘના આદેશથી ભગવાન્ કાલિકે પર્યુષણ ચોથમાં અને ચાતુર્માસ (પ્રતિક્રમણ) ચૌદશે કર્યું, ચોમાસી પ્રતિક્રમણ પખ્ખીના દિવસે ચતુર્વિધ સંઘે (વીરાત્) ૯૯૩ માં કર્યું તે આચરણ પ્રમાણ છે.' કુલમંડનસૂરિ વિચારામૃતસંગ્રહમાં '૯૯૩ માં પર્યુષણાકલ્પની પંચમીમાંથી ચોથપર પ્રવૃત્તિ થઇ' એમ જણાવે છે. તે પ્રમાણે રત્નશેખરસૂરિ ચતુર્વિંશતિ પ્રબંધમાં આ ગાથા સ્વીકારી શાલિવાહન રાજા વિક્રમના પ્રતિપક્ષી શાલિવાહનથી જૂદા થયા એમ જણાવે છે. કાલસપ્તતિમાં, ચોથની સંવત્સરી કાલકાચાર્યે કર્યાની સાલ વીરાત્ ૯૯૩ આપી છે–તેજ પ્રમાણે વિનયચંદ્રસૂરિના દીવાળી કલ્પમાં છે ને જિનપ્રભ કૃત પ્રતિષ્ઠાનપુર કલ્પમાં તેમજ સમયસુંદરની સામાચારી શતકમાં છે.

નામનો ગ્રંથ છે તેમાં વર્ણનભાગ કરતાં કથાભાગજ વધારે છે.[141]

૨૦૪. શ્રી કંઠપ્રદેશ (થાણેશ્વર) ના સ્વામી હર્ષવર્દ્ધન (હર્ષરાજા) નો રાજ્યાભિષેક વિ. સં. ૬૬૪ માં થયો. તે મહાપ્રતાપી વિદ્વાન્ અને વિદ્વત્પ્રેમી હતો. તેમના સમયમાં પ્રસિદ્ધ કાદંબરીકાર **બાણભટ્ટ** કે જેમણે **હર્ષચરિત** પણ રચ્યું છે, સૂર્યશતકના કર્ત્તા **મયૂર**આદિ તેના દરબારના પંડિતો હતા. જૈન વિદ્વાન **માનતુંગાચાર્ય** (**ભક્તામર** સ્તોત્રના કર્તા) પણ તે રાજાના સમયમાં થયા એવું કથન મળે છે.[142] ભક્તામર સ્તોત્ર પ્રાસાદિક ભાવવાહી ભાષામાં **આદિ**નાથની સ્તુતિ તરીકે રચાયલું છે.

૨૦૫. **ચંડ** નામનો જૈન[143] પંડિત પહેલો પ્રાકૃત વ્યાકરણકાર થયો કે જેણે પોતાના **પ્રાકૃત** લક્ષણ નામના વ્યાકરણમાં **અપભ્રંશ** ભાષાનું વિવરણ કર્યું છે. ડા. **હોર્નલે** તે સંશોધિત કરી પ્રકટ કર્યું છે અને તેનો સમય તે ઇ. સ. પૂર્વે ત્રીજો સૈકો મૂકે છે; પણ પ્રો૦ ગુણેના કહેવા મુજબ તે ઇ. સ. છઠ્ઠા સૈકાની પછી થયેલ છે ને તેના કારણમાં તે જણાવે છે કે તે સમય પછી અપભ્રંશ માત્ર આભીરોની ભાષા મટી સાહિત્ય-ભાષા બની.

---

૧૪૧. કુવલયમાલાનો લેખ-જિનવિજયનો. વસંતરજતોત્સવઅંક.

૧૪૨. ઓઝાજી. રા૦ ઇ૦ પ્રથમભાગ પૃ. ૧૪૨. માનતુંગ માટે જુઓ 'શ્રીમાનતુંગપ્રબંધ' પ્રભાવકચરિત પૃ. ૧૮૦-૧૯૧.

૧૪૩. પ્રો૦ ગુણેના કહેવા પ્રમાણે જુઓ भविसयत्तकहानी અંગ્રેજી પ્રસ્તાવના પૃ. ૬૧-૬૩. પરંતુ એક સ્થલે તેના મંગલાચરણમાં વીરને બદલે શંભુ મૂકેલ છે.

प्रणम्य शिरसा शम्भुं स्वल्पैर्व्यापिभिरक्षरैः।
लक्षणं प्राकृतं वक्ष्ये किंचिद् वृद्धमतादहम् ॥१॥

જુઓ વેલણકર વૉ. ૧ પૃ. ૨૭.

પણ શમ્ભુંને બદલે વીરં એવો શ્લોક છે તે માટે જુઓ પી. ૩, ૨૬૫.

૨૦૬. જૈન પટ્ટાવલીઓના આધારે વીરાત્ ૧૧૪૫ (વિ. સં. ૬૪૫) માં[૧૪૪] જિનભદ્રગણિ ક્ષમાશ્રમણ થયા. એટલું ચોક્કસ છે કે હરિભદ્રસૂરિ પહેલાં તેઓ થયા; કારણકે હરિભદ્રસૂરિ તેમનો ઉલ્લેખ કરે છે. તેમણે રચેલા ગ્રંથોઃ-વિશેષાવશ્યક ભાષ્ય મૂલ અને ટીકા, બૃહત્સંગ્રહિણી ૪૦૦ થી ૫૦૦ ગાથા (પી. ૧, ૨૬-૫૧) બૃહત્ક્ષેત્રસમાસ(પી. ૧, ૨૬), વિશેષણવતી ૪૦૦ ગાથાનો પ્રકરણ ગ્રંથ અને જીતકલ્પસૂત્ર કે જેમાં જૈન સાધુના ૧૦ પ્રકારના પ્રાયશ્ચિત્તનું વિધાન છે. વળી ધ્યાનશતક રચ્યું છે (પી. ૧, ૩૩) કે જે વિશેષાવશ્યક ભાષ્યમાં અંતર્ગત છે. તેમની 'ભાષ્યકાર' તરીકેની જબરી ખ્યાતિ છે. તેમણે વિશેષાવશ્યક ભાષ્યમાં વાસવદત્તા અને તરંગવતી કથાનો ઉલ્લેખ કર્યો છે.

૨૦૭. આ ભાષ્યગ્રન્થ જૈન પ્રવચનમાં એક મુકુટમણિ સમાન લેખાય છે અને તેથી ભાષ્યકાર જિનભદ્રગણિ જૈન શાસ્ત્રકારોમાં અગ્રણી મનાય છે. જૈનદર્શનપ્રતિપાદિત જ્ઞાનવિષયક વિચારને કેવળ શ્રદ્ધાગમ્ય-વિષયની કોટિમાંથી બુદ્ધિગમ્ય-વિષયની કોટિમાં ઉતારવાનો સુસંગત પ્રયત્ન, સૌથી પ્રથમ એમણેજ એ મહાભાષ્યમાં કર્યો હોય, એમ જૈન સાહિત્યના વિકાસક્રમનું સિંહાવલોકન કરતાં જણાઇ આવે છે. જૈન આગમોના સંપ્રદાયગત રહસ્ય અને અર્થના, પોતાના સમયમાં અદ્વિતીય જ્ઞાતા તરીકે, એ આચાર્ય સર્વસમ્મત ગણાતા હતા; અને તેથી એમને 'યુગપ્રધાન' એવું મહત્ત્વખ્યાપક ઉપપદ મળેલું હતું.

૨૦૮. તેમના રચેલા જીતકલ્પ પર ચૂર્ણિ રચનાર સિદ્ધસેનસૂરિએ

---

૧૪૪. આ 'ભાષ્યકાર' જિનભદ્ર ક્ષમાશ્રમણ સંબંધમાં જુઓ શ્રી જિનવિજયની જીતકલ્પસૂત્ર પરની વિદ્વત્તાભરેલી પ્રસ્તાવના પ્ર૦ જૈન સા. સંશોધક. જિનભદ્રે પોતાના જીતકલ્પસૂત્ર પર ભાષ્ય પણ રચ્યું હતું એમ જણાય છે ને સં. ૧૨૭૪ માં તિલકાચાર્યે તેના પર વૃત્તિ રચી છે.

તેની આદિમાં તેમની જે ગંભીરાર્થક સ્તુતિ ૭ પદ્યમાં કરેલી છે તે પરથી તેમનો યથાર્થ પરિચય ટૂંકમાં થાય છે:–

'અનુયોગ એટલે આગમોના અર્થજ્ઞાનના ધારક, યુગપ્રધાન, પ્રધાન-જ્ઞાનીઓને બહુમત, સર્વ શ્રુતિ અને શાસ્ત્રમાં કુશલ, અને દર્શન-જ્ઞાન ઉપ-યોગના માર્ગસ્થ એટલે માર્ગરક્ષક,

'કમલના સુવાસને અધીન થયેલા ભ્રમરો જેમ કમલની ઉપાસના કરે છે તેમ જ્ઞાનરૂપ મકરન્દના પિપાસુ મુનિઓ જેમના મુખરૂપ નિર્ઝરમાંથી નીકળેલા જ્ઞાનરૂપ અમૃતનું સદા સેવન કરે છે,

'સ્વસમય અને પરસમયના આગમ, લિપિ, ગણિત, છન્દ અને શબ્દ-શાસ્ત્રો ઉપર કરેલાં વ્યાખ્યાનોમાંથી નિર્મિત થયેલો જેમનો અનુપમ યશઃ-પટહ દશે દિશાઓમાં ભમી રહેલો છે,

'જેમણે પોતાની અનુપમ મતિના પ્રભાવે જ્ઞાન, જ્ઞાની, હેતુ, પ્રમાણ, અને ગણધરપૃચ્છાનું સવિશેષ વિવેચન વિશેષાવશ્યકમાં ગ્રન્થનિબદ્ધ કર્યું છે,

'જેમણે છેદસૂત્રોના અર્થાધારે, પુરૂષ વિશેષના પૃથક્કરણ પ્રમાણે, પ્રાય-શ્ચિત્તના વિધિનું વિધાન કરનાર જીતકલ્પસૂત્રની રચના કરી છે,

'એવા, પરમસમયના સિદ્ધાન્તોમાં નિપુણ, સંયમશીલ શ્રમણોના માર્ગના અનુગામી, અને ક્ષમાશ્રમણોમાં નિધાનભૂત જિનભદ્રગણિ ક્ષમા-શ્રમણને નમસ્કાર.'

૨૦૯. દરેક સંપ્રદાયમાં વિદ્વાનોના બે પ્રકાર નજરે પડે છે. એક તો આગમપ્રધાન, અને બીજો તર્કપ્રધાન. આગમપ્રધાન પંડિતો હમેશાં પોતાના પરંપરાગત આગમોને–સિદ્ધાન્તોને શબ્દશઃ પુષ્ટરીતે વળગી રહે છે, ત્યારે તર્કપ્રધાન વિદ્વાનો આગમગત પદાર્થવ્યવસ્થાને તર્કસંગત અને રહસ્યાનુકૂલ માનવાની વૃત્તિવાળા હોય છે. એટલે કેટલીક વખતે બંને વચ્ચે વિચારભેદ પડે છે. એ વિચારભેદ જો ઉગ્ર પ્રકારનો હોય છે તો કાલક્રમે સંપ્રદાયભેદના અવતારમાં પરિણમે છે, અને સૌમ્ય પ્રકારનો હોય છે તો તે માત્ર મતભેદના રૂપમાં જ વિરમી જાય છે. જૈન સંપ્રદાયના ઇતિહાસનું અવલોકન કરતાં તેમાં આવા અનેક વિચારભેદો, મતભેદો અને સંપ્રદાયભેદો અને તેનાં મૂલભૂત ઉક્ત પ્રકારનાં કારણો બુદ્ધિ આગળ સ્પષ્ટ તરી આવે છે.

જિનભદ્રગણિ ક્ષમાશ્રમણ આગમપ્રધાન આચાર્ય છે; તેમણે જૈન આગમામ્નાય પરંપરાગત ચાલ્યો આવતો હતો તેને અનુસરી સંગત ભાષ્ય રચવાનું પ્રધાનકાર્ય કર્યું છે. તેમાં જે તર્ક આમ્નાયાનુકૂલ હોય તેનો ઉપયોગ પોતાના સમર્થનમાં પૂરી રીતે કર્યો છે. આગમની આગળ જનાર તર્કને ઉપેક્ષણીય ગણ્યો છે. ત્યારે તેમના પુરોગામી સિદ્ધસેન દિવાકર તર્કપ્રધાન આચાર્ય હતા. (જેમના સંબંધી એક જુદુંજ પ્રકરણ અગાઉ આવી ગયું છે). સિદ્ધસેનના ગ્રંથો મૌલિક-સિદ્ધાન્ત-પ્રતિપાદક અને પ્રૌઢ વિચારપૂર્ણ છે, તેઓ જૈન તર્કશાસ્ત્રના વ્યવસ્થાપક અને વિવેચક છે ને જૈન દર્શનના એક અનન્ય આધારભૂત આપ્ત પુરુષ છે. શ્રી સિદ્ધસેન દિવાકરે પોતાના સમતિતર્કમાં કેવલી (સર્વજ્ઞ) ને કેવલજ્ઞાન અને કેવલદર્શન એ બંને યુગપત્ એટલે એક સાથે થતા નથી એ આગમપરંપરાના મતથી વિરુદ્ધ જઇ બંને એકજ છે અને જુદા નથી એમ તર્કથી સિદ્ધ કર્યું છે; ત્યારે શ્રી જિનભદ્ર ક્ષમાશ્રમણે આગમપરંપરાગત તે મતને અભિમત રહી શ્રી સિદ્ધસેનના વિચારનો વિગતવાર પ્રતિક્ષેપ વિશેષાવશ્યકમાં કર્યો છે. આમ જિનભદ્રગણિ આગમપરંપરાના મહાન્ સંરક્ષક હતા અને તેથી તેઓ આગમવાદી કે સિદ્ધાન્તવાદીના બિરૂદથી જૈન વાઙ્મયમાં ઓળખાય છે.[૧૪૫] જિનભદ્ર ક્ષમાશ્રમણ ઉત્કૃષ્ટ વ્યાખ્યાતા હતા એમ શ્રી હેમચંદ્રાચાર્ય જણાવે છે.[૧૪૬]

૨૧૦. ઉપરોક્ત વિશેષાવશ્યક ભાષ્યમાં વાસવદત્તા અને તરંગવતીનો ઉલ્લેખ કરવામાં આવ્યો છે. તે ભાષ્ય પર કોટ્યાચાર્યે ટીકા રચી છે[૧૪૭] કે જેની સં. ૧૧૩૮ માં લખાયેલી તાડપત્રની પ્રત ભાં. ઈ. માં વિદ્યમાન છે. (ડી. ૨. નં. ૫૭).

---

૧૪૫. જુઓ શ્રી જિનવિજયની પ્રસ્તાવના 'જીતકલ્પસૂત્ર'માં. (પ્ર. જૈન સાહિત્ય સંશોધકસમિતિ. અમદાવાદ).

૧૪૬. उत्कृष्टेऽनूपेन ॥२।२।३९॥××उपजिनभद्रक्षमाश्रमणाः व्याख्यातारः।

૧૪૭. તેમાં છેલ્લો શ્લોક કોટ્યાચાર્યે આ પ્રમાણે આપ્યો છે:—

૨૧૧. વિ. સં. આઠમા સૈકામાં (શક સં. ૫૯૮ એટલે વિ. સં. ૭૩૩ માં)[૧૪૮] જિનદાસ મહત્તરે નન્દીસૂત્ર પર ચૂર્ણિ રચી, વળી તેમણે નિશીથ સૂત્રપર પણ વિશેષ નામની ચૂર્ણિ રચી (તાડપત્ર કી. ૨, નં. ૩૬ અને ૩૭ જેનો લખ્યા સં. ૧૧૪૫ અને ૧૩૫૯ છે અને કી. ૨. નં. ૩૭૭ કે જે નિશીથ ચૂર્ણિનાં અવતરણો હરિભદ્રસૂરિએ પોતાની આવશ્યક વૃત્તિમાં લીધાં છે. એ ઉપરાંત તેમણે અનુયોગદ્વારપર ચૂર્ણિ રચી છે.[૧૪૯]

૨૧૨. સ્વ૦ રણજીતરામ એક સ્થળે કહે છે કે "જ્યારે દક્ષિણમાં ચૌલુક્યોના પાટનગર બદામીમાં જૈનશાસન પ્રવર્ત્તતું હતું ત્યારે વલભીના મૈત્રકોથી તેમજ ગુજરાતમાં પણ સન્માન પામતું હતું."[૧૫૦]



भाष्यं सामायिकस्य स्फुटविकटपदार्थोपगूढं यदेतच्
छ्रीमत्पूज्यैरकारि क्षतकलुषधियां भूरिसंस्कारकारि ।
तस्य व्याख्यानमात्रं किमपि विदधता यन्मया पुण्यमाप्तं
प्रेत्याहं द्राग्लभेयं परमपरिमितां प्रीतिमत्रैव तेन ॥

૧૪૮. शकराज्ञः पंचसु वर्षशतेषु व्यतिक्रान्तेषु अष्टनवतिषु नन्द्यध्ययनचूर्णिः समाप्ता । લખિત પ્રત ભાં. ઇ. પૂના. કર્ત્તા જિનદાસનું નામ નીચેની ગાથામાં ગુપ્ત છે:—

तिदुसरजुएहिं तिचउपण अट्ठम वग्गे तिपण तिअक्खरावहे तेसिं ।
पढमततिएहिं णांम कय जस्स ॥

૧૪૯. પી૦ ૩, પરિ. પૃ. ૧૮૫. પી૦ ૫, પરિશિષ્ટ પૃ. ૫૧. કે જ્યાં તે પ્રતને છેવટે લખેલ છે કે સં. ૧૪૫૬ વર્ષે શ્રી સ્તંભતીર્થે બૃહત્પૌષધશાલાયાં ભટ્ટારક શ્રી જયતિલકસૂરિણા અનુયોગદ્વારચૂર્ણિઉદ્ધારઃ કારાપિતઃ—

૧૫૦. ભાવનગરના જૈનધર્મપ્રકાશ નામના પત્રના રજતમહોત્સવ અંકમાં આવેલો તેમનો લેખ.

પ્રકરણ ૬ ઠું.

હરિભદ્રયુગ.

[વિ. સં. ૫૮૫—અથવા વિ. સં. ૭૫૭ થી ૮૨૭]

હરિભદ્રસૂરિવચનો.

आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र तस्य मति र्निविष्टा ।
निष्पक्षपातस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र तस्य मतिरेति निवेशम् ॥

—મતાગ્રહી જીવ જ્યાં મતિનો અભિનિવેશ હોય છે ત્યાં ભણી યુક્તિને ખેંચે છે; જ્યારે મતાગ્રહરહિત નિષ્પક્ષપાતી. જ્યાં યુક્તિ છે ત્યાં ભણી મતિને ખેંચે છે. યોગબિંદુ.

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

—લોકતત્ત્વનિર્ણય.

—વીર (શ્રી મહાવીર) પર મારો પક્ષપાત નથી, તેમજ કપિલ વગેરે પર દ્વેષ નથી. જેનું વચન યુક્તિવાળું છે તેનું સ્વીકારવું ઘટે.×

× આ હરિભદ્રસૂરિના જ્ઞાનગર્ભિત વાક્ય સાથે સરખાવો:—

अपि पौरुषमादेयं शास्त्रं चेद्युक्तिबोधकं ।
अन्यत्त्वार्षमपि त्याज्यं भाव्यं न्याय्यैकसेविना ॥
युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि ।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना ॥

—શાસ્ત્ર ભલે મનુષ્યકૃત હોય છતાં તે યુક્તિબોધક હોય તો સ્વીકારવું અને શાસ્ત્ર ભલે આર્ષ—ઋષિપ્રણીત હોય છતાં અન્યથા—અયુક્ત હોય તો વર્જવું. ન્યાય માત્રથીજ દોરાવું જોઇએ. યુક્તિથી યુક્ત વચન બાલક પાસેથી આવે તો પણ ઉપાદેય છે, અને તેથી વિરૂદ્ધનું બ્રહ્માએ કહ્યું હોય તોયે તૃણ માફક વર્જ્ય છે. —યોગવાશિષ્ઠ ન્યાયપ્રકરણ.

હરિભદ્રસ્તુતિ.

विषं विनिर्धूय कुवासनामयं व्यचीचरद्यः कृपया मदाशये ।
अचिन्त्यवीर्येण सुवासनासुधां नमोऽस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये ॥–सिद्धर्षिः

—કૃપા કરી કુવાસનારૂપ વિષયને કાઢી નાંખી અચિન્ત્ય વીર્ય વડે મારા હૃદયમાં જેણે સુવાસનારૂપ અમૃત સિંચ્યું તે શ્રી હરિભદ્રસૂરિને નમસ્કાર હો !

सूर्यप्रकाश्यं क्व नु मण्डलं दिवः खद्योतकः क्वास्य विभासनोद्यतः ।
क्व धीशगम्यं हरिभद्रसद्वचः क्वाधीरहं तस्य विभासनोद्यतः ॥

—જિનેશ્વરસૂરિકૃત હારિભદ્ર અષ્ટકપર વૃત્તિ સં. ૧૦૮૦

—આકાશમંડલને ઉજાળનાર સૂર્યપ્રકાશ ક્યાં અને તેને ઉજાળવા મથતો આગીઓ ક્યાં ? હરિભદ્રનાં બુદ્ધિશાલીથીજ ગમ્ય થઈ શકે તેવાં સત્વચનો ક્યાં, અને તેનું સ્પષ્ટીકરણ કરવા મથતો હું અજ્ઞાન ક્યાં ?

श्री सिद्धसेन–हरिभद्रमुखाः प्रसिद्धास्ते सूरयो मयि भवन्तु कृपाप्रसादाः ।
येषां विमृश्य सततं विविधान् निबन्धान् शास्त्रं चिकीर्षति तनुप्रतिभो-
ऽपि मादृक् ॥

—સ્યાદ્વાદરત્નાકરમાં વાદિદેવસૂરિ. (૧૧૯૦)

—તે શ્રી સિદ્ધસેન હરિભદ્ર પ્રમુખ પ્રસિદ્ધ આચાર્યો મારા પર પ્રસાદ વાળા–કૃપાવંત થાઓ કે જેમના વિવિધ નિબંધોને વિચારીને મારા જેવો અલ્પ પ્રતિભાવાળો શાસ્ત્ર રચશે.

भद्दं सिरि हरिभद्दस्स सूरिणो जस्स भुवणरंगम्मि ।
वाणी विसट्ट रसभाव मंथरा नच्चए सुइरं ॥

—જેમના ભુવનરંગમાં વિકસિત રસભાવથી પરિપૂર્ણ એવી વાણી દીર્ઘકાલ નાચે છે તેવા શ્રી હરિભદ્રસૂરિનું ભદ્ર થાઓ !

—લક્ષ્મણગણિકૃત સુપાસનાહચરિત.

हारिभद्रं वचः क्वेदमतिगम्भीरपेशलम् ।
क्व चाहं जडधीरेषः स्वल्पशास्त्रकृतश्रमः ॥९॥

—ધર્મસંગ્રહણીપર ટીકાકાર મલયગિરિસૂરિ.

—અતિ ગંભીર સુકુમાર હરિભદ્રની વાણી ક્યાં ? અને સ્વલ્પશાસ્ત્રોમાં શ્રમ કરનાર એવો આ જડબુદ્ધિ હું ક્યાં ?

तामेवार्यां स्तुवे यस्या धर्मपुत्रो नृपासनः ।
गणेशो हरिभद्राख्य श्चित्रं भववियोगभूः ॥
चतुर्दशशतीं ग्रन्थान् सदालोकान् समावहन् ।
हरेः शतगुणः श्रीमान् हरिभद्रविभुर्मुदे ॥

—પ્રદ્યુમ્નસૂરિ-સમરાદિત્ય સંક્ષેપ.

—જેનો ધર્મપુત્ર નૃપાસન, સાધુગણનો મુખી, ભવવિયોગભૂઃ એટલે ભવવિરહાંક એવા હરિભદ્ર થયા તે આર્યા (યાકિની મહત્તરા) ને હું સ્તવું છું તે હરિભદ્ર પ્રભુ કે જેઓ ૧૪૦૦ સદાલોક ગ્રંથો રચીને હરિના શતગુણ ધારનાર થયા તે પ્રસન્ન થાઓ.

यथास्थितार्हन्मतवस्तुवेदिने, निराकृताशेषविपक्षवादिने ।
विदग्धमध्यस्थनृमूढतारये नमोऽस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये ॥

—(જયસિંહસૂરિના શિષ્ય ચક્ષદેવ સંગમસિંહસૂરિ પાસે નાગપુર-નાગોરમાં જઇ હરિભદ્રસૂરિના અનેકાન્તજયપતાકાદિ ન્યાયગ્રંથ અભ્યાસી કહે છે કે) યથાસ્થિત અર્હન્મતની વસ્તુ જાણનાર, સર્વ વિપક્ષવાદીઓને જીતનાર, વિદગ્ધ મધ્યસ્થ નરની મૂઢતાના શત્રુ એવા હરિભદ્રસૂરિને નમસ્કાર હો.

येषां गिरं समुपजीव्य सुसिद्ध विद्यामस्मिन् सुखेन गहनेऽपि पथिप्रवृत्तः ।
ते सूरयो मयि भवन्तु कृतप्रसादाः श्रीसिद्धसेन-हरिभद्रमुखाः सुखाय ॥

—શાસ્ત્રવાર્તાસમુચ્ચય વૃત્તિમાં યશોવિજય ઉપાધ્યાય.

—જેમની સમ્યક્ સિદ્ધ વિદ્યાવાળી વાણીપર સારી રીતે જીવીને-આધાર રાખીને ગહન પંથે પણ સુખથી પ્રવૃત્ત થઇ શક્યો તે સિદ્ધસેન હરિભદ્ર પ્રમુખ આચાર્યો મારાપર સુખાર્થે પ્રસાદવંત-કૃપાવંત થાઓ.

[પૂર્વથી ચાલી આવેલી માન્યતા પ્રમાણે સં. ૫૩૦ યા સં. ૫૮૫ માં આસપાસ હરિભદ્રસૂરિ સ્વર્ગસ્થ થયા, પણ શ્રી જિનવિજયે તેમનો સમય અનેક પ્રમાણોથી ઐતિહાસિક આલોચના કરી વિ. સં. ૭૫૭ થી ૮૫૭ નો સ્થિર કર્યો છે.]

૨૧૩. એ તો નિર્વિવાદ છે કે તેમના સમયમાં ચૈત્યવાસે જબરાં મૂળ નાંખી દીધાં હતાં અને જૈન શુદ્ધ આચારને શિથિલ કરી નાંખ્યો

હતો. શુદ્ધ આચારના પુનરૂદ્ધાર અર્થે આ દેવાંશી સૂરિનો જન્મ થયો હોય નહિ એમ જણાય છે. જે ચૈત્યવાસીઓનો આચાર આગળ ૧૯૧–૧૯૨ પારામાં જણાવ્યો છે તેવા ચૈત્યવાસીઓ, શ્રી હરિભદ્રસૂરિએ પોકાર કરી જણાવ્યું કે 'સાધુઓ નથી પણ પેટભરાઓનું પેટું છે—જેઓ એમ કહે કે તેઓ તીર્થંકરનો વેશ પહેરે છે માટે વંદનીય છે એ વાત ધિક્કારને પાત્ર છે—આ શિરશૂળની વાતનો પોકાર કોની પાસે કરીએ?' આ અસાધુ આચાર સામે માત્ર વિરોધ કરી બેસી ન રહેતાં હરિભદ્રસૂરિએ શુદ્ધ આચાર વિચાર શું હોવા જોઇએ તે સરલ અને સ્પષ્ટ રીતે પોતાના અષ્ટક ષોડશક પંચાશક આદિ ગ્રંથોમાં નિષ્પક્ષપાતપણે પવિત્ર હૃદયથી અને સ્વચ્છ હેતુથી સ્થળે સ્થળે જણાવ્યું—પ્રતિપાદિત કર્યું:—[૧૫૧] (૧) દેવનિમિત્તે એકઠા થતા દ્રવ્યને પોતાની જાત માટે વાપરનારા અને તેનો દુરૂપયોગ કરનારા સામે થઇ સાફ કહી દીધું કે 'જિન દ્રવ્ય તો શ્રી જિન પ્રવચનની વૃદ્ધિ કરનારૂં, જ્ઞાનગુણ અને દર્શનગુણની પ્રભાવના કરનારૂં છે. તેવા દ્રવ્યને વર્ધમાન કરનારો જીવ તીર્થંકરત્વ લહે; તે દ્રવ્ય મંગલદ્રવ્ય છે, શાશ્વતદ્રવ્ય છે, અને નિધિ દ્રવ્ય છે.' (૨) અંગ-સૂત્રો વાંચી શ્રાવકો પાસે પૈસા લેવા એ સાધુ ધર્મને શોભે નહિ, (૩) શ્રાવકોને આગમની સૂક્ષ્મ વાતોના અનધિ-

૧૫૧ जिणपवयणवुड्ढिकरं पभावगं नाणदंसणगुणाणं ।
वुड्ढंतो जिणदव्वं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥९७॥
मंगलदव्वं निहिदव्वं सासयदव्वं च सव्वमेगठा ।
आसायणपरिहारा जयणाए तं खु ठायव्वं ॥९६॥

સંબોધપ્રકરણ પૃ. ૪.

केइ भण्णंति उ भणइ सुहुमवियारो न सावगाण पुरो ॥
तं न, जओ अंगाइसु सुच्चइ तव्वन्नणा एव ॥२६॥
लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा विणिच्छियट्ठा य ।
अधिगयजीवाजीवा अचालणिज्जा पवयणाओ ॥२७॥

—સંબોધપ્ર

કારી ઠરાવવા એ અનુચિત છે (૪) કારણસિવાય ગમે તે અને ગમે તેટલાં વસ્ત્રો સાધુને ખપે નહિ-વગેરે અનેક સાફ સાફ વાતો જિન-પૂજા, જૈનસાધુભિક્ષા, જિનબિંબ પ્રતિષ્ઠા, જિનગૃહ, જૈનદીક્ષા વગેરે અનેક વિષયો સંબંધે સત્યપણે ઠસાવવા માટે કહી-પોતે શ્રી મહાવીર પ્રરૂપિત શુદ્ધ આચાર પાળી એક મહાન્ વીર સુધારક તરીકે હરિભદ્રસૂરિએ પ્રતિષ્ઠા પ્રાપ્ત કરી છે.

૨૧૪. ટુંકજીવન. શ્રી હરિભદ્ર ચિત્રકૂટના સમર્થ બ્રાહ્મણ વિદ્વાન્ અને રાજ્યપુરોહિત. વિદ્વત્તાના અભિમાને તેણે પ્રતિજ્ઞા લીધી કે જેનું કહેલું ન સમજું તેનો શિષ્ય હું થાઉં. એકદા જૈન સાધ્વી યાકિની મહત્તરાના મુખેથી નીકળેલી ગાથા પોતે સમજી ન શક્યા, માન ગળ્યું, એટલે તે આર્યા પાસે શિષ્ય થવા ગયા. તેણીએ ધર્માચાર્ય જિનભટમુનિ પાસે શિષ્ય-દીક્ષા લેવા જણાવ્યું. ભગવતી દીક્ષા લીધી. આર્યાના પુત્ર તરીકેજ પોતે હમેશ રહી દરેક ગ્રંથમાં પોતાને માટે 'મહત્તરા યાકિનીસૂનુ-ધર્મપુત્ર' એવું વિશેષણ વાપર્યું છે. તે આચાર્ય થયા; હંસ અને પરમહંસ નામના પોતાના ભાણેજને દીક્ષા આપી શિષ્ય કર્યા. શાસ્ત્રાભ્યાસ કર્યા પછી તે વખતે મગધ વગેરે દેશોમાં બૌદ્ધદર્શનની ઘણી પ્રબળતા હતી અને અનેક સ્થળે એ પ્રખર તાર્કિક બૌદ્ધોનાં વિદ્યાપીઠો હતાં ત્યાં જઇ બૌદ્ધશાસ્ત્રો જાણવાની એ બંને શિષ્યોને તીવ્ર ઉત્કંઠા થતાં ત્યાં જવા ગુરૂએ આજ્ઞા આપી.

૨૧૫. અસહિષ્ણુતાને અંગે એ બંને શિષ્યોને જૈન સાધુ હોવાની શંકા જતાં જિનની પ્રતિમાને ચાલવાના માર્ગપર રાખી તેપર પગ દઇને ચાલે છે કે નહિ એ ત્યાંના અધિકારીએ જોવા ઇચ્છયું. તે શિષ્યોએ તે પ્રતિમાના કંઠ ઉપર ખડીની ત્રણ રેખા કરી જિન પ્રતિમાને બુદ્ધપ્રતિમા બનાવી પછી તે ઉપર પગ દઇ ચાલ્યા. આથી તે બંનેને મારી નાંખવાનો બૌદ્ધોનો વિચાર જણાતાં તેઓએ તે સ્થળનો ત્યાગ કર્યો. પાછળ બૌદ્ધ રાજાનું લશ્કર આવ્યું. હંસ લડતાં આખર મરાયો. પરમહંસ આખરે ગુરૂપાસે ચિત્રકૂટ પહોંચ્યો. ને

વૃત્તિ ૪ અષ્ટકપ્રકરણો ૫ આવશ્યકસૂત્ર બૃહદ્‌વૃત્તિ[૧૫૪] ૬ ઉપદેશપદ પ્રકરણ ૭ દશવૈકાલિક સૂત્રવૃત્તિ, ૮ (બૌદ્ધાચાર્ય) દિઙ્‌નાગકૃત ન્યાયપ્રવેશ સૂત્ર પર વૃત્તિ ૯ ધર્મબિન્દુ પ્રકરણ, ૧૦ ધર્મસંગ્રહણી પ્રકરણ, ૧૧ નન્દીસૂત્ર લઘુવૃત્તિ ૧૨ પંચાશક પ્રકરણો (પી. ૨, ૧૬) ૧૩ પંચવસ્તુ પ્રકરણ ટીકા, (પી. ૨,૭૧; પી. ૫, ૧૬૧) ૧૪ પંચસૂત્ર પ્રકરણ ટીકા, (પી. ૪, ૧૦૪) ૧૫ પ્રજ્ઞાપનાસૂત્ર પ્રદેશ વ્યાખ્યા, ૧૬ યોગદૃષ્ટિસમુચ્ચય, ૧૭ યોગબિન્દુ, પી. ૬, ૪૬ પ્ર૦ ડા. સ્વાલીથી સંશોધિત પ્ર. જૈન ધ. સભા ભાવનગર. ૧૮ લલિતવિસ્તરા નામક ચૈત્યવન્દન સૂત્રવૃતિ (તાડપત્ર કી. ૨, નં. ૨૦; પી. ૪, ૮૫) ૧૯ લોકતત્ત્વનિર્ણય, ૨૦ વિશંતિ વિંશતિકા પ્રકરણ ૨૧ ષડ્‌દર્શન સમુચ્ચય ૨૨ શાસ્ત્રવાર્તા સમુચ્ચય સ્વકૃત વ્યાખ્યા સહિત ૨૩ શ્રાવક પ્રજ્ઞપ્તિ —શ્રાવક ધર્મવિધિ[૧૫૫] (૧૮૮૧–૮૨ નં. ૧૭૮, ૧૮૮૪–૮૭ નં. ૧૨૩૩) ૨૪ [૧૫૬] સમરાઇચ્ચ કહા [સમરાદિત્ય કથા] ૨૫ સમ્બોધ પ્રકરણ, ૨૬ સમ્બોધસપ્તતિકા પ્રકરણ.

૨૧૮. આ ગ્રંથોમાંથી તેમના સંબંધી ઉલ્લેખેલી એટલી હકીકત મળે છે કે પોતાનો સંપ્રદાય શ્વેતામ્બર હતો, ગચ્છનું નામ વિદ્યાધર, ગચ્છપતિ આચાર્યનું નામ જિનભટ, દીક્ષાગુરુનું નામ જિનદત્ત, અને ધર્મજનની સાધ્વીનું નામ યાકિની મહત્તરા હતું. (જુઓ આવશ્યકસૂત્ર ટીકાની અંતે[૧૫૪]).

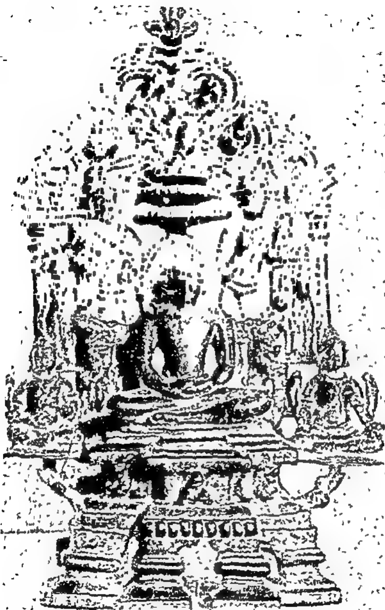
---

૧૫૪ समाप्ताचेयं शिष्यहितानाम आवश्यकटीका वृत्तिः सिताम्बराचार्य जिनभद्रनिगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्य जिनदत्तशिष्य धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनो रल्पमातुराचार्य हरिभद्रस्य એમ પ્રાંતે કહેલ છે. મુદ્રિત દે૦ લા. પુ. ૬.

૧૫૫ શ્રાવકધર્મવિધિ પ્ર૦ માં છે ને તેમાં ૧૨૦ ગાથા છે ને વિરહાંક હરિભદ્રસૂરિ એમ ઉલ્લેખે છે.

૧૫૬ जो इच्छइ भवविरहं भवविरहं को न वंधए सुयणो ।
समयसयसत्थ गुरुणो समरमियंका कहा जस्स ॥

ઉદ્યોતનસૂરિકૃત કુવલયમાળા



ની અર્ધ પદ્માસનસ્થ જિન મૂર્તિ—જૂની કર્ણાટકી લિપિ સહિત

સભાસમક્ષ જિતવાદિવૃંદ,-ગોબલીવર્દ મહિષ મહિષીવધ નિવૃત્તિ સ્ફુરન્માનકારક ભટ્ટારક' મૂકેલ છે.)[૪૯૨]

૮૦૫ વિજયસેનસૂરિએ અકબરને પ્રસન્ન કર્યો, અને ભાનુચંદ્રના ઉપાધ્યાય પદનો નન્દિવિધિ કર્યો તે મહોત્સવમાં શેખ અબલફૈજે ૬૦૦ રૂપૈયા અશ્વદાનપૂર્વક યાચકોને આપ્યા. (હી. સૌ. સ. ૧૪ શ્લો. ૨૯૨) વિજયસેને અકબરની પરિષદ્-રાજસભામાં ૩૬૬ બ્રાહ્મણવાદીઓને જીત્યા તેથી અકબરે તેમને 'સવાઇ વિજયસેન સૂરિ' (હીરસૂરિથી પણ ચડયા એ બતાવતું) બિરૂદ આપ્યું. આ જાણી હીરસૂરિ આનંદ પામ્યા. (હી. સૌ. સર્ગ ૧૪) હીરસૂરિના સ્વર્ગવાસ પહેલાં અકબરે ઉપરનું છ બાબતનું ફરમાન વિજયસેનસૂરિને આપી તેમને સૂરિ પાસે જવા મોકલ્યા હતા. (હી. સૌ. ૧૭,૨૦૦)

૮૦૬ આ બાજુ હીરવિજયસૂરિ પાટણ ચોમાસું કરી શત્રુંજય તીર્થની યાત્રા કરવાની ઇચ્છા થતાં ત્યાંથી ૧૬૪૯ ના શીતકાલમાં નીકળી (અમદાવાદ આવી સૂબા શાહજાદા મુરાદનું માન પામી-વિવેકહર્ષકૃત હીરવિજય રાસ) વિહાર કરતાં પાલિતાણે આવ્યા ત્યાં ચારે બાજુથી આવેલા સંઘો (પાટણ, અમદાવાદ, ખંભાત, માલવ, લાહોર, મારવાડ, દીવ, સુરત, ભરૂચ, વીજાપુર, દક્ષિણ કાનડા આદિ નાના મોટા ૨૦૦ સંઘના લાખો યાત્રાળુઓ) એકઠા થયા. (સં. ૧૬૫૦)ની ચૈત્રી પુનમે મોટી યાત્રા કરી. ત્યાં ૧ શાહ તેજપાલ, ૨ શાહ રામજી ૩ જશુ ઠક્કર ૪ શાહ કુંઅરજી અને ૫ શેઠ મૂલા શાહ આ પાંચ ધનિકોએ બનાવેલાં વિશાળ અને ઉન્નત જિનમંદિરોમાં મહોત્સવપૂર્વક સૂરિએ પ્રતિષ્ઠા કરી (જિ. ૨, નં. ૧૨) ત્યાંથી ઉનામાં ચોમાસું કર્યું. દીવમાં પારેખ મેઘજી અને તેની સ્ત્રી લાડકી બાઇએ સૂરિ પાસે પ્રતિષ્ઠા કરાવી. મક્કે હજ કરી પાછા ફરેલ (ગૂજરાતના સૂબા) આજમખાને ઉનામાં આવી સૂરિ પાસે હજાર મહોર ધરી નમન કર્યું ને સૂરિએ તે દ્રવ્યનો અસ્વીકાર કર્યો; વળી

---

૪૯૨. હી. ૯૯૯ (સન ૧૫૯૦)માં બળદ, ભેંસ, બકરાં, ઘોડા અને ઉંટના માંસનો નિષેધ કરવામાં આવ્યો (બદાઉનિ પૃ. ૩૭૫)

[illegible]

અકબરનું વિજયસેનસૂરિને ફરમાન. પૃ. ૫૫૨.

[મુનિશ્રી વિદ્યાવિજયજીના સૌજન્યથી]

نقل

فرمان از قرار تاریخ بیست و ششم ماه فروردی سنه ۵

حکام کرام و دیوانیان عظام و متصدیان مهمات و کرولیان و ناظران اشغال سلطانی

و جاگیرداران و کروریان کل ممالک محروسه بدانند که چون همگی همت عدالت

بنیاد جهانگیری در تحصیل مرضیات الهی مصروف و تمامی نیت فرخنده طرت

در بدست آوردن خاطر کافه برایا که مبدع معبود واحد واجب الوجود اند

معطوف است خصوصاً در استرضای قلوب فقرای که از ایشان و ضمیر صفا اندیشان

که وجهه مقصود و مطلوب ایشان جز حق جوئی و خدا طلبی امری دیگر نیست

غایت توجه مبذول میداریم لهذا درین ولا که ببکرم هر که در مانده و می مانند

وا و دیگر کلهه بتاجیبی که مربطلب بجی بسیر سور بجی دیو سیور و نند بجی مخاطبیه

خوش فهم که درین مدت در پایه سریر سلطنت می بودند چون التماس

داشتند عام نمودند که اگر در کل ممالک محروسه در دوازده روز معتبره که روز

بجا دون پچوسن باشند در مسلخها از هیچ قسم جانورها و حیوانات

کشته نشود موجب سرفرازی این مسکینان خواهد بود و چندین جانها

بیمن و برکت این حکم اقدس اعلی خلاصی خواهد یافت و ثواب آن بروزگار فرخنده آثار

حضرت اقدس اشرف همایون عاید خواهد گردید از انجا که رحمت شاهنشاهی

بانجاح مطالب و مآرب جمیع ملل و نحل از هر فرقه و هر طایفه که اسود گی

کافه جانداران مصروف داشته ایم ملتمس او را بقبول مقرون داشته حکم جهان مطاع

واجب الاتباع جهانگیری شرف اصدار یافت که در دوازده روز مذکور سال

بسال در کل ممالک محروسه در مسلخها جانور نکشند و پیرامون این امر

نگردند و درین باب هر ساله حکم و سند مجدد نطلبند می باید که حسب

الحکم الاقدس عمل نموده از فرمودن تخلف و انحراف نورزند در عهده دانند

જહાંગીરનું વિવેકહર્ષઆદિને ફરમાન. ૫

[illegible]

ત્યાં જામનગરના જામ સાહેબ સાથે (વજીર) અબજી ભણશાલીએ સૂરિની અંગપૂજા અઢારસેં મહોરથી કરી. ઉનાનો ખાન મહમદખાન હિંસક હતો તેની પાસે હિંસા છોડાવી ને તેણે લાડકી બાઇને પોતાની બ્હેન કરી. ઉનામાં વૈશાખમાં પ્રતિષ્ઠા કરી. આયુષ્ય પૂરૂં કરી ઉનામાં સં. ૧૬૫૨ ભાદ્રવા શુદ ૧૧ ગુરૂ દિને સ્વર્ગવાસ કર્યો.

૮૦૭ શાંતિચંદ્રે અકબરના ગુણગ્રામ કરનારૂં 'કૃપારસકોશ' નામનું કાવ્ય રચી તેને હમેશાં સંભળાવી તે બાદશાહના પર ભારે અસર કરી હતી અને તે એટલે સુધી કે જીવદયાનાં, જજીયા આદિ કર કાઢી નાંખવાનાં તેણે જે જે સત્ કાર્યો કર્યાં તે એને આભારી છે એમ તે કાવ્યમાં મૂકેલાં છેલ્લાં બે શ્લોકથી જણાવ્યું છે.[૪૯૩] તેમની કારકીર્દ જાણવા જેવી છેઃ—તેઓ વિદ્વાન્ સાથે વાદવિવાદકુશલ પણ હતા. ઇડરગઢના મહારાયશ્રી નારાયણ (બીજા)ની સભામાં (સં. ૧૬૩૩ પછી) ત્યાંના દિગંબર ભટ્ટારક વાદિભૂષણ (બુ. ૧, નં. ૧૪૫૧ લેખ સંવત્ ૧૬૬૦) સાથે વિવાદ કરી તેમને પરાસ્ત કરેલ હતા. વાગડદેશના ઘાટશિલ નગરમાં ત્યાંના અધિપતિ અને જોધપુરના મહારાજ શ્રી મલ્લદેવ (સં. ૧૫૮૮-૧૬૧૯)ના ભત્રીજા રાજા સહસમલ્લની સંમુખ ગુણચંદ્ર નામના દિગંબરાચાર્યને પણ જીત્યા હતા.[૪૯૪] આ રીતે શાસ્ત્રાર્થમાં કુશલતા તેમજ શતાવધાના-

---

૪૯૩ તેના ૧૨૬-૭ પદ્યમાં સ્પષ્ટ લખ્યું છે કે "આ બાદશાહે જજીયાનો કર જે માફ કર્યો, ઉદ્ધત મોગલોથી મંદિરોને જે મુક્તિ મળી, કેદમાં પડેલા કેદીઓ બંધનરહિત થયા, સાધારણ રાજગણ પણ મુનિઓનો સત્કાર કરવા લાગ્યો, એક વર્ષમાં છ માસ સુધી જીવોને જે અભયદાન મળ્યું અને વિશેષે ગાય, ભેંસ, બળદ અને પાડા આદિ-સુરભીસમૂહ (કસાઈની છરીથી) નિર્બંધ થયોઃ—ઈત્યાદિ (જૈન) શાસનની સમુન્નતિનાં કારણોમાં આ ગ્રંથજ પરમ નિમિત્ત થયો છે."

૪૯૪ શાંતિચંદ્રના શિષ્ય લાલચંદ્રે શબ્દરૂપવાક્યની અંતે પ્રશસ્તિ લખી છે તેમાં જણાવ્યું છે કેઃ—

ईडरपुराधिप महाराय श्रीं नारायणसभासमक्षवादिभूपण क्षपणक निराकरिष्णुनां, वागडदेशे घाटशिल नगरे योधपुरपति रायमाल-

કાવ્ય, દયાકુશલે સં. ૧૬૪૯ માં આગ્રામાં રચેલો લાભોદય રાસ, પ્રકીર્ણ કૃતિઓ).

૮૧૦ આવી રીતે હીરવિજયસૂરિએ પોતે તેમજ તેમના ઉપર્યુક્ત શિષ્ય પ્રશિષ્યોએ તેમજ ખરતર ગચ્છના જિનચંદ્રસૂરિ આદિએ સમ્રાટ્ અકબર-પર ધીમે ધીમે ઉત્તરોત્તર વિશેષ પ્રમાણમાં પ્રભાવ પાડી તેને જીવદયાના પૂરા રંગવાળો કર્યો હતો તેમાં કિંચિન્માત્ર શક નથી એ વાતની સાક્ષી તે બાદશાહે બહાર પાડેલ ફરમાનો (કે જે પૈકી કેટલાંક અત્યારે પણ મળી આવે છે તે) પરથી, તેમજ અબુલફજલની આઇને અકબરી, બદાઉનીના અલ્બદાઉનિ, અકબરનામા વગેરે મુસલમાન લેખકોએ લખેલા ગ્રંથોપરથી સ્પષ્ટ જણાય છે.

૮૧૧ સમ્રાટ્ અકબર એક વિચારશીલ તથા સ્વદેશહિતૈષી પુરૂષ હતો. તે ઘણીવાર કહેતો કે "જ્યાં સુધી ભારતમાં અનેક જાતિઓ તથા ધર્મો રહેશે ત્યાં સુધી મારૂં મન શાંતિ નહિ પામે." (આઇને અ૦ ૩, ૩૮૬) વળી 'ધર્મો ગમે તેટલા હોય અને ગમે તેટલી ભિન્નતાવાળા હોય તોપણ જો તેમને સત્યના સુદૃઢ મૂળ ઉપર પ્રતિષ્ઠિત કરવામાં આવે તો તેમની વચ્ચે એકવાક્યતા કિંવા યથાયોગ્ય સંમેલન થયા વગર રહે નહિ' (આ. અ. ૧, પૃ. ૧૨). સર્વ ધર્મોની જાહેરમાં સમાલોચના થઈ શકે એટલા માટે ફતેહપુર સીક્રી ખાતે 'એબાદતખાના' (પ્રાર્થનાગૃહ)ની સ્થાપના કરી હતી. ઉક્ત મંદિરમાં (સન ૧૫૭૮-સં. ૧૬૩૫) ઘણા ધર્મના પ્રતિનિધિઓ ચર્ચા ચલાવતા. 'સુફી, દાર્શનિકો, વક્તાઓ, કાયદાશાસ્ત્રી, સુન્ની, શીઆ, બ્રાહ્મણ, **જતી, સિઊરા,** ચાર્વાક (નાસ્તિકો), નાઝરેન ખ્રિસ્તીઓ), જયુ, શાત્ર (શત્રન્) ઝોરોસ્ટ્રીઅન (પારસીઓ) અને બીજાઓ અતિ ઉમદા આનંદ મેળવતા.' (અબુલફઝલ આઇને અકબરી પુ. ૩, પ્રકરણ ૪૫ પૃ. ૩૬૫ બીવરેજનો અનુવાદ). આમાં જણાવેલ જતી અને સિઊરા (શ્રમણો) એ શ્વેતામ્બર જૈનો સંબંધે અચૂક વપરાયા છે, જ્યારે તેનો અર્થ બધાએ 'બૌદ્ધો' કરેલ છે તે તદ્દન ખોટું છે; કદિ પણ બૌદ્ધોએ આવી ચર્ચા કરી નથી, બૌદ્ધ પંડિતો હિંદમાં તે સમયે હતાજ નહિ. (વિન્સેંટ સ્મિથ).

૮૧૨ રા. C (ચિમનલાલ ડાહ્યાભાઈ દલાલ) પોતાના લેખમાં જણાવે છે કેઃ—'સત્ય વાત એ છે કે અકબરના ચારિત્ર કિ ધાર્મિક બાજુપર અપેક્ષાએ પ્રાયઃ પ્રમાણમાં ઓછું લક્ષ અપાયું છે; છતાં પણ એ જાણવું ઘણું રસપ્રદ થશે કે એ મહાન્ વ્યક્તિએ વિધવિધ સંપ્રદાયો અને ધર્મો પાળતી પોતાની પ્રજાને સંતોષવાનું તદ્દન મહાભારત કાર્ય સિદ્ધ કર્યું હતું એટલુંજ નહિ પણ તેનામાં એવી શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન કરી હતી કે તે પોતાના ધર્મને માનતો હતો. ખ્રિસ્તીઓ માનતા કે તે ખ્રિસ્તી હતો, પારસીઓ સમજતા કે તે પારસી હતો. જ્યારે હિન્દુ ધારતા કે તે હિન્દુ હતો. તેની ધર્મ-વિષયક નીતિ આ રીતે આપણા વિશેષ આદરને પાત્ર બને છે.

૮૧૩ 'અકબરનો ધર્મ Eclectic હતો કારણકે તે સત્યનો સહૃદય શોધક હતો. જ્યાંથી મળે ત્યાંથી તે સત્ય સ્વીકારતો. જૈનધર્મમાંથી તેણે પ્રાણીઓના વધનો ત્યાગ, જીવતાં પ્રાણીઓ પ્રત્યે દયા, [૪૯૭]માંસાહારથી અમુક અંશે અલગ રહેવું, પુનર્જન્મની માન્યતા, અને કર્મનો સિદ્ધાંત—એ વસ્તુઓ સ્વીકારી અને તે જૈન ધર્મપર તેનાં તીર્થોને તેના અનુયાયીઓને સોંપીને તથા તેના વિદ્વાન્ પંડિ-તોને માન આપી કૃપા બતાવી.

૮૧૪ આઈને અકબરી (પુ. ૧ પૃ. ૫૩૮ અને ૫૪૭)માં આપેલ અકબરના દરબારના વિદ્વાનોની ટીપ પર દૃષ્ટિ ફેંકતાં આપ-

---

૪૯૭ માંસાહાર—પહેલાં અકબર કરતો, પણ ધીમે ધીમે તેણે તજી દીધો હતો ને વનસ્પતિ આહાર કરતો. તેણે જણાવ્યું છે કે '(૧) મનુષ્ય પોતાના ઉદરમાં પશુઓની કબર કરે અર્થાત્ પશુઓને મારી ખાય તે ઉચિત નથી. (૨) મારા જીવનના પ્રારંભમાં જ્યારે મારે માટે કદિ માંસ બનતું ત્યારે મને સારૂં નહોતું લાગતું, તેમાં મને કંઈ સ્વાદ નહોતો આવતો, અને તેથી મેં તે ખાવાની પરવા ઘણી ઓછી કરી હતી. મને માલૂમ પડયું કે જીવ-હિંસાને રોકવી ઘણી જરૂરી છે અને તેથી મેં માંસ ખાવું છોડી દીધું. (૩) લોકોએ દર વર્ષે મારા રાજ્યાભિષેકના દિને માંસ ખાવું ન ઘટે. (૪) કસાઈ, મચ્છીમાર અને એવા ધંધાવાળા-મારી માંસ વેચનારાને અલગ મહોલ્લામાં રાખવા કે બીજા સાથે ભેળસેળા ન કરે. કરેતો સજા કરવી. આઈને અકબરી. ૩, પ. પૃ. ૩૩૦-૪૦૦.

ણને ત્રણ નામો-હરિજીસુર, બિજઇસેનસુર અને ભાનચંદ મળી આવે છે. આ ત્રણ નામો આપણે તુરતજ ઓળખીને કહી શકીએ કે તે હીરવિજયસૂરિ, વિજયસેનસૂરિ અને ભાનુચંદ્ર ઉપાધ્યાયનાં નામો છે. અકબરના દરબારના વિદ્વાનો પાંચ વર્ગમાં વિભક્ત કર્યા હતા (કે જે બધાની સંખ્યા ૧૪૦ હતી)

"સમ્રાટ્ કે જે પોતે લૌતિક અને અધિલૌતિક જગત્‌નો નાયક, અને બહારની તેમજ આંતરિક જગત્ ઉપર સાર્વભૌમ સત્તા ચલાવે છે તે પણ ખાસ લક્ષમાં લેવા યોગ્ય પાંચ પ્રકારના સંતોને માન આપે છે. પ્રથમ વર્ગના પોતાના સીતારાના પ્રકાશમાં બાહ્ય તેમજ અંદરની વસ્તુઓના ગુપ્ત ભેદો-રહસ્યો જોઈ શકે છે અને પોતાની સમજ તથા પોતાની દૃષ્ટિવિશાળતા વડે વિચારનાં બંને રાજ્યો-પ્રદેશો પૂર્ણ રીતે જાણી શકે છે" (આઇને અકબરી પુ. ૧, પૃ. ૫૩૭)

૮૧૫ 'હીરવિજયસૂરિને આ પહેલા વર્ગમાં મૂકવામાં આવ્યા છે અને ઉક્ત બીજા બે (વિજયસેન અને ભાનુચંદ્ર) ને પાંચમા વર્ગમાં મૂકેલ છે (કે જે વર્ગ નકલ (પુરાવા)પર આધાર રાખતા વિજ્ઞાનોને સમજનારાનો છે)

૮૧૬ 'અકબરે ઘણી જીતો મેળવી અને હવે કોઈ શત્રુ બાકી નહોતો રહ્યો કે જેને જીતવાનું રહે. (બદાઉની) તેથી તેનું મન ધાર્મિક પ્રશ્નોમાં ખેંચાયું. ચુસ્ત મુસલમાન ન હોવાથી તે એમ માનતો કે સર્વે ધર્મોમાં એવી ઘણી ચીજો જાણવાની છે અને એવા ઘણા વિદ્વાનો છે કે જેમની પાસેથી શિખવાનું છે. તે પોતાના દરબારમાં દેશના શ્રેષ્ઠ વિદ્વાનોને આમંત્રતો અને તેમની પાસે ધાર્મિક પ્રશ્નોની ચર્ચા કરાવતો. (અનુદાર) બદાઉની લખે છે કેઃ—

"સમ્રાટે ઈસ્લામ ધર્મનો પરિત્યાગ કર્યો હતો તેમાં અનેક કારણો હતાં. મુખ્ય એ હતું કે જુદા જુદા દેશોમાં જુદા જુદા ધર્મવાળા ઘણી સંખ્યામાં વિદ્વાનો સમ્રાટ્‌ના દરબારમાં છુટથી આવજા કરી શકતા, અને સમ્રાટ્ સાથે પ્રત્યક્ષ વાર્ત્તાલાપ સહૃદયતાપૂર્વક કરી શકતા. રાતદિન ધર્મ સંબંધી વિચાર કર્યા કરવા અને તેનું યથાર્થ મૂળ શોધી કાઢવું તે સિવાય તે બીજા કોઈ કાર્ય પ્રત્યે મુદ્દલ લક્ષજ આપતો નહોતો...સમ્રાટ્ દરેક પાસેથી ખાસ કરીને જે બીન-મુસ્લિમ હોય તેઓના મતો સંઘરતો. જે જે વાત

તેને પ્રીતિકર થતી તે તેનો સ્વીકાર કરતો, અને જે વાત તેના સ્વભાવથી વિરૂદ્ધ અને પોતાની ઈચ્છાની વિરોધી લાગતી તેને રદ કરતો. આ પ્રમાણે કેટલાક પ્રાથમિક મૂળ સિદ્ધાંતોના પાયા પર થયેલી શ્રદ્ધા તેના હૃદયની આરસીપર અંકિત થતી અને સમ્રાટ્પર જે સર્વ અસરો દૃઢપણે થઈ તેના પરિણામે તેના હૃદયમાં શિલાપર કરેલા રેખાદર્શનની જેમ ધીમે ધીમે એવી પ્રતીતિ થઈ કે સઘળા ધાર્મિક સંપ્રદાયોમાં સુજ્ઞ-વિદ્વાન્ મનુષ્યો હોય છેજ અને સર્વ પ્રજાઓમાં જબરા વિચારકો અને આશ્ચર્યકારી શક્તિઓવાળા મનુષ્યો હોય છેજ.

"વિશેષમાં સમ્રાટ્ અન્ય સમ્પ્રદાયના વિદ્વાનો કરતાં સુમનિઓ (શ્રમણો-જૈન મુનિઓ) અને બ્રાહ્મણો તેની સાથે એકાંતમાં બેસી વિશેષવાર વાર્તાલાપ-મેળાપ કરી શકતા. તેઓ પોતાનાં ધર્મતત્ત્વ અને નીતિશાસ્ત્રોમાં અને શારીરિક તથા ધાર્મિક વિજ્ઞાનોમાં અન્ય (ધર્મના) વિદ્વાનોથી ચડી જાય છે અને ભવિષ્યના જ્ઞાનમાં આત્મિક શક્તિમાં અને મનુષ્ય તરીકેની પૂર્ણતામાં ઘણી ઉંચી કક્ષાએ પહોંચેલા હોય છે, તેથી તેઓ પોતાના અભિપ્રાયને પ્રામાણિક ઠરાવવા તથા અન્ય ધર્મોના દોષો સિદ્ધ કરવા યુક્તિ અને પ્રમાણ ઉપર રચાયેલ સાબીતીઓ રજુ કરતા અને પોતાના (ધર્મના) સિદ્ધાંતોને એવી રીતે તો દૃઢતાથી તેનામાં ઠસાવતા અને એટલી બધી બુદ્ધિમત્તાથી ધ્યાનમાં લીધા વગર છુટકો નહિ એવી તદ્દન સ્વતઃસ્પષ્ટ જણાય એવી રીતે વાતોને દાખવતા કે કોઈપણ મનુષ્ય પોતાની શંકાઓ જાહેર કરી સમ્રાટ્ના હૃદયમાં સંદેહ ઉત્પન્ન કરી શકતો નહોતો, પછી ભલે પર્વતના ચૂરા થઈ ધુળ થાય યા આકાશમાં ચીરાઓ પડી જાય.

"આથી સમ્રાટે ઈસ્લામ ધર્મના પુનરૂત્થાન સંબંધીના ખ્યાલો, ક્યામતના દિવસ અને તેને લગતી વિગતો તેમજ અમારા પયગંબરની દંતકથા પર રચાયેલા બધા હુકમોમાં શ્રદ્ધા કાઢી નાંખી...ખાસ કરીને આત્માઓના પુનર્જન્મના સિદ્ધાંતે તેના ચિત્તમાં દૃઢ મૂળ નાંખ્યું, અને તેણે એ કહેવત સ્વીકારી કે 'એવો કોઈ પણ ધર્મ નથી કે જેમાં પુનર્જન્મના સિદ્ધાંતે ઉંડાં મૂળ ઘાલ્યાં ન હોય.'' અલ-બદાઉનિ ૨, ૨૬૩-૨૬૪.

૮૧૭ "ઉપરના લખાણથી એ સ્પષ્ટ છે કે સમ્રાટ્ સત્યનો જબરો શોધક હતો. તેણે પોતાના અધિકારીઓ પાસેથી હીરવિજયસૂરિના તદ્દન સંતશીલ ચારિત્ર અને બીજા શ્રેષ્ઠ સદ્‌ગુણોની વાત સાંભળીને...પોતાની પાસે બોલાવ્યા હતા."૪૯૮

૪૯૮ જુઓ જૈન શાસનનો વીરાત્ ૨૪૩૭ નો દીવાળીનો ખાસ અંક

૮૧૮. સં. ૧૬૩૫ માં ઇબાદતખાનામાં જૈનો આવી ચર્ચા કરતા અને ભાનુચંદ્ર ઉપાધ્યાય પ્રાયઃ અકબરના મરણ સુધી (સં. ૧૬૬૧) તેના દરબારમાં રહ્યા હતા, અગર સં. ૧૬૩૯ થી ૧૬૬૦ તો અવશ્ય અકબરનો જૈનો સાથેનો સહવાસ-પરિચય આ રીતે ઓછામાં ઓછો વીસ વર્ષ કરતાં વધુ ચાલ્યો. બધા ધર્મો પૈકી જૈન અને જરથોસ્તી ધર્મ એ બેની અસર અકબરના મન પર ઘણી થઇ હતી. (વિ. સ્મિથ) સૂર્યનાં નામ ગણવાં, અમારિના દિવસોમાં પારસીના તહેવારો નવરોઝાદિ મૂકવા એ જરથોસ્તી ધર્મની અસર છે. સં. ૧૬૩૬ માં દીનેઇલ્લાહી (ઇશ્વરનો ધર્મ) નામનો નવો ધર્મ પ્રચલિત કરી તેમાં વિવિધ ધર્મોનાં રહસ્યો સમજી લઇ તેની પસંદ પડતી વિધિઓ અને સિદ્ધાંતો પોતાના ધર્મમાં આમેજ કર્યે જતો હતો. 'માત્ર ૫-૬ વર્ષમાં જ ઇસ્લામ ધર્મનું નામ નિશાન પણ ભુંસાઇ ગયું હતું અને સર્વત્ર એક પ્રકારનું વિચિત્ર દૃશ્યજ નજરે પડતું હતું' (બદાઉનિ ૨, ૨૬૨). અકબરે ઘણે અંશે કીધેલો અહિંસાનો સ્વીકાર તે સંબંધી તેનાં ફરમાનો એ હીરવિજયસૂરિ અને તેમના શિષ્યો આદિ શ્વેતાંબર જૈનોના પ્રયાસને આભારી છે. દિગંબરી જૈન પંડિત એકપણ અકબરને મળેલ નથી તેથી અબુલફઝલે જે જૈન ધર્મસંબંધી લખ્યું છે તે શ્વેતાંબરોના પરિચયથી લખ્યું છે ને દિગંબર વિલક્ષણતાઓનું વર્ણન 'અંધકારમાં રહીને-જ્ઞાન વગર લખેલ છે' એમ પોતે જણાવે છે (આઇને અકબરી જેરેટનો અનુવાદ વૉ. ૩ પૃ. ૨૧૦)

તેમાં રા. C નો અંગ્રેજી લેખ નામે 'Hiravijaya Suri or the Jainas at the Court of Akbar' પૃ. ૧૧૩ થી ૧૧૫. આખો લેખ પૃ. ૧૨૦ સુધી છે. આ લેખ ઉપરથી મિ. વિન્સેન્ટ એ. સ્મિથે 'The Jain Teachers of Akbar' એ નામનો અંગ્રેજી લેખ લખેલ છે કે જે સર રા. ગો. ભાંડારકરના સ્મારક પુસ્તક (Commemoration Volume) સને ૧૯૧૭ માં પૃ. ૨૬૫ થી ૨૭૬ છપાયો છે. અને ત્યાર પછી તે સ્મિથે પોતાના Akbar (અકબર) નામના ગ્રંથમાં આ સંબંધે જણાવ્યું છે-જુઓ પૃ. ૧૬૬ અને વળી તેમાં પૃ. ૨૬૨ માં પોર્ટુગીઝ પાદરી નામે પિન્હેરો (Pinheiro) નો તા. ૩-૯-૧૫૯૫ પત્ર ટાંક્યો છે તેમાં જણાવ્યું છે કે He follows the sect of the Jains (Vertie)-એટલે તે અકબર જૈનો (વ્રતી) ના સંપ્રદાયને પાળે છે. આ પછી તેમાં કેટલાક જૈન સિદ્ધાંતોનો ઉલ્લેખ છે.



શ્રી હીરવિજય સૂરિનો અકબર બાદશાહે કરેલો સત્કાર પૃ. ૫૪૫
[શેઠ દેવચંદ લા. જૈ. પુ. ફંડના સૌજન્યથી.]

॥ढा०॥ त्रिविध करीउ व्रत जी॥ भगवंत उमहल्लइ रि॥ वारवार तांनु वलांनी॥ छूटकबार उद्धरी॥१८॥ ढा०॥ आपकु
जिसु षरावतइ जी॥ कीधी आरंभ कोडि॥ जयणा न करी जीवनी जी॥ देव दया पर बोधि॥१९॥ ढा०॥ वदन दोष वोक
कसाजी॥ दोषा जनरषइरु॥ कनक कसउ वङ केलवीजी॥ व्रत कीधउ सतषप्र॥२०॥ ढा०॥ अणदीधक लीजइ त्रि
गुंजी॥ तउरत्र अदत्तादान॥ तेउ पण लागा घणां जी॥ गिणता नावइ गान॥२१॥ ढा०॥ वचन जीव रहइ न रागी जी॥
रावइ रमणरूप॥ काम विटंबण सीकउ जी॥ उनारा गइ ते सरूप॥२२॥ ढा०॥ माया ममता मइ पम्हउ जी॥ कोध
उत्क्रधिक उलोन॥ परिगह मइ त्रउ कारिम उजी॥ नवकासयम सोल॥२३॥ ढा०॥ लागा मुझनइ लागवइ
जा॥ रात्री नोजन दोष॥ मइ मन मूकउ मोकलउ जी॥ न धर्म्यो धरम संतोष॥२४॥ ढा०॥ इण नव विपरत्न विरुइ
व्याजी॥ जीव वउरासी लाष॥ ते मुझ मिछामि दुकड जी॥ भगवंत तोरा साषि॥२५॥ ढा०॥ करमादान पन
रकस्या जी॥ भगटं अढार पाप॥ जे मइ सेव्या ते हवइ जी॥ बग सिर माय बाप॥२६॥ ढा०॥ मुझ आधार वरइए
तलउ जी॥ सरदहणा ठहसूध॥ जिन धर्म मीठउ मन गिमनइ जी॥ जिम साकर सूं दूध॥२७॥ ढा०॥ रिषभदेव तुं राजी
यउ जी॥ सेत्रुंजे गिरि सिणगार॥ पाप आलोया आपणा जी॥ करि प्रभु मोरी सार॥२८॥ ढा०॥ मर्म एह जिनध
मनउ जी॥ पाप आलोयां जाइ॥ मन सुं मिछामि दुकड जी॥ देता दूरि पुलाइ॥२९॥ ढा०॥ अरति भगति निखध
गाजी॥ जिसा रुष बउदेव॥ आराधक सिरि ताहरा जी॥ नवि रतो रास वा॥३०॥ ढा०॥ कलस॥ इम चउविय समे
तुंजव रराजेया नाभि नंदन तणा॥ करजोडि आदिजिणंद आगइ पाप आलोया आपणा॥ जिणचंद सूर
सूरास सदगुरु प्रधम सिष्य सुजस घणउ॥ गणि सकलचंद सुसीस वाचक समयसुंदर गुण तणइ॥३१॥ २
॥इति श्री सेत्रुंजयमंडण श्री आदिनाथस्तवनं॥ समाप्त॥ संवत सोल ९९ वर्षे नाद्रवा सुदि ३ दिने लिखितं

સમયસુંદર ગણિના હસ્તાક્ષરમાં સ્વકૃત ગૂ. આદિનાથ સ્ત. સં. ૧૬૯૯ પારા ૮૪૭

[શેઠ દેવચંદ લા. જૈ. પુ. ફંડના સૌજન્યથી.]

પ્રકરણ ૩ જું.

કેટલીક ઐતિહાસિક વ્યક્તિઓ અને ઘટનાઓ.

तद्राज्ये गहनार्थशास्त्रघटनाप्रौढाभियोगा स्तथा
तुच्छोत्सूत्रमहीविदारणहलप्रख्याः सुसंयोगिनः ।
दुर्दान्तप्रतिवादिवाददमनस्थेयः प्रतिज्ञाभृतः
श्रीमद्वाचकधर्मसागरगुरूत्तंसा अभूवन् शुभाः ॥

—ધર્મસાગર–શ્રુતસાગર–શાંતિસાગર (કલ્પકૌમુદીના લેખક)ની પ્રશસ્તિ.

—તેમના (હીરવિજયસૂરિના) રાજ્યમાં ગહન અર્થ વાળી શાસ્ત્ર-ઘટનામાં પ્રૌઢ અભિયોગ-વિદ્વત્તાવાળા, તુચ્છ ઉત્સૂત્ર રૂપી પૃથ્વીને તોડવામાં હલ જેવા સારા સંયોગવાળા, દુર્દમ્ય પ્રતિવાદીઓના વાદને દમનમાં સ્થાયી પ્રતિજ્ઞાવાળા એવા શુભ અને ગુરૂમાં આભૂષણરૂપ ધર્મસાગર ઉપાધ્યાય થયા.

केचिद् हिन्दुनृपा बलश्रवणतस्तस्य स्वपुत्रीगणं
गाढाभ्यर्थनया ददत्यविकला राज्यं निजं रक्षितुं ।
केचिद्ग्रामृतमिन्दुकान्तरचनं मुक्त्वा पुरः पादयोः
पेतुः केचिदिवानुगाः परमिमे सर्वेऽपि तत्सेविनः ॥

—સં. ૧૬૪૬ પદ્મસાગર કૃત જગદ્‌ગુરૂ કાવ્ય. ૮૮.

—કેટલાક હિન્દુ રાજાઓ તેના (અકબરના) બલને સાંભળી પોતાનાં રાજ્યને બચાવવા સ્વપુત્રીના સમુદાયને ઘણી વિનતિ કરી આપે છે, કેટલાક ચંદ્રિકાન્તાદિ જવાહિર મૂકીને તેના પગે પડે છે અને કેટલાક તેના અનુયાયી થાય છે પરંતુ આ સર્વે પણ અકબરના સેવકો છે (એક મેદપાટનો પતિ સમસ્ત હિંદુના કલશરૂપ પ્રતાપસિંહ અનુનમ છે.)

अथ सागरपक्षीयः शान्तिदासो महर्द्धिकः ।
श्रावकः श्रावकाधीशो नरेश इव शोभते ॥१॥

—સાગરપક્ષી શાન્તિદાસ નામનો મહા ઋદ્ધિવંત શ્રાવક શ્રાવિકોના અધીશ રહી નરેશ માફક શોભે છે.—વિજયદેવસૂરિ-માહાત્મ્ય સર્ગ ૧૧, ૧.

૮૧૯. **ધર્મસાગર**—મૂળ લાડોલના ઓસવાલ. તેમણે સં. ૧૫૯૫ માં ૧૬ વર્ષની ઉમરે મોસાળ મહેસાણામાં જીવરાજ પંડિત

પાસે પોતાના નાનાબંધુ સહિત દીક્ષા લીધી. વિજયદાનસૂરિ પાસે શ્રુતનો અભ્યાસ સારી રીતે કરી હીરહર્ષમુનિ (પછીથી થયેલ હીરવિજયસૂરિ) સાથે દેવગિરિ જઇ ન્યાયાદિ શાસ્ત્રોનો અભ્યાસ કરી હીરહર્ષ સાથેજ તે સૂરિ પાસેથી ઉપાધ્યાય પદ મેળવી ગામોગામ વિચરવા લાગ્યા. તેઓ ઘણા વિદ્વાન્ પણ અતિ ઉગ્રસ્વભાવી અને દૃઢાગ્રહી હતા.'

૮૨૦. શ્વેતાંબર મૂર્તિપૂજકમાંથી જુદા પડી લુંકામત, તથા બીજા મત નીકળ્યા પછી તેમની સાથેનો વિરોધ પ્રબળ થઇ પડયો હતો, ને ખુદ શ્વેતામ્બર મૂર્ત્તિપૂજકમાં ખરતર અને તપાગચ્છ વચ્ચેની મતામતી થવા લાગી હતી. ધર્મસાગરે તપાગચ્છ સાચો ને બીજા ગચ્છો ખોટા જણાવી તેમનાપર ઘણા પ્રહારો ઉગ્ર ભાષામાં ગ્રંથો નામે તત્ત્વતરંગિણી; પ્રવચન પરીક્ષા–કુમતિમતકુદ્દાલ રચી કર્યાં. ખરતરો સાથે પાટણમાં સં. ૧૬૧૭ માં 'અભયદેવસૂરિ ખરતર ગચ્છના નહોતા' એવો પ્રબળવાદ કર્યો. તે વર્ષે તેમને શ્વેતાંબર સંપ્રદાયના જુદા જુદા ગચ્છના આચાર્યોએ ઉત્સૂત્રપ્રરૂપણાના કારણે જિનશાસનથી બહિષ્કૃત કર્યા. તપાગચ્છના નાયક વિજયદાનસૂરિએ કુમતિમતકુદ્દાલને જલશરણ કરાવ્યો અને જાહેરનામું કાઢી 'સાતબોલ'ની આજ્ઞા કાઢી એક બીજા મતવાળાને વાદ વિવાદની અથડામણ કરતા અટકાવ્યા અને 'જેમ ચાલે છે તેમ ચલાવવા'ની આજ્ઞા કરી. ધર્મસાગરે સૂરિશ્રીને ચતુર્વિધ સંઘ સમક્ષ 'મિચ્છામિદુક્કડ' આપ્યો–તેમની માફી માંગી. સં. ૧૬૨૧.

૮૨૧. ધર્મસાગરે પછી વિહાર કરતાં અનેક સ્થળે વાદવિવાદ કરતા જેસલમેર જઇ ત્યાંના રાજા હરરાજ (સં. ૧૬૧૮ થી સં. ૧૬૩૪)ની રાજસભામાં વાદીઓ સાથેના વાદમાં જય પ્રાપ્ત કર્યો અને તેઓ હીરવિજયસૂરિની આજ્ઞામાં રહ્યા. પરંતુ તે આચાર્ય અકબર પાદશાહ પાસે રહ્યા તે દરમ્યાન વિરોધ વધતાં પાછા ગૂજરાતમાં આવ્યા પછી અમદાવાદમાં હીરવિજયસૂરિએ સ્વગુરૂના સાત બોલપર વિવરણ અને વધારો

કરી 'બાર બોલ' રૂપી આજ્ઞાઓ જાહેર કરી સં. ૧૬૪૬; એમાં ધર્મસાગર ગણિએ પણ મતું માર્યું. આથી જૈન સમાજમાં ઘણી શાન્તિ આવી. ધર્મસાગરજી ખંભાતમાં સં. ૧૬૫૩ ના કાર્તિક શુદ ૯ ને દિને સ્વર્ગવાસ પામ્યા.[૪૯૯]

૮૨૨. વિવેકહર્ષ–નામના ઉપાધ્યાય પ્રતાપી પ્રભાવક થયા. તે ત. આણંદવિમલસૂરિ–હર્ષાણંદના શિષ્ય હતા. તેમણે આઠથી સો સુધી અવધાન કરીને મહારાષ્ટ્ર કોંકણના રાજા બુર્હાનશાહિ, મહારાજશ્રી રામરાજા, ખાનખાના, તથા નવરંગખાન આદિ અનેક રાજાઓ પાસેથી લીધેલા જીવો માટેના અમારિપટહ તથા ઘણા કેદીઓના છુટકારા આદિ સુકૃત્યો કર્યાં છે. મલકાપુરમાં મુલ્લા નામના મુનિને વાદમાં જીત્યા, પ્રતિષ્ઠાન (પેઠણ) પુરમાં યવનોને મોઢે જૈન ધર્મની સ્તુતિ કરાવી, તથા બ્રાહ્મણ ભટ્ટોને યુક્તિવડે જીત્યા, અને બોરિકપુરમાં દેવજી નામના વાદીને જીત્યો. વળી જૈન ન્યાયથી દક્ષિણના જાલણા નગરમાં દિગંબરાચાર્યને હરાવી કાઢી મૂકાવ્યા. રામરાજાની સભામાં આત્મારામ નામના વાદીને જીત્યો.

૮૨૩. આ ઉપાધ્યાયે કચ્છદેશમાં સં. ૧૬૫૬ ને ૫૭ માં વિહાર કરી ત્યાંના રાજા ભારમલ્લને (સં. ૧૬૪૨–૧૬૮૮) પ્રતિબોધ્યો ને તેના પરિણામે તેણે લેખ કરી આપી પોતાના દેશમાં જીવહિંસાનો નિષેધ કર્યો કે 'હમેશાં ગાયની બિલકુલ હિંસા થાય નહિ,

૪૯૯ ધર્મસાગરની વિશેષ હકીકત માટે જુઓ 'ધર્મસાગરગણિ રાસ'–કે જે અમને પ્ર. શ્રી કાંતિવિજય પાસેથી પ્રાપ્ત થયો છે તે હવે પછી પ્રકટ કરાશે, વિજયતિલકસૂરિ રાસ–પ્ર. ઐ૦ રાસ સંગ્રહ ભા. ૪ (પ્ર. ય. ગ્રં.). શ્રી જિનવિજયનો લેખ નામે 'મહોપાધ્યાય શ્રી ધર્મસાગરગણિ' પ્ર. આત્માનંદ પ્રકાશ વીરાત્ ૨૪૪૪ કાર્તિકનો અંક પુ. ૧૫–૪ પૃ. ૭૮ થી ૮૯). તેમના શિષ્ય શ્રુતસાગરે લખેલી સં. ૧૬૮૩ ની ચતુઃશરણ પ્રકીર્ણઅવચૂરિની અંતે અનેક વિશેષણોમાં એક વિશેષણ 'શ્રી જેસલમેર દુર્ગે રાજાધિરાજ રાઉલ શ્રી હરરાજ રાજસભા લબ્ધજયવાદ' પણ ધર્મસાગરને આપ્યું છે. (જિનવિજય પ્રશસ્તિ સંગ્રહ). ધર્મસાગરની કૃતિઓ માટે જુઓ પારા ૮૫૨.

ઋષિપંચમી સહિત પર્યુષણના આઠ મળી નવે દિવસોમાં, શ્રાદ્ધપક્ષમાં, સર્વ એકાદશીઓ, રવિવારો, અમાવાસ્યાઓના દિનોમાં તથા મહારાજના જન્મદિવસ અને રાજ્યદિને સર્વ જીવોની હિંસા ન થાય.' વળી તે રાજાએ ભુજનગરમાં 'રાજવિહાર' નામનું ઋષભનાથનું જૈન મંદિર કરાવ્યું સં. ૧૬૫૮ ને તપગચ્છના સંઘને સ્વાધીન કર્યું કે જે હાલ મોજૂદ છે. આ મુનિએ કચ્છના ગામ ખાખરમાં ઓશવાલોને પ્રતિબોધી શ્રાવકક્રિયાઓ સમજાવી ને ત્યાં સં. ૧૬૫૭ માં ત્રણ મોટી પ્રતિમાની અંજનશલાકા કરી. સં. ૧૬૫૯ માં ત્યાં શત્રુંજયાવતાર નામના તૈયાર થયેલા ચૈત્યની પ્રતિષ્ઠા કરી. (જિ. ૨. નં. ૪૪૬).

૮૨૪. તેમણે પરમાનંદ, મહાનંદ, (સ્વશિષ્ય) ઉદયહર્ષ સાથે મળી જહાંગીર બાદશાહને વિનતિ કરી લેખ મેળવ્યો કે ભાદરવા પજુસણના બાર દિવસોમાં દર વર્ષે હિંસા કરવાની જગ્યાઓમાં આખા રાજ્યમાં પ્રાણીઓને મારવામાં આવે નહિ. (જુઓ તે લેખ પરિશિષ્ટ ગ 'સૂરીશ્વર અને સમ્રાટ્')

૮૨૫ મહારાણા પ્રતાપસિંહે ઉદયપુરના ઇતિહાસમાં અકબર બાદશાહને સિસોદિયા વંશની પુત્રી તેને કે તેના પુત્રાદિકને નહિ આપી અણનમ રહી લડાઇ લડીને ગિરિવાસ સેવીને પોતાનો ઉજ્વલ પ્રતાપ બતાવતું ગૌરવશાલી સ્થાન અવિચળ રાખ્યું છે. તેનો પ્રધાન મંત્રી પ્રસિદ્ધ **ભામાશાહ** જૈન ઓસવાલ હતો. તેણે રાણાના સુખદુઃખમાં ભારે આત્મભોગ સાથે સાથ આપ્યો હતો. રાણાના સ્વર્ગવાસ પછી ગાદીપર આવેલ રાણા અમરસિંહના પહેલાં ત્રણ વર્ષ સુધી પ્રધાનપદે રહી સં. ૧૬૫૬ માં ભામાશાહ સ્વર્ગસ્થ થયો, ત્યાર પછી તેના પુત્ર જીવાશાહને પ્રધાનપદ મળતાં તેણે પોતાના પિતાની લખેલી વહી અનુસાર જુદે જુદે સ્થલેથી ખજાનો કાઢી રાજ્યનું ખર્ચ ચલાવ્યાં કર્યું. જહાંગીર બાદશાહ સાથે સુલેહ થતાં કુંવર કર્ણસિંહ બાદશાહ પાસે અજમેર ગયો ત્યારે રાજભક્ત પ્રધાન જીવાશાહ તેની સાથે હતો. તેનો દેહાન્ત થતાં મહારાણા કર્ણસિંહે

તેના પુત્ર અક્ષયરાજને મંત્રી તરીકે નીમ્યો. આ પ્રકારે ત્રણ પેઢી સુધી સ્વામીભક્ત ભામાશાહના કુટુંબમાં પ્રધાનપદ રહ્યું,[૫૦૦] (ઓઝાજીકૃત રા. ઇતિહાસ તીસરા ખંડ પૃ. ૭૮૭).

૮૨૬ એમ કહેવાય છે કે આ ભામાશાહનો ભાઇ તારાચંદ ગોડવાડની હાકમી મળતાં સાદડીમાં રહી લુંકા પક્ષમાં ગયો ને જો કે સાથે મૂર્તિપૂજા સાચવી રાખી, પરંતુ મૂર્તિપૂજામાં પુષ્પાદિથી થતી પૂજામાં અનુચિત હિંસા છે એમ જણાવી પોતાની સત્તાથી અનેકને લુંકાગચ્છમાં લાવી જે ન ભળ્યા તેવા મૂર્તિપૂજકો પર તેણે ઘણા જુલમ કર્યા. તેના મરણ બાદ સાદડીમાં વાવ છે ત્યાં તેની તથા તેની સ્ત્રી આદિની મૂર્તિની પ્રતિષ્ઠા સં. ૧૬૪૮ વૈ. વદ ૯ કરાવાઇ છે ને ત્યાં હજુ સુધી લુંકાવાળા તે મૂર્તિઓની કેશરચંદનાદિથી પૂજા કરે છે.[૫૦૧]

---

૫૦૦ આ કુટુંબના સર્વ પુરૂષ રાજ્યના શુભચિંતક રહ્યા. ભામાશાહની હવેલી ચિત્તોડમાં તોપખાનાના મકાનની સામેના કવાયતના મેદાનના પશ્ચિમ કિનારાની મધ્યમાં હતી કે જેને મહારાણા સજ્જનસિંહે કવાયતનું મેદાન તૈયાર કરાવતાં તોડાવી નાંખી. ભામાશાહનું નામ મેવાડમાં એટલું બધું પ્રસિદ્ધ છે કે જેવું ગુજરાતમાં વસ્તુપાલ તેજપાલનું છે. તેના વંશમાં હાલ કોઈ પ્રસિદ્ધ પુરૂષ નથી રહ્યો, તો પણ તેના મુખ્ય વંશધરની એ પ્રતિષ્ઠા ચાલી આવી હતી કે જ્યારે મહાજનોમાં સમસ્ત જાતિ સમુદાયનું ભોજન વગેરે થતું, ત્યારે પહેલાં પ્રથમ તેને તિલક કરવામાં આવતું. પાછળથી આ પ્રથા બંધ થઇ હતી તે મહારાણા સ્વરૂપસિંહે સં. ૧૯૧૨ ના પરવાનાથી પુનઃ ચાલુ કરી. તે આજ્ઞાનું વળી પાલન ન થયું ત્યારે હમણાંજ સ્વર્ગસ્થ થયેલ મહારાણાએ સં. ૧૯૫૨ માં ફરી આજ્ઞા આપી ચાલુ કરી.–ઓઝાજી પૃ. ૭૮૭ ની નોંધ.

૫૦૧ 'શ્રી જૈન શ્વે૦ મુર્તિપૂજક–ગોડવાડ ઔર સાદડી–લુંકામતિયોંકે મતભેદકા દિગ્દર્શન' નામની ચોપડી શ્રી રત્નપ્રભાકર જ્ઞાનપુષ્પમાલા પુષ્પ નં. ૯૬; જુઓ ઓઝાજીનો રા. ઈ. ખંડ ૩ પૃ. ૭૪૩; સરસ્વતી પુ. ૧૮ પૃ. ૯૭

૮૨૭ સં. ૧૬૫૯ માં આનંદવિમલસૂરિ-વાનરગણિ શિ૦ આનંદવિજયે જેસલમેરમાં તપાગચ્છનો જ્ઞાનકોપ સ્થાપ્યો ને તેમાં હીરવિજયસૂરિની મૂર્ત્તિ બેસાડી કે જે હજુ ત્યાં છે. સં. ૧૬૬૧માં ભયંકર દુષ્કાલ પડ્યો હતો, તે વર્ષમાં ખંભાતમાં સોની તેજપાલે બંધાવેલા મોટા જિનભુવનમાં વિજયદેવસૂરિએ ઋષભદેવના બિંબની પ્રતિષ્ઠાકરી. (તેનો લેખ જુઓ 'સુરીશ્વર અને સમ્રાટ્' નોંધ પૃ. ૨૫૯) ૧૬૬૨ માં ભંડારીજીએ શત્રુંજય પર ચંદ્રપ્રભનું દેહરૂં બંધાવ્યું. સં. ૧૬૭૧ માં આગ્રાના વતની જહાંગીરના અમાત્ય ધનિક જૈન કૌનપાલ અને સોનપાલ જેમણે સંઘ સભાપતિ બની સમેતશિખર, શત્રુંજય આગળ ગિરનારાદિ તીર્થોની યાત્રા કરી હતી તેમણે આગ્રામાં શ્રેયાંસનાથનું ભવ્ય મંદિર બાંધ્યું ને તેની તથા ૪૫૦ પ્રતિમાની પ્રતિષ્ઠાઓ અં૦ કલ્યાણસાગરસૂરિ પાસે કરાવી. (જૈ. સા. સંશોધક પુ. ૨ પૃષ્ઠ ૨૫-૩૫ તથા પુ. ૩ પૃ. ૩૯૩-૩૯૯)

૮૨૮ સં. ૧૬૭૫ માં જામનગરના મંત્રી ઓસવાલ લાલન ગોત્રના વર્ધમાન અને પદ્મસિંહ એ બે ભાઈઓએ ૨૦૪ પ્રતિમાઓ ભરાવી અને પ્રતિષ્ઠિત કરાવી. પછીના વર્ષમાં શત્રુંજયનો સંઘ કાઢ્યો ને જામનગરમાં પોતે કરાવેલા સુંદર મંદિરમાં અં. કલ્યાણસાગરસૂરિ પાસે પ્રતિષ્ઠા કરાવી. સં. ૧૬૭૮ માં ઉક્ત વર્ધમાનશાહે શત્રુંજયપર દહેરૂં બંધાવી. શાંતિનાથની પ્રતિમા સ્થાપી તથા જામનગરમાં બીજી પ્રતિષ્ઠા કરી. (જિ. ૨, નં. ૨૧, ૪૫૫).

૮૨૯ તપા ગચ્છમાં વિજયસેનસૂરિના પટ્ટધર વિજયદેવસૂરિ[૫૦૨] થયા. સં. ૧૬૭૪ માં જહાંગીર બાદશાહે માંડવગઢમાં 'જહાંગીરી મહાતપા' નામનું બિરૂદ તેમની તપશ્ચર્યાથી મુગ્ધ થઇ તેમને આપ્યું.[૨] તે

---

૫૦૨ તેમના ચારિત્ર સંબંધે જાણવા માટેનાં સાધનઃ—સંસ્કૃતમાં સં. ૧૬૯૯ માં ટીકા સહિત પૂર્ણ થયેલ શ્રી વિજયદેવસૂરિ માહાત્મ્ય-ખરતર શ્રી વલ્લભપાઠક કૃતં અને શ્રી જિનવિજય સંપાદિત થઈ પ્ર૦ જૈન સાહિત્ય સંશોધક સમિતિ અમદાવાદ, ગુણવિજયકૃત વિજયદેવસૂરિ પ્રબંધ

આચાર્યનું જીવન તપસ્વી ઉપરાંત તેજસ્વી હતું. સાદડીમાં લુંકા ગચ્છનાએ ચૈત્યપૂજા આદિ વિષયની નિંદા કરતાં ત્યાંના લોકોની વિનતિથી ત્યાં આવી વિજયદેવે પોતાના સાધુઓને ત્યાં મોકલ્યા. તેમણે ત્યાં જઇ છેવટે ઉદેપુરમાં રાણા કર્ણસિંહની સન્મુખ રાજસભામાં શાસ્ત્રાર્થ કર્યો. રાણાએ ભાલા આકૃતિ યુક્ત 'સહી' કરી ફરમાન આપ્યું કે 'તપા સાચા છે, અને લુંપકો જુઠા છે.'

૮૩૦. ઉદયપુરના મહારાણા જગતસિંહ (રાજ્ય સં. ૧૬૮૪ થી સં. ૧૭૦૯) પર વિજયદેવે અને તેમના શિષ્ય વિજયસિંહસૂરિએ ભારે પ્રભાવ પાડ્યો હતો. વિજયદેવના ઉપદેશથી તે રાણાશ્રીએ વરકાણા તીર્થમાં પોષ દશમીના દિને આવતા યાત્રાળુઓ પાસેથી મુંડકો કર લેવામાં આવતો તે બંધ કર્યો. તેનો શિલાલેખ તે મંદિરમાં કરવામાં આવ્યો (હજુ પણ તે પત્થર મોજૂદ છે) તેમ તામ્રપત્ર પણ કરી આપ્યું હતું. પછી રાણાએ પોતાના પ્રધાન ઝાલા કલ્યાણજી દ્વારા મોકલેલ આમંત્રણથી તેમણે ઉદયપુરમાં ચોમાસું કર્યું અને ઉપદેશ કરતાં રાણાએ—(૧) પીંછોલા અને ઉદયસાગર એ બે તળાવોમાં માછલાં પકડવા જાળો નાંખવા દેવી નહિ. (૨) પોતાના રાજ્યાભિષેક દિન-ગુરૂવારે અમારિ પળાવવી-કોઇ જીવ મારે નહિ. (૩) પોતાના જન્મમાસ-ભાદ્રપદ માસમાં હિંસાનું નિવારણ કરવું-કોઇ જીવહિંસા કરે નહિ, (૪) મચિન્દ નામના દુર્ગમાં કુંભલવિહાર-કુંભારાણાએ કરાવેલ જૈન ચૈત્યનો ઉદ્ધાર કરવો—આ ચાર બાબતો સ્વીકારી હતી. (વિ. મહાત્મ્ય સર્ગ ૨૧) આ ઉપરાંત હાલારના નવાનગરના લાખા રાજા, ઇડરના કલ્યાણમલ્લ અને દીવના ફિરંગીઓને પણ ઉપદેશ

(કે જેનો ગૂજરાતી સાર શ્રી જિનવિજયે પુરાતત્ત્વ પુ. ૨ પૃ. ૪૬૦-૪૬૩માં આપેલ છે.) મારી સંપાદિત જૈન ઐતિહાસિક રાસમાળામાં પ્રકટ થયેલ વિજયદેવસૂરિની સજ્ઝાયો, નેમિસાગર રાસ વગેરે તથા તેમના સ્વર્ગવાસ પછી રચાયેલ-મેઘવિજયે સં. ૧૭૨૭ માં રચેલ માઘસમસ્યા પૂર્તિ તરીકે દેવાનંદાભ્યુદય કાવ્ય અને દિગ્વિજય-મહાકાવ્ય.

આપી તે બધાનો પોતા પ્રત્યે આદરભાવ તેમણે આકર્ષ્યો હતો. તેમનો પરિવાર અઢીહજાર સાધુનો હતો. તેમણે સેંકડો પ્રતિષ્ઠા કરી હજારો જિનબિંબો ભરાવ્યાં હતાં. ગૂજરાત, સૌરાષ્ટ્ર, મરૂસ્થલ, મેદપાટ આબુ આરાસણમાંજ માત્ર વિહાર કરી તેમ કર્યું એમજ નહિ પણ દક્ષિણમાં કનડી બીજાપુરમાં તથા કચ્છદેશમાં પણ જઇ પ્રતિષ્ઠાઓ કરી હતી (જુઓ વિજયપ્રશસ્તિની અંતિમ પ્રશસ્તિ).

૮૩૧. તેમના વારામાં સાગરવાળાનો તેમણે પક્ષ લીધો તેથી ભારે ખળભળાટ થયો હતો; અને તેથી તેની બદલીમાં બીજા આચાર્ય-પટ્ટધર નીમવાનો વિજયસેનસૂરિને તેમની ઇચ્છા સહમત આગ્રહ થયો હતો. વિજયસેન સં. ૧૬૭૨ માં સ્વર્ગ થતાં વાત વધી પડતાં સોમવિજય ભાનુચંદ્ર સિદ્ધિચંદ્ર આદિ અન્ય સાધુઓએ એક રામ-વિજયને આચાર્યપદ આપી સ્વર્ગસ્થના પટ્ટધર બનાવ્યા ને તેમનું નામ વિજયતિલકસૂરિ આપ્યું સં. ૧૬૭૩. જહાંગીર પાસે વિજય-દેવસૂરિ જતાં તેજ ખરા પટ્ટધર છે એમ તેણે મત આપ્યો હતો. સં. ૧૬૭૪. પછી વિજયતિલકનો દેહાન્ત (સં. ૧૬૭૬) થતાં વિજ-યાણંદસૂરિ થયા. વિજયદેવ અને વિજયાણંદ એ બંને વચ્ચે મેળ થયો અને તેમાં સીરોહીના દીવાન મોતી તેજપાળે અમદાવાદમાં ગચ્છભેદનિવારણ તિલક અને સંઘપતિ તિલક મેળવ્યું સં. ૧૬૮૧. પછી તે મેળ તૂટી ગયો. અને વિજયદેવસૂરિ અને વિજયાણંદસૂરિ એ બે આચાર્યો પરથી 'દેવસૂર' અને 'આણંદસૂર' એમ બે પક્ષો પડી ગયા કે જેના તણખા હજુ સુધી કાયમ છે. બંને સૂરિઓ અનુક્રમે સં. ૧૭૧૩ અને ૧૭૧૧ માં સ્વર્ગવાસી થયા.

૮૩૨. સં ૧૬૮૩ માં દીવના શ્રીમાળી સંઘે-સિંઘજી મેઘજીએ ગિરનારની પૂર્વની પાજનો ઉદ્ધાર કરાવ્યો (જિ. ૨, નં. ૬૧), ૧૬૮૫માં શત્રુંજય પર ભરત રાજાનાં ચરણોની સ્થાપના થઇ, સં. ૧૬૮૬ માં શત્રુંજય પર શા. ધરમદાસજીએ અદબદજી (અદ્ભુતજી) નું દહેરું



શેઠ શાંતિદાસ અને શ્રી રાજસાગર સૂરિ

પારા ૮૩૩-૪ પૃ. ૫૬૯

[ગૂજરાત સાહિત્ય સભા અમદાવાદના સૌજન્યથી.]

બંધાવ્યું ને ત્યાં આદિનાથની મૂર્ત્તિ ડુંગરમાંથી કોતરાવી. ૧૬૮૭ માં (સત્યાસીઓ) જબરો દુકાળ પડ્યો.

૮૩૩ શાંતિદાસ શેઠ[૫૦૩]–આ સમયમાં એક રાજમાન્ય ઝવેરી અને પ્રતિષ્ઠિત આગેવાન થયા. એ અતિ શ્રીમંત સાહસિક વેપારી હતા. તેની શરાફી પેઢીઓ સુરતાદિ અનેક સ્થળે ચાલતી. તેઓ ઓસવાળ જૈન અને સાગર પક્ષમાં હતા. રાજમાં ઘણી લાગવગ હતી. તેમણે જહાંગીરના રાજ્યમાં સં. ૧૬૭૮ માં બીબીપુર (પ્રાયઃ અસારવા અને સરસપુર વચ્ચે) ચિંતામણિ–પાર્શ્વનાથનું સુંદર ભવ્ય મંદિર બંધાવવા માંડ્યું અને તેમાં મુક્તિસાગરને હાથે સં. ૧૬૮૨ માં પ્રતિષ્ઠા થઈ.[૫૦૪] તે સ્થાપત્યના ઉંચા પ્રકારના નમુના રૂપ હતું. શાહજહાંના અમલમાં તેના ધર્માંધ પુત્ર ઔરંગઝેબને અમદાવાદની સૂબાગિરિ અપાતાં તેણે મંદિરમાં મહેરાબ કરી (વટાળ કરી) એની મસ્જીદ કરી હતી (સં. ૧૭૦૦). વોરા લોકો એનો સામાન લઈ ગયા હતા આથી આખા ગુજરાતમાં હિંદુ અને મુસલમાનનું બંડ થયું હતું. શાંતિદાસે શાહજહાંને અરજ કરતાં શાહજાદા દારાશિકોહના હાથનું એક ફરમાન મેળવ્યું (હીઝરી ૧૦૫૮ સં. ૧૭૦૧). તેમાં જણાવ્યું હતું

---

૫૦૩. આના સબંધે જુઓ મારી સંપાદિત 'જૈન ઐ૦ રાસમાળા'માં પ્રકટ થયેલ શાંતિદાસનો રાસ ને તે પર પ્રસ્તાવના, શ્રી જિનવિજય સંપાદિત જૈન ઐ૦ ગૂર્જર કાવ્ય સંચયમાં પ્રકટ થયેલ રાજસાગરસૂરિ-નિર્વાણ રાસ (સં. ૧૭૨૨), વિજયદેવસૂરિ માહાત્મ્ય સર્ગ ૧૧, વિજયતિલકસૂરિ રાસ, ગુજરાતનું પાટનગર, Some Firtmans of Shah Jehan નામનો મૉડર્ન રીવ્યુ જુલાઈ ૧૯૩૦ માં પ્રકટ થયેલો દિ. બ. કૃષ્ણલાલ ઝવેરીનો લેખ.

૫૦૪ આ મંદિરની પ્રશસ્તિની નકલ શ્રી જિનવિજય પાસે છે કે જે સં. ૧૬૯૭ માં લખાઈ છે અને એક અશુદ્ધ નકલ મુંબઈની રૉ. એ. સોસાયટીમાં છે. વૉ૦ નં. ૧૭૫૬. આ પ્રતિષ્ઠા સાથે બીજાં જિનબિંબોની પ્રતિષ્ઠા થઇ તેના લેખો બુ. ૧ નં. ૩૬ અને ૧૨૮ માં પ્રકટ થયા છે તે સારો પ્રકાશ પાડે છે.

કે 'મહેરાબો કાઢી નાંખી તે મંદિર શાંતિદાસને હવાલે કરવું, તે તેને બક્ષવું અને તેનો તે કબજો રાખે ને પોતાના ધર્મ પ્રમાણે ભજન કરે તેમાં કોઈ આડે ન આવે, તેમાં રહેલા ફકીરોને કાઢી મૂકવા ને વોરા લોકો પાસેથી સામાન લઈ પાછો આપવો યા સામાનનો ખર્ચ લઈ પહોંચાડવો.'

૮૩૪ આ શાંતિદાસે સાગરપક્ષથી થએલા ઝઘડામાં આગેવાની ભર્યો ભાગ લીધો હતો. ઉક્ત મુક્તિસાગરને સૂરિપદ સં. ૧૬૮૬ માં અમદાવાદમાં અપાવ્યું, ને તેમનું નામ રાજસાગરસૂરિ સ્થાપ્યું. શેઠનો સ્વર્ગવાસ સં. ૧૭૧૫ માં થયો. આજે એમના વંશજોના હાથમાં અમદાવાદની નગરશેઠાઈ ચાલી આવે છે. એક ઐતિહાસિક કુટુંબ તરીકે હિંદના ઇતિહાસમાં અને ખાસ કરી ગૂજરાતના ઇતિહાસમાં શાંતિદાસના કુટુંબનું સ્થાન ઉંચું છે.

૮૩૫ હીરવિજયસૂરિ એ એક જબરા જૈન પ્રભાવક થયા. આખા યુગ અને શતક પર તેમનો અને તેમના શિષ્યોનો જબરો પ્રભાવ છે. તેમના માટે તેમના જ સમયમાં અનેક સંસ્કૃત અને ગૂજરાતી કાવ્યો રચાયાં છે. વળી સંસ્કૃત અને ગૂજરાતી સાહિત્યમાં તેમના શિષ્યોએ મોટો ફાળો આપ્યો છે. તેમનો શિષ્યપરિવાર-એક આચાર્ય નામે વિજયસેનસૂરિ, ૭ ઉપાધ્યાયો, ૧૫૧ પંડિતો-પંન્યાસ (પ્રજ્ઞાંશ) પદધારી, ૨૦૦૦ સાધુઓ અને ૩૦૦ સાધ્વીઓ-એ પ્રમાણે હતો. તેમણે, તેમના પટ્ટધર વિજયસેનસૂરિ અને તેમના પટ્ટધર વિજયદેવસૂરિએ થઇને લાખો જિનબિંબોની હજારો મંદિરોમાં પ્રતિષ્ઠા કરી હતી. અને અકબર, જહાંગીર અને શાહજહાં એ ત્રણે બાદશાહો (સં. ૧૬૧૩ થી સં. ૧૭૧૩) ની ભારતની શાંતિની શતવર્ષીમાં રાજ્યનો પૂર્ણ આદર મેળવી સર્વત્ર વિહાર કરી જૈનધર્મની મહાન્ ઉન્નતિનો કળશ ચઢાવ્યો હતો. અત્યાર સુધી જે તપાગચ્છના જૈન સાધુઓ ગૂજરાતમાં વિચરે છે તે હીરવિજયસૂરિની પરંપરા છે.

પ્રકરણ ૪ થું.

ખ૦ જિનચંદ્રસૂરિ અને ખરતરોની સેવા.

युगप्रधानत्वपदप्रदाना, जलालदीसाहिवरेण सत्कृतः ।
प्रौढप्रतापो जिनचन्द्रसूरि र्विराजते सद्विजयी महीतले ॥५२३॥
श्री जैनशासनधुरां धरणाय धुर्यं सत्येकतः प्रबलसारयुगप्रधाने ।
मन्येऽन्यतोऽपि युगकोटिधृतौ समर्थः
श्रीसाहिना सुघटितो जिनसिंहसूरिः ॥५२४॥
देवभक्तो गुरोर्भक्तः संघभक्तोऽतिथिप्रियः ।
चिरंजीयान्महामंत्री कर्मचन्द्रः ससन्ततिः ॥५०१॥

—जयसोमगणिकृत श्रीकर्मचन्द्र वंशावलीप्रबंधः

—જેનો જલાલદીન-અકબર પાતસાહે 'યુગપ્રધાન'પણાનું પદ આપીને સત્કાર કર્યો છે એવા પ્રૌઢ પ્રતાપી વિજયી જિનચંદ્રસૂરિ મહીતલે વિરાજે છે.

શ્રી જૈનશાસનની ધુરાને વહવા ધુર્ય-બળદ સમાન આ જિનચંદ્રસૂરિ પ્રબલ યુગપ્રધાન એકજ હોવા છતાં હું ધારૂં છું કે અન્યમાં યુગનું બાણું ધરવાને સમર્થ એવા જિનસિંહસૂરિને અકબર બાદશાહે સુઘટિત સ્વીકાર્યો-જિનચંદ્રસૂરિના તે શિષ્યને આચાર્યપદ આપ્યું.

દેવભક્ત, ગુરૂભક્ત, સંઘભક્ત અને અતિથિને વલ્લભ એવો મહામંત્રી કર્મચંદ્ર સંતતિ સહિત ચિરંજીવ રહો.

૮૩૬ અકબરના સમયમાં રજપૂતાના (મારવાડના બીકાનેરમાં) કર્મચંદ્ મંત્રી કરીને ઓસવાલ વણિક જ્ઞાતિમાં શૂરવીર, બુદ્ધિશાલી, દાની પુરૂષ થયો. તે ચુસ્ત જૈન અને કુશલ રાજદ્વારી નરપુંગવ હતો. તેની કીર્ત્તિ આખા રાજપૂતાનામાં અને મુગલ સામ્રાજ્યમાં ઘણીજ પ્રસરેલી હતી. તેનું કુલ પ્રાચીનકાલથી ઘણું પ્રખ્યાત અને ગૌરવશાલી હતું. (તે માટે જુઓ જયસોમકૃત સંસ્કૃત મંત્રી કર્મચંદ્ર પ્રબંધ અને જયસોમના શિષ્ય ગુણવિનયે ગૂજરાતી પદ્યમાં રચેલ તેનો અનુવાદ કે જેમાંથી નીચેની હકીકત લીધી છે.)

૮૩૭ તેને વીકાનેરના રાયકલ્યાણે મંત્રી બનાવ્યો. તેણે શત્રુંજય, ગિરનાર, ખંભાત આબુની જાત્રા કરી. રાજકુમાર રાયસિંહને લઈ સેનાવડે જોધપુરનું રાજ લઈ રાજના ગોખમાં રાય કલ્યાણને બેસાડી તેના પૂર્વજનો સંકલ્પ પૂરો કર્યો. તેથી તે રાજાએ ખુશ થઈ વર માંગવાનું કહેતાં મંત્રીએ માગ્યું કે આખા ચાતુર્માસ દરમ્યાન કંદોઈ ઘાંચી કુંભાર પોતાનો ધંધો ન કરે, વણિકોનો માલ નામનો રાજકર છોડી દેવો ને તેમનો માંડવીના દાણનો ચોથો ભાગ માફ કરવો તથા છાલીનો (ઉરભ્ર અજ આદિનો) કર કાઢી નાખવો. આ પ્રમાણે રાજાએ કરી આપ્યું અને વણમાંગ્યા ચાર ગામ વંશપરંપરા બક્ષીસ કર્યાં.

૮૩૮ આ મંત્રીએ બાદશાહનો આદેશ થતાં દિલ્લીપર હલ્લો કરવા નાગોરથી જતા ઇબ્રાહીમ મીર્ઝાના લશ્કરને નસાડ્યું-તોડ્યું. વળી ગૂજરાતમાં પહોંચેલા મહમદ હુસેન મીર્ઝાની સાથે લડાઈ કરી તેને જીત્યો. સોજત, સમીયાણા, જાલોર અને આબૂ દેશને પણ સર કર્યાં. મુગલ સેનાએ આક્રમેલ આબૂ તીર્થ પર અકબરના ફરમાનથી ત્યાંના ચૈત્યોની પુનઃ સુવ્યવસ્થા કરી. શિવપુરી-સીરોહીથી આવેલ બંદિજનને અન્ન વસ્ત્ર આપી પોતાને ઘેર લાવી સન્માન્યાં. આબૂ પરના પ્રાસાદને સુવર્ણ દંડ ધ્વજા અને કલશથી મંડિત કર્યો. સમિયાણા સર કરતાં પકડાયેલ બંદિવાનોને છોડાવ્યા. સં. ૧૬૩૫ માં પડેલા મહાદુષ્કાળમાં ૧૩ માસ શત્રુકાર ખોલી રોગગ્રસ્ત દીન અને નિર્બલજનોનું રક્ષણ કર્યું. મુગલ [૫૦૫]તુરસમખાંને સીરોહી દેશ લૂંટ્યો ને ત્યાંથી હજાર જૈન પ્રતિમા તેમાંથી સોનું નીકળશે એમ જાણી શાહી દરબારમાં લઈ ગયો તેને સોનૈયા આપી કર્મચંદ્રે વિકાનેરમાં આણી. (આ ૧૦૮૫ અતિ પ્રાચીન પ્રતિમાઓ વીકાનેરમાં

૫૦૫ તુરસમખાનનું નામ અબુલફજલના અકબર નામની હકીકતમાં આવે છે પણ શ્રીયુત ઓઝા તે અકબર નામાના વૃત્તાંતની ઘણી ઘણી વાતો ખોટી જાહેર કરે છે. ગમે તેમ હો આ પ્રબંધમાં જણાવ્યા પ્રમાણે તુરસમખાને શીરોહી લૂંટ્યાની વાત સત્ય છે કારણ કે આ પ્રબંધ લગભગ સમકાલીન છે.

ચિંતામણિજીના મંદિરના ભોંયરામાં રાખેલી છે તે આ ૧૯૮૭ ના વર્ષના કાર્તિક સુદિ ૩ ને દિને ઉત્સવપૂર્વક બહાર કાઢી વદી ૪ ને દિને પુનઃ ભોંયરામાં મૂકી દીધી છે.).

૮૩૯ કર્મચંદ્ર વત્સરાજ (વછરાજ)નો વંશજ હોવાથી બચ્છાવત કહેવાતો. તેનું મહત્ત્વ વધારવા માટે અકબરે એવો પ્રસાદ કર્યો કે તેના-વત્સરાજના વંશજોની સ્ત્રીઓનાજ પગે સોનાનાં આભૂષણો પહેરી શકાય. (ત્યારથી તેમ થાય છે). તુરસમખાને ગુર્જર વિષય (ગુજરાત)માંથી આણેલા વણિક બંદિવાનોને વગર દ્રવ્યે છોડાવ્યા. સ્વધર્મી બંધુઓને અનેક પ્રકારનું દાન દઈ સંતુષ્ટ કર્યા. શત્રુંજય અને મથુરાનાં જીર્ણ ચૈત્યોનો ઉદ્ધાર કર્યો અને કાબુલ સુધીના પ્રદેશમાં દરેક સ્થલે લ્હાણી કરી. ખરતર જયસોમ ઉપાધ્યાય પાસેથી ૧૧ અંગનું શ્રવણ વીકાનેરમાં કર્યું અને લેખકો પાસે પવિત્ર આગમો લખાવવામાં ઘણું દ્રવ્ય ખર્ચ્યું. શત્રુંજય અને ગિરિનાર પર નવાં જિનમંદિરો કરવા ધન મોકલ્યું. ચાર પર્વ (આઠમ, ચૌદશ, પૂર્ણિમા, અમાવાસ્યા) પોતે પાળી, રાજ્યાદેશથી કારૂ લોક-કુંભાર આદિ પાસે પળાવી; અને આખું ચાતુર્માસ તે લોકો પાસે પળાવ્યું. રાજા રાજસિંહ પાસે આખા મરુમંડલમાં વૃક્ષના છેદનનો નિષેધ કરાવ્યો, તથા સતલજ, ડેક અને રાવી એ ત્રણ નદીઓમાં માછલાંની હિંસા બંધ કરાવી. સેના લઈ હડક્કામાં રહેતા બલોચી (બલુચી)ઓને હરાવી તેમના બંદિઓને છોડાવ્યા. જિનમંદિરમાં સ્નાત્ર પૂજાઓ કરાવી, ફલોધિમાં રહી ખ૦ જિનદત્તસૂરિ અને જિનકુશલસૂરિના સ્તૂપ કરાવ્યા.

૮૪૦ પછી પોતાના રાજાનું કલુષ ચિત્ત જાણી પોતે મેડતામાં વાસ કર્યો. અકબર બાદશાહનું ફરમાન કર્મચંદ્રને મોકલવાનું રાજા રાયસિંહ પર આવતાં રાજાએ મંત્રીને મોકલ્યું. આથી કર્મચંદ્ર અજમેર આવી જિનદત્તસૂરિના સ્તૂપની યાત્રા કરી ત્યાંથી લાહોર આવી અકબર બાદશાહને મળ્યો. શાહે રાજાની અવકૃપા વગેરે જાણી મંત્રીને પોતાની પાસે રાખ્યો; સારો હાથી પછી શિકારી ઘોડો બક્ષી તેને ગંજાધિકારી-ભંડારી બનાવ્યો.

૮૪૧ એક દિવસે અકબર બાદશાહે જિનદર્શનમાં કોણ સાંસ ગુરૂ છે તે પૂછતાં કોઈએ ખરતર ગચ્છના આચાર્ય જિનચંદ્રસૂરિનું નામ આપ્યું; પછી તેમના શિષ્ય કર્મચંદ્ર છે એમ જાણી તેમને બોલાવી. પોતાની પાસે સૂરિને લઈ આવવા તેને ફરમાન દીધું. આચાર્ય ગૂજરાતના ખંભાતમાં હતા, તે શાહી હુકમ જોઈ અમદાવાદ-સીરોહી થઈ સુવર્ણ-ગિરિ (જાલોર) ક્રમે આવી ત્યાં ચોમાસું કર્યું. માગસર માસમાં વિહાર કરી મેડતા, નાગોર, વીકાનેર, બાપેઉ, રાજલદેસર, માલસર, રિણપુર થઇને સરસ્વતિપત્તન (સરસા)માં આવી ફાગણ સુદ ૧૨ (ઇદ)ને દિને લાહોરમાં આવ્યા. બાદશાહે ગોખમાં આવી સૂરિનું સન્માન કર્યું અને તેના આગ્રહથી આચાર્યે લાહોરમાં ચાતુર્માસ કર્યું. આ વખતે જયસોમ, રત્નનિધાન, ગુણવિનય અને સમયસુંદર સાથે હતા.

૮૪૨. જિનચંદ્રસૂરિ અને અકબર બાદશાહ—એ બે વચ્ચે વાર્ત્તાલાપ થયો. તે સૂરિએ જણાવ્યું કે દ્વારકામાં બધાં જૈન જૈનેતર દેહરાં-દેવમંદિરોનો નવરંગખાને વિનાશ કર્યો છે તો જિનમંદિરોની રક્ષા થવી ઘટે. બાદશાહે ત્યાં ઉત્તરમાં કહ્યું કે શત્રુંજયાદિ સર્વ જૈન તીર્થો હું આ કર્મચંદ્ર મંત્રીને સ્વાધીન કરૂં છું. તે સંબંધીનું ફરમાન પોતાની મુદ્રાથી અંકિત કરી આજમખાનને આપ્યું કે સર્વ તીર્થ કર્મચંદ્રને બક્ષેલ છે તો તેની રક્ષા કરો. આથી શત્રુંજયપર મ્લેચ્છે કરેલ ભંગનું નિવારણ થયું.

૮૪૩. અકબરને કાશ્મીર જવાનું થયું તે પહેલાં તેણે મંત્રી પાસે જિનચંદ્રસૂરિને બોલાવી તેમનો 'ધર્મલાભ' લીધો અને તે વખતે તે સૂરિના પુણ્યહેતુ માટે આષાઢ શુદ ૯થી સાત દિવસ સુધી આખા સામ્રાજ્યમાં 'અમારિ' પળે-જીવહિંસા ન થાય એવું ફરમાન કાઢી તેને ૧૧ સુબામાં મોકલી આપ્યું.[૫૦૬] આ હુકમ સાંભળી શાહને

૫૦૬ આ ફરમાનની નકલ માટે જુઓ સરસ્વતી માસિક જુન ૧૯૧૨, હીરવિજયસૂરિ પર લેખ, કૃપારસકોશમાં શ્રીજિનવિજયની પ્રસ્તાવના, જૈનયુગ જેઠ-શ્રાવણ ૧૯૮૬ નો અંક.

રંજવા તાબાના રાજાઓએ પોતપોતાના દેશમાં કોઈએ ૧૫, કોઈએ ૨૦, કોઈએ ૨૫, કોઈએ એક માસ તો કોઈએ બે માસ સુધીની 'અમારિ' પાળવાના હુકમ કર્યા. સૂરિ લાહોર રહે. પણ તેમના શિષ્ય માનસિંહને કાશ્મીર મોકલવા શાહે કહેવરાવ્યું. માનસિંહ કાશ્મીર ગયા અને તેમના કહેવાથી શાહે ત્યાંના સરોવરના જલચરને હિંસાથી મુક્ત કર્યા. શાહે કાશ્મીર સર કર્યું પછી તે લાહોર આવ્યો.

૮૪૪ અકબરશાહે લાહોરમાં જિનચંદ્રસૂરિને 'યુગપ્રધાન' પદ ને તેમના શિષ્ય માનસિંહને આચાર્ય પદ આપ્યું ને નામ જિનસિંહસૂરિ રાખ્યું (સં. ૧૬૪૯ ફાગણ શુદ બીજ). તે વખતે જયસોમને તથા રત્નનિધાનને પાઠક પદ અને ગુણવિનય તથા સમયસુંદરને વાચક પદ આપવામાં આવ્યું. કર્મચંદ્ર મંત્રીની વિનતિથી આ અવસરે બાદશાહે અમારિ ઘોષણા કરી; સ્તંભતીર્થ (ખંભાત) ના સમુદ્રમાં એક વર્ષ સુધી હિંસા ન થાય તેમ કર્યું અને લાહોરમાં એક દિવસ માટે સર્વ જીવની રક્ષા કરી. કર્મચંદ્રે મૂળ સ્વામી રાજા રાજસિંહ પાસે જઈ તેને નમી આજ્ઞા લઈ આ મહોત્સવ અતિશય દાનપૂર્વક કર્યો. [આ ઉપર જણાવ્યા પ્રમાણે મંત્રી કર્મચંદ્રપ્રબંધમાંથી લીધું છે તે મૂલ સંસ્કૃતમાં ક્ષેમશાખામાં પ્રમોદમાણિક્ય શિષ્ય જયસોમ ઉપાધ્યાયે સં. ૧૬૫૦ના વિજયાદશમી દિને લાહોરમાં રચ્યો ને તે પર સંસ્કૃત વ્યાખ્યા તેના શિષ્ય ગુણવિનયે સં. ૧૬૫૫ માં રચી. અને તે વર્ષમાં તે ગુણવિનયે ગૂજરાતી પદ્યમાં અનુવાદ રચ્યો.]

૮૪૫. સં. ૧૬૬૯માં જહાંગીર પાતસાહે એવો હુકમ કર્યો હતો કે સર્વ દર્શનના સાધુઓને દેશ બહાર કરવા; આથી જૈનમુનિમંડળમાં સર્વત્ર ભીતિ ઉત્પન્ન થઈ. જિનચંદ્રસૂરિએ પાટણથી આગ્રા આવી બાદશાહને સમજાવ્યો ને આગળનો હુકમ રદ કરાવ્યો.

૮૪૬. જિનસિંહસૂરિના પટ્ટધર જિનરાજસૂરિએ લોદ્રવપત્તનમાં જેસલમેરવાસી થીરૂશાહે ઉદ્ધાર કરાવેલા વિહાર શૃંગાર ચિંતામણિ પાર્શ્વનાથના ચૈત્યની પ્રતિષ્ઠા કરી. સં. ૧૬૭૫માં (જૂ. પરિ. ૬)

અને તે વર્ષમાં અમદાવાદના પોરવાડ સોમજી પુત્ર રૂપાજીએ શત્રુંજયપર કરાવેલ ચતુર્દ્વાર વિહારમાં ઋષભનાથની અને ૫૦૧ પ્રતિમાની પ્રતિષ્ઠા આ સૂરિ હાથે કરાવી. ઉક્ત થીરૂશાહે સં. ૧૬૮૨માં શત્રુંજયનો સંઘ કાઢી ત્યાં ગણધરોની પાદુકા કરાવી (જૈ.ગૂ. ઈ. ૨, ૬૮) અને સં. ૧૬૯૩માં લોદ્રવામાં અનેક દેવગૃહો બંધાવ્યા (જુઓ પરિશિષ્ટ). આ થીરૂશાહનો પુસ્તકભંડાર જેસલમેરમાં છે.

૮૪૭ **સમયસુંદર**[૫૦૭]—મૂળ સાચોરના પોરવાડ એક સારા વિદ્વાન્ થયા. સંસ્કૃત અને દેશી ભાષામાં અનેક કૃતિઓ કરવા ઉપરાંત તેમણે જેસલમેરના રાઉલ **ભીમ** પાસે સાંઢ મારવાનું બંધ કરાવ્યું, લાહોરમાં અષ્ટલક્ષી નામનો ગ્રંથ રચી (એક વાક્યના આઠ લાખ અર્થ બનાવી) અકબર બાદશાહને રંજિત કર્યો અને જિનચંદ્રસૂરિ પાસે વાચક પદવી લીધી. સીતાપુર-સિંધુ વિહારમાં મખનૂમ મહમંદ શેખને સમજાવી જીવદયાનો પડો વજડાવ્યો–પંચનદ (પંજાબ) નો પ્રદેશ જીવદયાવાળો કર્યો ને તેમાં ગાયની વિશેષતા કરાવી. તેમને મેડતા અને મંડોવરના રાજકર્ત્તા પણ માન આપતા હતા.

૮૪૮. સત્તરમી સદીમાં **બનારસીદાસ** નામના શ્રાવક હિંદી ભાષાના શ્રેષ્ઠ જૈન કવિ થયા. હિંદી ભાષામાં જૈનોમાં આના કરતાં સારો પ્રતિભાશાલી કવિ કોઈ થયો નથી એમ અમને લાગે છે. તેઓ આગરાના રહેવાશી શ્રીમાલ વૈશ્ય હતા. તેમનો જન્મ સં. ૧૬૪૩ માં જૈનપુરમાં થયો. પિતા ખરગસેનને બનારસ (કાશી) માંના પાર્શ્વનાથપર બહુજ પ્રીતિ હતી અને બનારસ જતાં ત્યાંના પૂજારીના કહેવાથી તેનું નામ તેણે બનારસી-

---

૫૦૭ વિશેષ માટે જુઓ મારો નિબંધ 'કવિવર સમયસુંદર'-ભાવનગર ગૂજરાતી સાહિત્ય પરિષદ્‌નો અહેવાલ-જૈન સાહિત્ય સંશોધક ખંડ ૨ અંક ૩-૪ અને આનંદ કાવ્યમહોદધિ મૌક્તિક ૭ માની પ્રસ્તાવના. સંસ્કૃત કૃતિઓ માટે જુઓ આગળ, અને ગૂજરાતી કૃતિઓ માટે જુઓ મારો 'જૈન ગૂર્જર કવિઓ' પ્રથમ ભાગ પૃ. ૩૩૧-૩૫૧

[illegible] રાખ્યું. (મૂલ નામ વિક્રમાજીત હતું). સં. ૧૬૫૪ માં વિવાહ થયો. સં. ૧૬૫૭ માં ઇશ્કબાજીમાં પડી ગયા. ત્યારે જોનપુરમાં (લઘુ)ખરતર ગચ્છીય મુનિ ભાનુચંદ્ર (અભયધર્મ ઉપાધ્યાયના શિષ્ય) આવતાં બનારસીદાસને પિતા સાથે જતાં તેમનો સમાગમ થયો. મુનિ સદાચારી અને વિદ્વાન્ હોવાથી બનારસીદાસ પૌષધશાલામાં મુનિ પાસેજ રહેવા લાગ્યાં. કેવલ રાત્રિએ ઘેર આવતા. સાધુશ્રીની પાસે સામાયિક પ્રતિક્રમણાદિ જૈન ક્રિયાઓનાં સૂત્રો, છંદશાસ્ત્ર, શ્રુતબોધ, કોષ અને અનેક સ્ફુટ શ્લોક આદિ કંઠસ્થ કર્યાં. પણ ઇશ્કબાજી છૂટી નહિ. એક શૃંગારી ગ્રંથ રચ્યો. સોળમે વર્ષે કુષ્ટરોગ થયો તે એક વૈદે મટાડયો. ૧૬૬૦ માં અભ્યાસ છોડયો. ૧૬૬૧ માં એક સન્યાસીએ સોનામહોર મેળવવાનો મંત્ર આપી પૈસા કઢાવ્યા પણ એક વર્ષની મુદતે પણ મુદ્રાપ્રાપ્તિ ન થઈ. આ વાત ભાનુચંદ્રજીને કહેતાં મરમ નીકળ્યો. ૧૬૬૪ માં પોતાની શૃંગારપોથી ગોમતી નદીમાં પધરાવી. ત્યારથી ઇશ્કબાજી અને પાપકર્મને વોસરાવ્યાં. ધર્મવૃત્તિ જાગી. વિલક્ષણ ફેરફાર-ક્રાંતિ થવાથી વ્રત નિયમ પૂજા પાઠ આદિ કરવા લાગ્યા. સં. ૧૬૬૭ માં પિતાએ સર્વ ઝવેરાત અને મિલ્કત પુત્રને સોંપી દીધાં. એ લઇ કવિ આગરે ઝવેરીનો વેપાર કરવા આવ્યા પણ તેમાં નુકશાન થયું. જોનપુર આવી રહ્યા. પિતા સ્વર્ગસ્થ થયા એટલે પુનઃ આગ્રા સં. ૧૬૭૩ માં આવ્યા ત્યાં મરકી (હાલ જેને પ્લેગ-ગાંઠીઓ તાવ કહે છે તે રોગ) થતાં લોકોની નાસભાગ થઇ. પોતે ભાગી પછી અહિચ્છત્ર પાર્શ્વનાથ, હસ્તિનાપુર, દિલ્લી, મીરત આદિ સ્થલે યાત્રા કરી આગ્રા સહકુટુંબ આવ્યા. સં. ૧૬૭૬ થી ૧૬૮૦ માં પોતાની કૌટુંબિક સ્થિતિમાં ફેરફાર થયા.

૮૪૯. સં. ૧૬૮૦માં એક કવિનું ભારે પરિવર્તન થયું. આગ્રામાં અર્થમલ્લજી નામના એક અધ્યાત્મરસિક સજ્જનની સાથે પરિચય થતાં ને તેમના બોધથી રાયમલ્લકૃત બાલાવબોધ ટીકા સહિત દિગંબર કુંદકુંદાચાર્યકૃત સમયસાર નાટક મનનપૂર્વક વાંચતાં બનાર-

ઘણો અપૂર્વ છે. તેનો પ્રચાર અને આદર શ્વેતામ્બર અને દિગંબર બંને સંપ્રદાયોમાં ખુબ છે. આ વેદાન્તીઓને પણ આનંદ આપે તેવો છે. તેની ભાષા ઉચ્ચશ્રેણીની છે.) સં. ૧૬૯૬માં એકનો એક પુત્ર મૃત્યુ પામતાં અતિશય શોક થયો. બે વર્ષ પછી તે મોહ ઉપશાન્ત થયો. –એટલું જણાવી સં. ૧૬૯૮માં પોતાના કથાનકના પુર્વાર્ધને (અર્ધકથાનકને) ૬૭૩ દુહામાં પૂર્ણ કરેલ છે. આ આત્મજીવન દોષને છૂપાવ્યા વગર ખુલ્લે ખુલ્લું કહેનારૂં એક અપૂર્વ ચરિત છે, કે જેવું આત્મચરિત ભારતી સાહિત્યમાં મુસલમાન બાદશાહોનાં આત્મચરિતો સિવાય એકજ છે કે જે આધુનિક સમયનાં આત્મચરિતોની પદ્ધતિ પર લખાયું છે.[૫૦૯]



૫૦૯ આ અર્ધકથાનક મારા મિત્ર શ્રીયુત નાથુરામ પ્રેમીએ સંપાદિત કરેલા બનારસીવિલાસ (પ્ર. જૈન ગ્રંથ રત્નાકર કાર્યાલય)ની પ્રસ્તાવનામાં સારસહિત મુખ્યતઃ છપાયું છે. વિશેષમાં જુઓ જૈન શ્વે. કૉન્ફરન્સ હેરલ્ડ જુલાઇ–અકટોબર ૧૯૧૫નાં સંયુક્ત અંકમાં તેની મૂલ પ્રત પરથી મારો લખેલ 'કવિવર બનારસીદાસ' એ લેખ અને પ્રેમીજીનો 'હિન્દી જૈનસાહિત્ય ઇતિહાસ'એ નિબંધ.

પ્રકરણ ૫ મું.

સત્તરમા શતકની સાહિત્યપ્રવૃત્તિ.

સંસ્કૃત પ્રાકૃત સાહિત્ય.

હીરવિજયસૂરિ તથા વિજયસેનસૂરિના શિષ્યો પૈકીઃ—

लक्षणार्णवपारीण मतिवैभवधारिणः ।
केचित् केचित्तर्कशास्त्र वाग्वाक्पत्यनुकारिणः ॥५०॥
केचित् पुनर्नव्यकाव्यकलाकौशलहारिणः ।
केचिच्च कौतुकाकीर्णाख्यानव्याख्यानकारिणः ॥५१॥
केचित् सकल सूत्रार्थ प्रश्नप्रतिवचः प्रदाः ।
अगण्यगणितज्योतिःशास्त्रविज्ञाश्च केचन ॥५२॥
केचित् साहित्यशास्त्राब्धिमथने मन्दराद्रयः ।
केचिच्च रुचिराचाःरविचारचतुराशयाः ॥५३॥

વિજયપ્રશસ્તિ સર્ગ ૨૧.

—કેટલાક વ્યાકરણ રૂપી સમુદ્રના પારગામી મતિવૈભવવાળા, કેટલાક તર્કશાસ્ત્રમાં બૃહસ્પતિ જેવા, કેટલાક નવાં કાવ્ય રચવાના કૌશલવાળા, કેટલાક કૌતુકવાળા આખ્યાનોનાં વ્યાખ્યાન કરનારા, કેટલાક સકલ સૂત્રોના અર્થ સંબંધી પ્રશ્નોના ઉત્તર દેનારા, કેટલાક ન ગણાય તેવાં ગણિત અને જ્યોતિઃશાસ્ત્રના જાણકાર, કેટલાક સાહિત્યશાસ્ત્ર-કાવ્યશાસ્ત્ર રૂપી સાગરનું મંથન કરવામાં મેરૂ પર્વત જેવા અને કેટલાક રૂચિર આચાર અને વિચારમાં ચતુર આશયવાળા હતા.

૫૧. સં. ૧૬૦૧માં વિવેકકીર્તિગણિએ હરિપ્રસાદ કૃત પિંગલસાર વૃત્તિની પ્રત લખી. (બાલચંદ્ર ભં. કાશી) સં. ૧૬૦૫ માં ત. લાવણ્યધર્મના શિ. ઉદયધર્મગણિએ વિજયદાનસૂરિ રાજ્યે ઉપદેશમાલાની ૫૧ મી પ્રાકૃત ગાથાના સો અર્થ કરનારી શતાર્થવૃત્તિ રચી (કાં. વડો; દાવા. પાટણ) સં. ૧૬૧૦માં સુલીમશાહના

ગચ્છમાં ખ. જિનભદ્રસૂરિ–ભાનુપ્રભ–તેના ૪ શિષ્ય નામે મતિસેન, મહિમાલાભ, કુશલસિંહ અને ચંદ્રવર્ધન–તે ૪ ના ૩ શિષ્ય મેઘનંદન, દયાનંદન અને જયવિજય તે પૈકી મેઘનંદનના શિષ્ય રત્નાકર પાઠકે **શાંતિસૂરિના** પ્રા૦ જીવવિચાર પર સંસ્કૃત વૃત્તિ રચી (કાં. વડો. પ્ર૦ યશો૦ પાઠશાળા મહેસાણા). સં. ૧૬૧૭ માં ખ૦ જિનમણિક્યસૂરિના પટધર **જિનચંદ્રસૂરિએ** જિનવલ્લભ કૃત પૌષધવિધિ પર વૃત્તિ અણહિલવાડ પાટણમાં રચી કે જેનું સંશોધન પુણ્યસાગર ઉ૦, ધનરાજ પાઠક અને સાધુકીર્ત્તિગણિએ કર્યું ને તેમાં જયસોમ ઉપાધ્યાયે સહાય કરી (કાં. વડો.) સં. ૧૬૧૯માં ખ૦ જિનભદ્રસૂરિ શાખાના પદ્મમેરૂ–મતિવર્ધન–મેરૂતિલક–દયાકલશ અને અમરમાણિક્યના શિષ્ય **સાધુકીર્ત્તિ** ગણીએ સંઘપટ્ટક પર અવચૂરિ કરી (આ. ક. પાલી૦) સં. ૧૬૨૧ માં **જ્ઞાનપ્રમોદે** વાગ્ભટ્ટાલંકાર પર વૃત્તિ રચી. તથા તેજ વર્ષમાં નાગોરમાં ખ. હીરકલશે પ્રા. માં જોઇસહીર (જ્યોતિષસાર) ઉદ્ધરી રચ્યો. (મુદ્રિત)

૮૫૨. આ સમયમાં **ધર્મસાગર** ઉપાધ્યાય–એક પ્રખર સ્વસંપ્રદાયવાદી થયા, અને તે તરીકે બીજા સંપ્રદાયોના ખંડનાત્મક ગ્રંથો તેમણે બનાવ્યા. તેમના હસ્તાક્ષરે હેમચંદ્રના ઉણાદિગણસૂત્રોદ્ધારની સં. ૧૬૦૪ માં લખેલી પ્રત લબ્ધ છે. (વેબર નં. ૧૬૯૫) સં. ૧૬૧૭ માં ઔષ્ટ્રિકમતોત્સૂત્ર દીપિકા ખરતરગચ્છના ખંડન રૂપે બનાવી, કે જેમાં પોતાને હીરવિજયસૂરિના શિષ્ય તરીકે ઓળખાવેલ છે (કાં. છાણી); અને તત્ત્વતરંગિણી વૃત્તિ રચી[૫૧૦] (બુહ. ૮ નં. ૩૮૪) સં. ૧૬૨૯ માં પ્રવચન પરીક્ષા અપરનામ કુપક્ષકૌશિકાદિત્ય સવૃત્તિ (ભાં. ૩, પૃ. ૧૪૪–૧૫૫), કે જેમાં ઘણા જૈન સંપ્રદાયોનું ખંડન છે, તથા તે વર્ષમાં ઇર્યાપથિકા ષટ્ત્રિંશિકા (કી. ૨

---

૫૧૦ આ તત્ત્વતરંગિણી વૃત્તિની સં. ૧૬૧૭ની લિખિત પ્રત પાટણના વાડી પાર્શ્વનાથ ભંડાર દા૦ ૧૫ માં છે તેમાં જણાવ્યું છે કે 'આ ગ્રંથનો કર્ત્તા સર્વગચ્છસૂરિઓથી જિનશાસનમાંથી ઉત્સૂત્રપ્રરૂપણા કરવા માટે બહિષ્કૃત કરેલ ધર્મસાગર છે.'

નં. ૩૬૮ પ્ર૦ આ૦ સમિતિ નં. ૪૯) રચી. સં. ૧૬૨૮ માં રાધનપુરમાં કલ્પસૂત્ર પર કિરણાવલી નામની ટીકા (પ્ર૦ આ૦ સભા નં. ૭૧) અને સં. ૧૬૩૯ માં જંબૂદ્વીપ પ્રજ્ઞપ્તિ પર વૃત્તિ રચી હતી. આ છેલ્લી વૃત્તિની એક પ્રશસ્તિ (વે. નં. ૧૪૫૯) માં એમ જણાવ્યું છે કે તે ત૦ હીરવિજયસૂરિએ દીવાળીને દિને રચી અને તેમાં કલ્પકિરણાવલીકાર ધર્મસાગર ઉ૦, તેમજ વાનર ઋષિ (વિજયવિમલ) એ સહાય આપી તેમજ તેનું સંશોધન પાટણમાં ત૦ વિજયસેનસૂરિ, કલ્યાણવિજય ગણિ, કલ્યાણકુશલ અને લબ્ધિસાગરે કર્યું હતું અને તેની આ પ્રશસ્તિ હેમવિજયે રચી. (આ પરથી કલ્પના થાય છે કે સૂરિના નામે ધર્મસાગરે મૂળમાં વૃત્તિ રચી પણ તે ધર્મસાગર ખંડન શૈલીવાળા હોવાથી રખેને તેમાં બીજાનું ખંડન હોય તેથી તેનું સંશોધન ઉક્ત વિદ્વાનો પાસે કરાવ્યું હોય.)

૮૫૩ ધર્મસાગરના બીજા ગ્રંથોઃ–ગુર્વાવલી–પટ્ટાવલી સવૃત્તિ, પર્યુ-પણાશતક સવૃત્તિ (વિ૦ નં. ૧૮૪૭), સર્વજ્ઞશતક સવૃત્તિ, વર્દ્ધમાન દ્વાત્રિંશિકા (નવ રસારૂસાજ વર્ષે ? ૧૬૬૯ માં ?–કાં વડો), ષોડશ-શ્લોકી–ગુરુતત્ત્વપ્રદીપદીપિકા સવિવરણ (બુહ૦ ૮ નં. ૩૫૯) વગેરે છે. આ પૈકી ગુર્વાવલીમાં તપાગચ્છના આચાર્યોની હીરવિજયસૂરિ સુધીની પરંપરા આપી છે. તેની એક પ્રતની અંતે જણાવેલું છે કે હીરવિજયસૂરિની આજ્ઞાથી વિમલહર્ષ, કલ્યાણવિજય, સોમવિ-જય અને લબ્ધિસાગર ગણિઓએ મુનિસુંદર કૃત ગુર્વાવલી, જીર્ણ પટ્ટાવલી, દુઃષમાસંઘસ્તોત્રયંત્ર વગેરે સાથે સરખાવી આને સં. ૧૬૫૮ ના વર્ષમાં અમદાવાદમાં તપાસી હતી. કી. ૧. (જુઓ પારા ૮૧૯ થી ૮૨૧.)

૮૫૪ પાર્શ્વચંદ્ર ગચ્છીય બ્રહ્મ મુનિ (વિનયદેવ સૂરિ) એ દશાશ્રુતસ્કંધ પર જિનહિતા નામની ટીકા (ભાં. ૪. નં. ૧૦૮૯ સન ૧૮૯૧–૯૫), જંબૂદ્વીપ પ્રજ્ઞપ્તિ પર અણહિલવાડમાં વૃત્તિ રચી કે જે તે ગચ્છના વિજયદેવસૂરિએ સંશોધી હતી (કાં, વડો)

૮૫૫ વાનરઋષિ—વિજયવિમલ—એક વિદ્વાન્ મુનિ હતા. તેઓ ત. આનંદવિમલસૂરિના શિષ્ય હતા. તેમણે વિજયદાનસૂરિના રાજ્યે (સં. ૧૬૨૨ પહેલાં) ગચ્છાચાર પયન્નાપર ટીકા લખી. (પ્ર. આ. સમિતિ નં. ૩૬) તેમણે કર્મપર પ્રકરણો નામે ભાવપ્રકરણ રચીને તે પર સ્વોપજ્ઞ વૃત્તિ–અવચૂરિ (મુદ્રિત) સં. ૧૬૨૩માં, તથા બંધોદય સત્તા પ્રકરણ રચીને તે પર સ્વોપજ્ઞ અવચૂરિ રચી છે. ગચ્છાચાર પયન્નાપર ઉક્ત ટીકા લખી હતી તે પરથી વિસ્તાર કરીને મોટી ટીકા સં. ૧૬૩૪માં રચી કે જેમાં વિદ્યાવિમલ, વિવેકવિમલ અને આનંદવિજય ગણિઓએ શોધનલેખનમાં સહાય આપી હતી (પી. ૫, ૧૬૧; કાં. વડો; બુહ. ૬ નં. ૮૩૫ પ્ર૦ દયાવિમલ ગ્રંથમાલા નં. ૨૫) બીજી અવચૂરિઓ નામે તંદુલ વૈયાલિય પયન્નાપર (પ્ર૦ દે. લા. નં. ૫૯) કે જેના પરથી તેના શિષ્ય (૧) વિશાલસુંદરે નાગપુર (નાગોર)માં સં. ૧૬૫૫માં સંક્ષેપ કર્યો છે (પ્ર; કાં.), જિનેંદ્ર અનિટ્ કારિકા પર (વિવેક૦ ઉદે૦), જયાનંદસૂરિકૃત સાધારણજિન સ્તવ પર (પી. ૪, નં. ૧૩૬૯) અવચૂરિઓ રચવા ઉપરાંત સં. ૧૬૬૨માં હર્ષકુલગણિકૃત બંધહેતૂદય ત્રિભંગીપર અવચૂરિ (ભાં. ૬ નં. ૧૧૬૫) રચી (પ્રાચીન ૪ કર્મગ્રંથોની પ્રસ્તાવના). પ્રતિલેખનાકુલક ૨૮ પ્રા૦ ગાથામાં રચ્યું (કા. વડો.)

૮૫૬ ખ૦ જિનભદ્રસૂરિ–સમયધ્વજ–જ્ઞાનમંદિર–ગુણશેખરવાચક શિ. નયરંગે અર્જુનમાલાકર (ભાં. ૬ નં. ૧૪૭૬)અને સં. ૧૬૨૪માં તેમણે બાલપતાકાપુરીમાં પરમહંસ સંબોધ ચરિત (કથાવસ્તુ જયશેખરના પ્રબોધ ચિંતામણિ જેવું. જે. ૫૭), અને સં. ૧૬૨૪માંજ ફલવર્દ્ધિ (ફલોધી)માં ખ૦ જિનેશ્વરસૂરિકૃત રૂચિતદંડકસ્તુતિ પર ખ૦ જિનહંસસૂરિ–પુણ્યસાગર ઉ૦ના શિષ્ય પદ્મરાજે વૃત્તિ–વ્યાખ્યા રચી (પી. ૬,૪૮) સં. ૧૬૨૫માં ખ. જિનચંદ્રસૂરિ રાજ્યે ચારિત્રસિંહ ગણિએ કાતંત્ર વિભ્રમપર અવચૂરિ રચી (વેબર નં. ૧૬૩૨) સં. ૧૬૨૬ આસપાસ [૫૧૧] ખ૦ જિનહર્ષસૂરિ શિ. દયારત્ને ન્યાયરત્નાવલી રચી

---

૫૧૧ કારણકે તે વર્ષમાં આચારાંગ સૂત્રની પ્રત તેમણે લખેલી ઉપલબ્ધ છે.

(વિવેક-ઉદ.) અને સં. ૧૬૨૭માં અજિતદેવે પિંડવિશુદ્ધિ પર દીપિકાની રચના કરી. સં. ૧૬૨૯માં ચંદ્રગચ્છ (પછી પલ્લીવાલ)ગચ્છના મહેશ્વરસૂરિ (મહાવીરથી ૬૦ મી પાટે)ના પટ્ટધર ઉક્ત અજિતદેવ સૂરિએ ઉત્તરાધ્યયનસૂત્ર પર બાલાવબોધિની નામની ટીકા રચી. વળી તેમણે આચારાંગ પર દીપિકા નામની વૃત્તિ, તથા આરાધના રચી છે. (પા૦ ભં.)

૮૫૭ સં. ૧૬૩૦ આસપાસ કાગોરી તપાગચ્છના રત્નશેખર સૂરિ-પૂર્ણચંદ્ર-હેમહંસ-હેમસમુદ્ર-સોમરત્ન-રાજરત્નસૂરિના પટ્ટધર ચંદ્રકીર્ત્તિસૂરિએ પોતાના પૂર્વજ રત્નશેખરસૂરિના પ્રાકૃત છંદઃ કોશ પર સંસ્કૃત ટીકા રચી (બુહ. ૪, નં. ૭૫; પી. ૫, ૧૯૩; કાં. વડો.) વળી તેજ રત્નશેખરસૂરિકૃત સિદ્ધયન્ત્રચક્રોધ્ધાર પર ટીકા રચી (સુતીજી ભં. કાશી). તે ચંદ્રકીર્ત્તિસૂરિએ પદ્મચંદ્ર ઉપાધ્યાયની અભ્યર્થનાથી સારસ્વત વ્યાકરણ પર સુબોધિકા-દીપિકા-ચંદ્રકીર્ત્તિ નામની ટીકા રચી કે જેનો પ્રથમાદર્શ તેમના શિષ્ય હર્ષકીર્ત્તિએ લખ્યો (ગુ. નં. ૫૧-૩; વેબર નં. ૧૬૮૯)

૮૫૮ ત. વિજયદાનસૂરિ શિ. સકલચંદ્રગણિએ સં. ૧૬૨૧માં ધ્યાનદીપિકા (કેશરવિજયગણિકૃત ગૂ. ભા. સહિત મુદ્રિત), ધર્મશિક્ષા (કાં. વડો), પ્રા૦ માં હિતાચરણ હીરવિજયસૂરિરાજ્યે સં. ૧૬૩૦ માં, શ્રુતાસ્વાદ શિક્ષાદ્વાર (કેશરવિજય ભં. વઢવાણ) અને સં. ૧૬૬૦ માં પ્રતિષ્ઠાકલ્પ રચ્યાં.

૮૫૯ ત૦ મુનિસુંદરરાજ્યમાં થયેલા લક્ષ્મીભદ્રની શાખામાં શુભવિમલ-અમરવિજય-કમલવિજયના શિ. હેમવિજય એક સારા કવિ અને ગ્રંથકાર હતા. તેમણે સં. ૧૬૩૨માં પાર્શ્વનાથ ચરિત્ર, (પ્ર. મોહનલાલજી જૈ. ગ્રંથમાલા નં. ૧), સં. ૧૬૫૬માં ખંભાતમાં ઋષભશતક કે જેને લાભવિજય ગણિએ સંશોધ્યું (કાથ. ૧૮૯૧-૯૫ રીપોર્ટ), અને સં. ૧૬૫૭માં અમદાવાદમાં દશ તરંગમાં ૨૫૦ કથાવાળો કથારત્નાકર (કાં. વડો) રચ્યાં. તેમના બીજા ગ્રંથો:-અન્યોક્તિ મુક્તામહોદધિ, કીર્તિકલ્લોલિની (વિજયસેનસૂરિની પ્રશંસારૂપે), સૂક્તરત્નાવલી, સદ્ભાવશતક, ચતુર્વિંશતિ સ્તુતિ, સ્તુતિ ત્રિદશતરંગિણી,

કસ્તૂરી પ્રકર, વિજયસ્તુતિ, અને સેંકડો સ્તોત્રો છે અને તે ઉપરાંત મહાકાવ્ય તરીકે વિજયપ્રશસ્તિ કાવ્ય રચેલ છે તેમાં ૧૬ સર્ગ કરી પોતે સ્વર્ગસ્થ થતાં તે પછીના પાંચ સર્ગો તેમના ગુરૂભાઈ વિદ્યાવિજયના શિષ્ય ગુણવિજયે સર્વસર્ગ પરની પોતાની ટીકા નામે વિજયદીપિકા સહિત પૂરા કર્યા.[૫૧૨] સં. ૧૬૮૮ માં. આ કાવ્યમાં મુખ્યપણે વિજયસેન સૂરિનું વૃત્તાંત છે છતાં તેમાં હીરવિજયસૂરિ અને વિજયદેવસૂરિનાં વૃત્તાંતો અને ઘણી ઐતિહાસિક હકીકતો મળે છે. (પ્ર૦ ય. ગ્રં. નં. ૨૩) ગુણવિજયે આ ટીકા ઈલાદુર્ગ (ઇડર) માં આરંભી, કેટલીક યોધપુર દુર્ગ (જોધપુર), શ્રીમાલમાં રચી, છેવટે શ્રીરોહિણી (શીરોહી) માં પૂરી કરી અને તે ચારિત્રવિજય વાચકે શોધી. (જુઓ વિજયપ્રશસ્તિની છેવટની પ્રશસ્તિ)

૮૬૦ સં. ૧૬૩૩માં **વીરભદ્રે** કંદર્પચૂડામણિ રચ્યો. તેજ વર્ષમાં ઉપર્યુક્ત ધર્મસાગર ઉપાધ્યાયના (ગુરૂભાઇ વિમલસાગરના) શિ૦ **પદ્મસાગરે** સ્વોપજ્ઞ ટીકા સહિત નયપ્રકાશાષ્ટક (પી. ૪, ૧૦૨ પ્ર૦ હે૦ ગ્રં. પાટણ), સં. ૧૬૩૪માં શીલપ્રકાશ (સ્થૂલિભદ્ર ચરિત્ર), સં. ૧૬૪૫ માં ધર્મ પરીક્ષા[૫૧૩] વેરાવળમાં (પ્ર. દે.

---

૫૧૨ તેમાં પ્રશસ્તિમાં ગુણવિજયે હેમવિજય સંબંધી જણાવ્યું છે કેઃ—

श्रीहेम सुकवे स्तस्य हेमसूरेरिवाऽभवत् ।
वाग्लालित्यं तथा देवे गुरौ भक्तिश्च भूयसी ॥
यदीया कविताकान्ता न केषां कौतुकावहा ? ।
विनापि हि रजो यस्माद् यशःसुतमसूत या ॥

૫૧૩ આ ગ્રંથ દિગંબર અમિતગતિ નામના આચાર્યના સં. ૧૦૭૦ માં રચેલા તેજ નામના-ધર્મપરીક્ષા પરથી પ્રાયઃ નકલ કરીનેજ પદ્મસાગરે રચેલ છે. બંનેનો પ્રતિપાદ્ય વિષય એક છે. બંનેમાં મનોવેગ અને પવનવેગની પ્રધાન કથા અને તેની અંતર્ગત અન્ય અનેક ઉપકથાઓનું સમાન રૂપથી વર્ણન જોવામાં આવે છે. ક્યાંક ક્યાંક શ્વેતાંબર સંપ્રદાયને માન્ય એવો ફેરફાર કરેલ છે, પણ ઘણે સ્થળે મૂળ દિગંબરમાન્ય વસ્તુઓ રહી ગઇ છે. અમિતગતિના ગ્રંથની પદ્ય સંખ્યા ૧૯૪૧ છે તેમાંથી ૧૨૫૦

લા.) અને સં. ૧૬૪૬ માં સૌરાષ્ટ્રરાષ્ટ્રસ્થિત મંગલપુર-માંગરોળમાં રહીને હીરવિજયસૂરિના વૃત્તાંત રૂપે ૨૩૩ શ્લોકમાં જગદ્‌ગુરુ કાવ્ય (પ્ર. ય. ગ્રં. નં. ૧૪), અને સં. ૧૬૫૭માં ઉત્તરાધ્યયનસૂત્રની બૃહદ્ વૃત્તિમાંથી પ્રાકૃત કથાઓને સંસ્કૃતમાં મૂકી પીપાડ ગામમાં ઉત્તરાધ્યયન કથા સંગ્રહ (વે. નં. ૧૭૦૩) ની રચના કરી. તેમના બીજા ગ્રંથો:—યુક્તિપ્રકાશ અને તે પર ટીકા, પ્રમાણપ્રકાશ અને તે પર વૃત્તિ, તિલકમંજરી વૃત્તિ, યશોધરચરિત, આદિ છે.

૮૬૧ સં. ૧૬૩૬ માં ત. હર્ષસાગર-રાજસાગર શિ. રવિસાગરે રૂપસેન ચરિત્ર (કાં. છાણી), સં. ૧૬૪૫ માં માંડલમાં ખેંગાર રાજ્યે ૭૨૦૦ શ્લોક પ્રમાણ પ્રદ્યુમ્નચરિત્ર (કાં. વડો; હાલા. પાટણ પ્ર. હી. હં.) અને તે વર્ષમાં (શર સાગર રસશશિ) ઉન્નત (ઊના) નગરમાં મૌન એકાદશી કથા (બુહ. ૨, નં. ૨૨૬; હાલા. પાટણ) રચ્યાં.

૮૬૨ સં. ૧૬૪૦ માં બૃ. ખ. જિનહંસસૂરિ (આચારાંગ દીપિકાના કર્તા) ના શિષ્ય પુણ્યસાગરે જિનવલ્લભસૂરિ કૃત પ્રશ્નોત્તર કાવ્યની વૃત્તિ અને સં. ૧૬૪૫માં જેસલમેરમાં ભીમ રાઉલ રાજ્યે જંબૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિ પર વૃત્તિ રચી (ગુ. પોથી નં. ૧૨; જેસ. પ્ર. ૧૯) કે જેમાં તેના શિષ્ય પદ્મરાજે સહાય આપી ને જેની પ્રથમાદર્શ પ્રતિ પદ્મરાજશિષ્ય જ્ઞાનતિલકે લખી. આ પદ્મરાજે સં. ૧૬૪૪ (૧૬૭૪?)માં ખ૦ ભુવનહિતાચાર્ય કૃત રૂચિત દંડક જિનસ્તુતિ પર વૃત્તિ રચી (જેસ. પ્ર, ૧૯; વિવેક. ઉદે૦)

૮૬૩ ખરતર ક્ષેમશાખાના ક્ષેમરાજ (-પ્રમોદમાણિક્ય) શિષ્ય જયસોમે સં. ૧૬૪૦ માં ઇરિયાવહિકા ત્રિંશિકા સ્વોપજ્ઞ ટીકા સહિત (કાં. વડો) (કે જેમાં પોતાને જિનચંદ્રસૂરિ શિષ્ય કહે છે),

---

પદ્ય એમને એમ ઉતારી લીધાં છે, ૨૧૪ પદ્ય કંઈક અહીંતહીં ફેરફાર કરી મૂકેલ છે. પદ્મસાગરના ગ્રંથમાં કુલ પદ્ય ૧૪૭૪ છે. જુઓ પં. જુગલકિશોર મુખત્યારનો 'ધર્મ પરીક્ષાકી પરીક્ષા' એ નામનો લેખ-તેમના ગ્રંથ નામે ગ્રંથપરીક્ષા તૃતીય ભાગમાં (પ્ર૦ જૈન ગ્રં. ર. કાર્યાલય. હીરાબાગ. ગિરગામ, મુંબઇ.)

અને સં. ૧૬૪૫માં જિનચંદ્રસૂરિ રાજ્યે પોષધપ્રકરણ સટીક રચ્યાં (કાં. વડો.) તેમાં પોતાને ખ. ક્ષેમરાજ–પ્રમોદમાણિક્યના શિષ્ય જણાવે છે. જયસોમે અકબરશાહની સભામાં જય મેળવ્યો હતો એમ તેમના શિષ્ય ગુણવિનય, પોતાના ખંડપ્રશસ્તિ કાવ્યની પ્રશસ્તિમાં જણાવે છે.

૮૬૪. **સમયસુંદર ગણિ** (જુઓ પારા ૮૪૭)–ખરતરગચ્છના જિનચંદ્રસૂરિના શિષ્ય સકલચંદ્રના શિષ્ય થાય. તેમણે દીર્ઘાયુ ભોગવી અનેક કૃતિઓ ગૂજરાતી અને સંસ્કૃતમાં રચેલ છે. સં. ૧૬૪૧ માં **ભાવશતક** રચ્યું, ૧૬૪૬ લગભગમાં **અષ્ટલક્ષી** રચવી શરૂ કરી, તેમાં राजानो ददते सौख्यं એ વાક્યના આઠ લાખ અર્થો કર્યાં છે. આ કૃતિ તેની **અર્થરત્નાવલી** વૃત્તિ સહિત લાભપુર (લાહોર)માં સં. ૧૬૭૬ માં સંપૂર્ણ થઈ (પી. ૧,૬૮). પણ તેનો કેટલોક ભાગ ૧૬૪૯ માં તૈયાર કર્યો હતો ને તે વર્ષમાં અકબરની રાજસભામાં સંભળાવતાં અકબરે સ્વહસ્તે તે પુસ્તકને લઇ કવિના હાથમાં આપી પ્રમાણભૂત કર્યો હતો. વિશેષમાં સં. ૧૬૬૩ માં **રૂપકમાલા** પર વૃત્તિ કે જે જિનચંદ્રસૂરિના શિષ્ય રત્નનિધાનગણિએ શોધી હતી (ભાં. ૫, નં. ૧૨૧૯), સં. ૧૬૬૫ માં **ચાતુર્માસિક પર્વ** કથા (કાં. વડો); સં. ૧૬૬૬ માં ગદ્યપદ્ય વાર્ત્તા રૂપે **કાલિકાચાર્ય** કથા (વિવેક. ઉદે૦, બાલચંદ્ર યતિ કાશી; સં. કૅા. વૉ. ૧૦ નં. ૫૭), સં. ૧૬૭૨માં મેડતામાં **સામાચારી શતક**, અને [૫૧૪]**વિશેષશતક** (વિવેક. ઉદે.), સં. ૧૬૭૪ માં **વિચાર શતક** (વિવેક. ઉદે.), સં. ૧૬૮૫માં **વિસંવાદ શતક** અને લૂણકર્ણસરમાં **વિશેષસંગ્રહ** (વિવેક. ઉદે.), કલ્પસૂત્ર પર **કલ્પલતા** નામની વૃત્તિ ખ. જિનરાજ સૂરિના રાજ્યમાં અને જિનસાગરસૂરિના યૌવરાજ્યમાં કે જે જિનસાગરે સં. ૧૬૮૬ માં જૂદી શાખા કાઢી તેથી તે પહેલાં (કી. ૨,૩૭૨. વે. નં. ૧૪૪૦–૪૧, ભાં. ૩, પૃ. ૧૩૮, ૪૪૬:) સં. ૧૬૮૬ માં **ગાથાસહસ્ત્રી** (પી ૩,૨૮૮; કાં. વડો.), સં. ૧૬૮૭ માં પાટણમાં જયતિહુયણ સ્તોત્ર પર વૃત્તિ

(વિવેક. ઉદે.), સં. ૧૬૬૧ માં ખંભાતમાં દશવૈકાલિક સૂત્ર પર શબ્દાર્થ વૃત્તિ (પ્ર૦ મોહનલાલજી ગ્રં. સુરત), સં. ૧૬૯૪માં જાલોરમાં વૃત્તરત્નાકર પર વૃત્તિ (ચુનિજી ભં. કાશી), કાલિદાસના રઘુવંશ પર વૃત્તિ, સંવાદસુંદર, અને સં. ૧૬૯૪ (૫) માં કલ્યાણમંદિર સ્તોત્ર પર વૃત્તિ, 'દુરિયરયસમીર' નામના જિનવલ્લભના મહાવીરચૂરિય સ્તોત્ર પર વૃત્તિ (બુહ. ૬ નં. ૬૧૫)ની રચના કરી. (જૈ. પ્ર. પૃ. ૬૦-૬૧) છેવટમાં સં. ૧૬૯૮ માં લગભગ રચેલી ત્રણ ટીકા નામે જીવવિચાર, નવતત્ત્વ અને દંડક પરની અમદાવાદમાં હાજા-પટેલની પોળમાં રહીને રચી હતી. (ભક્તિવિજય ભં. ભાવ૦).

૮૬૫ ખરતર ક્ષેમશાખાના ક્ષેમરાજ-જયસોમના શિષ્ય **ગુણવિનય** ઉપાધ્યાયે સં. ૧૬૪૧ માં હનુમાન કવિકૃત ખંડપ્રશસ્તિ કાવ્ય પર સુબોધિકા નામની વૃત્તિ (વિ. નં. ૧૧૮૨; રીપોર્ટ ૧૮૮૭-૯૧ નં. ૩૮૨), સં. ૧૬૪૬ માં રઘુવંશ પર ટીકા (રી૦ ૧૮૮૭-૯૧ નં. ૪૪૮) અને તેજ વર્ષમાં [૫૧૫]ત્રિવિક્રમ ભટ્ટ કૃત દમયન્તી કથા (નલચમ્પૂ) પર તે પરની [૫૧૬]ચંડપાલે કરેલી વૃત્તિ (ચુનીજી

---

૫૧૪. સમયસુંદરે શિષ્ય મેઘવિજય માટે પોતાના સં. ૧૬૭૨ માં રચેલ વિશેષ શતકની પ્રત સં. ૧૬૮૭ માં સ્વહસ્તે લખી હતી તેમાં તે વર્ષે પડેલા ભયંકર દુષ્કાળનું વર્ણન પોતે આપેલ છે કે:—

मुनि वसुषोडश वर्षे गुर्जरदेशे च महति दुःकाले ।
मृतकैरस्थिग्रामे जाते श्री पत्तने नगरे ॥
भिक्षुभयानककवाटे जटिले व्यवहारिभि र्भृशं बहुभिः।
पुरुषैर्माने मुक्ते सीदति सति साधुवर्गेऽपि ॥
जाते च पंचरजतै र्धान्य मणे सकलवस्तुनि महर्घे ।
परदेशगते लोके मुक्त्वा पितृमातृबन्धुजनान् ॥
हाहाकारे जाते मारिकृतानेकलोकसंहारे ।
केनाप्यदृष्टपूर्वे निशि कोलिकलुंटिते नगरे ॥

૫૧૫ ત્રિવિક્રમ ઈ.સ. ૯૧૫ માં વિદ્યમાન.

૫૧૬ ચંડપાલ તે પોરવાડ વાણિક યશોરાજનો પુત્ર તથા લક્ષ્મિનો શિષ્ય હતો:—

ભં. કાશી) નો આધાર લઈને કરેલી ટીકા (વે. નં. ૧૨૪૮), સં. ૧૬૪૭ માં વૈરાગ્યશતક પર ટીકા (કાં. વડો.), સં. ૧૬૫૧ માં જય-શેખરકૃત સંબોધ સપ્તતિકા પર વૃત્તિ પલ્લિપુરમાં (વે. નં. ૧૬૯૨), સં. ૧૬૫૯ માં લઘુશાંતિ સ્તવ પર ટીકા (કાં. છાણી), સં. ૧૬૬૪ માં ઇંદ્રિય પરાજય શતક પર ટીકા (વિવેક. ઉદે; કાં. વડો૦), સં. ૧૬૬૫ માં ત. ધર્મસાગરના ઉત્સૂત્રખંડનના પ્રત્યુત્તર રૂપે ખ. જિનચંદ્રસૂરિ રાજ્યે જિનસિંહસૂરિના કહેવાથી ઉત્સૂત્રોદ્ઘાટન કુલક નવાનગરમાં (બુહ્. ૪ નં. ૧૩૬; કાં. વડો; જેસ.) ની રચના કરી. તેમના બીજા ગ્રંથોઃ–જિનવલ્લભીય અજિતશાંતિ સ્તોત્ર પર વૃત્તિ, મિતભાષિણી વૃત્તિ, સમ્બન્ધ શબ્દાર્થ સમુચ્ચય વગેરે છે (જેસ. પ્ર.પૃ. ૨૯). તેઓ સં. ૧૬૭૫ ની પ્રતિષ્ઠા વખતે હાજર હતા. (જિ. ૨, નં. ૧૭,૧૯)

૮૬૬ સં. ૧૬૪૫ માં ઉદયસિંહે શ્રાદ્ધપ્રતિક્રમણ વૃત્તિ પર ભાષ્ય રચ્યું. સં. ૧૬૪૬ માં જીરાઉલા ગચ્છના હેમરત્નસૂરિ શિ૦ કલ્યાણ-રત્ને મેવાડના રાણા પ્રતાપસિંહના રાજ્યમાં મેવાડમાં ગોગિનિપુરમાં લખેલી એક પ્રત ઘોઘા ભં. માં છે.

૮૬૭ હીરવિજયસૂરિ રાજ્યે ત૦ સુમતિવિજય શિ૦ ગુણવિજયે મિતભાષિણી (નામની) જાતિવિવૃત્તિ રચી તેમાં કર્ત્તા પોતાના વિદ્યા-ગુરુ તરીકે સૂરચંદ્ર જણાવે છે (વઢવાણ શહેર ભં. રીપોર્ટ ૧૮૯૨–૯૯ નં. ૪૨) તથા હીરવિજયસૂરિના શિષ્ય કીર્ત્તિવિજય ગણિએ તે સૂરિને શિષ્યો તરફથી પૂછાયેલા જૈનશાસ્ત્રો સંબંધી શંકાના પ્રશ્નો અને અપાયેલ ઉત્તરો એકત્રિત કરી પ્રશ્નોત્તર સમુચ્ચય અપરનામ હીરપ્રશ્ન (મુદ્રિત) તથા સં. ૧૬૯૦ માં વિચારરત્નાકર ગ્રંથ સંકલિત કર્યો (પ્ર. હાં. ઉ; દે. લા નં. ૭૩; વે. નં. ૧૬૪૬–૪૭)

૮૬૮ ત. સકલચંદ્ર શિ. શાંતિચંદ્ર ગણિ કે જેના સંબંધમાં અગાઉ પારા ૮૦૭માં કહેવાઈ ગયું છે તેણે કૃપારસકોશ નામનું ૧૨૮ શ્લોકનું કાવ્ય

श्री प्राग्वाट कुलामृताब्धियशशभृत् श्रीमान् यशोराज इ-
त्याचार्योस्य पिता प्रवन्धसुकविः श्री चंडपालाग्रजः ।
श्री सारस्वति सिद्धये गुरुरपि श्री लूणिगः शुद्धधीः
सो कार्षीत् दमयन्त्युदारविवृतिं श्री चण्डपालः सुधीः ॥

રચી તેમાં અકબરબાદશાહના શૌર્ય ઔદાર્ય ચાતુર્ય આદિ ગુણોનું સંક્ષેપમાં પરંતુ માર્મિકતાથી વર્ણન કર્યું છે શ્રી જિનવિજય સંપાદિત મુદ્રિત. તેમણે કવિમદપરિહાર સ્વોપજ્ઞ વૃત્તિ સહિત હીરવિજયસૂરિ રાજ્યે રચ્યો (કાં.વડો.) તેમણે સં. ૧૬૫૦ માં જંબૂદ્વીપ પ્રજ્ઞપ્તિ પર પ્રમેયરત્ન મંજૂષા નામની વૃત્તિ (વેબર નં. ૧૮૪૭) અને સં. ૧૬૫૧ માં અજિતશાંતિનું સ્તવ (પી. ૧,૭૨) રચ્યું. સં ૧૬૫૦ માં ત. વિજયસેનસૂરિ-જીવરાજ-આનંદકુશલ શિ. રાજકુશલે ખીમ યા ખેમરાજ નામના મંત્રી સંબંધી ખીમસૌભાગ્યાભ્યુદય નામનો ઐતિહાસિક ગ્રંથ રચ્યો (વિવેક. ઉદે.). તેજ વર્ષમાં સૂક્તિદ્વાત્રિંશિકા પર વિવરણ જાબાલિપુર (જાલોર) માં 'ગજની પવનાધીશ' ના રાજ્યમાં રચાયું (પી ૫, ૧૬૯) સં. ૧૬૫૧ માં વિજયસેનસૂરિ-ધર્મસિંહ-જયવિમલ શિ. પ્રીતિ- વિમલે ૪૭૯ શ્લોકમાં ચંપકશ્રેષ્ઠી કથા રચી (કાં. છાણી).

૮૬૯ સં. ૧૬૫૨ માં હીરવિજયસૂરિનો ઉનામાં સ્વર્ગવાસ થયો. સં. ૧૬૫૨માં અકબર રાજ્યે ત. વિજયદાનસૂરિ-રાજવિજયસૂરિ શિ. દેવવિજયે મરૂસ્થલિના શ્રીમાલપુર નગરમાં હેમાચાર્યના ત્રિષષ્ઠિશલાકા પુરૂષ ચરિત્રનો આધાર લઈ સં. ગદ્યમાં રામચરિત્ર (પદ્મચરિત્ર) એટલે જૈનરામાયણ રચ્યું કે જે પદ્મસાગરે શોધ્યું (કી. ૩, નં. ૧૬૯, ભાં. ૩,૨૨૯; અને સં. ૧૬૬૦ માં સં. ગદ્યમાંજ પાંડવચરિત્ર રચ્યું. સં. ૧૬૫૨ માં ત. વિજયસેનસૂરિ શિષ્ય વિનયકુશલે મંડલપ્રકરણ સ્વોપજ્ઞ વૃત્તિ સહિત રચ્યું ને તે મુલતાનમાં લાભવિજય ગણિએ શોધ્યું. (આ. ક. પાલીતાણા) અને સં. ૧૬૭૫ માં તે વિનયકુશલે વિજયદેવસૂરિની આજ્ઞાથી વિચારસપ્તતિકા વૃત્તિ રચી (ખેડા ભં.). સં. ૧૬૫૨ માં ખ. જિનચંદ્રસૂરિના ઉપદેશથી અમદાવાદના પ્રાગ્વાટ સંઘપતિ સોમજીએ જ્ઞાનભંડાર માટે સિદ્ધાંતની પ્રત લખાવી તે પૈકી રાજપ્રશ્નીય ટીકાની પ્રત. ગુ. નં. ૧૬૨૭ મળે છે.

૮૭૦ સં. ૧૬૫૨ માં હીરવિજયસૂરિ શિ. વિજયસેનસૂરિ શિ. કનકકુશલે કે જેણે સં. ૧૬૪૧ માં જિનસ્તુતિ રચી હતી તેણે કલ્યાણમંદિર સ્તોત્ર પર ટીકા (વેબર ૨,૯૩૮; વે. નં. ૧૮૦૦) અને સં. ૧૬૫૩ માં સાદડીમાં 'વિશાલલોચન' સ્તોત્ર પર સુત્રવૃત્તિ (સાગર ભં. પાટણ), સં. ૧૬૫૫ માં મેડતામાં સૌભાગ્યપંચમી

કથા (ગુ. નં. ૪૯૩), સાધારણ જિનસ્તવન પર અવચૂરિ (વિવેક ઉદ્દે૦), રત્નાકર પંચવિંશતિકા પર ટીકા (કાં. વડો.), સં. ૧૬૫૬માં સુરપ્રિય મુનિ કથા (મો૦ ભં. સુરત), સં. ૧૬૫૭ માં રૌહિણેય કથાનકની રચના કરી. આ છેલ્લા કથાનકમાં પોતાના વિદ્યાગુરુ તરીકે ઉક્ત શાંતિચંદ્રવાચક જણાવ્યા છે. (પી. ૧,૩૧૯).

૮૭૧ સં. ૧૬૫૪ માં ખ૦ જયસાગર ઉ૦ (પારા ૬૯૫)-રત્નચંદ્ર-ભક્તિલાભ[૫૧૭]-ચારિત્રસાર-ભાનુમેરુ શિ૦ જ્ઞાનવિમલે મહેશ્વરકૃત શબ્દપ્રભેદ નામના વ્યાકરણના ગ્રંથ પર વૃત્તિ વીકાનેરમાં રાજસિંહ રાજ્યે રચી (પી. ૨,૧૨૪) તેમાં પાણિની, કાત્યાયન, કલાપ, ઇંદ્ર, હેમ, બોપદેવ, શાકટાયન આદિ વૈયાકરણોના ઉલ્લેખ છે. આજ વર્ષમાં આ જ્ઞાનવિમલના શિષ્ય વલ્લભ ઉપાધ્યાયે જિનેશ્વરસૂરિ (યા જિનદેવ ?) કૃત શિલોંછ નામકોશ પર ટીકા કરી અને વળી સં. ૧૬૬૧ માં જોધપુરમાં સૂરસિંહના રાજ્યમાં હેમાચાર્યકૃત લિંગાનુશાસનપરની દુર્ગપ્રબોધ નામની વૃત્તિ (કાં. છાણી; વેબર નં. ૧૬૯૨) અને સં. ૧૬૬૭ માં અભિધાનનામમાલા પર સારોદ્ધાર નામની વૃત્તિ રચી. વિશેષ ધ્યાન ખેંચે તેવી વાત એ છે કે પોતે ખરતરગચ્છના હોવા છતાં અને તપાગચ્છ અને તે ગચ્છ વચ્ચેના ઝઘડા ચાલતા હોવા છતાં તપાગચ્છના વિજયદેવસૂરિના ચરિતરૂપે ૧૯ સર્ગમાં સં. ૧૬૯૯ માં પૂરૂં કરેલું વિજયદેવ માહાત્મ્ય ટુંકી ટીકા સહિત રચ્યું. (બુહૂ. ૩ નં. ૧૫૬ પ્ર૦ જૈન સા. સં. સમિતિ). તેમનું ટુંકું કાવ્ય નામે અરનાથ સ્તુતિ સવૃત્તિ ખ૦ જિનમાણિક્યસૂરિ રાજ્યે રચેલી ઉપલબ્ધ છે. (બુહૂ. ૪, નં. ૨૨૬).

---

૫૧૭ પ્રાયઃ આ ભક્તિલાભના શિ૦ ચારૂચંદ્રે ઉત્તમચરિત્રકથા સં. માં રચી (વે. નં. ૧૭૦૨)

પ્રકરણ ૬ ઠું.

સંસ્કૃત-પ્રાકૃત સાહિત્ય. (અનુસંધાન)

प्रीणाति या प्राज्ञदृशश्चकोरी, र्विभावरी वल्लभमंडलीव ।
तमस्तिरस्कारकरीं सुरीं तां, भक्त्यैनते गोचरयामि वाचम् ॥
कवित्वनिष्कं कषितुं कवीनां येषां मनीषा कषपट्टिकेव ।
सन्तः प्रसन्ना मयि सन्तु शुद्धाशयाः प्रवाहा इव जान्हवीयाः ॥

–જેમ રાત્રીના પતિ ચંદ્રની સંપૂર્ણ મંડલી (પૂર્ણબિંબ) તમસ્‌નો વિનાશ કરી પ્રાજ્ઞ એટલે વિદગ્ધ જનોની દૃષ્ટિને આનંદ આપે છે તેમ તમસ્ એટલે અજ્ઞાનનો ક્ષય કરનારી વાગ્દેવી પ્રાજ્ઞ એટલે વિદ્વાનોની દૃષ્ટિને આનંદ આપે છે (એટલે) તે સરસ્વતી દેવીને ભક્તિવશ થઇ હું પ્રણમું છું. જે સંતોની ઈચ્છા સોનાને કસોટીથી કસવામાં આવે તેમ કવિઓના કવિત્વરૂપ (કર્તાઓની કૃતિ રૂપ) સોનાને કસવાની ઇચ્છા હોય તેઓ શુદ્ધ ચિત્તવાળા રહી ગંગાના પ્રવાહની પેઠે મારા પર (સર્વ કવિઓ-ગ્રંથકારો પર) પ્રસન્ન રહો.-હીરસૌભાગ્ય ૧, ૨ અને ૪.

૮૭૨ સં. ૧૬૫૫ માં ઉક્ત ચંદ્રકીર્ત્તિ શિ૰ હર્ષકીર્ત્તિસૂરિએ બૃહચ્છાન્તિ સ્તોત્ર પર ટીકા (મુનીજી ભં. કાશી; કાં વડો.), દેવસુંદર ઉ૦ ના કહેવાથી કલ્યાણમંદિર સ્તોત્ર પર ટીકા (લ. પ્રત સં. ૧૬૩૫ શુદ. ૫, નં. ૪૨; વે નં. ૧૮૦૧, કાથ૦ ૧૮૯૧-૯૫), સિંદૂર પ્રકરણ પર ટીકા (ગુ. નં. ૪૯-૨૩) સારસ્વત દીપિકા (ખેડા ભં.), સેટ્ અનિટ્ કારિકા વિવરણ સં. ૧૬૬૯ માં (રામ ઋતુરસભૂ) (ગુ. નં ૫૯-૬) ધાતુપાઠ તરંગિણી-ધાતુપાઠ વિવરણ, શારદીય નામ માલા, (વેબર નં. ૧૭૦૩) શ્રુતબોધ પર વૃત્તિ, યોગ ચિંતામણિ (વૈદ્યક ગ્રંથ ગુ. નં. ૩૭-૧, ૬૦-૧૧), વૈદ્યકસારોદ્ધાર (વૈદ્યક ગ્રંથ) વગેરેની રચના કરી. સં. ૧૬૫૭માં ત. રાજસાગર શિ૰ રવિસાગરે ઉનામાં મૌન એકાદશી માહાત્મ્ય (ગુ. નં. ૪૮-૨૨) રચ્યું.

૮૭૩. સં. ૧૬૫૭ માં ત. કુશલવર્ધન શિ૦ નગર્ષિ ગણિએ સ્થાનાંગ દીપિકા (ગો૦ ઉદેપુર), તથા પ્રા૦ માં કલ્પાન્તર્વાચ્ય રચ્યું (કર્તાની સ્વહસ્તલિખિત પ્રત સાગર ભં. પાટણમાં છે). સં. ૧૬૫૮ માં ત. કલ્યાણવિજય અને મુનિવિજય શિ. દેવવિજય ગણિએ જિનસહસ્રનામ વિજયાનંદસૂરિના રાજ્યમાં રચ્યું અને તેના પર સુબોધિકા નામની વૃત્તિ સં. ૧૬૯૮ માં પોતે રચી કે જે લાભવિજય ગણિએ શોધી હતી અને પછી કીર્તિવિજય શિ૦ વિનયવિજયે સં. ૧૬૯૯ માં શોધી (કાં. છાણી)

૮૭૪ સં. ૧૬૬૦ માં ઉક્ત પુણ્યસાગરના પદ્મરાજના શિ૦ જ્ઞાનતિલકે દિવાલીને દિને ગૌતમકુલક પર વૃત્તિ (જેસ. પ્ર. ૧૯; ગુ. નં. ૪૮-૩૫) અને ત૦ વિજયદાનસૂરિ-જગન્મલ્લ (જગમાલ) શિ૦ બુદ્ધિવિજયે ચિત્રસેન-પદ્માવતી કથા (વિવેક. ઉદે.) રચી. સં. ૧૬૬૨ માં ખ. જિનકુશલસૂરિની શાખામાં મોદરાજ-ભાવમંદિર-નંદિજય (કે જે ૬૦ વર્ષ જીવ્યા), સાધુવર્ધન-મહિમમેરૂ-તેજઃસાર-હર્ષચંદ્રના શિષ્ય હંસપ્રમોદે સારંગસાર વૃત્તિ [જે. ૫૩], ત૦ આનંદવિમલસૂરિ-વિજયવિમલ ગણિ-શિષ્ય આનંદવિજયે હર્ષકુલે રચેલા ત્રિભંગીસૂત્ર પર ટીકા કરી (નં ૧૧૬૫ સન ૧૮૮૭-૯૧ ભાં. ઇ.) તથા ત૦ આનંદવિજય શિ. મેરૂવિજયે વિજયસેનસૂરિ રાજ્યે વીરજિનસ્તુતિ સ્વોપજ્ઞ અવચૂરિ સહિત (કેશરવિજય ભં. વઢવાણ) રચી.

૮૭૫ સં. ૧૬૬૧ માં. ત. હીરવિજયસૂરિ શિ૦ શુભવિજયે હૈમીનામમાલા બીજક (વિવેક. ઉદે), સં ૧૬૬૩ માં તર્કભાષા વાર્તિક કે જે પદ્મસાગરે શોધ્યું (કાં. વડો.) અને સં ૧૬૬૫ માં રાજનગરમાં વિજયદેવસૂરિની આજ્ઞાથી કાવ્યકલ્પલતાવૃત્તિમકરંદ (જે. ૫૭, પી. ૬,૨૬; ખેડા ભં.) કે જે કલ્યાણવિજય ઉ. શિષ્ય ધર્મવિજયે તથા મેરૂવિજય શિ૦ લાવણ્યવિજયે સંશોધેલ; સં. ૧૬૬૭ માં સ્યાદ્વાદ ભાષા (કાં વડો. પ્ર૦ દે. લા. નં. ૩) અને તે

તે પર વૃત્તિ, અને સં. ૧૬૭૧માં કલ્પસૂત્રપર ટીકા કે જે કીર્તિવિમલે શોધી, આદિ ગ્રંથો રચ્યા. વિશેષમા તેમણે વિજયસેનસૂરિના રાજ્યમાં તે સૂરિને પૂછાયેલા પ્રશ્નોના ઉત્તરોના સંગ્રહ રૂપે ૪ ભાગમાં સેનપ્રશ્ન સંકલિત કરેલ છે તેમાં પોતાના ઉક્ત સર્વ ગ્રંથોનો કલ્પસૂત્ર ટીકા સિવાયનો ઉલ્લેખ કરેલ છે, તેથી તે (સં. ૧૬૫૭ ને ૧૬૭૧ ની વચમાં સંગ્રહિત કર્યો છે) અને પ્રશ્નોત્તર સંગ્રહ (રત્નાકર) રચેલ છે. જેસ. પ્ર. ૬૩.

૮૭૬ સં. ૧૬૬૬માં ઉપર્યુક્ત દેવવિજયે (પારા ૮૬૯) દેવેંદ્રકૃત દાનાદિ ચાર કુલક પર વૃત્તિ નામે ધર્મરત્નમંજૂષા રચી કે જે તેના શિષ્ય જયવિજયે અને કલ્યાણવિજયના શિષ્યો નામે સંઘવિજય અને ધર્મવિજયે સંશોધી (બુહ્ ૩, ૧૦૮, બુહ્. ૪, ૧૫૫). સં. ૧૬૬૮માં ગુણવિજયે નેમિનાથ ચરિત્ર, સં. ૧૬૭૦માં ઉક્ત દેવવિજયે સપ્તતિશતસ્થાનક વૃત્તિ કે જેમાં સ્વશિષ્ય જયવિજયે સહાય કરી અને તે જયવિજયે સં. ૧૬૭૧માં (ઈંદુ રસાશ્વીંદુ) શોભનસ્તુતિ પર વૃત્તિ રચી કે જેમાં જયવિજયે પોતાના વિદ્યાગુરૂ કલ્યાણવિજય અને દેવવિજય ગણાવ્યા છે (ભાં. ૩, નં. ૨૮૪; કાં. છાણી; હા. ભં.; વિ. પ્રશસ્તિ સંગ્રહ; જેસ. પ્ર. ૬૭)

૮૭૭ આ સમયમાં ત. વિજયદાનસૂરિ–સકલચંદ્ર–સૂરચંદ્ર શિષ્ય **ભાનુચંદ્ર** નામના મહાવિદ્વાન્ 'મહોપાધ્યાય' થયા ૫૧૮ (જુઓ પારા

૫૧૮ जाप्रज्ज्योतिरकब्बरक्षितिपतेरभ्यर्णमातस्थिवान्
सिद्धाद्रेः करमोचनादिसुकृतं गोऽकारयत्साहिना ।
जीवानामभयप्रधानमधिकं सर्वत्र देशे स्फुटः
श्रीमद् वाचकपुंगवः स जयताच्छ्री भानुचंद्राभिधः ॥
अस्ति श्रीमदुदारवाचक समालंकारहारोपमः
प्रख्यातो भुवि हेमसूरिसदृशः श्रीभानुचंद्रो गुरुः ।
श्रीशत्रुंजयतीर्थशुल्कनिवह प्रत्याजनोद्यद्यशाः
शाहि श्रीमदकब्बरार्पित महोपाध्याय दृश्यत्पदः ॥
—વસંતરાજ શકુન ટીકા-મંગલાચરણ.

૮૦૮)–તેમણે રત્નપાલકથાનક (લ. સં. ૧૬૬૨ વિવેક. ઉદે,) સં. ૧૬૭૧માં વિવેકવિલાસ પર ટીકા[૫૧૯] વિજયસેનસૂરિરાજ્યે (ભક્તિ વિજય ભં. ભાવ; લ. સં. ૧૬૭૮ કાં. વડો. નં. ૫૫) રચ્યા. તેમના બીજા ગ્રંથો:–બાણકૃત કાદમ્બરી પૂર્વ ભાગ પર પ્રસિદ્ધ ટીકા (મુ.), સારસ્વત વ્યાકરણ વૃત્તિ, શિરોહીમાં અક્ષત (અખયરાજ) રાજ્યે વસંતરાજ શકુન પર ટીકા કે જે તેમના શિ. સિદ્ધિચંદ્રે સંશોધી, (મુ.), સૂર્ય સહસ્રનામ કે જે તેમણે અકબર બાદશાહને શીખવ્યું હતું, આદિ છે.

૮૭૮. ઉક્ત ભાનુચંદ્રના શિષ્ય સિદ્ધિચંદ્ર[૫૨૦] પણ જબરા વિદ્વાન્ હતા. ૧૦૦ થી ૧૦૮ અવધાન કરતા. યાવની (ફારસી) ભાષામાં પણ કુશલ હતા. અકબરે તેમને 'ખુશફહમ' નામનું બિરૂદ આપ્યું હતું. (તે સંબંધમાં જુઓ અગાઉ પારા ૮૦૮) તે બાદશાહને અધ્યયન કરાવતા, ગુરૂના ગ્રંથકાર્યના સંશોધનાદિમાં સહાય આપવા ઉપરાંત કાદંબરીના ઉત્તર ભાગની ટીકા (પ્ર. નિ. સા.; વે.

---

૫૧૯ આ વિવેકવિલાસ ટીકાની ત. કલ્યાણવિજય શિ. લાભવિજયે વિજયપ્રભસૂરિ રાજ્યે સિદ્ધિચંદ્ર વાચકની સંમતિ લઇ સં. ૧૬૭૮માં લખેલી હસ્તપ્રત કાં. વડો. ભંડારમાં છે.

૫૨૦ तच्छिष्यः सुकृतैकभूर्मतिमतामग्रेसरः केसरी
शाहिस्वांत विनोदनैकरसिकः श्री सिद्धिचंद्राभिधः।
पूर्वं श्रीविमलाद्रिचैत्यरचनां दूरीकृतां शाहिना
विज्ञप्यैव मुहुर्मुहुस्तमधिपं योऽकारयत्तां पुनः॥
यावन्या किल भाषया प्रगुणितान् ग्रंथानशेषांश्च तान्
विज्ञाय प्रतिभागुणैस्तमधिकं योऽध्यापयः शाहिराट्।
दृष्ट्वानेक विधानवैभवकलां चेतश्चमत्कारिणीं
चक्रेषु स्फुटमेति सर्वविदितं गोत्रं यदीयं हि सः॥

—વસંતરાજ શકુન ટીકા–મંગલાચરણ.

નં. ૧૨૫૫), ભક્તામરસ્તોત્ર પર વૃત્તિ (પ્ર. બી. મા.), ધાતુમંજરી, વાસવદત્તા પર વૃત્તિ, અનેકાર્થ નામમાલા-સંગ્રહ પર વૃત્તિ (કાં. છાણી), શોભનસ્તુતિ પર ટીકા શ્લો. ૨૨૦૦ (વીરબાઈ પાઠ૦ પાલી.), વૃદ્ધ પ્રસ્તાવોક્તિ રત્નાકર, ભાનુચંદ્ર ચરિત્ર (સ્વગુરૂનું ચરિત્ર-બીકાનેર ભં.) આદિ રચેલ છે.

૮૭૯. ત. વિજયસેનસૂરિ રાજ્યે (સં. ૧૬૫૨-૧૬૭૧) બુદ્ધિસાગર શિ. માનસાગરે શતાર્થી પર વૃત્તિ રચી (કાં૦ વડો.; લીં.) વિજયસેનસૂરિ શિ. નયવિજય ગણિએ પુદ્‌ગલભંગ વિવૃત્તિ પ્રકરણ રચ્યું (બુહ. ૨, નં. ૨૧૫). ઉક્ત ખ. સમયસુંદરના શિષ્ય હર્ષનંદન ગણિએ જેસલમેરમાં ભીમરાઉલ અને કલ્યાણમલ્લના રાજ્યમાં આચારદિનકર પુસ્તક પર સં. ૧૬૬૯ માં પ્રશસ્તિ રચી (વિવેક. ઉદે.) અને સં. ૧૬૭૩માં અણહિલવાડ પાટણમાં મધ્યાન્હ વ્યાખ્યાન રચ્યું (કાં. છાણી.) તેમણે તથા સુમતિકલ્લોલે બંને થઈને અભયદેવસૂરિની સ્થાનાંગસૂત્રની ગાથામય વૃત્તિ પર-સ્થનાંગ વૃત્તિ ગાથા વિવરણ રચ્યું સં. ૧૭૦૫ માં (કાં. છાણી). હર્ષનંદને ગદ્યમાં આદિનાથ વ્યાખ્યાન રચેલું તેની પ્રત સં. ૧૬૮૩ ની ઉપલબ્ધ છે. (ભાં. ૪, નં. ૧૨૬૦) તથા ઋષિમંડલસૂત્ર પર વૃત્તિ રચી હતી. (ભાં. ઈ.)

૮૮૦. પ્રસિદ્ધ શાંતિચંદ્ર (કૃપારસકોશના કર્ત્તા)ના શિષ્ય રત્નચંદ્રે સં. ૧૬૭૧ માં પ્રદ્યુમ્ન ચરિત મહાકાવ્ય રચ્યું (પી. ૫, ૧૬૩) અને સં. ૧૬૭૬ પહેલાં અનેક પર વૃત્તિઓ રચી જેવી કે:— ભક્તામર-કલ્યાણમંદિર-શ્રીમતધર્મસ્તવ-દેવાઃપ્રભોસ્તવ-ઋષભવીરસ્તવ એ સ્તોત્રો પર, તેમજ સ્વગુરૂરચિત કૃપારસકોષ પર, સં. ૧૬૭૪ માં સુરતમાં મુનિસુંદર કૃત અધ્યાત્મકલ્પદ્રુમ પર કલ્પલતા નામની ટીકા (કી. ૨, નં. ૬૬૧ ભાં. ૬ નં. ૧૦૭૩; ડેક્કન૦ વ૮૦; પ્ર૦ મ૦ ભ૦), નૈષધકાવ્ય પર ટીકા અને રઘુવંશ મહાકાવ્ય પર ટીકા (રી. ૧૮૮૭-૯૧ નં. ૪૪) કે જેમાં પોતાની નૈષધકાવ્યટીકાનો

ઉલ્લેખ છે. આ સર્વનો ઉલ્લેખ સમ્યક્ત્વસપ્તતિકા પર પોતે ગૂ૦ બાલાવબોધ સં. ૧૬૭૬ માં રચ્યો તેમાં કરેલ છે, વળી સં. ૧૬૭૯માં ધર્મસાગરના મતના ખંડન રૂપે કુમતાહિવિષ જાંગુલિ નામનો ગ્રંથ રચ્યો.

૮૮૧. સં. ૧૬૭૦ ને ૧૬૭૪ ની વચ્ચે ખ૦ ઉક્ત સાધુકીર્ત્તિ કે જેમણે યવનપતિ અકબરની સભામાં તેની પાસેથી વાદીંદ્રનું બિરૂદ મેળવી ખ્યાતિ પ્રાપ્ત કરી હતી, તેમના દીક્ષિત અને શીક્ષિત શિષ્ય સાધુસુંદરે ખ૦ જિનહંસસૂરિ રાજ્યે કવિઓનાં વચનો રૂપ-પ્રાકૃત શબ્દોના સમસંસ્કૃત શબ્દોના સંગ્રહ રૂપ ઉક્તિરત્નાકર નામનો ગ્રંથ (પી. ૩, નં. ૫૭૮; પી. ૪ પૃ. ૧૪; વે૦ નં. ૧૦૩), અને સં. ૧૬૮૦ માં ધાતુપાઠ પર ધાતુરત્નાકર તે પર સ્વોપજ્ઞ ટીકા નામે ક્રિયાકલ્પલતા સહિતની (પાં. ૫, ૧૫૬-૧૬૦) રચના કરી. (જુઓ મારો ગ્રંથ જૈન ગૂ૦ કવિઓ ભાગ ૧ પૃ. ૨૧૯)

૮૮૨. સં. ૧૬૭૧ માં મુખશોધન (?) ગચ્છના જિનદાસ શિ૦ તેજપાલે દીપાલિકાકલ્પ પર અવચૂરિ લખી (કાં. છાણી). સં. ૧૬૭૪ માં ત. વિજયદેવસૂરિરાજ્યે વિજયસેનસૂરિ શિ૦ સંઘવિજય ગણિએ કલ્પસૂત્ર પર દીપિકા રચી ને તે કલ્યાણવિજયગણિ શિ૦ ધનવિજયગણિએ સં. ૧૬૮૧માં શોધી ને તેનો પ્રથમાદર્શ દેવવિજય-ગણિએ લખ્યો (લીં.). સં. ૧૬૭૫ (બાણાશ્વપડિંદુ)માં ખ૦ મતિ-ભદ્ર શિ૦ ચારિત્રસિંહે જિનમાણિક્યસૂરિરાજ્યે કાતંત્રવિભ્રમ પર અવચૂર્ણિ રચી (બુહ. ૩, નં. ૭૬) અને તે વર્ષમાં (શરર્ષ્યંગનિ શેશવર્ષે) ત. ભાનુચંદ્ર-ઉદયચંદ્ર શિ. રૂપચંદ્રે સ્વબોધ અર્થે ૫૩૬ શ્લોક પ્રમાણ વિચારષટ્ત્રિંશિકા વૃત્તિ એટલે ગજસાર કૃત દંડક પર વૃત્તિ રચી. (કાં વડો.; પ્ર. યશો. પાઠશાળા મહેસાણા) સં. ૧૬૭૨ અને ૧૬૮૫ ની વચમાં વિજયદેવસૂરિના રાજ્યમાં દેવવિમલગણિએ હીરસૌભાગ્ય નામનું મહાકાવ્ય તેની સ્વોપજ્ઞ ટીકા નામે સુખાવબોધાવૃત્તિ સહિત રચીને પૂર્ણ કર્યું (આનો આધાર

લઈ ઋષભદાસ કવિએ ગૂજરાતીમાં સં. ૧૬૮૫ માં હીરવિજયસૂરિ રાસ રચ્યો છે). દેવવિમલે આ રચનાનો આરંભ તો હીરવિજયસૂરિના સમયમાં જ કર્યો હતો (એમ ધર્મસાગર પટ્ટાવલિમાંથી નિર્ણીત થાય છે). આ દેવવિમલગણિ શ્રીપતિ-જગાઋષિ કે જેમણે છ વિકૃતિ (વિગય) નો ત્યાગ કર્યો હતો અને લોંકાગચ્છથી વ્યાપ્ત થયેલ સૌરાષ્ટ્ર દેશને પ્રતિબોધ્યો હતો-તેમના શિષ્ય સીહવિમલ કે જેમણે માંડલિક ચંદ્રભાણુ નામના કાયસ્થને પોતાનો ભક્ત શિષ્ય કર્યો હતો અને અજૈન સ્થાનસિંહને જૈન બનાવ્યો હતો અને જેમણે જિનવૃષભસમવસરણ પ્રકર અને ભવિક પ્રકર રચ્યાં હતાં તેમના શિષ્ય હતા. આ આ આખું કાવ્ય ઉપાધ્યાય કલ્યાણવિજયના શિષ્ય ધનવિજય વાચકે સંશોધ્યું હતું.[૫૨૧]

૮૮૩ આ. ઉદયરાજગણિ શિષ્ય હર્ષરત્નના શિ૰ સુમતિહર્ષ ગણિએ સં. ૧૬૭૩ માં શ્રીપતિકૃત જાતકકર્મપદ્ધતિ નામના જ્યોતિષ ગ્રંથ પર ટીકા, તે લગભગ બૃહત્ પર્વમાલા, સં. ૧૬૭૭ માં દક્ષિણમાં વિષ્ણુદાસના રાજ્યમાં હરિભટ્ટ (ક્વચિત હરિભદ્ર) કૃત તાજિકસાર પર ટીકા (વે. નં. ૩૦૭; ઈં ઑ. નં. ૩૦૫૮-૫૯), અને ચૌલુક્યવંશના હેમાદ્રિના રાજ્યમાં સં. ૧૬૭૮ માં ભાસ્કર કૃત કર્ણકુતુહલ નામના જ્યોતિષ ગ્રંથ પર ગણકકુમુદકૌમુદી નામની ટીકા રચી. સં. ૧૬૭૭ માં ત. વિજયદાનસૂરિ-વિમલહર્ષ શિ૰ જયવિજયે સ્વશિષ્ય વૃદ્ધિવિજયની પ્રાર્થનાથી વિજયાણંદસૂરિ રાજ્યે કલ્પસૂત્ર પર કલ્પદીપિકા નામની ટીકા રચી કે જે ભાવવિજયગણિએ શોધી (વે. નં. ૧૪૪૨; કાં. વડો. બુક ૧.) સં. ૧૬૭૮ માં પાર્શ્વચંદ્ર-સમરચંદ્ર-રાજચંદ્રસૂરિએ દશવૈકાલિકસૂત્ર પર વાર્તિક રચ્યું (મુનિ જશવિજય સંગ્રહ)

---

૫૨૧ આ કાવ્યનો ઉલ્લેખ આચાર્યશ્રી આનંદશંકરે પોતાના લેખ નામે 'ગુજરાતનું સંસ્કૃત સાહિત્ય' માં કર્યો છે. જુઓ રાજકોટની ત્રીજી ગૂજરાતી સાહિત્ય પરિષદ્નો અહેવાલ.

૮૮૪. સં. ૧૬૮૧માં ખ૦ રત્નસાર-હેમનંદન અને રત્નહર્ષ શિ૦ સહજકીર્ત્તિ ગણિએ સારસ્વત વ્યાકરણ પર ટીકા રચી અને તેમાં ખ. લક્ષ્મીકીર્ત્તિ ગણિએ સહાય આપી (પી ૧, નં. ૩૫૪; ગુ.; રી.૧૮૮૭-૯૧ નં. ૫૫૬), તથા ઉક્ત સાધુકીર્ત્તિના શિ. સાધુસુંદરે સં. ૧૬૮૩ માં જેસલમેર દુર્ગસ્થ પાર્શ્વનાથની સ્તુતિ (વિવેક. ઉદે.,) રચી. વળી સહજકીર્ત્તિએ સપ્તદ્વીપિ-શબ્દાર્ણવ વ્યાકરણ-ઋજુપ્રાજ્ઞ વ્યાકરણ પ્રક્રિયા રચેલ છે (વિવેક. ઉદે; કાં. વડો), વળી ખ૦ જિનરાજસૂરિ રાજ્યે ને જિનસાગર સૂરિના યૌવરાજ્યે સં. ૧૬૮૫માં કલ્પમંજરી રચી તેમાં ખ. કનકતિલક-લક્ષ્મીવિનય શિ. રત્નસારગણિએ ઘણી સહાય આપી. આ સહજકીર્ત્તિના ગુરૂભાઇ શ્રીસાર આમાં સહકર્ત્તા હતા, કે જેમણે ગૂજરાતીમાં કૃતિઓ કરી છે (ભાં. ૨, નં. ૪૨૧; પી. ૨, નં. ૨૮૮), સં. ૧૬૮૬માં મહાવીરસ્તુતિ વૃત્તિ, તથા બીજી કૃતિઓઃ-અનેકશાસ્ત્રસારસમુચ્ચય, એકાદિશતપર્યંત શબ્દસાધનિકા, ૭ કાંડમાં નામકોશ (જે. ૬૮) ઇત્યાદિ છે. (જેસ. પ્ર. ૬૪)

૮૮૫ સં. ૧૬૮૧માં ઉક્ત સાધુસુંદર શિ. ઉદયકીર્ત્તિએ વિમલકીર્ત્તિકૃત પદવ્યવસ્થા પર ટીકા રચી (પી. ૫, નં. ૧૨૨). સં. ૧૬૮૪ ત. ધર્મસાગર શિ. શ્રુતસાગરે ચતુર્દશી પાક્ષિક વિચાર રચ્યો (કાં. વડો.) પદ્મસાગર શિ૦ રાજસુંદરે વટપદ્ર (વડોદરા)ના દાદા પાર્શ્વપર ૪૫ શ્લોકમાં એવા સ્તવનની રચના કરી કે જેના દરેક શ્લોકનું ચોથું ચરણ ભક્તામરસ્તોત્રના દરેક શ્લોકનું પ્રથમચરણ તરીકે આવે (વે. નં. ૧૮૦૯)

૮૮૬ સં. ૧૬૮૬માં આં. મણિક્યચંદ્ર-વિનયચંદ્ર-રવિચંદ્ર શિ. દેવસાગર ગણિએ કલ્યાણસાગરસૂરિ રાજ્યે હૈમીનામમાલા-અભિધાન ચિંતામણીની વ્યાખ્યારૂપે હાલ્લાર દેશમાં નવાનગરમાં લાખાના રાજ્યે વ્યુત્પત્તિરત્નાકર નામની કૃતિ રચી (પી. ૧, ૧૩૦; વેબર નં. ૧૭૦૦; જે. ૬૧; કા. વડો.) સં. ૧૬૮૮માં ગુણવિજયે હેમવિજયકૃત વિજયપ્રશસ્તિનો અપૂર્ણ ભાગ પૂરો કર્યો અને તે સર્વપર પોતાની વૃત્તિ

નામે વિજયદીપિકા રચી એ અગાઉ પારા ૮૫૯ માં કહેવાઇ ગયું છે, તે વૃત્તિ ચારિત્ર-વિજયગણિએ શોધી વળી તેમણે કલ્પકલ્પલતા ટીકા રચી (ભક્તિવિજય ભં. ભાવ.)

૮૮૭ ત. વિજયદાનસૂરિ-વિમલહર્ષ ઉ૦-મુનિવિમલના શિ૦ ભાવવિજયે સં. ૧૬૮૯ (નિધિવસુરસવસુધા)માં રોહિણીપુરમાં ઉત્તરાધ્યયનસૂત્ર પર વૃત્તિ રચી કે જેમાં તેમના ગુરૂભાઇ વિજયહર્ષગણિએ સહાય આપી છે (વે. નં. ૧૪૧૪-૧૫ પ્ર. જૈન આ. સભા). તેમાં કથાઓ પદ્યબદ્ધ કરી પોતે મૂકી છે. તેમણે સં. ૧૬૭૯માં પટત્રિંશજ્જલ્પ વિચાર તે સમયની સ્થિતિ દાખવતો રચ્યો હતો: (વિવેક. ઉદે; કાં. વડો.). તેઓ વિદ્વાન્ સંશોધક હતા અને તે તરીકે સં. ૧૬૭૭ની જયવિજયકૃત કલ્પસૂત્રદીપિકા અને વિનયવિજયકૃત સં. ૧૬૯૬ની કલ્પસૂત્ર સુબોધિકા અને સં. ૧૭૦૮નો લોકપ્રકાશ સંશોધ્યાં હતાં. તેમણે સં. ૧૭૦૮માં વિદ્યાપુર-વીજાપુરમાં ચંપકમાલા કથા રચી (પ્ર. આ. સભા; ભાં. ૬, નં. ૧૩૦૪)

૮૮૮ સં. ૧૬૯૨માં (મારવાડના) પદ્માવતીપત્તનમાં રાઠોડ ગજસિંહ રાજ્યે આં. કલ્યાણસાગરસૂરિ-ભોજદેવ શિ. પં. ધનરાજે મહાદેવે શક ૧૨૩૮માં રચેલી મહાદેવી-સારણી નામની જ્યોતિષની કૃતિ પર મહાદેવી દીપિકા નામની ટીકા રચી.

૮૮૯ સં. ૧૬૯૩માં ખ. શિવનિધાન ગણિ શિ. મહિમસિંહ ગણિએ સ્વશિષ્ય હર્ષવિજયાદિ માટે મેઘદૂત પર ટીકા રચી (ભાં. ૪ નં. ૨૮૦; પ્રત ભાં. ઈ. નં. ૨૮૦). ત. રામવિજય ગણિ શિ. શ્રીવિજય[૫૨૨] ગણિએ રઘુવંશ પર ટીકા (ગુ. નં. ૧૫-૩), કુમારસંભવપર ટીકા (પ્રાયઃ આ સમયમાં) રચી. (પ્રત સં. ૧૭૧૩ રી.

૫૨૨ શ્રીવિજયગણિ માટે સં. ૧૬૭૨માં દેવવિજય શિ. જયવિજયે ઋષિમંડલ સૂત્રની પ્રત લખી હતી, અને તેણે વિનયવિજયને સં. ૧૬૯૬માં કલ્પ સુબોધિકા રચવા અભ્યર્થના કરી હતી તે શ્રીવિજયનો સમય તે બંને વર્ષની વચમાં અચૂક સમજવાનો છે.

૧૮૮૪-૮૭ નં. ૩૩૫). સં. ૧૬૯૪માં ત. કીર્ત્તિવિજયવાચક શિ. જિનવિજયે વાક્યપ્રકાશ સાવચૂરિ વાર્ત્તામાં રચી (બુહ. ૪, નં. ૨૮૦) સં. ૧૬૯૬માં ત. હીરવિજયસૂરિ-કીર્ત્તિવિજય શિ. વિનયવિજયે ઉપર્યુક્ત શ્રીવિજયની અભ્યર્થનાથી કલ્પસૂત્ર પર સુબોધિકા નામની ટીકા રચી કે જે ઉક્ત ભાવવિજયે શોધી. (વે. નં. ૧૪૪૩-૪૪ પ્ર. જૈન આ. સભા અને આ૦ સમિતિ)

૮૯૦ સં. ૧૬૯૭માં ત. વિજયસિંહસૂરિ-ઉદયરુચિ શિ. હિતરુચિએ ષડાવશ્યક સૂત્ર પર વ્યાખ્યા (વિવેક. ઉદે.), આ સમય લગભગ ઉક્ત રત્નચંદ્રના શિષ્ય મણિક્યચંદ્રે કલ્યાણમંદિર સ્તોત્ર પર દીપિકા (કાં.વડો), અને તેના શિષ્ય દાનચંદ્રે ત. વિજયસિંહસુરિ રાજ્યે સં.૧૭૦૦ માં જ્ઞાનપંચમી કથા (વરદત્ત ગુણમંજરી કથા) રચી. સં. ૧૬૯૯માં કલ્યાણવિજય ઉપાધ્યાયના શિષ્ય ધનવિજયે રાજનગરના ઉષ્મા (ઉસમા) પુરમાં ધર્મોપદેશ લેશ નામનું આભાણશતક ૧૦૮ શ્લોકમાં રચ્યું. (પ્ર૦ આ૦ સમિતિ નં. ૪૯) ૧૭૦૦ના વર્ષમાં આં. ઉદયસાગર શિ. પદ્મસાગરે જીવાભિગમ સૂત્ર પર ટીકા રચી (મુનિ કર્પૂરવિજય ભં. પાલીતાણા.) આ શતકના અંતમાં ખ૦ જિનરાજસૂરિના શિષ્ય નયકુંજર ઉપાધ્યાયે જાવડ અને તેના પુત્ર હીરના કહેવાથી પ્રવચનસાર રચ્યો. (કાં. છાણી)

પ્રકરણ ૭ મું.

મધ્યકાલીન (૧૭મા શતક)નું ગૂર્જર સાહિત્ય.

વસ્તુ છંદ ગોડી રાગ—અકરતાલેન ગીયતે.
દેવ નિર્મિત દેવ નિર્મિત, ગગને અતિ ઉત્તુંગ,
ધર્મધ્વજ જન મનહરણ, કનકદંડજુત સહસ્સ લોયણ,
રણઝણંત કિંકિણીનિકર, લઘુપતાકયુત નયનભૂષણ,
જિમ જિન આગલ સુર વહે, તિમ નિજ ધન અનુસાર
નવમી પૂજા ધ્વજતણી, કહે પ્રભુ ! તું અમ્હ તાર.

—સકલચંદકૃત સત્તરભેદી પૂજા.

તું જિનવદનકમલિની દેવી, તું સરસતિ સુરનરપતિ સેવી,
તું કવિજનમાતા સુખદેવી, દિઈ મુઝ નિર્મલ પ્રતિભા દેવી.

વસ્તુ —સકલચંદ્રકૃત સાધુવંદના.

દેવિ સરસતિ દેવિ સરસતિ સુમતિદાતાર,
કાસમીર મુખમંડણી બ્રહ્મપુત્રિ કરિ વીણ સોહઇ,
મોહન તરવર મંજરી મુખ મયંક ત્રિભોવન મોહઇ,
પયપંકજ પ્રણમી કરી આણી મન આણંદ
સરસ ચરિત્ર શૃંગાર રસ પભણિસુ પરમાણંદ.

—કુશલલાભકૃત માધવાનલ કથા.

નિર્મલ જલ ગંગાતણુઉ, રાજહંસિ જિણિ પિદ્ધ રે
તે ઉછઇ જલિ કિમ પીયઈ, મલ સેવાલ અશુદ્ધ રે
ધર્મપ્રસાદઈ દિનિ દિનઈ.

—ગુણવિનયકૃત કર્મચંદ્રપ્રબંધ

૮૯૧ ગુજરાતી ગદ્યસાહિત્ય—આ સત્તરમા શતકમાં સંસ્કૃત પ્રાકૃત ગ્રંથોના અનુવાદ એટલે બાળાવબોધ-ટબા થયા છે જેમકેઃ—ત૦ કુશલભુવન ગણિએ સપ્તતિકા નામના કર્મગ્રંથ પર સં. ૧૬૦૧ માં (તેજ વર્ષમાં લખેલી પ્રત વે. નં. ૧૫૮૫),

સોમવિમલસૂરિએ સં. ૧૬૨૫માં કલ્પસૂત્ર પર અને તે ઉપરાંત દશવૈકાલિકસૂત્ર પર, પાર્શ્વચંદ્ર શિષ્ય સમરચંદ્રે સંસ્તાર પ્રકીર્ણક-પયન્ના પર (પ્રત લ૦ સં. ૧૬૪૯ નં. ૮૮૪ સન ૧૮૯૨-૯૫ ભાં. ઈ.), પં. કુશલવર્દ્ધન શિ૦ નગર્ષિ ગણિએ સં. ૧૬૫૩માં સંગ્રહિણી પર, ત. કનકકુશલે સં. ૧૬૫૫ માં વરદત્તગુણ મંજરી કથા, સૌભાગ્યપંચમી કથા અને જ્ઞાનપંચમી કથા પર (લીં. પાટણ); પાર્શ્વચંદ્રની પરંપરામાં શ્રવણ શિ૦ મેઘરાજે સં. ૧૬૫૯ આસપાસ સમવાયાંગ, રાયપસેણી, ઔપપાતિક, ઉત્તરાધ્યયન એ સૂત્રો પર અને ૧૬૬૧ માં નવતત્ત્વ પ્રકરણ પર (વીરમગામ લાયબ્રેરી) અને ૧૬૭૦ આસપાસ ક્ષેત્રસમાસપર, ઢું૦ શ્રીપાળઋષિએ સં. ૧૬૬૪ માં કરેલા દશવૈકાલિક સૂત્ર પર (લીં.), વૃ૦ ત૦ વિદ્યારત્નગણિ શિ૦ કનકસુંદરગણિએ પણ સં. ૧૬૬૬માં તેજ સૂત્ર નામે દશવૈકાલિક પર, ધર્મસાગર ઉપાધ્યાય શિષ્ય શ્રુતસાગરે ૧૬૭૦ માં ઋષિમંડલ પર, પ્રસિદ્ધ શાંતિચંદ્ર ગણિના શિષ્ય રત્નચંદ્રગણિએ સં. ૧૬૭૬ ના પોશ શુદ ૧૩ ને દિને સુરતમાં રચેલો સમ્યકત્વ રત્નપ્રકાશ નામનો સમ્યકત્વ સપ્તતિ પર (કાં. વડો.), ખ૦ હર્ષતિલક ગણિશિષ્ય રાજહંસોપાધ્યાયે ખ૦ જિનરાજસૂરિ રાજ્યે (સં. ૧૬૭૪ ને ૧૬૯૯ વચ્ચે) દશવૈકાલિક સૂત્ર પર (હા. ભ.), સં. ૧૬૭૮માં શ્રીસારે ગુણસ્થાન ક્રમારોહ પર (પાટણ ભં.), ખ૦ હર્ષવલ્લભ વાચકે રાજનગરમાં સં. ૧૬૯૨ માં ઉપાસકદશા સૂત્ર પર (હા. ભં.), કલ્યાણવિજય ઉપાધ્યાય શિષ્ય ધનવિજયે સં. ૧૭૦૦ માં સપ્તતિકા નામના કર્મગ્રંથ પર એમ બાલાવબોધો રચ્યા છે.

૮૯૨ સં. ૧૬૯૫ માં લોંકાશાહના પક્ષમાં શિવજી ઋષિને અમદાવાદમાં તેના ગચ્છનાયકનું પદ અપાયું અને ધર્મસિંહે જૂદી શાખા કાઢી કે જે શાખા 'દરિયાપરી સમુદાય-સંઘાડો' એ નામથી ઓળખાઈ. તે ધર્મસિંહ મુનિએ ૨૭ સૂત્રના ગૂજરાતી ગદ્યમાં ટબા-બાલાવબોધ રચ્યા અને ગૂજરાતી ગદ્યમાં બીજા ગ્રંથો નામે સમ-

વાયાંગ સૂત્ર-વ્યવહાર સૂત્ર તથા સૂત્રસમાધિની હુંડીઓ, ભગવતી-પન્નવણા-ઠાણાંગ-રાયપસેણી-જીવાભિગમ-જંબૂદ્વીપ પન્નતિચંદપન્નતિ-અને સૂર્યપન્નતિના યંત્રો, દ્રૌપદી તથા સામાયિકની ચર્ચા, સાધુસમાચારી, ચંદનપન્નતિની ટીપ લખ્યા. (જુઓ રા. વાડીલાલની એ નોંધ.)

૮૯૩ ઉપરના સિવાય કર્તાના નામ વગરના જુદા જુદા વર્ષમાં લખાયેલા અનેક બાળાવબોધો ઉપલબ્ધ થાય છે.

૮૯૪ સ્વતંત્ર ગદ્ય વિવરણ કે અખંડ ચર્ચારૂપે પણ રચાયેલી કૃતિઓ જોવામાં આવે છેઃ મતિસાગરે લઘુજાતક નામના જ્યોતિષ-ગ્રંથનું વિવરણ ગૂજરાતી ગદ્યમાં વચનિકા રૂપે સં. ૧૬૦૫ આસ-પાસ કરેલું છે (મુનિ જશવિજય સંગ્રહ). કુશલમાણિક્યના શિષ્ય સહજકુશલે સિદ્ધાંત શ્રુત હુંડિકા નામનો ગ્રંથ ગદ્યમાં કરેલો છે તેમાં ઢુંઢક મતનું ખંડન પ્રમાણો આપી કરેલું છે (ખેડા અને લીં. ભંડાર જશ. સંગ્રહ). ધર્મસાગર ઉ૦ ના શિષ્ય લબ્ધિસાગરે ખરતરગચ્છ વાળા સાથે ચર્ચા કરવા માટેના પ્રશ્નોનો નિબંધ લખ્યો છે (પુરાતત્ત્વ પુ. ૩ અંક ૪ લેખ નામે 'જૂની ગૂજરાતીમાં એક ઐતિહાસિક ચર્ચા' પ્રસિદ્ધ ભાનુચંદ્ર ઉપાધ્યાયના શિષ્ય સિદ્ધિચંદ્રે ગૂજરાતી ગદ્યમાં સંક્ષિપ્ત કાદંબરી કથાનક રચ્યું છે-'નવનવ રસ સંયુક્ત કાદંબરીની કથા ઘણી કઠણ હોઈ તે માટે મંદબુદ્ધિને પ્રીછવાને અર્થે સંક્ષેપે લોકભાષામાં આ પ્રબંધ કર્યો છે'. (લ. સં. ૧૭૪૭ ની પ્રત પરથી પ્રકાશિત પુરાતત્ત્વ પુ૦ ૫ અંક ૪). આ પ્રબંધની 'ભાષા સરલ અને શુદ્ધ છે. વાકયરચના વ્યવસ્થિત અને પ્રવાહબદ્ધ છે તેથી આને અકબરના સમયની ગૂજરાતી ભાષાના એક સુંદર નમુના તરીકે ગણી શકાય.' (શ્રી જિનવિજય)

૧૯૮. ગૂજરાતી કાવ્યસાહિત્ય—આ શતકમાં જૈનોના હાથથી રચાયેલાં ગૂજરાતી કાવ્યો એટલાં પુષ્કળ છે કે તે સર્વનો નામનિર્દેશ પણ સ્થલસંકોચને લીધે અત્રે કરી શકાય તેમ નથી; તે માટે મારો 'જૈન ગૂર્જર કવિઓ-પ્રથમ ભાગ' પૃ. ૧૮૧ થી

ભાવવિજય ૧૬૯૬-૧૭૩૫, વિવેકચંદ્ર, મતિકીર્ત્તિ, કનકસુંદર, કેશવ ૧૬૯૭, દેવરત્ન ૧૬૯૮, ત્રિકમ ૧૬૯૮-૧૭૦૬, અને તેજચંદ ૧૭૦૦. આ પૈકી નયસુંદર માટે, કુશલલાભ, જયવિજય અને સમયસુંદર માટે, તથા ઋષભદાસ માટે વિસ્તારથી લખેલા મારા નિબંધો આનંદકાવ્યમહોદધિ મૌક્તિક ૬, ૭ અને ૮ માં અનુક્રમે જુઓ.

૮૯૭ ભક્તિમાર્ગનો ઉદય આ શતકમાં વિશેષ થયો. વલ્લભી સંપ્રદાયનો પ્રવેશ ગૂજરાતમાં થઇ ચૂક્યો હતો. ભક્તિની અસરથી એક વિશિષ્ટ સાહિત્ય આ શતકમાં જૈનોમાં ઉદ્દભવ્યું તે 'પૂજા'-સાહિત્ય છે. ખ૦ સાધુકીર્ત્તિએ સં. ૧૬૧૮ માં અને તે અરસામાં ત. સકલચંદ્રે સત્તરભેદી પૂજા રચી. મંદિરમાં પ્રભુની પૂજા કરવાના ૧૭ પ્રકાર--ન્હવણ, ચંદનવિલેપન, ચક્ષુયુગલ, ગંધ-વાસ (સુવાસ), પુષ્પ, પુષ્પમાલ, કુસુમ અંગરચના (કુસુમઅંગી), ચૂર્ણ, ધ્વજ, આભૂષણ, કુસુમગૃહ, કુસુમમેઘ, અષ્ટમંગલિક, ધૂપદીપક, ગીત, નૃત્ય, અને વાદ્ય-એમ દરેકથી પૂજા કરવાનાં સ્તુતિ-ગીતો, ભક્તિપ્રેરક ઉર્મિગીતો રચાયાં. આની પહેલાં પંદરમા શતકમાં પ્રતિમાને સ્નાન કરાવી થતી પૂજા-સ્નાત્રપૂજા શ્રાવકકવિ દેપાલે રચી છે કે જેમાં વચ્છભંડારી કૃત પાર્શ્વનાથ કળશ અને રત્નાકર સૂરિકૃત આદિનાથ જન્માભિષેક કળશ નામની કૃતિઓ મિશ્રિત થઇ છે; અને ૧૩ મા શતકમાં જૂની-અપભ્રંશ ભાષામાં જયમંગલસૂરિકૃત મહાવીર જન્માભિષેક થયો છે. આમ જન્માભિષેક, સ્નાત્રપૂજા, અને પછી સત્તરભેદી પૂજા ઉત્તરોત્તર ભાષાસાહિત્યમાં આવ્યા પછી ૧૮ મા શતકમાં યશોવિજયકૃત નવપદપૂજા ને દેવચંદ્રકૃત સ્નાત્રપૂજા અને ૧૯ મા શતકમાં વીરવિજયે ૬૪ પ્રકારી, ૯૯ પ્રકારી વગેરે જાતજાતની પૂજાઓ રચી છે કે જે સંબંધમાં હવે પછી તે તે શતકમાં કહેવામાં આવશે.

૮૯૮ **લોકકથા સાહિત્ય**-આ શતકમાં પૂર્વના શતકો કરતાં વિશેષ થયું છે. મતિસારે સિદ્ધરાજના રૂદ્રમાલની પુતલી કર્પૂરમંજરીનો રાસ સં. ૧૬૦૫ માં, અને તેના કરતાં વિશેષ વિસ્તારથી સિદ્ધરાજ,

જિનહર્ષના હસ્તાક્ષરમાં સ્વકૃત શત્રુંજય મહાત્મ્ય રાસ સં. ૧૭૫૫ પારા ૯૭૬

[શેઠ દેવચંદ લા. જૈન પુ. ફંડના સૌજન્યથી]

હેમચંદ્ર આદિની કથાથી અંતર્ગત એવા કર્પૂરમંજરીનો રાસ કનકસુંદરે સં. ૧૬૬૨ માં રચ્યો. સં. ૧૬૧૬ માં સિદ્ધિસૂરિએ સંસ્કૃતપરથી સિંહાસનબત્રીશી રચી જ્યારે હીરકલશે સં. ૧૬૩૬ માં અને સંઘ (સિંહ) વિજ્યે પણ સં. ૧૬૭૮ માં સિંહાસનબત્રીશી વિસ્તારથી બનાવી, કુશલલાભે સં. ૧૬૧૬માં માધવાનલ કથા અને ૧૬૧૭ માં મારૂઢોલાની ચોપાઈ, સં. ૧૬૧૯ માં દેવશીલની-સં. ૧૬૪૬માં હેમાણુંદની, અને સં. ૧૬૭૨ સિંહપ્રમોદની વેતાલપંચવીસી, સં. સં. ૧૬૨૨ માં રત્નસુંદર કૃત અને સં. ૧૬૪૯ માં વચ્છરાજે રચેલી પંચોપાખ્યાન (પંચતંત્ર) ચોપઇ અને સં. ૧૬૨૩ આસપાસ જ્ઞાનદાસનો સ્ત્રીચરિત્રરાસ, સં. ૧૬૩૮ માં ઉક્ત રત્નસુંદરની શુકબહોતરી (જુઓ મારો લેખ નામે 'શુકસપ્તતિ અને શુકબહોતરી' જૈનયુગ પુ. ૩ પૃ. ૧૫૧) અને મંગલમાણિક્યનો વિક્રમરાજા અને ખાપરાચોરનો રાસ, માલદેવકૃત વિક્રમચરિત્ર પંચદંડકથા, સં. ૧૬૪૧ માં હરજીની વિનોદચોત્રીશી કથા (૩૪ કથા) કે જે માટે કવિ કહે છે કે 'તે શુકબહોતરી, નીતિશાસ્ત્ર (પંચતંત્ર), વેનાલકથાદિ કરતાં જુદી ભાતવાળી અપૂર્વ સુખતર કથા છે', સં. ૧૬૪૭ માં હેમરત્નની ચારણી ઇતિહાસ-કથા જેવી ગોરાબાદલ કથા (પદમણી ચો.), સં. ૧૬૫૧ માં ઉક્ત સારંગની ભોજપ્રબંધ ચો. અને ૧૬૫૪ માં ઉક્ત હેમાણંદકૃત ભોજચરિત્રરાસ (ભોજપ્રબંધ પરથી). સં. ૧૬૬૭ માં કનકસુંદરનો સગાલશાહરાસ, સં. ૧૬૭૫ આસપાસ ભદ્રસેનકૃત ચંદનમલયાગિરિનો રાસ, સં. ૧૬૭૯ માં રાજસિંહે કરેલો વિદ્યાવિલાસ રાસ, સં. ૧૬૮૩માં ગુણવિજયકૃત જયચંદરાસ, સં. ૧૬૮૮(?) માં ઉક્ત સંઘવિજયે રચેલ વિક્રમસેન-શનિશ્ચરરાસ, સં. ૧૬૯૭માં કેશવમુનિકૃત સદેવંત સાવલિંગારાસ આદિ છે. આ સર્વ કવિઓ, ૧૮ મા શતકમાં થયેલા સુડાબહોતરી, સિંહાસનબત્રીશી એટલે બત્રીશ પુતળીની વાર્તા, મડાપચીશી આદિ અનેક વાર્તાના રચનાર શામળભટના પુરોગામી છે.

૮૭૯. પારા ૭૮૧ માં અને ઉપરના પારામાં અનુક્રમે સોળમા શતકના લોક-સાહિત્યની કૃતિઓ જોઇ. અઢારમા સૈકાની તે કરતાં વધુ સંખ્યામાં છે તે હવે પછી જોઇશું. લોક-સાહિત્ય એ લોક-શિક્ષણનું સરલ છતાં સચોટ અંગ છે. તે દ્વારા ધર્મ અને નીતિનું જ્ઞાન વાર્ત્તાના રસ સાથે આપી શકાય છે તેથી સામાન્ય રીતે તેની અસર શિષ્ટ ગંભીર સાહિત્યથી અનભિજ્ઞ એવી જનતાના હૃદય પર ન ભુંસાય તેવી થાય છે. આ હેતુએ પ્રાકૃત અને સંસ્કૃતમાં જૈન વિદ્વાનો—સંસારીથી અસંગ જીવન ગાળનાર છતાં સંસારીને ધર્મનીતિ પ્રત્યે વાળવા તેઓપર સતત વ્યાખ્યાન પ્રવાહ ચલાવ્યે જનાર સાધુઓએ અનેક કથા-ગ્રંથોની રચના કરી. જૈનોના ૬૩ શલાકા પુરુષ (આંગળીચીંધ નાગી મહાજનો) ચરિત કે જેમાં રામચરિત્ર (પદ્મચરિત) અને પાંડવ ચરિત્ર અંતર્ગત થાય છે તેમનાં કથાનકોથી[૫૨૩] વાર્ત્તાપ્રેમ તેમણે પોષ્યો છે એટલુંજ નહિ, પરંતુ તે પુરાણ જનોની—લોકોત્તરોની કથા સિવાયની સ્વતંત્ર યા ઇતિહાસમિશ્રિત લોકકથાઓ[૫૨૪]—પ્રેમ કથાનકો, વીર વાર્ત્તાઓ, લોકકથાના નાયક—વત્સરાજ, ઉદયન અને પછી પરાક્રમી વિક્રમો-પરદુઃખભંજન વિક્રમાદિત્યના ચરિત્ર સાથે ગુંથીને-સ્વતંત્ર ઘડી કાઢીને અનેક પૂરી પાડી છે.

---

૫૨૩ ઉ. ત. વિ. સં. ૬૦ માં વિમલાંકસૂરિ કૃત પ્રા. પદ્મચરિયં (પારા ૧૭૩) રામચંદ્રનું ચરિત્ર પૂરૂં પાડે છે; જિનભદ્ર ગણિ ક્ષમાશ્રમણની પહેલાં થયેલ સંઘદાસ ગણિ કૃત કૃષ્ણના પિતા વસુદેવના પ્રવાસરૂપી વસુદેવ હિંડીનો પ્રથમ ખંડ અને ધર્મસેન ગણિ મહત્તર કૃત બીજો ખંડ પણ પ્રાકૃતમાં છે; પછી શીલાંકાચાર્યે ચઉપન્ન મહાપુરિસ ચરિયં પ્રાકૃતમાં રચી તેમાં ૨૪ તીર્થંકરો, ૧૨ ચક્રવર્ત્તિઓ, ૯ વાસુદેવો (૯ પ્રતિવાસુદેવોને ગૌણ સ્થાને મૂકીને) તથા ૯ બલદેવોનાં ચરિત્ર આપ્યાં છે. (પારા ૨૪૪); હેમાચાર્યે સંસ્કૃતમાં ત્રિષષ્ટિ શલાકા પુરુષ ચરિત રચીને ઉક્ત ૫૪ સાથે ૯ પ્રતિવાસુદેવોનાં વૃત્તાંત આપી ૬૩ મહાજનોનાં ચરિત પૂરાં પાડયાં છે અને પછી તે બધા પરથી પુષ્કળ રચનાઓ સંસ્કૃત અને પ્રાકૃતમાં થઇ છે.

૫૨૪ સ્વતંત્ર કથાનાં ઉદાહરણ—પાદલિપ્તાચાર્યની તરંગવતી-તરંગલોલા કથા (પારા ૧૧૦), દાક્ષિણ્યચિન્હ સૂરિની કુવલયમાલા (પારા ૧૮૨)

૯૦૦. આ પ્રાકૃત સંસ્કૃત કથાસાહિત્ય પરથી દેશી ભાષામાં અનેક કવિઓએ અનુવાદરૂપે, સારરૂપે. યા તેનું ઓઠું રાખી બિમ્બ પ્રતિબિમ્બ રૂપે ઘણી વાર્તાઓ લોકોના શિક્ષણાર્થે ઉતારી છે. કોઇએ કોઇ રાજકુમારોની પ્રસન્નતા ખાતર રચી છે. દા. ત. ગૂજરાતીમાં કુશલલાભની માધવાનળ કથા અને ઢોલા મારૂણીની કથા બંને 'યાદવ રાઉલ શ્રી હરરાજ, જોડી તાસ કુતૂહલ કાજિ'-એટલે જેસલમેરના રાજકુમાર ને પછી થયેલ રાજા હરરાજ માટે રચાઇ છે; તે બંને શિષ્ટશૈલીની લોકવાર્તાઓ છે. તે પૈકી 'માધવનલ કથા શામળભટ્ટની તેજ સંક્ષિપ્ત કથા સાથે સરખાવતાં શામળભટ્ટની ઝાઝા માલ વગરની જણાય છે' (સ્વ. ચીમનલાલ દલાલ), જ્યારે શ્રી કૃષ્ણલાલ ઝવેરી તે કવિની તે કથાઓ સંબંધે જણાવે છે કે 'જૈન સાધુઓ સાધુત્વ સંપૂર્ણ અંશે પાળવા છતાં સંસારનું જ્ઞાન સંસા-

---

હરીભદ્રસૂરિની સમરાઇચ્ચકહા (પારા ૧૯૮) એ ત્રણે પ્રાકૃતમાં, ધનપાલની તિલકમંજરી સંસ્કૃતમાં (પારા ૨૭૩-૭૭), અને સં. ૧૧૨૩માં પ્રાકૃત સમરાઇચ્ચ કહા પરથી સાધારણ-પાછળથી પ્રસિદ્ધ થયેલ સિદ્ધસેનસૂરિએ ૧૧ સંધિમાં વિલાસવઇ કહા અપભ્રંશમાં (પારા ૨૯૫ અને ૪૭૬) રચી છે વગેરે. ઐતિહાસિક પ્રબંધ જેવા કે પ્રભાચંદ્રનું પ્રભાવકચરિત (પારા ૫૯૬) વગેરેને એક બાજુ રાખી-ઇતિહાસમિશ્રિત લોકકથાઓ મેરૂતુંગકૃત પ્રબંધચિંતામણી (પારા ૬૨૭), રત્નશેખરકૃત ચતુર્વિંશતિ પ્રબંધ (પારા ૬૪૨) આદિમાં સાંપડે છે. વિક્રમના ચરિત સાથે ગુંથેલી લોકકથાઓનાં ઉદાહરણોમાં સં. ૧૨૯૦ અથવા ૧૨૯૪ માં એક જૈન કર્તાએ પંચદંડાત્મક વિક્રમચરિત્ર (પ્ર. હી. હં.; વડોદરા ઓરી. ઇન્સ્ટીટ્યૂટ), ત. દેવસુંદરસૂરિના શિષ્ય ક્ષેમંકરસૂરિએ પ્રાચીન મહારાષ્ટ્રી પ્રાકૃતમાં રચાયેલી સિંહાસન દ્વાત્રિંશિકા પરથી સં. ૧૪૫૦ આસપાસ સંસ્કૃતમાં ગદ્યપદ્યયુક્ત રચેલી તે નામની કથા કે જેમાં 'સિંહાસન બત્રીશી'ની વાર્તાઓમાંની ઘણીકનાં મૂળ છે, સં. ૧૪૯૨ અરસામાં દેવમૂર્તિકૃત વિક્રમચરિત (પારા ૬૮૨) અને ક્ષેમંકરની ઉક્ત કથા પરથી સં. ૧૪૯૦ માં રામચંદ્રસૂરિએ રચિત ડલોકમાં વિક્રમચરિત્ર, તથા તેમનો બીજો ગ્રંથ નામે પંચદંડાતપત્ર છત્ર પ્રબંધ (પારા ૬૮૭) વગેરે છે. આ પૈકી સં. ૧૨૯૦-૯૪ માં બનેલી ઉપરની કૃતિ પરથી શામળભટે પોતાની સં. ૧૭૭૭ થી ૧૭૮૫ માં રચેલી સિંહાસન બત્રીસીમાંની પાંચમી 'પંચદંડ'ની કથા લીધી જણાય છે.

રીઓને પણ કુદી જાય એવા ઉંડા પ્રકારનું બતાવે છે. કુશલલાભની શૃંગારરસની જમાવટ એ માહિતીની એક સાખીતી છે.' (આનંદ-કાવ્ય મહોદધિ મૌ૦ ૭ નો ઉપોદ્‌ઘાત); છતાં તેમનો શૃંગાર મર્યાદિત અને સભ્ય હોય છે-એટલો અમર્યાદિત નથી હોતો કે-જેમ નર્મદ જેવાને પણ શામળભટ્ટ માટે કહેવું પડયું કે 'શામળભટ્ટે કેટલીક વાર્તાઓ ન લખી હોત તો સારૂં' તેમ-જૈન સાધુઓ માટે કોઇને કહેવું પડે. કથાઓને આલેખતાં જૈન મુનિઓ તે દરેકમાં અમુક સદ્-ગુણનો મહિમા દર્શાવે છે. શ્રી હરગોવિન્દ કાંટાવાળા કહે છે કે 'વિશેષમાં જૈન સાધુઓ જેમ અમુક સદ્‌ગુણનું પ્રતિપાદન કરે છે, તેમ આ (કુશલલાભની માધવાનળ કથાના) ગ્રંથમાં શીળનો મહિમા બતાવ્યો છે, એટલે તે બાબતમાં તે (જૈન કવિ) શામળભટ્ટ કરતાં ચઢે છે...' (સાહિત્ય સને ૧૯૧૪ અને ૧૫.) જયવંતસૂરિએ શીલ-વતીના ચરિત્ર રૂપે (અભિનવ) શૃંગારમંજરી એ નામની સં. ૧૬૧૪ માં કરેલી કૃતિ છટાદાર સરસ રચના છે. કવિ બિલ્હણની પંચાશિકા નામની પ્રેમકથા વર્ણવવા સારંગે સં. ૧૬૩૯ માં તે પર ચોપાઇ કરી છે. કોકશાસ્ત્ર (કામશાસ્ત્ર) પર પણ નર્બુદાચાર્યે સં. ૧૬૫૬ માં ચોપઇ બનાવી છે.

૯૦૧. રા. મંજુલાલ મજમુદાર કથે છે કે "ગુજરાતી સાહિ-ત્યમાં પદ્યાત્મક લોકવાર્તાઓનું Metrical Romances નું સાહિ-ત્ય વિશાલ છે. એમાંનું મોટા ભાગનું સાહિત્ય વિરક્ત અને અસંગ જીવન ગાળનારા જૈન સાધુઓને આભારી છે. ધર્મલાભને માટે રા-જ્યાશ્રય મેળવવાના ગૌણ હેતુથી કેટલાક જૈન યતિઓએ રાજદારી પુરૂષોના ચિત્ત વિનોદને સારૂ (ઉદા. માં કુશલલાભે કર્યું તેમ) આવી વાર્તાઓ રચ્યાનું જણાય છે; વળી બીજો ઉદ્દેશ એ જણાય છે કે વાર્તાના રસદ્વારા શૃંગાર અને પ્રેમની ભૂમિકા ઊભી કરી, મનુષ્યને વિલાસમાંથી પાછા વાળવા અને તેની નિઃસારતાનું, મનને આઘાત ન થાય તેવી રીતે, ભાન કરાવવા આવી લોકવાર્તાઓ જૈન યતિઓએ

રચી છે. જૈનેતરોએ લોકવાર્તા રચવાના છૂટક છૂટક પ્રયાસ કર્યાં છે ખરા, પરંતુ એ પ્રયાસોમાં મોટો ફાળો જૈનોનો છે. × × આમ અનેક જૈન તેમજ જૈનેતર કવિઓએ લોકમાન્ય લોકવાર્તાઓને સૈકે સૈકે જન્માવી છે, અને તે દ્વારા લોકહૃદયને રસાળાં બનાવ્યાં છે. લોકવાર્તાના સાહિત્યમાં ખાસ આગળ પડતો ફાળો જૈનોનો છે" ('પંચદંડ અને બીજાં કાવ્યો'ની પ્રસ્તાવના પૃ. ૯૫-૯૬, ૧૦૭).

૯૦૨. Lyrics (ઉર્મિગીતો) તરીકે નેમિનાથ અને સ્થૂલભદ્રનાં ચરિત યોગ્ય સામગ્રી પૂરી પાડે તેમ છે. આ શતકમાં જયવંતસૂરિએ સ્થૂલભદ્ર પ્રેમવિલાસ ફાગ અને માલદેવે સ્થૂલભદ્રફાગની કરેલી રચના સુંદર અને કાવ્યત્વવાળી છે.

૯૦૩. સારો ભાવાનુવાદ પદબંધ શિષ્ટ શૈલીમાં નયસુંદરે માણિક્યસુંદર સૂરિકૃત સંસ્કૃત કાવ્ય નામે નલાયન અથવા કુબેરપુરાણને કુશળતાથી અનુસરીને રચી પૂરો પાડ્યો છે. મુનિરત્નસૂરિએ સંસ્કૃતમાં વીરકથા નામે અંબડચરિત રચેલ તેનો ભાવાર્થ લઇને વિનયસમુદ્રે અંબડચોપઇ સં. ૧૫૯૯ માં અને મંગલમાણેકે સં. ૧૬૩૯ માં અંબડકથાનક ચોપઇ બનાવી છે.

૯૦૪ ઐતિહાસિક સાહિત્યમાં આ યુગના ધારક હીરવિજયસૂરિ, વિજયસેનસૂરિ, વિજયદેવસૂરિ સંબંધી અનેક સ્વાધ્યાયો, ગીતો, વગેરે નાનીમોટી-મોટે ભાગે ટૂંકી કૃતિઓ મળી આવે છે. તે શિવાય સં. ૧૬૧૬ માં કોઇએ બનાવેલ માલવી ઋષિની સજ્ઝાય, સં. ૧૬૧૯માં આણંદસોમકૃત સોમવિમલસૂરિ રાસ, સં. ૧૬૨૦ આસપાસ ધર્મહંસકૃત સંયમરત્ન સૂરિસ્તુતિ, સં. ૧૬૩૮માં નયસુંદરકૃત શત્રુંજયઉદ્ધાર રાસ તથા ગિરનારઉદ્ધાર રાસ, સં. ૧૬૪૦માં હીરકુશલ કૃત કુમારપાલ રાસ, ૧૬૪૬માં મનજીનો વિનયદેવસૂરિ રાસ, સં. ૧૬૪૮ માં દયાકુશલે કરેલ તીર્થમાલા સ્તવન, ૧૬૪૯ માં કરેલ લાભોદય રાસ (વિજયસેનસૂરિનું વૃત્તાંત), અને સં. ૧૬૮૫ માં કરેલા હીરવિજયસૂરિના પદમહોત્સવ રાસ અને વિજયસિંહસૂરિ રાસ, સં. ૧૬૫૧

માં કૃષ્ણદાસે હિંદીમાં કરેલ હીરવિજયસૂરિના એક શ્રીમંત શ્રાવક દુર્જનશાલ પર બાવની, સં. ૧૬૫૨માં ધર્મસિંહનો જશવંતમુનિનો રાસ, સં. ૧૬૫૩માં ધનહર્ષકૃત તીર્થમાલા સ્તોત્ર, અને ધર્મસાગરનો નિર્વાણ રાસ તેના એક શિષ્ય પરત્વે, સં. ૧૬૫૪માં જયચંદ્ર કૃત રસરત્ન રાસ (પાર્શ્વચંદ્રીય રાયચંદ્રસૂરિ સંબંધી), રાયચંદ્રસૂરિ બારમાસ, તથા પાર્શ્વચંદ્રના ૯૭ દુહા, સં. ૧૬૫૫માં જયવિજયકૃત કલ્યાણવિજય ગણિનો રાસ, ને ૧૬૬૪માં તેમનો સમેતશિખર રાસ, સં. ૧૬૫૫માં ગુણવિનયનો કર્મચંદ્ર વંશાવલી પ્રબંધ (સ્વગુરૂ જયસોમના સંસ્કૃત પ્રબંધ પરથી), સં. ૧૬૬૧માં હેમવિજયકૃત કમલવિજય રાસ, સં. ૧૬૬૨નું સમયસુંદરકૃત ઘંઘાણી તીર્થ સ્તોત્ર, ૧૬૮૨ નો વસ્તુપાલ તેજપાલનો નાનો રાસ, અને ૧૬૮૬નો શત્રુંજય રાસ, સં. ૧૬૬૪ આસપાસ વિજયસાગરકૃત સમ્મેતશિખર તીર્થમાલા સ્તવન, સં. ૧૬૭૦ પછી સમયપ્રમોદનો જિનચંદ્રસૂરિ નિર્વાણ રાસ, પ્રસિદ્ધ ઋષભદાસ શ્રાવક કવિએ પોતાના વતન ખંભાતમાં રચેલ સં. ૧૬૭૦માં કુમારપાલનો મોટો રાસ, તથા નાનો રાસ, સં. ૧૬૮૪માં હીરવિજયસૂરિના બાર બોલનો રાસ, તથા સં. ૧૬૮૫માં હીરવિજયસૂરિ રાસ, સં. ૧૬૭૨માં કૃપાસાગરનો નેમિસાગર ઉ૦ નિર્વાણ રાસ, સં. ૧૬૮૧માં ધર્મકીર્તિ કૃત જિનસાગરસૂરિ રાસ, સં. ૧૬૮૩માં ગુણવિજયે કરેલ જયચંદ્ર રાસ, અને કોચર વ્યવહારી રાસ, ૧૬૯૨માં ધર્મસિંહ કૃત શિવજી-આચાર્ય રાસ, સં. ૧૬૯૫માં દયારત્નનો કાપડહેડા તીર્થ રાસ, અને દેવચંદ્રકૃત શત્રુંજયતીર્થ પરિપાટી; દર્શનવિજયે ધર્મસાગર ઉપાધ્યાયની વિધવિધ પ્રરૂપણા અને અન્ય ગચ્છો પ્રત્યેની અસહનશીલતાથી ઉદ્ભવેલ ઝઘડાઓનું બ્યાન આપનાર વિજયતિલકસૂરિ રાસ બે અધિકારમાં રચ્યો—પહેલો અધિકાર સં. ૧૬૭૯માં ને બીજો સં. ૧૬૯૭માં પૂર્ણ કર્યો—તે, ત્રિકમકૃત રૂપચંદ્રઋષિનો રાસ સં. ૧૬૯૯ આદિ છે. આ પરથી એ પણ જણાશે કે પદ્યમાં પોતાના ગુરૂ, ઐતિહાસિક જૈન પ્રભાવક પુરૂષ, તીર્થ આદિનો યત્કિંચિત ઇતિહાસ લખનારા—Chroniclers-થોડા વધતા અંશે જૈનો હતા.

૯૦૫ Romance અને Ballad (રોમાંચકારી વીરરસકાવ્ય) તરીકે ક્ષત્રિયાદિ વીર પુરુષોને અતિક્રમી વૈશ્યપુત્રોને કથાનાયક બનાવી તેઓની પાસે અનેક વીરોચિત કાર્યો કરાવતી કૃતિઓ પણ ઉપલબ્ધ થાય છે. દષ્ટાંત તરીકે સં. ૧૪૮૫માં હીરાનંદસૂરિએ વિનયચંદ્ર કૃત મલ્લિનાથ કાવ્યમાંના એક કથાનક (સર્ગ ૨ શ્લો. ૩૬૨ થી ૫૬૪) પરથી રચેલો વિદ્યાવિલાસ પવાડો એક એવું Romance છે. તેજ કથાનક પર સં. ૧૫૭૨માં આનંદોદયે વિદ્યાવિલાસ ચો., સં. ૧૬૭૯ માં રાજસિંહે વિનયચટ-વિદ્યાવિલાસ રાસ બનાવેલ છે. તે સિવાય વૈશ્ય નાયકો વાળી કૃતિઓ દા. ત. ધનદ ચોપઇ, સાગરશ્રેષ્ઠિ રાસ વગેરે અનેક સાંપડે છે.

૯૦૬ રૂપક કાવ્ય (allegory) પંદરમા શતકમાં જયશેખરકૃત પરમહંસ પ્રબંધ-પ્રબોધચિંતામણી ચોપાઈ છે તે અગાઉ જણાવ્યું છે તેનુંજ યા તેને લગતું વસ્તુ લઇને ત૦ વિજયસેન સૂરિના એક શ્રાવક નામે હીરાએ સં. ૧૬૬૪માં ધર્મબુદ્ધિ રાસ, વિદ્યાકીર્ત્તિએ સં. ૧૬૭૨ માં અને મતિકીર્તિએ સં. ૧૬૯૭માં ધર્મબુદ્ધિ મંત્રી ચોપાઇ રચેલ છે. સંવાદોના દાખલા જયવંતસૂરિકૃત લોચનકાજલ સંવાદ, સં. ૧૬૬૨ નો સમયસુંદરકૃત દાનશીલ તપભાવના સંવાદ-સંવાદશતક અને સં. ૧૬૮૯માં શ્રીસારે રચેલ મોતી કપાસીયા સંબંધ સંવાદ મળે છે. 'બારમાસ' નામની કૃતિઓની પણ રચના આ શતકમાં થઇ છે. તેમાં મુખ્ય ભાગે નેમિનાથ રાજુલના બારમાસ છે, કે જેમાં રાજુલ દરેક માસના સંજોગ પ્રમાણે વિરહપ્રલાપ કરી અંતે મનના માનેલા પતિ-દેવ નેમિનાથ પાસે દીક્ષા લઇ મોક્ષ મેળવે છે. એટલે શૃંગારનો અંત વૈરાગ્યમાં આવે છે એમ જણાવેલું છે. આના ઉદાહરણમાં આ શતકના દ્વિતીયપાદમાં થયેલ જયવન્તસૂરિના નેમિનાથ બારમાસ-વેલિપ્રબંધ કડી ૭૭ એક ખરી કવિત્વવાળી કૃતિ છે. બીજું ઉદા-હરણ સં. ૧૬૮૦ આસપાસ લાલવિજયકૃત અને સં. ૧૬૮૯ માં લાભોદયકૃત નેમિરાજિમતિ બારમાસ છે. ચંદ્રાઉલા છંદમાં પણ

જ્ઞાનસાગરે સં. ૧૬૫૫ માં જૂનાગઢમાં અને તે આસપાસ હેમવિજયે નેમિજન ચંદ્રાઉલા ૭૩ અને ૪૪ કડીમાં રચેલ છે.

૯૦૭ ટૂંકી કૃતિઓ–૨૪ જિનો (ઋષભદેવથી મહાવીર સુધીના) ની ૨૪ સ્તુતિઓ અને (સીમંધરાદિ) ૨૦ વિરહમાન જિનોની ૨૦ સ્તુતિઓનાં અનુક્રમે ટુંકાં નામ 'ચોવીસી' અને 'વીસી' અપાયેલ છે. એવી ચોવીસીઓ અને વીસીઓ આ શતકમાં પૂર્વના કરતાં વધુ કવિઓએ કરેલી મળે છે. વળી કડીઓની સંખ્યા પરથી (૧) કર્તાના, (૨) નાયકના યા (૩) વિષયના નામ સાથે કૃતિઓનાં નામ પડતાં હતાં, જેમકે (૧) બાલચંદ બત્રીશી, (૨) દુર્જનશાલ બાવની, (૩) અધ્યાત્મ–બાવની, પ્રીતિ છત્રીશી, ક્ષમા ક્ષત્રીશી, સંવાદશતક વગેરે આ શતકમાં નિર્માયેલ છે.

૯૦૮ આ શતકમાં ગચ્છ ગચ્છવચ્ચેના વિરોધ અને ઝઘડા થયા તેના પરિણામે ખંડનાત્મક કૃતિઓ થોડીઘણી ઉદ્ભવી છે. દા૦ ત૦ ખંડનશૈલીના અગ્રણી ત૦ ધર્મસાગરના શિષ્ય લબ્ધિસાગરે ચારબોલ ચર્ચાની ચોપઇ, ખ૦ ગુણવિનયે સં. ૧૬૭૪ માં અંચલમત સ્વરૂપ વર્ણન અને સં. ૧૬૭૫માં લોંકા સંપ્રદાયના ખંડન રૂપે લુમ્પક મત-તમોદિનકર ચોપાઈ અને તેજ સંપ્રદાય પર આક્ષેપાત્મક કૃતિ ખ૦ હીરકલશે સં. ૧૬૭૭માં કુમતિવિધ્વંસ ચોપાઈ ઉપજાવી છે. આનો ચેપ અત્યારસુધી ચાલુ રહ્યો છે.

૯૦૯ જેમ સોળમી સદીમાં સહજસુંદરે જુદા જુદા રાગ ને છંદમાં સં. ૧૫૭૨માં ગુણરત્નાકર છંદ નામની કૃતિ સ્થૂલભદ્રના ચરિતની વસ્તુ પર રચી, તેવીજ રીતે આ શતકમાં હિ૦ હેમચંદ્રે નેમનાથના ચરિત પર ગુણરત્નાકર છંદ, તથા સકલચંદ્રે વાસુપૂજ્યની વાત પર વાસુપૂજ્ય જિનપુણ્ય પ્રકાશ, સાધુઓના ટૂંકા ઉલ્લેખ કરનારી સાધુવંદના–મુનિવર સુરવેલી અને સત્તરભેદી પૂજા, વિધવિધ રાગો અને છંદમાં બનાવેલ છે. દા૦ ત૦ સકલચંદ્રના વાસુપૂજ્ય સ્તવનમાં કેદારો, અસાઉરી, માલવી ગોડી, સિંધુઓ, વૈરાડી, દેશાખ,

પરજીઓ, કલ્યાણ, મલ્હાર, રામગ્રી, ધન્યાશ્રી, કેદારો, કાન્હડો, સામેરી, મારૂણી જોવામાં આવે છે ને વળી અનેક 'દેશીઓ' પણ મૂકી છે.

૯૧૦ શ્રી ન્હાનાલાલ કવિએ એ અર્થનું કહેલું છે કે "ગુર્જર સાહિત્યમાં કવિ પ્રેમાનંદે ગુર્જરે ભૂમિનાંજ 'વૃત્તસંતાનો'-ગુજરાતી રાગો જેવા કે મારૂ, સામેરી, રામગ્રી આદિ દેશી રાગોનો બહુ છુટથી ઉપયોગ કર્યો છે," (વસંત સં. ૧૯૬૦ ના ફાગણના અંકમાં 'ગુજરાતી કવિતા અને સંગીત' એ લેખ) આ કથન સંબંધે કહેવાનું કે રાગોનો ઉપયોગ તો ગમે તે દેશી માટે-અરે, દોહરાને માટે પણ કરી શકાય. આ કથનનો મૂળ આશય 'દેશીઓ'—'વલણ'-પિંગળના છંદોના માપને-માત્રાદિને નેવે મુકીને થતી લોક રાહોને—પ્રેમાનંદે બહુ છુટથી વાપરી છે એવો હોવો ઘટે. તે સામે જણાવવાનું કે પ્રેમાનંદના પૂર્વગામી જૈન કવિઓએ-લગભગ બધાએ દેશીઓનો અતિ છૂટથી ઉપયોગ કર્યો છે. તેને 'દેશી' ઉપરાંત 'ઢાળ,' 'ચાલિ' (ચાલ) ક્વચિત્ 'લઢણ' ક્વચિત્ 'ભાસ' એ ખાસ નામ જૈન કવિઓએ વાપરેલ છે. સમયસુંદરે પુષ્કળ કૃતિઓ-ન્હાની મ્હોટી રચી છે અને ગીતો તો અસંખ્ય બનાવ્યાં છે. તેમના સંબંધમાં એવી કહેવત છે કે 'સમયસુંદરનાં ગીતડાં, ભીંતના ચીતડાં.' એમણે તો ગૂજરાતી, સિંધી, મારવાડી, મેવાડી, ઢુંઢારી (મારવાડ પાસેના પ્રદેશના), દિલ્હી વગેરે અનેક સ્થળોનાં ગીતો તથા દેશીઓ લઇ તેની લયમાં પોતાની ઢાળો બનાવી કુશળતાથી રસને ખીલવી કાવ્યચાતુરી બતાવી છે, અને તે લોકપ્રિય થઇ છે એટલુંજ નહિ પરંતુ કવિપ્રિય પણ થઇ છે. (વિસ્તારથી 'દેશીઓ' માટે જોવા ઇચ્છનારને માટે મારો 'કવિવર સમયસુંદર' પર નિબંધ-પૃ. ૪૨, ૫૫ થી ૬૪ આ૦ કા. મ. મૌક્તિક ૭ મું.)

૯૧૧ શ્રીકૃષ્ણલાલ પોતાના Milestones of Gujarati Literature (પૃ. ૫૨-૫૩) માં ઇસુની સોળમી સદી (વિ. સં. ૧૫૫૭

થી ૧૬૫૬) ને પ્રાયઃ નિર્વંશ જણાવે છે કારણ કે સમયમાં જૈનેતર કવિઓ ત્રણજ—નામે વસ્તો, વચ્છરાજ અને તુલસી થયા એવું તેઓ જણાવે છે. પણ પછી વિશેષ શોધ કરતાં તે સૈકામાં નાકર તથા વિષ્ણુદાસ સ્થાન લે છે. હજુ પણ થોડા મળી આવે; પણ ઉપરની જૈન-કૃતિઓ પરથી જણાયું હશે કે જૈન સાધુ—કવિઓની ભાષા 'તેમના અસંગ જીવનના બલે શુદ્ધ અને સરલરૂપે સાહિત્યમાં સ્ફુરે છે.[૫૨૫] અને તેમની સંખ્યા પુષ્કળ છે; એટલે મધ્યયુગમાં ખાસ કરી જૈનોમાં 'કવિતાના સ્વર્ગીય ગાનનો ધ્વનિ છેક મંદ પડી ગયો' એવું તો નથી, એટલુંજ નહીં પણ સહેજ પણ મંદ નથી પડયો.

૭૧૨ આ સૈકો જૈનો માટે ઘણો પ્રતાપી હતો. તે સદીમાં અકબર, જહાંગીર, ને શાહજહાં (સં. ૧૬૧૨ થી ૧૭૧૪)—એ ત્રણેની શહેનશાહતમાં ભારતમાં શાન્તિની શતવર્ષા રહી, જૈન સાધુઓ દિલ્હીના દરબારના નિકટ સંસર્ગમાં આવ્યા—તે આસપાસના પ્રદેશોમાં પણ અખંડ વિહાર તેમણે કર્યો ને ત્યારથી (નિશ્ચિત રીતે સં. ૧૬૩૮ થી) ઉર્દુ-ફારસીનું ભરણું ભાષામાં થોડું ઘણું પણ પ્રવેશ પામ્યું. જૈન મુનિઓએ શહેનશાહો પાસેથી ફરમાનો, પરવાના તથા બિરૂદો મેળવ્યાં. તેઓ તેમના અધ્યાપકો—ઉપદેશકો બન્યા. વળી તેમણે જુદે જુદે સ્થળોએ રાજસન્માન પ્રાપ્ત કર્યું. અન્ય ભાષા અને ધર્મોમાં પણ ઘણી જાગૃતિ અને સાહિત્યવૃદ્ધિ પરિણમી. દાદુ અમદાવાદમાં થયો. હિંદી ભાષાના કવિઓ ગોસ્વામી તુલસીદાસ, વિહારી, અને કેશવદાસ, મરાઠી ભાષાના કવિઓ વિષ્ણુદાસ, મુક્તેશ્વર અને મહારાષ્ટ્રના સંત કવિઓ એકનાથ, તુકારામ, સમર્થ રામદાસ આ શતકમાં થયા. અનેક ધર્મવીર, કર્મવીર, સાહિત્યવીર આદિથી આ શતક તેજોમય બન્યું છે. ધન્ય તે શતકને !

---

૫૨૫ વિદેહ સાક્ષર શ્રી ગોવર્ધનરામભાઇનું પ્રથમ ગૂજરાતી સાહિત્ય પરિષદ્‌ના પ્રમુખ તરીકેનું ભાષણ.

વિભાગ ૭મો.

યશોવિજય યુગ. [સં. ૧૭૦૧ થી ૧૭૪૩]

'ભાષા' સાહિત્યનો અર્વાચીન કાલ.

શાસ્ત્ર સુભાષિત કાવ્યરસ, વીણા નાદ વિનોદ
ચતુર મલે જો ચતુરને, તો ઊપજે પ્રમોદ. ૯
ડેહરો ગાય તણે ગલે, ખટકે જેમ કુકરુ
મૂરખ સરસી ગોઠડી. પગપગ હિયડે હરુ ૧૦
જો રૂઠો ગુણવંતને, તો દેજે દુઃખ પોઢિ
દૈવ! ન દેજે એક તું, સાથ ગમારાં ગોઠિ. ૧૧
રસિયાશું વાસો નહીં, તે રસિયા ઇકિ તાલ
ઝૂરીને ઝાંખર હુએ, જિમ વિછડી તરૂ ડાલ. ૧૨
ઉક્તિ યુક્તિ સમજે નહીં, સૂઝે નહીં જસ સોજ
ઇત ઉત જોઇ જંગલી, જાણે આવ્યું રોઝ. ૧૩
રોઝતણું મન રીઝવી, ન શકે કોઈ સુજાણ,
નદીમાંહિ નિશિદિન વસે, પલલે નહિં પાષાણ. ૧૪
મરમ ન જાણે માંહિલો, ચિત્ત નહીં ઇક ઠોર
જિહાં તિહાં માથું ઘાલતો, ફરે હરાયું ઢોર. ૧૫
વલી ચતુર શું બોલતાં, બોલી ઇક દો વાર
તે સહેલી સંસારમાં, અવર અકજ અવતાર. ૧૬
રસિયાને રસિયા મલે, કેલવતાં ગુણ–ગોઠ
હિયે ન માયે રીઝ રસ, કહેણી નાવે હોઠ. ૧૭

—વિનયવિજય અને યશોવિજયકૃત **શ્રી**પાલરાસ
ખંડ ૩ ઢાલ ૪ થી પછી.

પ્રકરણ ૧લું

યશોવિજય-યુગ

આત્મવૃત્તાંત

ऐंकारजापवरमाप्य कवित्वविश्व–वांछासुरद्रुमुपगंगमभंगरंगम् ।
सूक्तै र्विकासिकुसुमैस्तव वीर ! शम्भोरम्भोजयोश्चरणयोर्वितनोमि पूजाम् ॥

—ન્યાયખંડનખાદ્ય–મહાવીરસ્તવન શ્લો. ૧.

—કવિત્વ અને વિદ્વત્તાની વાંછાને પૂરી પાડનાર કલ્પવૃક્ષરૂપ અભંગ-રંગવાળો ઐંકારના જાપનો વર ગંગાતટે પામીને વિકસિત કુસુમોરૂપી સૂક્તો વડે હે વીર ! આપ શંભુનાં ચરણકમલોની પૂજા રચું છું.

अत्तौ जैनः काशीविबुधविजयप्राप्तविरुदो
मुदो यच्छत्यच्छः समयनयमीमांसितजुषाम् ॥
यः श्रीमद् गुरुभिर्नयादिविजयै राऽन्वीक्षिकीं ग्राहितः
प्रेम्णा यस्य च सद्म पद्मविजयो जातः सुधीः सोदरः ।
यस्य न्यायविशारदत्वविरुदं काश्यां प्रदत्तं बुधै
स्तस्यैषा कृतिरातनोतु कृतिनामानन्दमग्नं मनः ॥

—ન્યાયખંડનખાદ્ય–મહાવીરસ્તવન શ્લો. ૧૦૮–૧૧૦.

—આ (ગ્રંથકાર) જશો જૈન કે જેણે કાશીના પંડિતોમાં વિજય કરી બિરૂદ પ્રાપ્ત કર્યું છે, જે સમય એટલે સિદ્ધાંત-શાસ્ત્રોની નય-દૃષ્ટિબિંદુઓથી મીમાંસા કરનારા એવાને (વિદ્વાનોને) પ્રમોદ આપે છે, જેને શ્રીમદ્ ગુરૂ નામે નયવિજયે આન્વીક્ષિકી વિદ્યા-તર્કવિદ્યા પ્રાપ્ત કરાવી [illegible] અને જેનો પ્રેમપાત્ર વિદ્વાન્ સહોદર નામે પદ્મવિજય છે, જેને કાશીમાં પંડિતોએ 'ન્યાયવિશારદ'નું બિરૂદ આપ્યું છે તેની આ કૃતિ ધન્યપુરૂષોના મનને આનંદમગ્ન કરો.

શારદ ! સાર-દયા કરો આપો વચન સુરંગ
તૂં તૂઠી મુઝ ઉપરેં જાપ કરત ઉપગંગ. ૧
તર્ક કાવ્યનો તેં તદા દીધો વર અભિરામ
ભાષા પણિ કરિ કલ્પતરૂ શાખા સમ પરિણામ. ૨

—પોતાનો જંબૂસ્વામી રાસ સં. ૧૭૩૯.

૯૧૩ આનંદઘન—યશોવિજયના સમકાલીન પણ તેમના કરતાં જ્યેષ્ઠ લાભાનંદ નામના શ્વેતાંબર સાધુ થયા; તેઓ મહાન્ અધ્યાત્મી યોગી પુરૂષ આનંદઘન એ નામથી ઓળખાયા. 'શ્રી હેમાચંદ્રાચાર્યે લોકાનુગ્રહમાં આત્મા અર્પણ કર્યો, શ્રી આનંદઘનજીએ આત્મહિત-સાધનપ્રવૃત્તિને મુખ્ય કરી. × × શ્રી હેમચંદ્રાચાર્યે ઘણું કર્યું, શ્રી આનંદઘનજી તેમના પછી છસો વરસે થયા. એ છસો વરસના અંતરાળમાં બીજા તેવા હેમચંદ્રાચાર્યની જરૂર હતી. વિષમતા વ્યાપતી જતી હતી. કાળ ઉગ્ર સ્વરૂપ લેતો જતો હતો, શ્રી વલ્લભાચાર્યે શૃંગારયુક્ત ધર્મ પ્રરૂપ્યો, શૃંગારયુક્ત ધર્મ ભણી લોકો વળ્યાં, આકર્ષાયાં. વીતરાગધર્મવિમુખતા વધતી ચાલી, અનાદિથી જીવ શૃંગાર આદિ વિભાવમાં તો મૂર્છા પામી રહ્યો છે, તેને વૈરાગ્ય સન્મુખ થવું મુશ્કેલ છે. ત્યાં તેની પાસે શૃંગારજ ધર્મરૂપે મુકાય તો તે વૈરાગ્ય ભણી કેમ વળી શકે? આમ વીતરાગમાર્ગવિમુખતા વધી. ત્યાં પ્રતિમાપ્રતિપક્ષ સંપ્રદાય જૈનમાંજ ઉભો થયો. ધ્યાનનું કાર્ય, સ્વરૂપનું કારણ એવી જિનપ્રતિમાપ્રતિ લાખો દૃષ્ટિવિમુખ થયા. વીતરાગ-શાસ્ત્ર કલ્પિત અર્થથી વિરાધાયાં, કેટલાંક તો સમૂળગાં ખંડાયાં. આમ આ છસો વરસના અંતરાળમાં વીતરાગ-માર્ગરક્ષક બીજા હેમચંદ્રાચાર્યની જરૂર હતી. અન્ય ઘણા આચાર્યો થયા, પણ તે શ્રી હેમચંદ્રાચાર્ય જેવા પ્રભાવશાલી નહીં એટલે વિષમતા સામે ટકી ન શકાયું. વિષમતા વધતી ચાલી, ત્યાં શ્રી આનંદઘનજી બસો વરસ પુર્વે થયા.

૯૧૪ 'શ્રી આનંદઘનજીએ સ્વપર હિતબુદ્ધિથી લોકોપકાર-પ્રવૃત્તિ શરૂ કરી. આ મુખ્ય પ્રવૃત્તિમાં આત્મહિત ગૌણ કર્યું, પણ વીતરાગધર્મવિમુખતા, વિષમતા એટલી બધી વ્યાપી ગઇ હતી કે લોકો ધર્મને કે આનંદઘનજીને પિછાણી ન શક્યાં, ઓળખી ન શક્યાં. પરિણામે શ્રી આનંદઘનજીને લાગ્યું કે પ્રબળ વ્યાપી ગયેલી વિષમતા યોગે લોકોપકાર, પરમાર્થપ્રકાશ કારગત થતો નથી, અને

આત્મહિત ગૌણ થઈ તેમાં બાધા આવે છે, માટે આત્મહિતને મુખ્ય કરી તેમાં પ્રવર્તવું યોગ્ય છે. આવી વિચારણાએ પરિણામે તે લોકસંગ ત્યજી દઈ વનમાં ચાલી નિકળ્યા. વનમાં વિચરતાં છતાં અપ્રગટપણે રહી ચોવીશી, પદ આદિ વડે લોકોપકાર તો કરી જ ગયા. નિષ્કારણ લોકોપકાર એ મહાપુરુષોનો ધર્મ છે. પ્રગટપણે લોકો આનંદઘનજીને ઓળખી ન શક્યા. પણ આનંદઘનજી અપ્રગટ રહી તેમનું હિત કરતા ગયા.

૯૧૫ 'શ્રી આનંદઘનજીને સિદ્ધાંતબોધ તીવ્ર હતો. તેઓ શ્વેતાંબર સંપ્રદાયમાં હતા. 'ભાષ્ય ચૂર્ણિ નિર્યુક્તિ વૃત્તિ પરંપરા અનુભવરે' ઈત્યાદિ પંચાંગીનું નામ તેમના શ્રી નમિનાથજીના સ્તવનમાં ન આવ્યું હત તો ખબર ન પડત કે તેઓ શ્વેતાંબર સંપ્રદાયના હતા કે દિગંબર સંપ્રદાયના' (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પૃ. ૭૧૬–૧૭). તેમણે મિશ્ર હિંદી–ગુજરાતીમાં ૨૪ જિનો પર ૨૪ સ્તવનો રચ્યાં કે જેમાં ઉંડી માર્મિક શાસ્ત્ર દૃષ્ટિ અને અનુભવયોગ ભરેલ છે. તેની ઉત્તમ કક્ષાની ચોવીસી[૫૨૬] હજુ સુધી કોઈએ રચી નથી. આ ઉપરાંત ભક્તિ-વૈરાગ્યપ્રેરિત અનેક પદો બનાવ્યાં છે કે જે 'આનંદઘન બહોતરી' નામે ઓળખાય છે તેમાં આધ્યાત્મિક રૂપકો, અંતર્જ્યોતિનો આવિર્ભાવ, પ્રેરણામય ભાવના અને ભક્તિનો ઉલ્લાસ વ્યાપ્ત થયેલ નિરખવામાં આવે છે.

---

૫૨૬ આનાં પ્રથમ ૨૨ સ્તવનપર યશોવિજય ઉપરાંત જ્ઞાનવિમલસૂરિએ બાળાવબોધ રચ્યો છે ને છેવટે જ્ઞાનવિમલસૂરિએ જણાવ્યું છે કે 'લાભાનંદજીકૃત તવન એતલા ૨૨ દિસે છે, યદ્યપિ (બીજા બે) હસ્યે તોહી આપણે હાથે નથી આવ્યા '; ત્યારપછીના ૧૯મા શતકમાં અધ્યાત્મમસ્ત જ્ઞાનસારજીએ પણ ૨૨ સ્તવનોપર બાળાવબોધ રચ્યો; તેની રચના કર્યા પહેલાં તેના પર વિચારણા સં. ૧૮૨૫ થી કરવા માંડી. સં. ૧૮૬૬ સુધી પણ વિચારતાં-વાંચતાં-અનુભવતાં એ ચોવીશી યથાર્થ ન સમજાઈ શકી; છેવટે હવે તો દેહ પડશે, માટે જેટલું જેમ સમજાયું છે તેમ તો લખું એમ કહી સં. ૧૮૬૬ માં બાળાવબોધ પૂર્ણ કર્યો. (જુઓ 'શ્રીમદ્ જ્ઞાનસારજી' એ લેખ-

૯૧૬ **યશોવિજય**—તેમણે એક અતિ-પ્રખર નૈયાયિક-તાર્કિક શિરોમણી, મહાન્ શાસ્ત્રજ્ઞ, જબરા સાહિત્યસ્રષ્ટા, પ્રતિભાશાલી સમન્વયકાર, આચારવાન્ મુનિ અને સુધારક તથા પ્રભાવક સાધુ તરીકે જૈન શાસનની અનેકવિધ સેવા બજાવી ઉપર જણાવ્યા પ્રમાણે બીજા હેમચંદ્રાચાર્યની ગરજ સારી છે. હેમાચાર્ય પછી સર્વશાસ્ત્ર-પારંગત, સૂક્ષ્મદ્રષ્ટા અને બુદ્ધિનિધાન યશોવિજય જેવા જૈન શાસનમાં કોઇ થયેલ નથી. વળી શ્રી હરિભદ્રસૂરિ જેવા તલસ્પર્શી વિદ્વાન જૈન શાસનમાં એકજ છે, અને તેમની પછી લગભગ એક હજાર વર્ષે આ યશોવિજય થયા. તેમનું ટૂંક જીવન તેમના સમકાલીન સાધુ કાન્તિવિજયે 'સુજશવેલી' નામની ગૂજરાતી કાવ્યકૃતિમાં આપેલું સુભાગ્યે પ્રાપ્ત થયું છે તેનો સાર અત્ર આપું છું:—

૯૧૭ 'તે મુનિના જ્ઞાનપ્રકાશને ધન્ય છે! તેમનું શ્રુતજ્ઞાન સુરમણિ સમાન હતું, વાદીઓના વચનની કસોટી પર ચઢાને બોધિની વૃદ્ધિના હેતુરૂપ હોઇ બુધજનો તેનો આશ્રય લેતા હતા. સકલ મુનીશ્વરોમાં શિખરરૂપ તેઓ આગમના અનુપમ જ્ઞાતા હતા; કુમતિના ઉત્થાપક, વાચક એટલે ઉપાધ્યાયના કુલમાં સૂર્યરૂપ તેઓશ્રીનો જય

જૈન શ્વે. કૉ. હેરેલ્ડ સપ્ટેં. અકટો. ૧૯૧૨ પૃ. ૩૪૩.) પરંતુ પ્રથમ એટલું સ્વીકારીને કે:—

આશય **આનંદઘન** તણો, અતિ ગંભીર ઉદાર,
બાલક બાહુ પસારિ જિમ, કહે ઉદધિ વિસ્તાર.

ઉક્ત ૨૨ સ્ત૦ તેના પર જ્ઞાનસારકૃત બાલા૦ સહિત ભીમસી માણેકદ્વારા પ્રકરણ રત્નાકર ભાગ ૧માં છપાયેલ છે તે પછીનાં બે સ્ત૦ આનંદઘનજીએ રચેલાં જણાતાં હસ્તગત થતાં જૈનયુગ સં. ૧૯૮૨ ભાદ્ર૦ આશ્વિનના અંક પૃ. ૬૬ પર મેં આપેલ છે, તેના પર બાળા૦ કોઈએ નથી રચ્યો તેનું કારણ એ હસ્તગત ન થવાના કારણે, યા તેને શાસ્ત્રની મર્યાદાનું ઉલ્લંઘન કરનાર જાણી શાસનદૃષ્ટિથી હશે. (જુઓ જૈનયુગ સં. ૧૯૮૩ કા૦ માગ૦ અંક પૃ. ૧૪૬ પર તે સંબંધી મારી નોંધ.) તેનાપર વિવેચન વર્તમાન શૈલીમાં સ્વ. માણેકલાલ ઘેલાભાઇએ કરી છપાવેલ છે. આનંદઘનનાં પદો ઉપર વિવેચન સ્વ. શ્રી બુદ્ધિસાગરસૂરિએ અને શ્રી મોતીચંદ ગિ૦ કાપડીઆએ કરેલ છે.

હો! પૂર્વે ૭ શ્રુતકેવલી પ્રભવાદિ થયા, અને કલિયુગમાં જોતાં તેઓ પણ તેવી રીતે શ્રુતધર હતા.[૫૨૭] સ્વ સમય-શાસ્ત્રમાં અને પરમતમાં દક્ષ એવા તેઓ શાસનની યશોવૃદ્ધિ કરનાર હતા, એમના સદ્‌ગુણો શતલક્ષ હોઈ કોઇ તેમને પહોંચી શકે તેમ હતું નહિ. સુવિદિત એવા 'કૂર્ચાલી શારદ' (મૂછાળી સરસ્વતી)ના બિરૂદને ધારણ કરનાર તેમણે બાલપણાથીજ આલાપમાં ત્રિદશગુરૂ—બૃહસ્પતિને જીતી લીધા હતા—એટલે તેઓ બાલ્યવયથીજ મહાવિદ્વાન્ હતા.

૯૧૮ ગૂર્જરધરાના કન્હોડૂ—કમ્હોડુ ગામમાં નારાયણ વ્યવહારી (વણિક) ને ત્યાં તેની ગૃહિણી સૌભાગ્યદેથી થયેલ જશવંત નામનો કુમાર લઘુવયે પણ બુદ્ધિમાન્ હતો. સં. ૧૬૮૮ માં પંડિતવર્ય નયનવિજય કુંણગેર ચોમાસું રહી કમ્હોડે આવતાં માતા પુત્રસહિત તે ગુરૂના ધર્મ ઉપદેશથી વૈરાગ્યવાન્ થતાં અણહિલપુર પાટણ જઈ ગુરૂ પાસે 'ચરિત્ર'—દીક્ષા સ્વીકૃત કરતાં જશવંતનું નામ યશોવિજય રાખ્યું. તેનો બીજો ભાઇ પદ્મસિંહ પણ પ્રેરિત થઇ વ્રતવંત થયો—દીક્ષા લીધી, તેનું નામ પદ્મવિજય. આ બંનેને વડી દીક્ષા તપાગચ્છના આચાર્ય વિજયદેવસૂરિએ સ્વહસ્તે આપી. ગુરૂ પાસે શ્રુતાભ્યાસ કર્યો. સં. ૧૬૯૯ માં રાજનગર—અમદાવાદમાં સંઘ સમક્ષ યશોવિજયે અષ્ટ અવધાન કર્યાં. સંઘમાં એક અગ્રણી નામે શાહ ધનજી સૂરાએ ગુરૂને વિનંતિ કરી કે આ વિદ્યા માટે યોગ્ય પાત્ર હોઇ તે મળતાં બીજો હેમાચાર્ય થાય તેમ છે તો કાશી જઈ છએ દર્શનના ગ્રંથ અભ્યાસે તો કામ પડયે જિનમાર્ગને ઉજ્વલ કરી

૫૨૭ આજ પ્રમાણે ધર્મસંગ્રહ નામનો ગ્રંથ કે જેને યશોવિજયજીએ સંશોધ્યો—સુધાર્યો હતો તેના સં. ૧૭૩૮ માં સમકાલીન કર્તા માનવિજય તેની પ્રશસ્તિમાં તે વાત જણાવતાં તેમને 'શ્રુતકેવલી' તરીકે જણાવે છે:—

બતાવે તેમ છે. ગુરૂએ આ વચન સાંભળી જણાવ્યું 'આ કાર્ય ધનને આધીન છે, વિના સ્વાર્થે અન્યમતિઓ નિજ શાસ્ત્રોનું જ્ઞાન ન આપે.'

૯૧૯. ગુણી શ્રાવક શાહ ધનજી સૂરાએ મનના ઉત્સાહપૂર્વક કહી દીધું કે 'રૂપાનાણાના બે હજાર દીનારનો ખર્ચ પોતે કરવા અને પંડિતને વારંવાર-વખતોવખત તથાવિધિ અર્ચવા-ખુશ કરવા પોતે તૈયાર છે, માટે મારી ઇચ્છા એવી છે કે તેને ભણાવવાનું કરો.' આ સાંભળી ગુરૂએ કાશી પ્રત્યે વિહાર કર્યો. ગુરૂએ ઉક્ત શ્રાવકની ભક્તિ જાણી હુંડી કરાવી ને તે શ્રાવકે પાછળથી સહાય અર્થે નાણાં મોકલ્યાં.

૯૨૦. કાશીદેશની વાણારસી પુરી એ તો ગુણીજનોનું ક્ષેત્ર અને સરસ્વતીનું નિવાસસ્થાન. ત્યાં તાર્કિકકુલમાર્તંડ અને ષડ્દર્શનના અખંડ જ્ઞાતા એક ભટ્ટાચાર્ય હતા કે જેની પાસે સાતસો શિષ્ય મીમાંસાઆદિનો અભ્યાસ જ્ઞાનરસપૂર્વક કરતા હતા. ત્યાં યશોવિજય પ્રકરણો ભણવા ગોઠવાયા. ન્યાય મીમાંસા બૌદ્ધ જૈમિની વૈશેષિક આદિના સિદ્ધાન્તો, ચિંતામણી ન્યાયગ્રંથોનો અભ્યાસ કરી વાદિઘટામાં દુર્દાન્ત વિબુધચૂડામણિ થયા. સાંખ્ય, પ્રભાકરભટ્ટનાં મહાદુર્ઘટ સૂત્ર-મતાંતરો જાણી જિનાગમ સાથેનો સમન્વય કરી લીધો. અધ્યાપક પંડિતજીને હમેશનો રૂપૈયો અપાતો-એમ ત્રણ વર્ષ સુધી લાગલાગટ સતત અભ્યાસ કર્યો. એવામાં ત્યાં મોટા ઠાઠથી આવેલા એક સન્યાસી સાથે વાદ કરી યશોવિજયે સર્વજન સમક્ષ તેનાપર જીત મેળવતાં તે ચાલી ગયો અને તેમનો ભારે સત્કાર કરવામાં આવ્યો[૫૨૮] નિજાવાસે આવી વાણારસી પાર્શ્વનાથની સ્તુતિ કરી. 'ન્યાયવિ-

---

૫૨૮ આ વાત સમકાલીન માનવિજય મુનિ પણ પોતાના ધર્મસંગ્રહની પ્રશસ્તિમાં જણાવે છે:—

सत्तर्ककर्कशधियाखिलदर्शनेषु मूर्धन्यतामधिगतास्तपगच्छधुर्याः ।
काश्यां विजित्य परयूथिकपर्षदोऽग्र्या विस्तारितप्रवरजैनमतप्रभावाः ॥१०॥

શારદ' નામની મહાપદવી અપાઇ; તેમની મહાકીર્તિ થઇ. આમ ત્રણ વર્ષ કાશીમાં રહી ત્યાંથી તાર્કિક તરીકે આગ્રામાં આવ્યા.

૯૨૧. આગ્રાના એક ન્યાયાચાર્ય પાસે આ પંડિતે રહી વિશેષ આદરથી કર્કશ તર્ક સિદ્ધાંત અને પ્રમાણનાં શાસ્ત્રો અવગાહી તર્કશાસ્ત્રનો ચાર વર્ષ સુધી અભ્યાસ કર્યો. ત્યાંના સંઘે પંડિતજી પાસે સાતસો રૂપૈયા ધર્યાં, કે જેનો ઉપયોગ પુસ્તક પાઠામાં અને છાત્રોને આપવામાં કર્યો. આ રીતે દુર્દમ્ય વાદી બની સ્થલે સ્થલે વાદમાં જીત મેળવતા વિદ્યાએ દીપતા પંડિત અહમદાવાદ આવ્યા.

૯૨૨. કાશીથી 'ન્યાયવિશારદ' પદ લઇ વાદોમાં વિજય મેળવી કાશીથી ઘણાં વર્ષે પધારેલા આ શાસનદીપક પંડિતવર્યને જોવા તરસતા એવા અનેક વિદ્વાનો-ભટ્ટ, વાદી, (જયગીત ગાનારા) યાચક-ભોજક ચારણ આદિના ટોળાથી અને સકલસંઘ સમુદાયથી વીંટાયેલા તેઓ અમદાવાદ નાગપુરી સરાહ હાલ જેને નાગોરી સરાહ કહે છે ત્યાં પધાર્યા. ચારે બાજુ કીર્તિ પ્રસરતાં તેમની પ્રશંસા ગૂર્જરપતિ (સુબા) મહોબતખાન પાસે રાજસભામાં થતાં તેને તેમની વિદ્યા જોવા હોંશ થતી અને તેના કથનથી યશોવિજયે અષ્ટાદશ (૧૮) અવધાન કરી બતાવ્યાં. ખાને ખુશ થઇ બુદ્ધિનાં વખાણ કર્યાં અને તેમને આડંબરથી વાજતે ગાજતે સ્વસ્થાનકે લઇ જવામાં આવ્યા.

૯૨૩. આથી જૈન શાસનની ઉન્નતિ થઈ અને તપાગચ્છના આ યતિ અક્ષોભ પંડિત છે એમ સર્વે ગચ્છનાએ સ્વીકાર્યું. સંઘે ગચ્છનાયક વિજયદેવસૂરિને આ અજોડ-અજેય-અનુપમ બહુશ્રુત પંડિત 'ઉપાધ્યાય' પદને યોગ્ય છે માટે તે પદ આપવાની વિનતિ કરતાં તેમણે તે વાત ધારી રાખી. પંડિતજીએ સ્થાનક-વીસસ્થાનકની

—તે તપગચ્છના ધોરીએ ઉંચા તર્કની કર્કશબુદ્ધિવડે સર્વ દર્શનોમાં ઉપ્પીપદ પ્રાપ્ત કરી પરમતની પરિષદ્‌ને કાશીમાં જીતીને અમણી તરીકે ઉંચા જૈનમતનો પ્રસાર વિસ્તાર્યો હતો.

ઓળીનો તપ આદર્યો, શુદ્ધ સંવેગ સાથે સંયમની શુદ્ધિ વધારી–તે વખતે જયસોમઆદિ પંડિત–મંડલીએ તેમનાં 'અદ્દોપચરણ' સેવ્યાં. વિધિ-પૂર્વક તપ આરાધ્યા પછી ફલ તરીકે (વિજયદેવસૂરિના પટ્ટધર) વિજયપ્રભસૂરિએ સં. ૧૭૧૮ માં વાચક–ઉપાધ્યાય પદ આપ્યું.

૯૨૪. 'ઉ૦ યશોવિજયના ગુણનો વિસ્તાર પમાય તેમ નથી. તેના ઉપકારો ગંગાજલથી વિશેષ છે. વેદની ગંભીર રચના જેમ ઉપનિષદો છે તેમ સ્યાદ્‌વાદના નય નિગમ આગમથી ગંભીર તેમની વચનરચના–કૃતિઓ છે, કે જેનું રહસ્ય ધીર જનો પણ પામી ન શકે. એમની રચનાઓ ચંદ્રિકા જેવી શીતલ, પરમાનંદ આપનારી, શુચિ, વિમલસ્વરૂપ, સાચી છે અને તેને રસિકજનો હોંશથી–આનંદ-પૂર્વક સેવે છે. હરિભદ્રસૂરિનો આ લઘુબાંધવ એટલે કલિયુગમાં એક બીજો હરિભદ્ર થયો.

૯૨૫. 'સં. ૧૭૪૩ માં ડભોઇમાં પાઠક હતા ત્યાં અનશન કરી સ્વર્ગસ્થ થયા. ત્યાં સમાધિસ્તૂપ કરવામાં આવ્યો કે જેમાંથી તેમના દિવસે ન્યાયની ધ્વનિ પ્રકટે છે. સંવેગીશિરોમણી જ્ઞાનરત્ન-સમુદ્ર અને કુમતિતિમિર ઉચ્છેદવા માટે બાલારૂણદિનકર ગુરૂ અદૃશ્ય થયો."૫૨૯ (પછી સં. ૧૭૪૫ માં તે સ્તૂપમાં તેમની પાદુકાઓ પ્રતિષ્ઠિત થઇ.)

૯૨૬. આમના સંબંધી અનેક કિંવદન્તીઓ ચાલતી હતી. મહાન્ પુરૂષો સંબંધી એમ બને છે. તે પરથી એક કાવ્ય મેં રચેલ

---

૫૨૯ આ પ્રમાણે ઉપાધ્યાયના સમકાલીન કાંતિવિજયે તેમના ગુણ-ગણ પરિચય રૂપ સુજસવેલિ નામની ભાસ પાટણના સંઘના આગ્રહથી રચી તે પરથી સાર આપ્યો છે. તેનો ઉત્તરાર્ધ શ્રી જિનવિજયને હાથ લાગતાં આત્માનંદપ્રકાશના પુ૦ ૧૩ અંક ૬ માં અપાયો છે. (સં. ૧૯૭૨) પણ જે પૂર્વાર્ધ ૧૩ વર્ષ સુધીમાં ન મળ્યો તે સુભાગ્યે મને તે આખી કૃતિ અમ-દાવાદમાં સં. ૧૯૮૪ માં મળતાં પ્રાપ્ત થયો.

ત્યારપછી આ ટુંક ચરિત્ર પ્રાપ્ત થતાં તેને સંગત રહી ફેરફાર રેલ[૫૪૦] તે અત્ર આપવામાં આવે છેઃ—

(ભીમપલાસી)

શ્રી જ્ઞાનપુંજ! યશોવિજય! પ્રણામ હું મહાત્મને-
વિરચી કાશીનાં અભ્યાસ 'ન્યાયવિશારદ' ખ્યાત
થઈ ફરેલ છતીને જાત ચલાવી ધર્મને——શ્રી૦
ગુંથ્યા અનેક શાસ્ત્રગ્રંથ ન્યાયાધ્યાત્મ યોગ પંથ
ચેતના જ્યોતિ જગાવી હેલ સનાતનને—શ્રી૦
શાસ્ત્રમાર્ગ દાખવી પ્રમાણ સહુ નયે ભરી
સ્ફુરાવી ભક્તિ ને પ્રેરી જનતા ગુરુગચ્છને—શ્રી૦
જનતા શાસનમગ્ન અધ્યાત્મનું નહિ કલ્યાણ
લેખી અર્પી 'અષ્ટપદી' યોગી આનંદઘનને—શ્રી૦
સાઠ અધિક વર્ષ છતી પુરવ આયુ સંચયી
ધર્મદ્વાર ભોગવી કરી સદા વિખ્યાત અમરને—શ્રી૦
નિશ્ચયે અમારા પ્રાણ થકી શક્તિ આપની
પ્રાર્થના 'રહે સદા અપૂર્વ શાંતિ આપને'—શ્રી૦
સ્મરીએ કરૂં સંસ્કારી પૂજ્યપાદ! શુભ નામ
દુર્લભ પ્રેમ-પુષ્પથી વધાવી ધર્મવર્મને—શ્રી૦

પ્રકરણ ૨ જું.

(અનુસંધાન)

સમયજ્ઞ સુધારક, ન્યાયશાસ્ત્રી, અને યોગવેત્તા યશોવિજય.

ज्ञात्वा कर्मप्रपंचं निखिलतनुभृतां दुःखसंदोहबीजं
तद् विध्वंसाय रत्नत्रयमयसमयं यो हितार्थी दिदेश ।
अंतः संक्रान्तविश्वव्यतिकरविलसत्कैवलैकात्मदर्शः
स श्रीमान् विश्वरूपः प्रतिहतकुमतः पातु वो वर्द्धमानः ॥

યશોવિજયકૃત કર્મપ્રકૃતિ ટીકા પ્રશસ્તિ શ્લો. ૧

विषयानुबंधबंधुर मन्यन्न किमप्यतः फलं याचे ।
इच्छाम्येकं जन्मनि जिनमतरागं परत्रापि ॥
अस्मादृशां प्रमादग्रस्तानां चरणकरणहीनानां ।
अब्धौ पोत इवेह प्रवचनरागः शुभोपायः ॥

—સ્વકૃત ન્યાયાલોક પ્રશસ્તિ ૪, ૬.

—સર્વ દેહધારીઓના દુઃખોના સમુદાયના બીજ એવા કર્મપ્રપંચને જાણીને તેનો આત્યંતિક નાશ કરવા માટે જેમણે હિતના અર્થી થઈ ત્રણ રત્નવાળા સમયને-સિદ્ધાંતને ઉપદેશ્યો અને જેમણે વિશ્વના વ્યતિકરમાં વિલસતા કેવલ એક આત્મદર્શનને અંતરમાં સંક્રાંત કરેલ છે એવા વિશ્વરૂપ કુમતિના હઠાડનાર શ્રીમાન્ વર્દ્ધમાન અમારૂં રક્ષણ કરો.

આપની પાસે વિષયોમાં અનુબંધવાળું એવું કોઇપણ બીજું ફલ યાચતો નથી; આ જન્મમાં અને પરજન્મમાં પણ માત્ર જિનમતરાગ ઈચ્છું છું. અમારા જેવા પ્રમાદગ્રત અને ચરણકરણથી હીનને આ જન્મમાં પ્રવચન-રાગજ જેમ સાગરમાં નાવ છે તેમ તરવાનો શુભ ઉપાય છે.

स्वागमं रागमात्रेण द्वेषमात्रात्परागमम् ।
न श्रयामस्त्यजामो वा किंतु मध्यस्थया दृशा ॥

—અમે માત્ર રાગથી સ્વ એટલે જૈન આગમનો આશ્રય કે માત્ર દ્વેષ-વડે પર એટલે જૈનેતર આગમનો ત્યાગ કરતા નથી; પરંતુ મધ્યસ્થ દૃષ્ટિથી અવલોકન કરી યથોચિત કરીએ છીએ-સ્વકૃત જ્ઞાનસાર ૧૬મું અષ્ટક.

पूर्वं न्यायविशारदत्व विरुदं काश्यां प्रदत्तं बुधैः ।
न्यायाचार्यपदं ततः कृतशतग्रंथस्य यस्यार्पितम् ।

—જેને કાશીના વિદ્વાનોએ પૂર્વે 'ન્યાયવિશારદ' એ બિરુદ આપ્યું હતું અને પછી જેને સો ગ્રંથના કર્તા એવા તેને 'ન્યાયાચાર્ય'નું પદ અર્પિત થયું હતું. (સ્વકૃત જૈનતર્કપરિભાષાની પ્રશસ્તિમાં તથા પ્રતિમા-શતકની સ્વોપજ્ઞ ટીકાની આદિમાં.)

૬૨૭ આ જીવન-વૃત્ત પરથી જણાય છે કે ન્હાની વયે દીક્ષા લીધી હતી તેથી જન્મ સં. ૧૬૮૦ લગભગ મૂકી શકાય. ૫૩ વર્ષનું આયુષ્ય એ ગણનાએ થયું. તે દરમ્યાન ૮ વર્ષની શિશુ અવસ્થા પછી નય-વિજય ગુરૂ પાસે ૧૧ વર્ષ અભ્યાસ કરી ગુરૂ સાથે કાશી જઈ ત્રણું વર્ષ ત્યાં ને પછી આગ્રામાં ૪ વર્ષ અખંડ ઉંચો અભ્યાસ કરી—એમ ૧૭૦૬-૭ સુધી ૧૮ વર્ષ વિદ્યા-વ્યાયામમાં ગાળી જીવન પર્યંત ગ્રંથો રચવાનું ચાલુ રાખ્યું. ભાષા દૃષ્ટિએ પ્રાકૃત, સંસ્કૃત અને ગુજરાતી-માં પુષ્કળ કૃતિઓ રચી. વિષયો પરત્વે ન્યાય, યોગ, અધ્યાત્મ, દર્શન, ધર્મનીતિ; ખંડનાત્મક ધર્મસિદ્ધાંત, કથાચરિત, મૂલ તેમજ ટીકા રૂપે રચનાઓ કરી. "તેમના જેવી સમન્વયશક્તિ રાખનાર, જૈન જૈનેતર મૌલિક ગ્રંથોનું ઉંડું દોહન કરનાર, પ્રત્યેક વિષયનો અંત સુધી પહોંચી તેના પર સમભાવપૂર્વક પોતાના સ્પષ્ટ મંતવ્યો પ્રકાશનાર, શાસ્ત્રીય અને લૌકિક ભાષામાં વિવિધ સાહિત્ય રચી પોતાના સરલ અને કઠિન વિચારોને સર્વ જિજ્ઞાસુ પાસે પહોંચાડ-વાની ચેષ્ટા કરનાર અને સંપ્રદાયમાં રહીને પણ સંપ્રદાયના બંધનની પરવા નહિ કરીને જે કંઇ ઉચિત જણાયું તેના પર નિર્ભયતાપૂર્વક લખનાર, કેવલ શ્વેતામ્બર-દિગંબર સમાજમાંજ નહી બલ્કે જૈનેતર સમાજમાં પણ તેમના જેવો કોઈ વિશિષ્ટ વિદ્વાન અત્યાર સુધી અમારા

ધ્યાનમાં આવેલ નથી. પાઠક સ્મરણમાં રાખે કે આ અત્યુક્તિ નથી. અમે ઉપાધ્યાયજીના અને બીજા વિદ્વાનોના ગ્રંથોનું અત્યાર સુધી જે કે અલ્પમાત્ર અવલોકન કર્યું છે તેના આધારે તોળી જોખીને ઉક્ત વાક્ય લખ્યાં છે. નિઃસંદેહ શ્વેતાંબર અને દિગંબર સમાજમાં અનેક બહુશ્રુત વિદ્વાન્ થઈ ગયા છે, વૈદિક તથા બૌદ્ધ સંપ્રદાયમાં પણ પ્રચંડ વિદ્વાન્‌ની કમી રહી નથી; ખાસ કરીને વૈદિક વિદ્વાન્ તો હંમેશથી ઉચ્ચ સ્થાન લેતા આવ્યા છે, વિદ્યા તો માનો કે તેમના બાપની છે; પરંતુ એમાં શક નથી કે કોઇ બૌદ્ધ યા કોઇ વૈદિક વિદ્વાન્ આજસુધી એવો થયો નથી કે જેના ગ્રંથના અવલોકનથી એવું જાણવામાં આવે કે તે વૈદિક યા બૌદ્ધ શાસ્ત્ર ઉપરાંત જૈનશાસ્ત્ર-નું પણ વાસ્તવિક ઉંડું અને સર્વવ્યાપી જાણપણું રાખતો હોય. આથી ઉલટું ઉપાધ્યાયજીના ગ્રંથોને ધ્યાનપૂર્વક જોનાર કોઇ પણ બહુશ્રુત દાર્શનિક વિદ્વાન્ એવું કહ્યા વગર નહિ રહેશે કે ઉપાધ્યાયજી જૈન હતા તેથી જૈનશાસ્ત્રનું ઉંડું જ્ઞાન તો તેમને માટે સહજ હતું પરંતુ ઉપનિષદ, દર્શન આદિ વૈદિક ગ્રંથોનું તથા બૌદ્ધ ગ્રંથોનું આટલું વાસ્તવિક, પરિપૂર્ણ અને સ્પષ્ટ જ્ઞાન તેમની અપૂર્વ પ્રતિભા અને કાશીસેવનનુંજ પરિણામ છે.'[૫૩૧]

૯૨૮ 'તેઓ જન્મસંસ્કારસંપન્ન શ્રુતયોગસંપન્ન અને આ-જન્મ બ્રહ્મચારી ધુરંધર આચાર્ય હતા. સામાન્ય રીતે પોતાના બધા ટીકાગ્રંથોમાં તેમણે જે જે કહ્યું છે તે બધાનું ઉપપાદન પ્રાચીન અને પ્રામાણિક ગ્રંથોની સમ્મતિદ્વારા કર્યું છે, ક્યાંયે કોઈ ગ્રંથનો અર્થ કાઢવામાં ખેંચતાણ નથી કરી. તર્ક અને સિદ્ધાન્ત બંનેનું સમતોલપણું સાચવી પોતાના વક્તવ્યની પુષ્ટિ કરી છે, + + માત્ર અસારીજ દૃષ્ટિએ નહિ પણ હરકોઈ તટસ્થ વિદ્વાન્‌ની દૃષ્ટિએ

૫૩૧ પ્રજ્ઞાચક્ષુ પંડિતશ્રી સુખલાલનો 'યોગદર્શન તથા યોગવિંશિકા'માં હિંદીમાં આપેલ 'પરિચય'માંથી અનુવાદ.

જૈન સંપ્રદાયમાં ઉપાધ્યાયજીનું સ્થાન, વૈદિક સંપ્રદાયમાં શંકરાચાર્ય જેવું છે.'[૫૩૨]

૬૨૯ પોતે શ્વેતામ્બર તપાગચ્છમાં હતા અને શ્રી અકબર-પ્રતિબોધક હીરવિજયસૂરિના શિષ્ય પં તર્કવિદ્યાવિશારદ પ્રસિદ્ધ ઉપાધ્યાય કલ્યાણવિજય, તેમના શિષ્ય સકલ શબ્દાનુશાસનનિષ્ણાત લાભવિજય, તેમના શિષ્ય પંડિત જીતવિજય, અને તેમના ગુરૂભાઈ નયવિજયના શિષ્ય હતા. તેમનું ન્યાય-તર્કનું જ્ઞાન અદ્‌ભુત હતું ને પોતે જબરા વાદી હતા. પોતાના સમયમાં ચાલતા અન્ય સંપ્રદાયો નામે દિગંબરમત, અને સ્વ શ્વેતાંબરમાંથી નિકળેલ મૂર્તિપૂજા-નિષેધક લોંકા સંપ્રદાય તથા બીજી જુદી જુદી વિધિ અને માન્યતામાં જુદા પડતા એવા નાની શાખાઓ રૂપી ગચ્છો નામે પાર્શ્વ-ચંદ્ર ગચ્છ, કડવાનો મત અને વીજાનો મત હતા. તદુપરાંત ધર્મ-સાગરે અનેક પ્રરૂપણાઓ કરી આખા શ્વે૦ ગચ્છના તંત્રને હલાવી મૂક્યું હતું અને પછી તેમના શિષ્યવર્ગે તે પ્રરૂપણા ચાલુ રાખી હતી. આ સર્વના મતોનો નિરાસ કરવા માટે પ્રમાણો આપવા ઉપરાંત તેમની કઠોર શબ્દોમાં ઝાટકણી કરી છે. દિગંબરો સામે ખાસ ગ્રંથો અધ્યાત્મમત પરીક્ષા, જ્ઞાનાર્ણવ (અનુપલબ્ધ) એ સંસ્કૃતમાં, અને હિંદીમાં દિક્પટ ચોરાસી બોલ, લોંકા-ઢુંઢીઆ સામે સંસ્કૃતગદ્ય ગ્રંથ નામે દેવધર્મપરીક્ષા, સં. કાવ્યમાં પ્રતિમાશતકના ૬૯ શ્લોકો અને તે પછી રચેલી તે પર સ્વોપજ્ઞ ટીકા, ગૂ૦ માં મહાવીર સ્તવન અને સીમંધર સ્તવનાદિ, ધર્મસાગર સામે ઉક્ત પ્રતિમાશતકમાંના ૯ શ્લોક, પ્રા. ધર્મપરીક્ષા અને તે પર સંસ્કૃત ટીકા રચેલ છે. આ ખંડનાત્મક ગ્રંથો રચવામાં પ્રેરણાત્મક વસ્તુ પોતાનો દઢ 'દર્શનપક્ષ' ▨ અને વળી 'કહે છે કે,' 'વિધિનું કહેવું', વિધિ પરની પ્રીતિ, વિધિની ઇચ્છા રાખનાર પુરૂષોને વિધિમાર્ગમાં પ્રવર્ત્તાવવા તથા અવિધિનો નિષેધ કરવો એ સર્વ અમારી જિનપ્રવચન પરની ભક્તિ

૫૩૨ ઉક્ત સુખલાલ પંડિતજીનો 'ગુરૂતત્ત્વ વિનિશ્ચય' એ નામના યશોવિજયજીકૃત ગ્રંથમાં 'ગ્રંથ અને કર્ત્તાનો પરિચય'.

પ્રસિદ્ધજ છે.' (અધ્યાત્મસારનો અનુભવાધિકાર શ્લો. ૩૧, ૩૨). આ દર્શનપક્ષ અને પ્રવચનભક્તિને પરિણામે આવા ગ્રંથો રચ્યા અને તેમાં પોતાની તર્કશક્તિનો ઉપયોગ કર્યો. તેજ તર્કશક્તિને પાતંજલ, સાંખ્યાદિ સર્વે દર્શનોનો સ્વદર્શન સાથે યુક્તિમાન્ સમન્વય કરવામાં પણ કામે લગાડી. એ રીતે યોગ અને અધ્યાત્મમાં ઉતરી આત્માનુભવ પણ પોતે પ્રાપ્ત કરી શક્યા.

૯૩૦ 'ન્યાયનો ચોથો નામે ફલ-કાળ—આ યુગમાં જે સાહિત્ય રચાયું, તે ફળરૂપ છે. ફળમાં બીજથી ફુલ સુધીના ઉત્તરોત્તર પરિપાકનો સાર આવી જાય છે, તેવી રીતે આ યુગના સાહિત્યમાં પહેલા ત્રણે યુગના સાહિત્યમાં થયેલો પરિપાક એક સાથે આવી જાય છે. આ યુગમાં જે જૈન ન્યાયસાહિત્ય રચાયું છે તેજ જૈન ન્યાયના વિકાસનું છેલ્લું પગથિયું છે; કારણકે ત્યારબાદ તેમાં કોઇએ જરાયે ઉમેરો કર્યો નથી. મલ્લિષેણની સ્યાદ્વાદમંજરી બાદ કરીને આ યુગના ફલાયમાન ન્યાયવિષયક ઉચ્ચ સાહિત્ય તરફ નજર કરીએ તો જણાશે કે તે અનેક વ્યક્તિઓના હાથે લખાયું નથી; તેના લેખક ફક્ત એક જ છે અને તે સત્તરમા અઢારમા સૈકામાં થયેલા, લગભગ સો (? સાઠ) શરદો સુધી મુખ્યપણે શાસ્ત્રયોગ સિદ્ધ કરનાર, સંસ્કૃત પ્રાકૃત ગૂજરાતી અને મારવાડી એ ચારે ભાષાઓમાં વિવિધ વિષયોની ચર્ચા કરનાર ઉપાધ્યાય યશોવિજયજી છે. ઉપાધ્યાયજીના, જૈન તત્ત્વજ્ઞાન, આચાર, અલંકાર, છંદ વગેરે અન્ય વિષયોના ગ્રંથોને બાદ કરી માત્ર જૈન ન્યાયવિષયક ગ્રંથો ઉપર નજર નાખીએ તો એમ કહેવું પડે છે કે, સિદ્ધસેન ને સમંતભદ્રથી વાદિદેવસૂરિ અને હેમચંદ્ર સુધીમાં જૈન ન્યાયનો આત્મા જેટલો વિકસિત થયો હતો, તે પૂરેપૂરો ઉપાધ્યાયજીના તર્કગ્રંથોમાં મૂર્તિમાન્ થાય છે; અને વધારામાં તે ઉપર એક કુશળ ચિત્રકારની પેઠે તેઓએ એવા સૂક્ષ્મતાના, સ્પષ્ટતાના અને સમન્વયના રંગો પૂર્યા છે, કે જેનાથી મુદિતમના થઇ આપોઆપ એમ કહેવાઇ જાય

છે કે, પહેલા ત્રણ યુગનું બંને (દિગંબર અને શ્વેતાંબર) સંપ્રદાયનું જૈન ન્યાયવિષયક સાહિત્ય કદાચ ન હોય અને માત્ર ઉપાધ્યાયજીનું જૈન ન્યાયવિષયક સંપૂર્ણ સાહિત્ય ઉપલબ્ધ હોય તોયે જૈન વાઙ્મય કૃતકૃત્ય છે.

૯૩૧ 'ઉપાધ્યાયજીએ અધિકારીભેદને ધ્યાનમાં રાખી, વિષયોની વહેંચણી કરી તે ઉપર નાના મોટા અનેક જૈન ન્યાયના ગ્રંથો લખ્યા. તેઓએ જૈનતર્કપરિભાષા જેવો જૈન ન્યાયપ્રવેશ માટે લઘુ ગ્રંથ રચી, જૈન સાહિત્યમાં તર્કસંગ્રહ અને તર્કભાષાની ખોટ પૂરી પાડી. 'રહસ્ય' પદાંકિત એકસો આઠ ગ્રંથો કે તેમાંના કેટલાક રચી જૈન ન્યાયવાઙ્મયમાં નૈયાયિક પ્રવર ગદાધર ભટ્ટાચાર્યના ગ્રંથોની ગરજ સારી; નયપ્રદીપ, નયરહસ્ય, નયામૃતતરંગિણી સહિત નયોપદેશ, સ્યાદ્વાદકલ્પલતા, ન્યાયાલોક, ખંડનખંડખાદ્ય, અષ્ટસહસ્રી ટીકા આદિ ગ્રંથો રચી જૈન ન્યાયવાઙ્મયને ઉદયનાચાર્ય, ગંગેશ ઉપાધ્યાય, રઘુનાથ શિરોમણિ અને જગદીશની પ્રતિભાનું નૈવેદ્ય ધર્યું. અધ્યાત્મસાર, અધ્યાત્મોપનિષદ્ જેવા ગ્રંથોથી જૈન ન્યાયવાઙ્મયનો ગીતા, યોગવાશિષ્ઠ આદિ વૈદિક ગ્રંથો સાથે સંબંધ જોડયો. થોડામાં એટલું જ કહેવું બસ છે કે, વૈદિક અને બૌદ્ધ સાહિત્યે દાર્શનિક પ્રદેશમાં સત્તરમા સૈકા સુધીમાં જે ઉત્કર્ષ સાધ્યો હતો, લગભગ તે બધા ઉત્કર્ષનો આસ્વાદ જૈન વાઙ્મયને આપવા ઉપાધ્યાયજીએ પ્રામાણિકપણે આખું જીવન વ્યતિત કર્યું અને તેથી તેઓના એક તેજમાં જૈન ન્યાયનાં બીજાં બધાં તેજો લગભગ સમાઈ જાય છે, એમ કહેવું પડે છે.'[૫૩૩]

૯૩૨ 'રહસ્ય' થી અંકિત પ્રમારહસ્ય, સ્યાદ્વાદ રહસ્ય, (કે વા અને) વાદરહસ્ય, ભાષારહસ્ય, નયરહસ્ય અને ઉપદેશરહસ્ય તેમણે રચ્યા છે તે નિર્વિવાદ છે. પ્રથમના ત્રણ અનુપલબ્ધ છે પણ તેનો

૫૩૩ પંડિત સુખલાલનો ભાવનગરની સાતમી ગુજરાતી સાહિત્ય પરિષદ્ માટેનો નિબંધ નામે 'જૈન ન્યાયનો ક્રમિક વિકાસ.'

પ્રકરણ ૩ જું

(અનુસંધાન)

અધ્યાત્મી યશોવિજય અને તેમના ગ્રંથો

વાદિવચન-કસણિ ચઢ્યોજી, તુજ શ્રુત-સુરમણિ ખાસ
બોધિ વૃદ્ધિ હેતેં કરેજી, બુદ્ધ જન તસ અસાસ.
સકલ મુનિસર સેહરો જી, અનુપમ આગમનો જાણ.
કુમત ઉત્થાપક એ જયોજી, વાચકકુલમાં રે ભાણ,
પ્રભવાદિક શ્રુતકેવલી જી, આગે હુઆ પટ જેમ,
કલિમાંહે જોતા થકા જી, એ પણ શ્રુતધર તેમ.
જશ વિદ્દીપક શાસને જી, સ્વસમય પરમત દક્ષ,
પોહચે નહિ કોઈ એહને જી, સુગુણ અનેરા શતલક્ષ.
'કુર્ચાલી શારદ' તણો જી, બિરૂદ ધરે સુવિદિત
બાલપણે અલવે જિણે જી, લીધો ત્રિદશગુરૂ જીત.

× × ×

શ્રી યશોવિજય વાચકતણા, હું તો ન લહું ગુણવિસ્તારો રે
ગંગાજલ કણિકા થકી એહના અધિક અછેં ઉપગારો રે
વચને રચન સ્યાદવાદનાં નય નિગમ આગમ ગંભીરો રે
ઉપનિષદો જિમ વેદનાં, જસ કવિ ન લહે કોઇ ધીરો રે
શીતલ પરમાનંદિની શુચિ વિમલસ્વરૂપા સાચી રે
જેહની રચના-ચંદ્રિકા રસિયા જણ સેવે રાચી રે
લઘુ બાંધવો હરિભદ્રનો કલિયુગમાં એ થયો બીજો રે
છતા યથારથ ગુણ સુણી કવિયણ બુધ કો મત ખીજો રે.
સંવેગી-સિરસેહરો ગુરૂ જ્ઞાનરયણનો દરિયો રે
કુમત-તિમિર ઉચ્છેદિવા એહવો બાલારૂણ દિનકરિયો રે.

—કાન્તિવિજય કૃત સુજસવેલિભાસ.

વાણી વાચક જશ તણી કોઈ નયે ન અધૂરી રે.

—સ્વકૃત શ્રીપાલરાસ ખંડ ૪ ઢાલ ૧૨.

૯૩૫ ઉપર જણાવેલ (પારા ૬૧૩-૧૫) આનંદઘનજી 'મારગ ચલત ચલત ગાત આનંદઘન પ્યારે, રહત આનંદ ભરપૂર.' એવી મસ્ત દશામાં વિહરતા હતા. લોકોત્તર કાંતિવાળા, સુમતિ સખીનો સંગ કદિ પણ ન તજનારા-એવા તેઓમાં લોકો છિદ્ર દેખતા પરંતુ તેમના ઉંચા યોગની અંતર્જ્યોતની ખ્યાતિ ઘણી હતી. આનંદદશામાં ફરતા આ આનંદઘનનો યશોવિજયને પરિચય થયો હતો અને તેમના ગુણાનુવાદ રૂપે-સ્તુતિ રૂપે પોતે હિંદીમાં રચેલ અષ્ટપદીમાં તે વાત સ્પષ્ટ કરી છે:—

'જશવિજય કહે સુન હો આનંદઘન! હમ તુમ મિલે હજૂર

× × × ×

જશવિજય કહે સુનત હિ દેખો, સુખ પાયો બોત અભંગ,

× × × ×

જશ કહે સોહી આનંદઘન પાવત અંતર જ્યોત જગાવે.

× × × ×

કોઇ આનંદઘન છિદ્ર હી પેખત જસરાયસંગ ચડી આયા
આનંદઘન આનંદરસ ઝીલત દેખતહી જસ ગુણ ગાયા.

એટલુંજ નહિ પરંતુ તેમનો પોતાના ઉપર પડેલ પ્રભાવ પણ તેમાં બતાવેલ છે:

એરી આજ આનંદ ભયો મેરે, તેરો મુખ નિરખ નિરખ
રોમ રોમ શીતલ ભયો અંગોઅંગ.
શુદ્ધ સમજણ સમતારસ ઝીલત, આનંદઘન ભયો અનંત રંગ-એરી
એસી આનંદદશા પ્રગટી ચિત્ત અંતર, તાકો પ્રભાવ ચલત નિરમલ ગંગ,
વાહી ગંગ સમતા દોઉ મિલ રહે, જસવિજય ઝીલત તાકે સંગ-એરી

× × × ×

૯૩૬ આ સાક્ષાત્ અનુભવરસંપન્ન મસ્ત યોગીને સહજ સંતોષ-સહજાનંદ ગુણ પ્રકટ્યો હતો, બધી દુવિધા (દ્વૈત ભાવ) મટી ગયેલી હતી એવા આનંદરસ ઝીલતા આનંદઘનનાં (જુઓ અષ્ટપદી પદ ૩) દર્શન-સમાગમ-સંગથી પોતે આનંદ ગંગા પ્રવાહ અને સમતા ઝીલતા રહ્યા. અને

આનંદઘન કે સંગ સુજસ હી મિલે જબ
તબ આનંદ સમ ભયો સુજસ,
પારસ સંગ લોહા જો ફરસત, કંચન હોત હી તાકે કસ.

૯૩૭ આ આનંદઘનજીનાં ૨૪ જિન સ્તવનોમાંના પ્રથમ ૨૨ પર યશોવિજયજીએ પોતે ગૂજરાતી બાલાવબોધ રચ્યો હતો કે જે હાલ અનુપલબ્ધ છે.

૯૩૮. એક બાજુ સુમતિ, બીજી બાજુ આવા અનુભવી યોગીનો સમાગમ—એ બંનેના યોગે યશોવિજયજીને અધ્યાત્મમાં અપૂર્વ રસ લાગ્યો હતો પોતાના ગ્રંથોમાં પણ આનંદઘન (પ્રતિમાશતક શ્લો. ૧૦૧), પરમાનંદ (દ્વાત્રિંશિકાની ૨૯ મી સિવાય બધી બત્રીશીઓ અંતે), પરમાનંદ, પૂર્ણાનંદઘન (જ્ઞાનસારના અંતમાં), ચિદાનંદ સહજાનંદ, ચિદ્રપાનંદ (અધ્યાત્મસાર અધિકાર ૧, ૨, ૭) એ શબ્દો મૂકી આનંદઘનજીનું સ્મરણ રાખ્યું જણાય છે. અધ્યાત્મના મુખ્ય ગ્રંથો અધ્યાત્મસાર અને જ્ઞાનસાર છે, અને હૃદયના ઉદ્ગારો રૂપે અધ્યાત્મ-રસપ્રેરિત હિંદીમાં કરેલ પદો છે, કે જેનું નામ 'જશ વિલાસ' અપાયું છે.

૯૩૯. જૈન દર્શનમાં તર્કપદ્ધતિમાં સ્યાદ્વાદ, કાર્યકારણ ભાવમાં કર્મવાદ પ્રસિદ્ધ છે તદુપરાંત ષડ્દ્રવ્ય અને નવતત્ત્વના ખાસ સિદ્ધાંત છે તે સર્વને અનુકૂળ રહીને અધ્યાત્મવાદનો સ્પષ્ટરીતે સમન્વય કરનાર યશોવિજય છે. તેમણે ભગવદ્ગીતા, યોગવાશિષ્ઠ અને પાતંજલ યોગદર્શનને અવગત બરાબર કર્યાં હતાં અને પોતાની મૌલિક પૃથ-ક્કરણ અને સમન્વય કરવાની બુદ્ધિ અને શક્તિથી જૈનદૃષ્ટિને અનુ-કૂલ રહી આધ્યાત્મિક વચનોના સમૂહમાંથી શાસ્ત્રીયપદ્ધતિપુરઃસર અને તર્કપ્રચુર બુદ્ધિગ્રાહ્ય જે અધ્યાત્મશાસ્ત્રની રચના કરી છે, તે કૃતિ અધ્યા-ત્મસાર. તેમાં શાસ્ત્ર, અને સંપ્રદાય બે બંને ઉપરાંત પોતાનો અનુ-ભવયોગ પણ મિશ્રિત કર્યો છે. (જુઓ તેનો પ્રથમ અધિકાર શ્લો. ૭). મનુષ્યનું ચંચલ મન, તેની જુદી જુદી પ્રવૃત્તિ–પ્રકૃતિ, વગેરેનું

માનસશાસ્ત્રના જ્ઞાનપૂર્વક નિરૂપણ કરવા ઉપરાંત જૈનદર્શનવિહિત ગુણસ્થાનની શ્રેણીઓ સાથે અધ્યાત્મનો સંબંધ ઘટાવ્યો છે. પોતે જણાવે છે કે 'શાંતહૃદયવાળાને શોક, મદ, કામ, મત્સર, કલહ, કદાગ્રહ, વિષાદ અને વૈર એ સર્વે ક્ષીણ થાય છે અને એ બાબતમાં અમારો અનુભવજ સાક્ષી છે' (અનુભવાધિકાર શ્લો. ૧૮) તેજ અધિકારના ૨૬ મા શ્લોકમાં 'બ્રહ્મજ્ઞાનીના વચનથી પણ અમે બ્રહ્મના વિલાસને અનુભવીએ છીએ' એટલે અમે અમારી બુદ્ધિવડે તેને સાક્ષાત્ જાણીએ છીએ એમ પોતે કહ્યું છે. ટુંકામાં પોતાને અનુભવના ચમત્કાર થયા હતા એમ તે અધ્યાત્મસારના ઘણા શ્લોકો પરથી જણાય છે.

૯૪૦ છતાં પોતે સંપૂર્ણ આચાર પાળવામાં અસમર્થ છે એમ પણ જણાવે છે 'પૂર્ણ આચારને પાળવામાં અસમર્થ એવા અમે ઇચ્છાયોગનું અવલંબન કરીને પરમ મુનિઓની ભક્તિવડે તેમની પદ્મી-માર્ગને અનુસરીએ છીએ' (અધ્યાત્મસાર અનુભવાધિકાર શ્લો. ૨૯); અને છેવટે પોતે સં. ૧૭૩૮ માં શ્રીપાળરાસની છેલ્લી ઢાળમાં પોતાને પ્રત્યક્ષ અનુભવ થઇ ગયાનું સ્પષ્ટ જણાવ્યું છે કે

માહરે તો ગુરૂચરણપસાયે અનુભવ દિલમાંહિ પેઠો
ઋદ્ધિ વૃદ્ધિ પ્રગટી ઘટમાંહે આતમરતિ હુઇ બેઠો રે
મુઝ સાહિબ જગનો તૂઠો. ૧૦

આ અનુભવ થયા પછી ભક્તિપૂર્વક પૂર્ણ આચાર પાળી પરમસાધ્ય-મોક્ષનો પૂર્ણ અભિલાષ પૂર્ણ થતાં બહુ વાર લાગતી નથી.

ખીર નીર જો મિલ રહે, આનંદ, જસ સુમતિ સખી કે સંગ
ભયો હે એક રસ,
ભવ ખપાઈ સુજસ વિલાસ, ભયે સિદ્ધ સ્વરૂપ લીયે ધસમસ
આનંદઘનકે સંગ સુજસ હી મિલે જબ, તબ આનંદસમ
ભયો સુજસ.

૯૪૧ તેમના ગ્રંથો—ઘણા મુદ્રિત થયા છે, થોડા અમુદ્રિત છે; ને લબ્ધ થતા અમુદ્રિત ગ્રંથો કરતાં વિશેષ ગ્રંથો અનુપલબ્ધ

છે. મુદ્રિતમાં જૈ. પ્ર. સભા તરફથી પ્રકટ થયેલ યશોવિજય ગ્રંથ-માલા એ નામના સંગ્રહમાં દશ નામે ૧ અધ્યાત્મસાર ૨ દેવધર્મ-પરીક્ષા ૩ અધ્યાત્મોપનિષદ્ ૪ આધ્યાત્મિકમતખંડન સટીક ૫ યતિલક્ષણ સમુચ્ચય, ૬ નયરહસ્ય ૭ નયપ્રદીપ ૮ નયોપદેશ ૯ જૈનતર્ક પરિભાષા અને ૧૦ જ્ઞાનબિંદુ; ઉપરાંત છૂટા ગ્રંથરૂપે ૧૧ દ્વાત્રિંશત દ્વાત્રિંશિકા સટીક, ૧૨ શિવશર્માચાર્ય પ્રણીત કમ્મ-પયડી-કર્મપ્રકૃતિ પર સં. ટીકા, ૧૩ જ્ઞાનસાર (સ્વ. ગંભીરવિજય મુનિશ્રીની સં. ટીકા સહિત) ને ઉક્ત નં. ૧ ગૂજરાતી ભાષાંતર અને વિવેચન સહિત પ્રકટ થયેલા છે. આ. સભા તરફથી ૧૪ અસ્પૃશદ્ ગતિવાદ સટીક (અપૂર્ણ), ૧૫ ગુરૂતત્ત્વ વિનિશ્ચય પ્રા૦માં, ને તે પર સ્વોપજ્ઞ સં. ટીકા (નં. ૭૮), ૧૬ પ્રા. સામા-ચારી પ્રકરણ સં. ટીકા સહિત, ૧૭ આરાધક વિરાધક ચતુર્ભંગી પ્રકરણ (નં. ૫૫), ઉક્ત નં. ૧૩ તે દેવચંદ્રકૃત ટીકા નામે જ્ઞાન-મંજરી સહિત (નં. ૩૮), ૧૮ ઉક્ત નં. ૮ પર ન્યાયામૃતતરં-ગિણી નામની સ્વોપજ્ઞ ટીકા (આત્મવીર ગ્રં. નં. ૬), ૧૯ પ્રતિમાશતક (ભાવપ્રભસૂરિ કૃત લઘુ ટીકા સહિત-નં. ૪૨) તથા આ૦ જૈન પુ. પ્ર. મંડલ આગ્રા તરફથી પં. સુખલાલ સંપાદિત ૨૦ પાતંજલ-યોગ સૂત્રના ચતુર્થ (કૈવલ્ય) પાદ પર વૃત્તિ તથા ૨૧ યોગવિંશિકા પર વિવરણ પ્રસિદ્ધ થયેલ છે.

૯૪૨ દે૦ લા૦ તરફથી ૨૨ અધ્યાત્મમતપરીક્ષા સવૃત્તિ (નં. ૫), ૨૨ હરિભદ્ર સૂરિકૃત શાસ્ત્રવાર્તાસમુચ્ચય પર સ્યાદ્-વાદ કલ્પલતા નામની ટીકા (નં. ૧૬), ૨૩ હરિભદ્રસૂરિકૃત ષોડશક પર યોગદીપિકા નામની વૃત્તિ (નં. ૬); શેઠ મ૦ભ૦ તરફથી ૨૫ ઉપદેશરહસ્ય સવૃત્તિ, ૨૬ ન્યાયાલોક, ૨૭ મહાવીર સ્તવન સટીક અપરનામ ન્યાયખંડનખાદ્ય પ્રકરણ, ૨૮ ભાષારહસ્ય સટીક, ૨૯ તત્ત્વાર્થવૃત્તિ પ્રથમાધ્યાય વિવરણ; ભી૦મા૦ તરફથી ગૂ. સાનુવાદ

અર્ધી ૩૦ વૈરાગ્યકલ્પલતા, નં. ૧ નું અધ્યાત્મસાર તથા ઉક્ત નં. ૨૦ નું પ્રતિમાશતક ગૂ. ભાષાંતર સહિત; હે૦ ગ્રં. દ્વારા ૩૧ ધર્મપરીક્ષા સવૃત્તિ. રતલામની ઋ. કે. ની સંસ્થા તરફથી ૩૨ ચતુર્વિંશતિ જિન-ઐંદ્ર સ્તુતયઃ; મુક્તિકમલ જૈન મોહનમાલા વડોદરા તરફથી ૩૩ પરમજ્યોતિઃ પંચવિંશતિકા. ૩૪ પરમાત્મ જ્યોતિઃ પંચવિંશતિકા (કે જે બે પં. લાલનકૃત ગૂ. ભા. સહિત મેઘજી હિરજીએ પણ છપાવી હતી), ૩૫ પ્રતિમા સ્થાપન ન્યાય, ૩૬ પ્રતિમાશતક પર સ્વોપજ્ઞ વૃત્તિ, ૩૭ માર્ગપરિશુદ્ધિ છપાયેલ છે.

૯૪૩ ઉપલબ્ધ પણ અપ્રકટ કૃતિઓઃ—૧ અનેકાંતમત વ્યવસ્થા (વિજયવલ્લભસૂરિ હસ્તકનો પંજાબનો ભંડાર), ૨ સમન્તભદ્રકૃત આપ્ત પરીક્ષા ઉપર દિ૦ અકલંક દેવના ૮૦૦ શ્લોકના ભાષ્ય પર દિ૦ વિદ્યાનંદસ્વામીની આઠ હજાર શ્લોકની ટીકા નામે અષ્ટસહસ્રી પર વિવરણ (ભાં. ઈ. પી. ૬ પૃ. ૩૮). આમાં કેટલાક ૩ સ્યાદ્વાદમંજરી પર વૃત્તિ નામે સ્યાદ્વાદમંજૂષા, ૪ સ્તોત્રાણિ-સ્તોત્રાવલિ, ૫ સ્તવપરિજ્ઞા પદ્ધતિ ઉમેરે છે.

૯૪૪ અનુપલબ્ધ કૃતિઓઃ—૧ આકર, ૨ મંગલવાદ, ૩ વિધિવાદ, ૪ વાદમાલા, ૫ ત્રિસૂત્ર્યાલોક, ૬ દ્રવ્યાલોક, ૭ પ્રમારહસ્ય, ૮ 'સ્યાદ્વાદ રહસ્ય—અથવા યા અને-વાદરહસ્ય, ૯ જ્ઞાનાર્ણવ, ૧૦ કૂપદૃષ્ટાંતવિશદીકરણ ૧૧ અલંકારચૂડામણી ટીકા, તત્ત્વાર્થ ટીકામાં પ્રથમાધ્યાય સિવાયના બીજા અધ્યાયો પરની ટીકા, ૧૨ આત્મખ્યાતિ. આ સર્વેનો પોતાના ઉપલબ્ધ ગ્રંથોમાં ઉલ્લેખ મળે છે તેથી તે ગ્રંથો તેમના રચેલા હોવાનું સુનિશ્ચિત છે. આ ઉપરાંત કેટલાક બીજા ગ્રંથો ઉમેરે છે કે ૧ અધ્યાત્મબિંદુ, ૨ કાવ્યપ્રકાશ ટીકા, ૩ છંદઃચૂડામણિ ટીકા, ૪ તત્ત્વાલોક વિવરણ, ૫ વેદાન્ત નિર્ણય, ૬ વૈરાગ્યરતિ, ૭ શઠ પ્રકરણ, ૮ સિદ્ધાન્ત તર્ક પરિષ્કાર, ૯ સિદ્ધાંતમંજરી ટીકા વગેરે.

૯૪૫ ઉપરોક્ત ગ્રંથો પૈકી એકમાં પણ રચના સંવત્ આપેલ નથી તેથી તેનો નિર્માણકાલ આશરે નિશ્ચિત કરવા માટે જેટલા ગ્રંથો પ્રસિદ્ધ થયા છે તે સર્વ તથા અપ્રસિદ્ધ પૈકી અનેકાંતવ્યવસ્થા અને વિચારબિંદુ પ્રાપ્ત કરી તેમાં ઉલ્લેખેલા પોતાના સર્વ ગ્રંથોનું કોષ્ઠક કરી તે સર્વેનો પૌર્વાપર્યક્રમ (કયા પછી કયો રચાયો તેનો ક્રમ) બને તેટલો નિર્ણિત મેં કરી રાખ્યો છે પણ તે અત્ર અવકાશાભાવને લઇને ખુલાસા સહિત બતાવ્યો નથી. આ મહાપુરૂષ મોટા ભાગે પોતાની રચનાના પ્રારંભમાં ऐंद्र શબ્દ મૂકતા; તે શબ્દનો પહેલો અક્ષર ऐं એ મંત્રના બીજાક્ષરથી સરસ્વતીદેવીએ તેમને ગંગાનદીને કાંઠે તુષ્ટ થઇ તર્ક અને કાવ્યનો વર આપ્યો હતો એમ પોતેજ જણાવે છે.

પ્રકરણ ૪થું.

વિનયવિજય, મેઘવિજય અને બીજાઓનું સાહિત્ય.

नटरागेण गीयते महावीर मेरो लालन ए देसी

संयमवाङ्मय कुसुमरसैरति सुरभयनिजमध्यवसायं ।
चेतनमुपलक्षय कृतलक्षण ज्ञानचरण गुणपर्यायं ॥
वदनमलंकुरु पावनरसनं जिनचरितं गायं गायं ।
सविनय शांतिसुधारसमेनं चिरं नंद पायं पायं ॥

—સંયમના પ્રતિપાદક જૈન વાઙ્મયરૂપી પુષ્પના રસવડે પોતાના અધ્યવસાયને-પરિણતિને-મનોવૃત્તિને અતિ સુરભિ-સુગંધિત કર, જ્ઞાનચરણ ગુણ પર્યાયરૂપ લક્ષણનું કરનારૂં એવું જે તારૂં ચેતન તેને તું ઓળખ. જીભને પાવન-પવિત્ર કરનારા પ્રભુના ચરિતને ગાઇ ગાઇને હે વિનયવાળા આત્મન્ ! આ શાન્તિસુધારસને પી પીને લાંબા કાળસુધી આનન્દમાં મગ્ન રહે. (વિનયવિજયકૃત શાંતસુધારસ ગેયકાવ્યમાં સંવરભાવના વિભાવન નામનો અષ્ટમ પ્રકાશ-છેલ્લા બે શ્લોક.)

जहे भूमावति विषमताऽन्योन्यसाम्राज्यदौस्थ्यात्
कश्चिन्मां नो नयति यतिनामीशितु र्वात्तवार्त्ताम ।
तत्त्वां याचे स्ववशमवशा स्पृष्टविश्वोपकारं
यांचा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥

—પરસ્પરની સામ્રાજ્યની દુઃસ્થિતિ થતાં પૃથ્વીપર અતિ વિષમતા થઇ, તેથી કોઇપણ, યતિઓના ઈશ્વર-આચાર્યની કુશલવાર્ત્તા મને પહોંચાડતું નથી; તેથી સ્વાધીન અને પરવશ થયા વગર વિશ્વનો ઉપકાર જે કરી રહેલ છે એવા તને યાચના કરૂં છું કારણ કે મહાગુણવાન્ પ્રત્યે કરેલી યાચના વૃથા જાય તોયે ઇષ્ટ છે, પણ અધમને કરેલી યાચના મનોરથ પૂરે તો પણ ઇષ્ટ નથી (મેઘવિજય કૃત મેઘદૂત સમસ્યાલેખ શ્લો. ૬)

(આ જમાનો ઔરંગઝેબનો હતો-ભારતમાં સર્વત્ર અરાજકતા અને અશાંતિ ફેલાઈ ગઇ હતી. મનુષ્યોને એક પ્રદેશથી બીજા પ્રદેશમાં જવાનું

થવું કઠિન અને ભયપ્રદ હતું–આ વાત ઉપરના મેઘવિજયના પદ્યથી સ્પષ્ટ જણાય છે.)

૯૪૬ **વિનયવિજય** નામના યશોવિજયના સમકાલીન અને વિશ્વાસભાજન ઉપાધ્યાય એક પ્રતિભાશાલી નામાંકિત વિદ્વાન્ થયા. માતાનું નામ રાજશ્રી–રાજબાઈ અને પિતાનું નામ તેજપાળ હોઈ (જુઓ તેમના 'લોકપ્રકાશ' ગ્રંથની અંતની પ્રશસ્તિ) મૂળ વણિક હતા. મુનિ તરીકે હીરવિજય સૂરિના શિષ્ય કીર્ત્તિવિજયના શિષ્ય હતા. તેમણે નૈષધાદિ મહાકાવ્યોનો અભ્યાસ કર્યો હતો ને તેમની પોતાની હાથની સં. ૧૬૮૪ ના ચૈત્ર વદિ ૧૦ શુક્રને દિને ૧૨ મા સર્ગ સુધીની નૈષધકાવ્ય પરની રામચંદ્ર વિરચિત શ્રી શેષી નામની ટીકાની પ્રત ઉપલબ્ધ છે. (જૈ. એ. ઈંડિયા નં. ૧૨૦૬) સ્વર્ગસ્થ રાંદેરમાં સં. ૧૭૩૮ (જુઓ તેમના શ્રીપાળરાસની યશોવિજય કૃત પ્રશસ્તિ).

૯૪૭ તેમનાં રચેલાં સંસ્કૃત પુસ્તકોઃ–કલ્પસૂત્ર પર ૬૫૮૦ શ્લોક પ્રમાણ કલ્પસુબોધિકા નામની ટીકા વિજયાનંદ સૂરિના રાજ્યમાં સં. ૧૬૯૬માં રામવિજય પંડિતના શિષ્ય શ્રીવિજય ગણિની અભ્યર્થનાથી રચી અને તે વિમલહર્ષ શિષ્ય ભાવવિજય ગણીએ શોધી. (પ્ર. દે. લા. નં. ૬, અને ૬૧; આ૦ સભા નં. ૩૧; લી. મા;) પછીના વર્ષમાં બારેજાથી ખંભાત વિરાજતા ઉક્ત વિજયાનંદસૂરિને લખેલ વિજ્ઞપ્તિ લેખ નામે **આનંદ લેખ** (જૈનયુગ પુ. ૫ અંક ૪–૫), દીવમાં વિજયસિંહસૂરિની વિદ્યમાનતામાં ૨૩ શ્લોકની **નયકર્ણિકા** (પ્ર. જૈનસ્તોત્ર સંગ્રહમાં ય. ગ્રં. નં. ૭; ગૂ. ભા. સહિત પં. લાલન તથા લેખક, અને લેખકે અંગ્રેજી ભાષાંતર કરેલ તે પ્ર. સેંટ્રલ જૈન પબ્લિશિંગહાઉસ આરાહ), વિજયપ્રભસૂરિના આચાર્યપદના વર્ષમાં સં. ૧૭૦૮ માં જૂનાગઢમાં મહાન્ ગ્રંથ નામે **લોકપ્રકાશ** (પ્ર. હી૦ હં; દે. લા. નં. ૬૫ અને ૭૪: તે પૈકી દ્રવ્યલોક ગૂ૦ ભાષાંતર સહિત આ. સ. નં. ૫૭. વે. નં. ૧૭૭૨; મિત્ર ૮, ૬૪) પદ્યબદ્ધ, વીસહજાર શ્લોક પ્રમાણ રચ્યો તેમાં જૈનદષ્ટિએ આખા

વિશ્વ-લોકનું વર્ણન(Cosmology) છે, તેનું સંશોધન ઉત્તરાધ્યયન-વૃત્તિકાર ઉક્ત ભાવવિજયગણિએ કર્યું ને પ્રથમાદર્શ જિનવિજય ગણિએ લખ્યો. સં. ૧૭૧૦ માં રાજધન્યપુર (રાધનપુર) માં હૈમલઘુ પ્રક્રિયા મૂલ(પ્ર. જૈન. સભા.) અને તે પર સ્વોપજ્ઞ ટીકા ૩૪૦૦૦ શ્લોકના પૂર વાળા અપ્રસિદ્ધ છે; સુરત વિરાજેલા વિજયપ્રભસૂરિ પર લખેલ વિજ્ઞપ્તિ લેખ નામે ઇંદુદૂત (પ્ર. કાવ્યમાલા નિ. પ્રે.) કે જેમાં આબુ, સિદ્ધપુર, અમદાવાદ, વડોદરા, ભરૂચ અને પછી સુરતનાં સુંદર વર્ણન કરેલાં છે, સોળ ભાવના પર શાંતિસુધારસ સં. ૧૭૨૩ માં ગંધપુર-ગંધારમાં (પ્ર. પ્રકરણ રત્નાકર ભા. ૩; ગંભીરવિજયજી કૃત ટીકા સહિત જૈ. ધ.) કે જેમાં જુદા જુદા રાગોમાં ભાવવાહી સંસ્કૃત પદો છે, સં. ૧૭૩૧ માં અર્હન્નમસ્કાર સ્તોત્ર (વિવેક૦ ઉદે.) તથા તે વર્ષમાં જિનસહસ્રનામ (કાં. છાણી) રચ્યાં. આ ઉપરાંત ઉક્ત ભાવવિજયગણિકૃત ષટ્ ત્રિંશજ્જલ્પના સંક્ષેપ તરીકે ષટ્ત્રિંશત જલ્પ સં. ગદ્યમાં રચેલ છે (કાં. છાણી)

૯૪૮ તેઓ યશોવિજયના કાશીમાં સહાધ્યાયી હતા એ વાત નિર્મૂળ ઠરે છે; યશોવિજય સાથે તેમના ગુરૂ નયવિજય કાશીએ ગયેલા તે પરથી નયવિજયને બદલે વિનયવિજય સમજાઈ ભ્રમ થયેલો જણાય છે. તેમની અનેક ગૂજરાતી કૃતિઓ માટે જુઓ જૈન ગૂર્જર કવિઓ ભાગ ૨. તે પૈકી શ્રીપાળરાસ અતિ પ્રસિદ્ધ છે ને તપાગચ્છના જૈન સમુદાયમાં ઘેર ઘેર વંચાય છે, ગવાય છે. તે રાસ અપૂર્ણ મૂકી સ્વર્ગસ્થ થયેલા, એટલે તે યશોવિજયે પૂરો કર્યો. [ચરિત્ર માટે જુઓ અમારી નયકર્ણિકા ગૂજરાતી તેમજ અંગ્રેજીની પ્રસ્તાવના]

૯૪૯ આ સમયમાં સુરતના દશાશ્રીમાળી વણિક લવજીએ લોંકા સંપ્રદાયમાં દીક્ષા લીધી. ગુરૂને તજીને બીજા બે નામે ભાણોજી અને સુખોજીને લઇ ઉગ્ર શાસ્ત્રોક્ત ક્રિયા પાળી શકાય એમ બતાવવા જુદા પડ્યા (સં. ૧૬૯૨ કે ૧૭૦૫). મુખ પર લુગડાની પટીમુહપત્તિ બાંધી.

ખંડેર મકાન કે જેને ગુજરાતમાં 'ઢુંઢ' કહે છે તેમાં વાસ કરતા રહ્યા તેથી (યા તો ઢૂંઢક એટલે શોધકના અર્થમાં) 'ઢુંઢીયા'[૫૩૫] કહેવાયા. લવજીનો શિષ્ય સોમજી નામનો અમદાવાદ કાલુપુરનો ઓસવાલ (દશા પોરવાડ) શ્રાવક થયો તેણે સૂર્યની આતાપના ગ્રહણ કરી. 'પ્રથમ સાધ લવજી ભયે, દ્વિતીય સોમ ગુરૂ ભાય', એમ તેમનામાં બોલાય છે. એક ગુજરાતવાસી (અમદાવાદ પાસેના સરખેજ ગામના) ધર્મદાસ છીપા (ભાવસાર) પોતાની મેળે-જાતે દીક્ષા લઈ મુખ ઉપર પટ્ટી બાંધી ઢુંઢીયાના

---

૫૩૫ 'ઢુંઢીયા' એ શબ્દ યશોવિજયના યુગમાં-૧૮ મી સદીમાં પ્રચલિત હતો એ નિઃશંક છે. ખરતર ગચ્છમાં થયેલ ધર્મવર્ધન-ધર્મસિંહે (સં. ૧૭૧૭-૫૭) તે નામના સાધુઓ પર તિરસ્કારસૂચક કવિતો રચ્યાં છે. તેમાંથી બે નીચે પ્રમાણે છે.

આયાં ને ઉપદેસ પ્રથમ પ્રતિમા મત પૂજો
વાંદો મત અમ વિના દરસણી જતી દૂજો
દીજે વલિ નહી દાન ભવે બીજે ભોગવનાં
આગમ કંઈ ઉત્થપે લોહસું જડીયા લવણા
સીખ દો સીખ ન હુવે સમા ખોટી જડ રાખું ઢીયા
પારકી નિંદા કરતા પ્રગટ ધર્મા કિહાંથી ઢુંઢીયા ?
લૂંકાથી નિકલે મતિહીન મલધારી

* * * *

પૂજાદાન ઉથાપિ સૂંબ મને હુઆ સુહાણા
ઢૂઢ પંથ સોહિલો નિપટ દુખ ખરચત નાણાં
શ્રાવક પંથ તજ સુંબડા, મુનિ રઢ માંડે મૂઢિયા
પંથ બિન્હે છંડિ ઉજડ પડયા, ઢૂઢસ ઓલે ઢૂંઢિયા.

વળી પૌ૦ ભાવપ્રભસૂરિ (સં. ૧૭૬૯-૯૯) એ એક સવૈયામાં ગાળોના વરસાદથી લખ્યું છે તે ગાળો કાઢીને એ છે કેઃ—

* * * * * બડે ઢુંઢિયે
પૂજા પ્રતિમા ઉવેખી દૂજો ભયે ગુરૂદ્વેષી * * ન ગૃહી ન મુંડીયે.

યશોવિજયજીએ પોતે તો પ્રતિમાશતકમાં 'લુંપક' શબ્દ કટાક્ષમાં વાપર્યો છે.

સાધુ તરીકે બહાર પડયા-અમદાવાદમાં સં. ૧૭૧૬ માં [આ માટે જુઓ આત્મારામજીકૃત 'જૈન તત્ત્વાદર્શ' ૧૨ મો પરિચ્છેદ વિજયપ્રભસૂરિનો સમય, તથા રા. વાડીલાલ કૃત 'સાધુમાર્ગી જૈન ધર્માનુયાયીઓએ જાણવા જોગ કેટલીક ઐતિહાસિક નોંધ' પૃ. ૮૪ થી ૯૦]

૯૫૦. **સત્યવિજય** નામના ત૦ વિજયસિંહસૂરિના શિષ્ય થયા. તેમણે ક્રિયાઉદ્ધાર કરવા ગુરૂની અનુમતિ માગી. ગુરૂએ 'સુખ થાય તેમ કરો' એ પ્રમાણે કહેતાં તેઓ એકાકીપણે છઠ્ઠછઠ્ઠના તપ પૂર્વક આખા મેવાડ અને મારવાડમાં વિહાર કર્યો. ક્રિયાઉદ્ધાર એટલે આકરૂં તપ, આકરી ક્રિયા અને આકરા પરિષહ-એ દ્વારા લોકોમાં ધર્મની ઉત્તમ છાપ પાડી તેમને ધર્મમાં દૃઢ શ્રદ્ધાવાળા કરવા અને ચલિત ન થવા દેવા. અમૂર્તિપૂજકોનું જોર પોતાની આકરી ક્રિયાથી મેવાડ-મારવાડમાં વિશેષ વધુ ચાલ્યું હતું તેથી આ મુનિના ક્રિયોદ્ધારથી પ્રત્યાઘાત થયો. સં. ૧૭૨૯ માં વિજયપ્રભસૂરિ પાસેથી પંન્યાસપદ સોજતમાં મળ્યું ને ૮૨ વર્ષની વયે સં. ૧૭૫૬ માં પાટણમાં સ્વર્ગવાસ થયો. કહે છે કે તેમણે રંગીન (પીળાં) વસ્ત્ર પ્રતિમાઉત્થાપક પક્ષથી અલગ તરીકે ઓળખાવા ગ્રહણ કર્યાં હતાં અને ત્યારથી અત્યારસુધી તપાગચ્છમાં તેવાં વસ્ત્રો મુનિઓથી પહેરાતાં ચાલ્યાં આવ્યાં લાગે છે. [વિશેષમાટે જુઓ મારો ગ્રંથ 'જૈન ઐ૦ રાસમાળા'માં પ્રસ્તાવના પૃ. ૩૭ થી ૪૪, ને નિર્વાણરાસ પૃ. ૧૦૮-૧૧૭.]

૯૫૧. **મેઘવિજય**—યશોવિજયના સમસમયે હીરવિજયસૂરિનીજ પરંપરામાં (હીરવિજય-કનકવિજય-શીલવિજય-સિદ્ધિવિજય, કમલવિજય અને ચારિત્રવિજય એ ત્રણ પૈકી કમલવિજય-કૃપાવિજયના શિષ્ય) મેઘવિજય ઉપાધ્યાય થયા. તેઓ વ્યાકરણ, ન્યાય, સાહિત્યના વિષયો ઉપરાંત આધ્યાત્મિક અને જ્યોતિર્વિદ્યામાં પ્રવીણ હતા. તેઓ પોતાના દરેક ગ્રંથનો આરંભ 'ॐ ह्रीँ श्रीँ क्लीँ अर्हं ऐँ नमः' એ મંત્રથી કરતા.

૯૫૨. દેવાનન્દાભ્યુદય મહાકાવ્ય ઐંકારથી અંકિત સં. ૧૭૨૭ માં સાદડીમાં રચી પૂર્ણ કર્યું. તેમાં પ્રતિશ્લોકે મહાકવિ **માઘ** રચિત માઘકાવ્યના પ્રતિશ્લોકનું છેલ્લું પાદ લઇ તેની સાથે પોતે ઉપજાવેલા ત્રણ પાદો સુંદર રીતે સંઘટિત કરીને તેમાં સાત સર્ગમાં વિજયસેન-સૂરિના પટ્ટધર વિજયદેવસૂરિનું ભિન્નભિન્ન સમયનું ઇતિવૃત્ત એક ઇતિહાસરૂપે કવિતામાં પરિણમાવ્યું છે (લગભગ અઢીસર્ગ પ્ર. યશો. ગ્રંથમાલા). **મેઘદૂત** મહાકાવ્યના દરેક શ્લોકનું છેલ્લું પાદ આબાદ રાખી તેના ત્રણ પાદ પોતે રચી **મેઘદૂત** સમસ્યા લેખ તરીકે ૧૩૦ શ્લોકનું કાવ્ય રચ્યું છે. ઉક્ત વિજયદેવ સૂરિના પટ્ટધર વિજયપ્રભસૂરિ દેવપત્તનમાં ચાતુર્માસ હતા ત્યારે પોતે અવરંગાબાદ-દેવગિરિ હતા ત્યાંથી વિજ્ઞપ્તિ લેખરૂપે આ કાવ્ય તેમને મોકલેલ હતું.[૫૩૬] (પ્ર૦ આ૦ સભા નં. ૨૪).

તે વિજયપ્રભસૂરિના જીવનવૃત્તાંત તરીકે તેર સર્ગમાં સ્વોપજ્ઞ ટિપ્પણ સહિત દિગ્વિજય મહાકાવ્ય પણ રચ્યું છે; તેમાં તે સૂરિના પુર્વના આચાર્યોના ટૂંક ઇતિહાસ સાથે વિજયપ્રભસૂરિનાં કર્ત્તવ્યો વિહારો ચોમાસાંઓ પ્રભૃતિ ઘણા વિષયો વર્ણવ્યા છે. (અમુદ્રિત) અને તપા-ગચ્છ પટ્ટાવલી રચેલ છે. આ બધા પરથી ઐતિહાસિક વિગતો મળી આવે છે.

૯૫૩. કાવ્યની ચમત્કૃતિમાં એક વિશેષ પાદપૂર્ત્તિનો જબરો પ્રયત્ન પોતાના **શાન્તિનાથ** ચરિત્રમાં કર્યો છે અને તેને નૈષધીય સમસ્યા એવું નામ પણ આપ્યું છે. તેમાં મહાકવિ હર્ષ વિરચિત નૈષધીય મહાકાવ્યનું પ્રતિશ્લોકનું એક પાદ લઇને પોતાનાં નવાં ત્રણ પાદો સાથે મેળવી છ સર્ગમાં તે રચ્યું છે. આ સર્વે કરતાં અતિ ચમ-ત્કારક કાવ્ય તો તેમનું સં. ૧૭૬૦ માં રચેલું **સપ્તસંધાન** મહાકાવ્ય

---

૫૩૬ આને અંતે પોતે જણાવ્યું છે કેઃ—

माघकाव्यं देवगुरो र्मेघदूतं प्रभप्रभोः ।

समस्यार्थं समस्यार्थं निर्ममे मेघपण्डितः ॥

છે. તે નવ સર્ગમાં વિભક્ત છે. તેમાં પ્રતિશ્લોક ઋષભદેવ, શાંતિનાથ, નેમનાથ, પાર્શ્વનાથ, મહાવીર એ પાંચ તીર્થંકરો તથા રામચંદ્ર ને કૃષ્ણવાસુદેવ એમ સાતના જીવનને લાગુ પડે છે, એટલે કે એકજ શ્લોક આ સાતે મહાપુરૂષો સંબંધી એકજ જાતના શબ્દથી જુદી જુદી હકીકત વર્ણવે છે (પ્ર૦ જૈન વિવિધ સાહિત્ય શાસ્ત્રમાલા નં. ૩). આ કાવ્ય પર પોતે ટીકા પણ રચી છે (અમુદ્રિત) વળી પોતે શિષ્ય મેરૂવિજય અર્થે બનાવેલી પંચતીર્થ સ્તુતિમાં એક એકના પાંચ અર્થ થાય છે (મુનિ વિચક્ષણવિજય પાસે) કે જે ઋષભનાથ, શાંતિનાથ, સંભવનાથ, નેમિનાથ અને પાર્શ્વનાથને લાગુ પડે છે. સાથે વૃત્તિ પણ આપી છે. માનતુંગસૂરિ વિરચિત ભક્તામર સ્તોત્ર પર તેમણે ટીકા કરી છે.

૯૫૪. લોક-સાહિત્યમાં પંચાખ્યાન (પંચતંત્ર) પોતાની ભાષામાં રચ્યું છે અને કથાચરિત્રમાં લઘુત્રિષષ્ઠિચરિત્ર ૫૦૦૦ શ્લોક પ્રમાણ હેમાચાર્યના વિસ્તૃત ચરિત્ર પરથી રચ્યું કે જેમાં ૬૩ શલાકા પુરૂષોનાં ટુંક ચરિત્ર છે. પંચમી કથા રચી છે (પં. હંસવિજય)

૯૫૫. વ્યાકરણના વિષયમાં ચંદ્રપ્રભા (હૈમીકૌમુદી) નામનું વ્યાકરણ સં. ૧૭૫૭ માં આગરામાં રચી પોતે શાબ્દિક પણ હતા તે પૂરવાર કર્યું છે. તેમાં કૌમુદી માફક ક્રમ રાખી સિદ્ધ હેમાનુસાર રચના કરી છે. એટલે પાણિનીની જેમ કૌમુદી છે તે પ્રમાણે આ સિદ્ધહેમની કૌમુદી છે. આ ચંદ્રપ્રભા કૌમુદીની માફક લઘુ, મધ્યમ અને ઉત્તમ એમ ત્રણ જાતની છે. ઉત્તમ ચન્દ્રપ્રભામાં ૮૦૦૦ શ્લોક પ્રમાણ છે. તેમણે પંન્યાસ વલ્લભવિજય ગણિના રચેલા વિજયદેવ-માહાત્મ્ય પર વિવરણ કર્યું છે તેમાં તેના કેટલાક પ્રયોગોનો પરિસ્ફોટ કર્યો છે.

૯૫૬. જ્યોતિષ શાસ્ત્રમાં તેમણે ઉદયદીપિકા સં. ૧૭૫૨ માં શ્રાવક મદનસિંહના પ્રશ્નોત્તર રૂપે રચી. તેમાં પ્રશ્ન કાઢવાની વિધિ છે. (મુનિ વિચક્ષણવિજયપાસે). વર્ષપ્રબોધ અથવા મેઘમહોદય નામના ગ્રંથમાં ૧૩ અધિકારમાંને ૩૫૦૦ શ્લોકમાં ઉત્પાત પ્રકરણ, કર્પૂરચક્ર, પદ્મિનીચક્ર મંડલપ્રકરણ, સૂર્ય અને ચંદ્રના ગ્રહણનું ફલ, પ્રત્યેક માસમાં

વાયુનો વિચાર, વરસાદ લાવવાના અને બંધ કરવાના મંત્રયંત્ર, સાઠ સંવત્સરોનાં ફલ ગ્રહોની રાશિઓ પર ઉદય અસ્ત યા વક્રીનું ફલ, અયન માસપક્ષ અને દિનનો વિચાર, સંક્રાંતિ ફલ, વર્ષના રાજા મંત્રિ આદિનો, વરસાદના ગર્ભનો, વિશ્વાનો, આય અને વ્યયનો વિચાર, સર્વતોભદ્ર ચક્ર અને વરસાદ જાણવાના શકુન આદિ વિષયોનો સમાવેશ છે. પોતાના શિષ્ય મેરૂવિજયનું તેમાં છેવટે સ્મરણ કર્યું છે. વિજયરત્નસૂરિના સમયમાં તે રચ્યો છે (હિંદી ભાષાંતર સહિત પ્ર૦ પં. ભગવાનદાસ જૈન). રમલશાસ્ત્ર પણ શિષ્ય મેરૂવિજય માટે રચ્યું છે ને તેનો ઉલ્લેખ ઉક્ત મેઘોદયમાં કર્યો છે. વિજયપ્રભસૂરિના સમયમાં હસ્તસંજીવન નામના અધિકારમાં ૫૨૫ શ્લોકના પુસ્તકમાં સામુદ્રિક વિષય છે–હસ્તરેખાપરથી ભવિષ્યના શુભાશુભ ફલાદેશ બતાવેલ છે. તેનું બીજું નામ સિદ્ધજ્ઞાન છે. તેના પર પોતે સ્વોપજ્ઞ વૃત્તિ રચી છે (વૃત્તિ સહિત પ્ર૦ મોહનલાલજી ગ્રંથમાલા નં. ૮); મંત્ર પર વીસાયંત્ર વિધિ નામનો ગ્રંથ કર્યો છે કે જે પદ્માવતી સ્તોત્રના અંતર્ગત કાવ્યપર વિવરણ–વૃત્તિ સમાન છે, તેમાં અર્જુનપતાકા–વિજયયંત્રને વાપરવાની વિધિ છે.

૯૫૭. અધ્યાત્મ વિષયમાં **માતૃકાપ્રસાદ** નામનો ગ્રંથ સં. ૧૭૪૭ માં ધર્મનગરમાં બનાવ્યો તેમાં ઘણાં પ્રકરણો છે. મુખ્યતાએ ૐ **નમઃ સિદ્ધમ્** તે વર્ણામ્નાયની વિસ્તીર્ણ વ્યાખ્યા આપી ૐ શબ્દમાંથી જે જે રહસ્યો નીકળે છે તે સ્ફુટ કરી બતાવ્યાં છે. તેમાં ઉલ્લેખેલ **તત્ત્વગીતા–અર્હદ્‌ગીતા** પોતે ૩૬ અધ્યાયમાં રચી છે તેમાં જૈનદર્શનનું સ્વરૂપ સમજાવ્યું છે (પત્ર ૪૨ ની પ્રત મુનિ વિચક્ષણવિજય પાસે છે). એક **બ્રહ્મબોધ** નામનો ગ્રંથ તેમણે રચેલો કહેવાય છે કે જે નામ પરથી અધ્યાત્મિક વિષય પર હોવો જોઇએ. આ ઉપરના સર્વ ગ્રંથો સંસ્કૃતમાં છે. પણ મૂળ પ્રાકૃત ગાથામાં તેની સંસ્કૃત ટીકા સહિત **યુક્તિપ્રબોધ** નાટક સાત અંકમાં ને ૪૩૦૦ શ્લોકમાં બનાવ્યું છે તેમાં **બનારસીદાસ** (જુઓ પારા ૮૪૮–૫૦)ના

અધ્યાત્મ મતના ભેદનું પ્રદર્શન કરી તેનું ખંડન કર્યું છે ને સાથે સાથે દિગંબરોની શ્વેતાંબરો સાથે ૮૪ બોલની જે ભિન્નતા છે તે બતાવી શ્વેતાંબરોની માન્યતાનું મંડન કર્યું છે (જુઓ ટિપ્પણી નં. ૫૦૮) એક બીજો ધર્મમંજૂષા નામનો ગ્રંથ બનાવ્યો છે (અમુદ્રિત) તેમાં ઢુંઢકોનાં મંતવ્યોનું ખંડન કર્યું છે-ગુજરાતી ભાષામાં પણ આ મેઘવિજયે નાની કૃતિઓ રચી છે.[૫૩૭]

૯૫૮ યશોવિજયયુગમાં યશોવિજય, વિનયવિજય અને મેઘવિજય એ ત્રણ ઉપાધ્યાયોની સંસ્કૃત કૃતિઓ ઉપરાંત બીજાઓની જુજ છે, તે નીચે ટાંકીએ છીએ. સમર્થ વિદ્વાન્ યશોવિજયના યુગ પછી જૈનોમાં હજુ સુધી એક પણ ખાસ ધ્યાન ખેંચે એવી સંસ્કૃત કૃતિ કોઇએ કરી નથી એટલે કે ત્યારપછી સંસ્કૃતમાં જૈનસાહિત્ય નહિવત્ થયું.

૯૫૯ ૧૭૦૨માં દયારુચિ શિ૦ હિતરુચિએ નલચરિત્ર (બાલચંદ્રયતિ ભં. કાશી), સં. ૧૭૦૫માં સમયસુંદર શિ૦ હર્ષનંદન તથા સુમતિકલ્લોલે સ્થાનાંગવૃત્તિ ગત ગાથાવૃત્તિ, સં. ૧૭૦૭ માં ત. ધર્મસાગર શિ૦-શ્રુતસાગર શિ૦ શાંતિસાગરગણિએ રાજસાગર સૂરિરાજ્યે કલ્પકૌમુદી (કાં છાણી; બુદ્. ૬ નં. ૮૩૩), સં. ૧૭૦૮ માં ઉક્ત ભાવવિજયે વીજાપુરમાં ચંપકમાલાચરિત, ત૦ વિજયસિંહ-

---

૫૩૭ આ મેઘવિજય તે વિજયપ્રશસ્તિ પૃ. ૫૯૭-૯૮ માં ઉલ્લેખેલ સં. ૧૬૫૬ માં ઉપાધ્યાય પદ મેળવનાર મેઘવિજયથી જૂદા છે. આ કવિના સ્વહસ્તલિખિત કેટલાક ગ્રંથો અને પત્રો કિસનગઢના રણજીતમલ્લ નાહટાએ વિજયધર્મસૂરિને આપી દીધેલ પુસ્તકસંગ્રહમાં ઉપલબ્ધ છે. (જુઓ 'જૈનશાસન' નો ચૈત્ર વદિ ૦)) વીરાત્ ૨૪૩૯ નો અંક પૃ. ૪૨૧ થી ૪૬ માં) કેટલાક ગ્રંથ વિજયવલ્લભસૂરિના શિષ્ય વિચક્ષણવિજય પાસે અમે જોયા છે. મેઘવિજયની રચનાઓ માટે-જુઓ જૈનશાસનના વીરાત્ ૨૪૩૯ ચૈત્ર વદિ અમાસના અંકમાં પંડિત બહેચરદાસનો લેખ નામે 'મહોપાધ્યાય શ્રીમેઘવિજય વાચક'. તે પરથી ટુંકમાં મેં તંત્રી તરીકે વારંવાર લેખ 'જૈન શ્વે. કૉ. હેરલ્ડ' જુલાઇ-ઑક્ટોબર ૧૯૧૫ નો અંક પૃ. ૪૩૦-૩૨, પંડિત હરગોવિંદદાસની સપ્તસંધાન કાવ્યની પ્રસ્તાવના.

સૂરિ–વિમલહર્ષ–દાનચંદ્રે મૌનએકાદશી કથા (કાં. વડો), અને સં. ૧૭૧૦માં ત. દેવવિજય શિ૦ જિનવિજયે કલ્યાણમંદિર સ્તોત્રપર અવચૂરિ (હા. પાટણ)ની રચના કરી.

૯૬૦ આ. કલ્યાણસાગરસૂરિએ (સં. ૧૬૭૦–૧૭૧૮) પોતાના શિષ્ય વિનયસાગર માટે મિશ્રલિંગકોશ–લિંગનિર્ણય (કાં. છાણી; બુહ. ૬, નં. ૭૬૨) અને તે વિનયસાગરે કચ્છના ભારમલ્લ રાજાના કુંવર ભોજરાજના વારામાં તેના નામથી શ્લોક તથા કાવ્યમાં ભોજવ્યાકરણ (વેબર નં. ૧૬૩૬ પૃ. ૨૦૩–૪) રચ્યું કે જેની સં. ૧૭૬૩ની પ્રત મળે છે, અને વળી તેણે સારસ્વત વ્યાકરણનાં સૂત્રોને પદ્ય–છંદમાં મૂકી વૃદ્ધચિંતામણી નામના ગ્રંથમાં (વિવેક૦ ઉદે૦) ગૂંથ્યાં.

૯૬૧ સં. ૧૭૨૨ લગભગ ખ. જિનમાણિક્યસૂરિશાખાના વિનયસમુદ્ર–રત્નવિશાલ–લબ્ધિવિજયના શિષ્ય મહિમોદયે જ્યોતિપ-રત્નાકર નામનો જ્યોતિષગ્રંથ રચ્યો (ગુ. નં. ૬૩–૨૪)

૯૬૨ ત૦ ચારિત્રસાગર–કલ્યાણસાગર–યશઃસાગરશિષ્ય યશસ્વત-સાગર (જસવંતસાગર) થયા. તે પણ વિદ્વાન્ હતા. તેમણે વિચાર-ષટ્ત્રિંશિકા પર અવચૂરિ સં, ૧૭૨૧ (૧૭૧૨ ?), ભાવસપ્તતિકા સં. ૧૭૪૦ માં, જૈનસપ્તપદાર્થી સં. ૧૭૫૭માં, સંગ્રામપુરમાં જય-સિંહના રાજ્યમાં પ્રમાણવાદાર્થ સં. ૧૭૫૯માં, ગણેશકૃત ગ્રહલાઘવ નામના જ્યોતિષના ગ્રંથપર વાર્તિક સં. ૧૭૬૦ માં, જન્મકુંડલીપર યશોરાજી રાજપદ્ધતિ (સ્વલિખિત સં. ૧૭૬૨), રત્નાકરાવતારિકા પંજિકામાંથી વાદાર્થનિરૂપણ, સ્તવનરત્ન રચ્યાં. આ સર્વેની પ્રતો ઉદયપુરના વિવેકવિજય યતિના ભંડારમાં ઉપલબ્ધ છે. તેમણે સ્યાદ્વાદ મુક્તાવલી પણ રચેલ છે તે મુદ્રિત થયેલ છે.

૯૬૩ સં. ૧૭૨૬માં ત૦ પ્રમોદરુચિ–હિતરુચિ શિ૦ હસ્તિ-રુચિએ વૈદ્યક ઉપર એક ગ્રંથ નામ વૈદ્યવલ્લભ (જ્વર, સ્ત્રીરોગ, કાસક્ષયાદિ રોગ, ધાતુરોગ, અતિસારાદિ રોગ, કુષ્ઠાદિ રોગ, શિરઃ કર્ણાક્ષિરોગના પ્રતિકાર તથા સ્તંભન પર મુરાદિસાહિ ગુટિકા–એ)

આઠ અધ્યાયમાં રચ્યો (વે. નં. ૨૦૪, પી. ૪ નં. ૧૦૯૫) સં. ૧૭૩૦ માં ત૦ ધીરવિજય લાભવિજય શિ૦ વૃદ્ધિવિજયે ૩૮ ગાથામાં શંખેશ્વર પાર્શ્વનાથ સ્તવન રચ્યું (હા૦ પા૦). સં. ૧૭૩૧માં ત૦ વિજયાનંદ સુરિ-શાંતિવિજય શિ૦ માનવિજયે અમદાવાદમાં ત્યાંના એક પ્રસિદ્ધ આગેવાન શાંતિદાસ (પ્રસિદ્ધ ઓસવાળ ઝવેરી શાંતિદાસથી ભિન્ન)ની પ્રાર્થનાથી વૃત્તિસહિત ત્રણ અધિકારમાં ધર્મસંગ્રહ નામનો મોટો ગ્રંથ સંસ્કૃતમા રચ્યો તેમાં શ્રાવક અને સાધુ-ધર્મ સંબંધી ઘણી બાબતોનો સંગ્રહ કરવામાં આવ્યો છે. (થોડો ભાગ ગૂ૦ ભા૦ સહિત પ્ર૦ જૈન વિદ્યા પ્રસારક વર્ગ, મૂળ આખો બે ભાગમાં પ્ર૦ દે૦ લા૦ નં. ૨૬ અને ૪૫). આ ગ્રંથનું સંશોધન શ્રી યશોવિજય ઉપાધ્યાયે કર્યું ને તેનો પ્રથમાદર્શ કાંતિ-વિજય ગણિએ લખ્યો. ઉક્ત શાંતિદાસના પિતા શ્રીમાલી વણિક નામે મનિઆ હતા કે જેમણે હમેશાં ગૃહને દાનશાલા બનાવી તીર્થ-રાજ આદિની યાત્રા કરી સાતે ક્ષેત્રમાં વિત્ત વાપર્યું હતું, અને આ શાંતિદાસ પોતે પણ ઉદાર હતા અને તેમણે ગુજરાતમાં પડેલા દુકાળમાં રંકોને અન્ન વસ્ત્ર ઔષધ આપી જગડુશા જેવી ખ્યાતિ મેળવી હતી; વળી સાધર્મિકોમાં બહુદાન કરી છેવટે પુત્રને પોતાનાં ઘર ને કારભાર સોંપી નિવૃત્ત થઇને સિદ્ધાંતશ્રવણાદિ ધર્મ કરવામાં પ્રવૃત્ત થયા હતા. તે સમયે આ ગ્રંથ રચવાની પ્રાર્થના કરી હતી.

૯૬૪ સં.૧૭૩૧માં ઉદયચંદ્રે મરૂદેશના અનૂપસિંહરાજાની આજ્ઞા-થી મનજી આદિ પંડિતના મતને તોડી પોતાના મતની પ્રમાણથી પુષ્ટિ કરતો પાંડિત્યદર્પણ નામનો ગ્રંથ, સં. ૧૭૩૮ માં ખ૦ જિનહર્ષસૂરિ-સુમતિહંસ શિ૦ મતિવર્દ્ધને જગતારિણી નગરીમાં ગૌતમપૃચ્છાપર સુગમવૃત્તિ (પી. ૨ નં. ૩૭૬; વે. નં. ૧૫૯૮)ની રચના કરી. સં. ૧૭૪૫ માં ખ૦ લક્ષ્મીકીર્તિ શિ૦ લક્ષ્મીવલ્લભે ધર્મોપદેશપર વૃત્તિ (જે૦.) રચી તથા તેમણે ઉત્તરાધ્યયન પર વૃત્તિ અને કલ્પ-સૂત્રપર કલ્પદ્રુમકલિકા નામની રચેલી વૃત્તિઓ પ્રસિદ્ધ છે. (જૈસ. પ્ર. પૃ. ૪૨)

૯૬૫ ત. વિજયવિમલ-ધીરવિમલ-નયવિમલે (પછીથી થયેલ જ્ઞાનવિમલસૂરિ)એ પ્રાકૃત અને ગૂ. ભાષામાં સં. ૧૭૩૮માં રચાયેલ વિનયવિજયકૃત શ્રીપાલરાસ પરથી સંસ્કૃતમાં શ્રીપાલચરિત્ર (કાં. વડો) અને વિજયપ્રભસૂરિના રાજ્યે (સં. ૧૭૧૦ થી ૧૭૪૭) પ્રશ્ન વ્યાકરણ પર ટીકા (કાં. વડો) તથા તે સૂરિના રાજ્યે ત. જયવિજય શિ૦ માનવિજયે પોતાના શિષ્ય દેવવિજય માટે ધર્મપરીક્ષા (કાં. વડો)ની રચના કરી. સં. ૧૭૫૧માં પાઠક ચારૂદત્ત-કલ્યાણનિધાન શિ૦ લબ્ધિચંદ્રગણિએ જન્મપત્રી પદ્ધતિ (કી. ૩, નં. ૧૫૬), સં. ૧૭૬૫ માં રંગવિજયે ગૂર્જરદેશભૂપાવલી ૯૪ શ્લોકમાં રચી.

૯૬૬ સં. ૧૭૫૦ માં ત. વિજયરાજસૂરિ શિ૦ દાનવિજયે પોતાના શિષ્ય દર્શનવિજય માટે કલ્પસૂત્રપર દાનદીપિકા નામની ટીકા[૫૩૮] (કાં. છાણી), અને સં. ૧૭૭૦ ની આસપાસ ગુર્જરધરામાં વિખ્યાત એવા શેખ ફત્તેના પુત્ર બડેમિયાંને શીખવા માટે શબ્દભૂષણ નામનું એક સંસ્કૃત પદ્યમાં વ્યાકરણ (વે. નં. ૮૫; ભાં. ૧૮૮૨-૮૩ નં. ૪૫૭)ની રચના કરી.

૯૬૭ સં. ૧૭૮૧ માં ત. સુમતિવિજય શિ. રામવિજયે ઉપદેશમાલા પર વૃત્તિ (લીં. ગૂ૦ ભાષાં૦ પ્ર૦ જૈ. ધ૦ સભા) અને તપાગચ્છની રત્નશાખામાં અને ન્યાયરત્ન શિ૦ હંસરત્ને ધનેશ્વરકૃત શત્રુંજય માહાત્મ્ય પરથી શત્રુંજય માહાત્મ્યોલ્લેખ નામનો ૧૫ સર્ગમાં સાદા સંસ્કૃત ગદ્યમાં સાર રચ્યો (વે. નં. ૧૭૭૬)

૯૬૮ પૌર્ણમિકગચ્છના ભાવપ્રભસૂરિ પાટણના ઢંઢેરવાડામાં થયા. તેઓ વિદ્યાપ્રભ-લલિતપ્રભ-વિનયપ્રભ મહિમપ્રભના શિષ્ય હતા. સં. ૧૭૮૪ માં ભક્તામર સમસ્યા પૂર્તિ (નેમિભક્તામર)

---

૫૩૮ બુહ. ૨ માં આ સંબંધી એમ છે કે કર્તા તે હીરવિજયસૂરિ-કીર્તિવિજય-સૂરવિજયગણિના શિષ્ય હતા ને તે કૃતિ સં. ૧૭૨૨ માં તેજવિજયગણિના કહેવાથી વિજયરાજસૂરિ (સ્વ. ૧૭૪૨)ના રાજ્યમાં રચવામાં આવી હતી.

સ્તવન સ્વોપજ્ઞ ટીકા સહિત (કાં. છાણી. પ્ર. આ૦ સમિતિ) અને સં. ૧૭૯૨ માં ત્યાં કલ્યાણમંદિર સ્તોત્રની સમસ્યા પૂર્તિ સ્તવન (જૈનધર્મવર સંસ્તવન) સ્વોપજ્ઞ વૃત્તિ સહિત (પી ૫; ૧૭૦) રચ્યાં. તે દરેકમાં મૂલ જે સ્તોત્રની સમસ્યા પૂર્તિ કરી છે તે એવી રીતે કે તે દરેક શ્લોકનું છેલ્લું પદ તે સ્વરચિત સ્તવનોના દરેક શ્લોકના ચોથા પદ તરીકે આવે તેમણે યશોવિજયના નયોપદેશ પર લઘુ વૃત્તિ (પ્ર. જૈ. ધ.) તથા પ્રતિમાશતક પર લઘુ ટીકા (પ્ર. આ. સભા) પણ રચી છે.

૯૬૯ સં. ૧૭૯૨ માં પંક્તિપતાકા નામનો ગ્રંથ રચાયો (કાં. વડો.), સં. ૧૭૯૩ માં ત. વિમલકીર્તિ શિ૦ વિમલ સૂરિએ ઉપદેશશતક (કેશરવિજય ભં. વઢવાણ) અને સં. ૧૭૯૭ માં રત્નચંદ્રે નવતત્ત્વ પ્રકરણ પર ટિપ્પન (ચુનીજી ભં. કાશી), (લો) તેજસિંહે સં. ૧૭૯૮ માં સિદ્ધાન્તશતક (પ્ર. કા) તથા દૃષ્ટાન્તશતક (પ્ર. જૈન કથા રત્નકોષ ભાગ ૫ મા) રચ્યાં.

૯૭૦ આ શતકના અંતમાં યા ૧૯ મા શતકના પ્રારંભમાં–તપાગચ્છના વિજયદયા સૂરિના રાજ્યમાં (સં. ૧૭૮૫-૧૮૦૯) ભાવસાગર શિષ્ય વિનીતસાગરના શિષ્ય ભોજસાગરે જૈનફિલસુફીનો દ્રવ્યાનુયોગતર્કણા નામનો ગ્રંથ સ્વોપજ્ઞ ટીકા સહિત રચ્યો (હિંદી અનુવાદ સહિત પ્ર. પરમશ્રુત પ્રભાવક મંડળ). તેમાં ૧૫ અધ્યાયોમાં દ્રવ્ય ગુણ, પર્યાયનું સ્વરૂપ તથા પ્રમાણ અને નય પર વિચારણા પ્રાચીન આગમ અને સન્મતિ આદિ ગ્રંથોની પુષ્ટિ પ્રમાણ સહિત બતાવેલ છે. આમાં કિંચિત્ રચના યશોવિજયના પોતાના ગૂજરાતી દ્રવ્યગુણ પર્યાયરાસ પર લખેલ ભાષાવિવરણ પરથી કરી છે. યશોવિજયે મલ્લવાદીના નયચક્રને બરાબર ગોઠવી કરેલ નયચક્રતુંમ સં. ૧૭૧૪ નો લખેલો પાટણના હાલાભાઇ ભંડારના દા. ૫૯ માં વિદ્યમાન છે.

પ્રકરણ ૫મું.

અર્વાચીન ગૂજરાતી સાહિત્ય.

વિક્રમ ૧૮મું શતક.

કાળલબ્ધિ લહી પંથ નિહાલશું રે એ આશા અવલંબ
એ જન જીવેરે જિનજી ! જાણજોરે આનંદઘન મત-અંબ-પંથડો૦ ×

જ્ઞાનાનંદે હો પૂરણ પાવનો વર્જિત સકલ ઉપાધિ, સુજ્ઞાની
અતીંદ્રિય ગુણમણિ-આગરૂ ઇમ પરમાતમ સાધ, સુજ્ઞાની, ×

દુઃખ-સુખરૂપ કરમફળ જાણો, નિશ્ચય એક આનંદોરે
ચેતનતા પરિણામ ન ચૂકે, ચેતન કહે જિનચંદોરે—વાસુ૦ ×

આતમજ્ઞાની શ્રમણ કહાવે બીજા તો દ્રવ્યલિંગી રે
વસ્તુગતે જે વસ્તુ પ્રકાશે આનંદઘન-મત-સંગીરે—વાસુ૦ ×

ગચ્છના ભેદ બહુ નયણ નિહાલતા તત્ત્વની વાત કરતાં ન લાજે
ઉદરભરણાદિ નિજ કાજ કરતા થકા મોહ નડિયા કલિકાળરાજે-ધાર૦ ×

પ્રવચન-અંજન જો સદ્ગુરૂ કરે દેખે પરમ નિધાન જિનેશ્વર !
હૃદયનયન નિહાળે જગધણી મહિમા મેરૂ સમાન જિનેશ્વર !—ધર્મ૦ ×

અહો અહો હું મુજને કહું, નમો મુજ નમો મુજ રે
અમિત ફળ દાન દાતારની, જેહની ભેટ થઈ તુજ રે—શાંતિ૦ ×

ષડ્ દર્શન જિન-અંગ ભણીજે, ન્યાય ષડંગ જો સાધે રે
નમિ જિનવરના ચરણ ઉપાસક, ષડ્ દર્શન આરાધે રે—ષડ્૦

—આનંદઘનકૃત સ્તવનોમાંથી.

૯૭૧. આ શતકમાં પૂર્વના શતકો કરતાં અધિક પૂરમાં ગદ્ય અને પદ્ય ગૂજરાતી સાહિત્ય જૈનો તરફથી રચાયું છે. પદ્ય સાહિત્યથી 'જૈનગૂર્જર કવિઓ' બીજો ભાગ આખો લગભગ છસો પાનાંથી ભરાયો છે. ગદ્યસાહિત્યનો નામનિર્દેશ ત્યાં પૃ. ૫૯૦ થી ૫૯૪ માં કર્યો છે. તેમાંથી અને બીજેથી નામનિર્દેશ અત્ર કરીશું.

૯૭૨ ગદ્યસાહિત્ય—યોગી મહાત્મા આનંદઘનની ચોવીશી પૈકી ૨૨ સ્તવનો પર યશોવિજયે બાલાવબોધ કર્યો હતો પરંતુ દુર્ભાગ્યે તે હજુ પ્રાપ્ત થયો નથી. તે ઉપરાંત તેમણે પંચનિર્ગ્રંથી (પ્રા.) પર (લ. સં. ૧૭૨૩) અને પોતાના ગ્રંથ નામે અધ્યાત્મમત પરીક્ષા અને જ્ઞાનસાર પર બાલાવબોધ કર્યા છે એટલુંજ નહિ પરંતુ પોતાની ગૂજરાતી પદ્ય કૃતિઓ નામે દ્રવ્ય ગુણ-પર્યાય રાસ, ૩૫૦ ગાથાના સીમંધર સ્તવન, ૧૫૦ ગાથાના મહાવીર સ્તવન (સં. ૧૭૩૩), સમ્યકત્વના છ સ્થાન સ્વરૂપ ચોપઈ (સં. ૧૭૩૩) પર પણ બાલાવબોધ રચ્યા છે. વિચારબિંદુ એ પોતાના ધર્મ-પરીક્ષાના વાર્તિક તરીકે પ્રશ્નોત્તર રૂપે ગદ્યમાં રચેલ છે. સત્યવિજય શિ. વૃદ્ધિવિજયે ઉપદેશમાલાનો બાલાવબોધ (સં. ૧૭૧૦ કે ૧૭૩૩) રચ્યો તેમાં યશોવિજયે સહાય આપી છે. સં. ૧૬૬૫ માં વિજયદેવ-સૂરિના રાજ્યે 'લોકનાલ'નો બાલાવબોધ કરનાર જશવિજય તે વિમલહર્ષના શિષ્ય હોઇ આ યશોવિજયથી ભિન્ન છે; પાલીતાણામાં મુનિ કર્પૂરવિજયના ભંડારમાં એક યશોવિજયની સં. ૧૬૬૫ ની ધાતુપાઠની લખેલી પ્રત છે તે પણ આ યશોવિજય નહિ, પણ ઉક્ત વિમલહર્ષ શિષ્ય હોવા ઘટે છતાં તે જોઈ નક્કી કરવાની જરૂર રહે છે. તત્ત્વાર્થસૂત્ર પર એક યશોવિજયગણીએ ગૂજરાતી ટબો (પ્ર. કા.) કર્યો છે તે તો આપણા આ નૈયાયિક યશોવિજય હોવા ઘટે કારણ કે તેમણે સંસ્કૃતમાં તે સૂત્રના ભાષ્ય પર વૃત્તિ કરી છે, પણ પં. સુખલાલજી તેને તેથી ભિન્ન માને છે. તે ટબાકારે તત્ત્વાર્થના દિગંબરી સર્વાર્થસિદ્ધિ નામની વૃત્તિને માન્ય સૂત્રપાઠને લઇ તેના પર માત્ર સૂત્રના અર્થ પૂરતો ટબો લખ્યો છે. અને ટબો લખતાં તેમણે જ્યાં જ્યાં શ્વેતાંબર અને દિગંબરનો મતભેદ કે મતવિરોધ આવે છે ત્યાં સર્વત્ર શ્વેતાંબર પરંપરાને અનુસરીનેજ સૂત્રનો અર્થ કર્યો છે. આમ સૂત્રપાઠ દિગંબરીય છતાં અર્થ શ્વેતાંબરીય છે,—જુઓ પં. સુખલાલજીની તત્ત્વાર્થ સૂત્ર પર ગૂજરાતી વ્યાખ્યા ભાગ બીજાની પ્રસ્તાવના પૃ. ૪૮-૫૦.

૯૭૩ ૧૭૦૭માં ત૦ દેવવિજય-શાંતિવિજય શિ. ખીમાવિજયે મહમ્મદાવાદમાં જયવિજય શિ. મેરૂવિજયની સહાયથી કલ્પસૂત્ર પર (ખેડા ભં.), ૧૭૦૯માં કેશવજી ઋષિએ દશાશ્રુત સ્કંધ પર, સં. ૧૭-૧૧માં ખ. રત્નસાર ગણિ-હેમનંદન શિષ્ય યતીન્દ્રે દશવૈકાલિક પર (વે. નં. ૧૪૮૧), તથા બૃ૦ ત૦ દેવરત્નસૂરિ-રાજસુંદર શિષ્ય પદ્મસુંદર ગણિએ રત્નકીર્તિસૂરિના રાજ્યે (સં. ૧૭૧૧ થી ૧૭૩૪ વચ્ચમાં) ઉત્તમ અને સુંદર ટબાર્થ ભગવતી સૂત્ર પર (હા. પા.; પ્ર. કા.), ૧૭૧૪માં કુંવરવિજયે અને વૃદ્ધિવિજય શિ. કનકવિજયે સં. ૧૭૩૨માં શાહિપુરમાં રત્નાકર પંચવિંશતિ પર, ૧૭૧૬માં ત૦ સોમવિમલસૂરિ-હર્ષ-સોમ જશસોમ શિષ્ય જયસોમે ૭ કર્મ ગ્રંથ પર (પ્ર૦ પ્રકરણ રત્નાકર ભાગ ૪), ૧૭૨૨માં દાનવિજયે સ્વકૃત કલ્પ સૂત્ર સ્તવન પર, સં.૧૭૨૪માં ભાનુવિજય શિ. લાવણ્યવિજયે સુધારેલો કલ્પસૂત્ર પર, સં. ૧૭૨૮ પહેલાં લોંકાગચ્છના રત્નસિંહ-દેવજી શિષ્ય ધર્મસિંહે ૨૭ સૂત્ર પર, ૧૭૨૯માં ખ૦ માનવિજય-કમલહર્ષ શિ. વિદ્યાવિલાસે કલ્પસૂત્ર પર, કનકસુંદરે જ્ઞાતાધર્મ કથાંગ પર (લ. સં. ૧૭૩૧), માનવિજયે નવ-તત્ત્વ પર, ૧૭૪૪માં જીતવિમલે ઋષભ પંચાશિકા પર, ૧૭૪૬માં ધર્મસાગર-શ્રુતસાગર-શાંતિસાગર-અમૃતસાગર શિ૦ અમૃતસાગરે ધર્મસાગર કૃત સર્વજ્ઞશતક પર બાળાવબોધની રચના કરી.

૯૭૪ સં. ૧૭૩૯થી ૭૩ સુધીમાં જ્ઞાનવિમલસૂરિએ (સં. ૧૭૫૮માં) પચ્ચખાણ ભાષ્ય આદિ ત્રણ ભાષ્ય, આનંદઘનકૃત ચો-વીશી પૈકી ૨૨ સ્તવનો(૧૭૬૯), યશોવિજયકૃત યોગદષ્ટિની સઝાય તથા ૩૫૦ ગાથાનું સ્તવન, (૧૭૭૩માં) પાક્ષિકસૂત્ર, લોકનાલ પર, ૧૭૬૩ માં દીપસાગર શિ. સુખસાગરે કલ્પપ્રકાશ નામનો જિનસુંદર સૂરિકૃત દીપાલિકા કલ્પ સૂત્ર પર, ૧૭૬૬ પહેલાં નવતત્ત્વ અને ૧૭૭૩માં પાક્ષિકસૂત્ર પર, સં. ૧૭૭૬માં ખ૦ પદ્મચંદ્રના શિષ્યે નવતત્ત્વ પર તથા તે આસપાસ ત. વિજયમાનસૂરિ શિ૦ આનંદવિજયે ક્ષેત્ર-સમાસ પર, ૧૭૬૩માં જિનહર્ષે દીપાલી કલ્પ પર, અને શુભશીલ

કૃત પૂજા પંચાશિકા પર, ૧૭૬૭માં ત૦ રવિકુશલ શિ. દેવકુશલે શત્રુંજય માહાત્મ્ય પર, ૧૭૭૨ માં જિનવિજયે જીવાભિગમ પર; ૧૭૭૪ માં રાજનગરમાં ત૦ ઉત્તમસાગર શિ. ન્યાયસાગરે સ્વકૃત ગૂજરાતી સમ્યક્ત્વ વિચાર ગર્ભિત મહાવીર જિનસ્ત. પર (પ્ર. પ્રકરણ રત્નાકર ભા. ૩), ૧૭૮૪ માં ત. વિજયાનંદસૂરિ–હંસવિજય શિ. ધીરવિજયે મૌનેકાદશીકથા પર, દેવચંદ્રે ગુરૂ પટ્ત્રિંશિકા પર, ૧૭૯૮માં ભોજસાગરે રત્નશેખરસૂરિ કૃત આચાર પ્રદીપ પર, સં. ૧૭૯૮ પહેલાં હંસરત્ને અધ્યાત્મકલ્પદ્રુમ પર (પ્ર૦ પ્રકરણ રત્નાકર ભાગ ૩), ૧૭૯૯ માં ત૦ વિજયદાનસૂરિ–ગંગવિજય–મેઘવિજય–ભાણવિજય શિ૦ લક્ષ્મીવિજયે અજિતપ્રભસૂરિકૃત શાંતિનાથ ચરિત્ર પર, ૧૭૯૯ (લ. સં.) દેવચંદ્રે સ્વકૃત ચોવીસી પર, સં. ૧૮૦૦ પહેલાં ત૦ વિજયસિંહ–ગજવિજય–ગુણવિજય–જ્ઞાનવિજય શિ. બુધવિજયે યોગશાસ્ત્ર પર (ખેડા ભં.), ૧૮૦૦ માં ભાનુવિજયે ભાવદેવકૃત પાર્શ્વનાથ ચરિત્ર પર બાળાવબોધ રચ્યા છે. તે સિવાય, ધર્મસિંહે સમવાયાંગ હુંડી વગેરે, ખ૦ જિનહર્ષે ત. જિનસુંદર સૂરિકૃત દીવાળી કલ્પ પર ગૂ૦ વાર્તિક, જ્ઞાનવિમલસૂરિએ સપ્તનયપર વિવરણ, અને દેવચંદ્રે ૧૭૭૬માં આગમસાર અને સં. ૧૭૯૬ માં નવાનગરમાં વિચારસાર, ગદ્યમાં રચેલ છે. કર્ત્તાના નામ વગર જુદે જુદે સમયે લખાયેલા બાળાવબોધ ઘણા મળી આવે છે કે જેનો ઉલ્લેખ અત્ર કર્યો નથી.

૯૭૫. કાવ્ય સાહિત્ય—'જૈન ગૂર્જર કવિઓ' બીજા ભાગમાં ઉલ્લેખેલા કવિઓની સંખ્યા ૧૮૦ લગભગ અને કૃતિઓની ૪૦૦ ઉપરાંત છે. અત્ર અવકાશાભાવે તે સર્વેના તેમજ બીજા સાંપડેલા કવિઓ અને કૃતિઓના વિવેચનમાં ઉતર્યા વગર માત્ર તે કવિઓનો નામનિર્દેશ કરી સંતોષ લઇશું, અને વિસ્તારથી વિવરણ કરવાનું તે ગ્રંથના ત્રીજા ભાગની પ્રસ્તાવના માટે રાખીશું:—

૯૭૬. આનંદઘન સં. ૧૭૦૦ થી ૧૭૨૩ લગભગ, વિનયવિજય ૧૬૯૬–૧૭૩૮, યશોવિજય ૧૭૦૦–૧૭૪૩ (કે જે ત્રણ

વિષે અગાઉ કહેવાઈ ગયું છે.), જયરંગ કાવ્યકાલ ૧૭૦૦-૨૧, **જ્ઞાનસાગર** ૧૭૦૧-૧૭૩૦, વિનયશીલ, ભુવનસોમ ૧૭૦૧, લબ્ધિ-વિજય ૧૭૦૧-૩, **આણંદ** ૧૭૦૨-૪, વિનયસાગર ૧૭૦૨, પુણ્ય-નિધાન તથા સુરસૌભાગ્ય ૧૭૦૩, માનવિજય, રાજસાર ૧૭૦૪, જિનહર્ષ ૧૭૦૪-૧૭૬૨, મેરૂલાભ (માલજી) ૧૭૦૫, કેશરકુશલ ૧૭૦૬, જ્ઞાનકુશલ, લબ્ધોદય ૧૭૦૭, વીરવિજય ૧૭૦૮, પદ્મ, રાજવિજય ૧૭૦૯, પુણ્યહર્ષ ૧૭૦૯-૩૫, ધનદેવ ૧૭૧૦ પહેલાં, સુમતિહંસ ૧૭૧૧-૨૩, તેજસિંહ ૧૭૧૧-૪૮, અભયસોમ ૧૭૧૧-૨૯, વિદ્યારૂચિ ૧૭૧૧-૧૭, આણંદવર્દ્ધન, ઇંદ્રસૌભાગ્ય, ઉત્તમ-સાગર ૧૭૧૨, વૃદ્ધિવિજય ૧૭૧૨-૧૩, **મેઘવિજય** ૧૭૧૩-૨૧, નયપ્રમોદ, શુભવિજય અને સિદ્ધિવિજય ૧૭૧૩, ઉદયવિજય, ગજ-કુશલ અને પદ્મચંદ્ર ૧૭૧૪, પદ્મવિજય ૧૭૧૫, તિલકસાગર ૧૭-૧૫ પછી. માનવિજય ૧૭૧૬-૨૨, હસ્તિરૂચિ ૧૭૧૭-૩૯, ઉદય-સૂરિ, જિનદાસ ૧૭૧૯, ધર્મવર્દ્ધન (ધર્મસિંહ) ૧૭૧૯-૫૭, સુમ-તિવલ્લભ ૧૭૨૦, હેમસૌભાગ્ય ૧૭૧૫ પછી અને ૧૭૨૧ પહેલાં પદ્મચંદ્રસૂરિ, સુરજી ૧૭૨૧, મેરૂવિજય ૧૭૨૧-૨૨, મહિમાઉદય, મહિમાસૂરિ, વીરવિમલ ૧૭૨૨, સુમતિરંગ ૧૭૨૨-૨૭, લાભવ-ર્દ્ધન (લાલચંદ) ૧૭૨૩-૧૭૭૦, માનસાગર ૧૭૨૪-૪૬, ગુણસા-ગર, તત્ત્વવિજય, પરમસાગર ૧૭૨૪, સમયકીર્ત્તિ ૧૭૨૫, ધર્મમંદિર ૧૭૨૫-૪૨, લક્ષ્મીવલ્લભ ૧૭૨૫-૩૮, જીતવિજય, યશોનંદ ૧૭૨૬, ધીરવિજય ૧૭૨૭ પહેલાં, પ્રીતિવિજય, લક્ષ્મીવિજય ૧૭૨૭, માન-વિજય ૧૭૨૮-૩૧, હીરાણંદ (હીરમુનિ) ૧૭૨૭-૪૪, ઉદયવિજય, માનવિજય (૨), વીરજી ૧૭૨૮, કુશલધીર ૧૭૨૮-૯, ઉદયસમુદ્ર, કનકનિધાન, મતિકુશલ, ૧૭૨૮, **જ્ઞાનવિમલ સૂરિ** (પૂર્વનામ નયવિમલ) ૧૭૨૮-૧૭૭૪, હર્ષવિજય ૧૭૨૯, અમૃતસાગર, કર્મસિંહ, વિનયલાભ, વિવેકવિજય, વૃદ્ધિવિજય ૧૭૩૦, દેવવિજય ૧૭૩૦-૪, દાનવિજય ૧૭૩૦-૭૨, તત્ત્વહંસ, નિત્યસૌભાગ્ય,

વિબુધવિજય ૧૭૩૧, આણંદમુનિ ૧૭૩૧-૮, ખેતા, જયસાગર, શાંતિદાસ શ્રા०, સુરવિજય ૧૭૩૨, અમરસાગર, ચંદ્રવિજય ૧૭૩૨ થી ૪૯ વચ્ચે, રત્નવર્દ્ધન ૧૭૩૩, ચંદ્રવિજય (૨), જિનવિજય, પદ્મનિધાન ૧૭૩૪, દીપવિજય ૧૭૩૫-૮૪, તેજપાલ ૧૭૩૫-૪૫, અજીતચંદ, આણંદરુચિ, કેશવદાસ, દયાતિલક, નયનશેખર ૧૭૩૬, અભયકુશલ, જ્ઞાનકીર્ત્તિ ૧૭૩૭, કનકવિલાસ ૧૭૩૮, મેઘવિજય, સુમતિવિજય ૧૭૩૯, દીપસૌભાગ્ય ૧૭૩૯-૪૭, આણંદસૂરિ, હુરખચંદ ૧૭૪૦, તિલકચંદ, પ્રાગજી, લક્ષ્મીરત્ન ૧૭૪૧, કીર્ત્તિસાગરસૂરિ શિષ્ય, જીવરાજ, માણિક્યવિજય ૧૭૪૨, જ્ઞાનસાગર શિ० ૧૭૪૩, નયવિજય ૧૭૪૪, અમરચંદ, કુશલસાગર (કેશવ), ખેમો ૧૭૪૫, શીલવિજય ૧૭૪૬, યશોવર્ધન ૧૭૪૭, કુશલલાભ (૨) ૧૭૪૮, ઋષભસાગર ૧૭૪૮ (?), વિનીતવિમલ ૧૭૪૯ પહેલાં, આ સર્વે ૧૮ મા શતકના પ્રથમાર્ધમાં થયા.

૯૭૭. ઉદયરત્ન ૧૭૪૯-૧૭૯૯, કમલહર્ષ, જિનલબ્ધિ, સૌભાગ્યવિજય ૧૭૫૦, નેમવિજય ૧૭૫૦-૧૭૮૭, જિનવિજય (૨), બાલ ૧૭૫૧, પ્રીતિસાગર ૧૭૫૨, વિનયચંદ્ર ૧૭૫૨-૫૫, પ્રેમરાજ ૧૭૫૩ પહેલાં, કેસરવિમલ ૧૭૫૪-૬, ઋદ્ધિવિજય ૧૭૫૪-૭૦, ગોડીદાસ ૧૭૫૫, હુંસરત્ન ૧૭૫૫-૮૬, મોહનવિજય ૧૭૫૫-૧૭૮૩, જસવંતસાગર, મોહનવિમલ, લક્ષ્મણ ૧૭૫૮, દેવવિજય (૩) ૧૭૬૦-૯૫, રામવિજય (૨) ૧૭૬૦-૮૮, ગંગમુનિ, લક્ષ્મીવિનય, લબ્ધિવિજય (૨) ૧૭૬૧, જિનસુંદરસૂરિ, પ્રેમવિજય, રામવિમલ ૧૭૬૨, લાધાશાહ ૧૭૬૪-૯૫, નેમિદાસ શ્રાવક ૧૭૬૫-૬, તેજસિંહ ૧૭૬૬, દેવચંદ્ર ૧૭૬૬-૧૭૯૮, ન્યાયસાગર ૧૭૬૬-૮૪, કાન્તિવિમલ ૧૭૬૭, જીવનાગર ૧૭૬૮, ભાવપ્રભસૂરિ (પૂર્વનામ-ભાવરત્ન) ૧૭૬૯-૧૭૯૯, સુખસાગર ૧૭૬૯, લબ્ધિસાગર (૨) ૧૭૭૦, ચતુર, જિનસુખસૂરિ ૧૭૭૧, રામવિજય (૧) ૧૭૭૧-૭૩, ગંગવિજય ૧૭૭૨-૭૭, ચતુરસાગર ૧૭૭૨, લાલરત્ન

૧૭૭૩, વલ્લભકુશલ ૧૭૭૫–૯૩, રાજરત્ન ૧૭૭૫, કાંતિવિજય (૨) ૧૭૭૫-૯૯, કેસર ૧૭૭૬, નિત્યલાભ ૧૭૭૬–૯૮, રંગવિલાસ ૧૭૭૭, જિનવિજય (૩) ૧૭૭૯–૯૩. પુણ્યવિલાસ ૧૭૮૦, જ્ઞાનવિજય ૧૭૮૦–૧, રંગવિજય ૧૭૭૯–૧૮૦૭, તિલકસૂરિ, રત્નવિમલ ૧૭૮૫, જ્ઞાનસાગર (પછીથી ઉદયસાગરસૂરિ) ૧૭૮૬–૯૭, શાંતસૌભાગ્ય ૧૭૮૭, ત્રિલોકસિંહ ૧૭૮૮, જિનવિજય (૪) ૧૭૯૧–૯૯, અમર ૧૭૯૪–૯૮, મહિમાવર્દ્ધન ૧૭૯૬, ગુણવિલાસ, પુણ્યરત્ન, રાયચંદ ૧૭૯૭, હરખચંદ ૧૭૯૮, સત્યસાગર ૧૭૯૯–એ સર્વે આ શતકના બીજા અર્ધમાં થયા.

૯૭૮ આ પૈકી જ્ઞાનવિમલસૂરિના ચરિત્ર માટે જુઓ પ્રાચીન સ્તવન રત્નસંગ્રહ ભા. ૧ ની પ્રસ્તાવના, દેવચંદ્ર માટે મારો નિબંધ નામે 'અધ્યાત્મરસિક પંડિત દેવચંદ્રજી' (બુ૦ ગ્રં. નં. ૧૦૩—૧૦૪ માં અને જૈનયુગ પુ. ૨ અંક ૯–૧૨ પૃ. ૪૨૩, ૪૭૩, ૫૬૭), જિનવિજય (૩) ના ચરિત્ર માટે જુઓ મારી 'જૈન રાસમાળા'. આ શતકના સર્વે કવિઓની કૃતિઓ માટે જુઓ 'જૈન ગૂર્જર કવિઓ' ભાગ બીજો આખો.

૯૭૯ **લોકકથાસાહિત્ય**—ચંદન મલયાગિરિ પર બે વખત સં. ૧૭૦૪માં ને ૧૭૪૪માં જિનહર્ષે, ૧૭૧૧માં સુમતિહંસે, સં. ૧૭૩૬માં અજીતચંદે, ૧૭૪૭માં યશોવર્ધને, ૧૭૭૧માં ચતુરે અને સં. ૧૭૭૬માં કેસરે ચોપઈ આદિમાં કાવ્યરચના કરી તે પરથી તે કથા ઘણી લોકપ્રિય અને લોકપ્રસિદ્ધ જણાય છે. સં. ૧૭૧૦ પહેલાં ધનદેવે સ્ત્રીચરિત્ર રાસ, પંચાખ્યાન વિષયે કર્મરેખા ભાવીની રાસ વીરવિમલે ૧૭૨૨માં અને તે પર નિત્યસૌભાગ્યે ૧૭૩૧માં, માનવિજયે વિક્રમાદિત્ય ચરિત્ર સં. ૧૭૨૨–૨૩માં, અભયસોમે વિક્રમચરિત્ર ખાપરા ચો. અને લાભવર્દ્ધન–લાલચંદે (૯૦૦ કન્યા, ખાપરા ચોર અને પંચ દંડ ગર્ભિત) વિક્રમ ચો. ૧૭૨૩માં, તે અભયસોમે વિક્રમચરિત્ર–લીલાવતી ચો. તેમજ પરમસાગરે

વિક્રમાદિત્ય રાસ અને માનસાગરે વિક્રમાદિત્ય સુત વિક્રમસેન રાસ સં. ૧૭૨૪માં, લક્ષ્મીવલ્લભે વિક્રમાદિત્ય પંચદંડ રાસ ૧૭૨૭; લીલાવતી રાસ ઉક્ત લાભવર્ધને તેમજ કુશલધીરે ૧૭૨૮માં, અને ઉદયરત્ને સં. ૧૭૬૭માં, તે કુશલધીરે ભોજચરિત્ર ચો. ૧૭૨૯ માં, નિત્યસૌભાગ્યે નંદબત્રીશી સં. ૧૭૩૧ માં, ધર્મવર્ધને શનિશ્ચર વિક્રમ ચો. ૧૭૩૬ લગભગ, કાન્તિવિમલે વિક્રમકનકાવતી રાસ ૧૭૬૭માં, નિત્યલાભે સદેવંત સાવલિંગા રાસ ૧૭૮૨માં રચેલ છે. આ ઉપરાંત જૈનકથાનાયકો-નાયિકાઓ પર, સતીઓ પર અનેક રચનાઓ થઈ છે તેનો ઉલ્લેખ વિસ્તારભયથી અત્ર કરવામાં આવ્યો નથી. વિદ્યાવિલાસની કથાની ખ્યાતિ આ શતકમાં પણ હતી; અને તેના પર જિનહર્ષે સં. ૧૭૧૧માં અને અમરચંદે સં. ૧૭૪૫માં રાસ રચેલ છે.

૯૮૦ પદો એટલે ભક્તિ-વૈરાગ્યપ્રેરિત ટુંકાં ગીતો હીંદી કવિઓ નામે કબીર, મીરાંબાઈ, પછી સુરદાસ આદિએ પુષ્કળ ગાયાં છે. ગૂર્જરસાહિત્યમાં નરસિંહ મહેતાએ તેની પહેલ કરી છે. જૈન ગૂર્જર સાહિત્યમાં સમયસુંદરે ૧૭મા શતકમાં શરૂઆત કરેલી જણાય છે, ને તે વખતે તેને ગીતો-અધ્યાત્મ ગીતો કહેવામાં આવતાં. ખરા વૈરાગ્ય ને ભાવપ્રેરક રૂપકમય અને ભક્તિપ્રધાન પદો રચવામાં આ સૈકાના આનંદઘન ચડી જાય છે; તેમનું જોઈને તેમના સમકાલીન વિનયવિજય અને યશોવિજયે સુંદર પદો પોતાના હૃદયની ઉત્કટ લાગણીના ઉદ્‌ગાર રૂપે રચ્યાં. લાંબા લહેકાથી ગવાતા 'શલોકા'ની રચના પણ આ શતકમાં પ્રથમ થઈ જણાય છે. દા. ત. ૧૭૪૯ પહેલાં વિનીતવિમલકૃત આદિનાથ શલોકો, ઉદયરત્નકૃત નેમિનાથ શલોકો, શાલિભદ્ર શલોકો (સં. ૧૭૭૦) અને ભરત બાહુબલિનો શલોકો સં. ૧૭૯૫; દેવવિજયનો શંખેશ્વર શલોકો સં. ૧૭૮૪, મોતીમાલુકૃત નેમિ શલોકો સં. ૧૭૮૮.

૯૮૧ શૃંગારની છાંટવાળાં નેમ રાજુલના બારમાસ, સ્થૂલભદ્ર

નવરસો વગેરે આ શતકમાં રચાયાં છે. ખાસ વૈરાગ્યસૂચક રૂપક પ્રબોધ-ચિંતામણી ચો. જયશેખરસૂરિકૃત પંદરમા સૈકામાં રચાયું તેનો આ-સ્વાદ આ શતકના કવિઓને થતાં અનેક કાવ્યો ઉદ્ભવ્યાં. દા. ત. સુમતિરંગ કૃત સં. ૧૭૨૨માં અને ધર્મમંદિરકૃત સં. ૧૭૪૧માં પ્રબોધચિંતામણી રાસ લાભવર્ધને ૧૭૪૨માં, કુશલલાભ, (૨) એ સં. ૧૭૪૮માં અને ઉદયરત્ને તેમજ નેમિવિજયે કરેલા ધર્મબુદ્ધિ પાપબુદ્ધિ રાસ.

૯૮૨ ઐતિહાસિક સાહિત્ય—લબ્ધોદયે સં. ૧૭૦૭માં પદ્મિનીચરિત્ર, ૧૭૧૧માં ભાણુવિજયકૃત વિજયાણંદસૂરિ નિર્વાણસઝાય, કેસરકુશલે સં. ૧૭૧૬માં જગડુ પ્રબંધ રાસ, સં. ૧૭૨૦માં ખ. જિનસાગર સૂરિ પર સુમતિવલ્લભનો શ્રીનિર્વાણ રાસ, મેરૂવિજયે સં. ૧૭૨૧માં અને અભયસોમે ૧૭૨૯માં વસ્તુપાલ તેજપાલ રાસ, તે વર્ષ પછી સુરજીએ લીલાધર રાસ, ૧૭૨૧ પહેલાં હેમસૌભાગ્યે અને ૧૭૨૫ પછી તિલકસાગરે રાજસાગરસૂરિ નિર્વાણ રાસ, મેઘવિજયકૃત વિજયદેવનિર્વાણ રાસ ૧૭૨૯માં, ૧૭૩૭માં જ્ઞાન-કીર્ત્તિનો ગુરૂરાસ, ૧૭૩૯માં સુમતિવિજયની રત્નકીર્ત્તિ ચો., સં. ૧૭૪૧માં લક્ષ્મીરત્નકૃત ખેમ હડાલીઆનો રાસ, સં. ૧૭૪૨માં જિન-હર્ષકૃત કુમારપાલ રાસ અને કીર્ત્તિસાગરસૂરિના શિષ્ય કૃત ભીમજી ચો., ૧૭૪૭ આસપાસ દીપસૌભાગ્યકૃત વૃદ્ધિસાગરસૂરિ રાસ, ૧૭૫૬માં જિનહર્ષકૃત સત્યવિજય નિર્વાણ રાસ, ૧૭૬૨માં રામવિમલકૃત સૌ-ભાગ્યવિજય નિર્વાણરાસ, ૧૭૬૯માં સુખસાગરનો વૃદ્ધિવિજય રાસ, સં. ૧૭૭૩માં જિનવિજય (૩) કૃત કર્પૂરવિજય રાસ, ૧૭૭૩ પછી રામવિજય (૧) કૃત વિજયરત્નસૂરિ રાસ, જિનેંદ્રસાગરકૃત વિજય-ક્ષમાસૂરિનો શલોકો, ૧૭૮૨માં ભાવપ્રભસૂરિકૃત મહિમાપ્રભ રાસ, ૧૭૮૬ પછી જિનવિજય (૩) કૃત ક્ષમાવિજય રાસ, ૧૭૮૮ પછી રામવિજય (૨) કૃત લક્ષ્મીસાગરસૂરિ રાસ, સં. ૧૭૯૩માં વલ્લભકુ-શલકૃત હેમચંદ્રગણિ રાસ, ૧૭૯૫માં ઉદયરત્ન કૃત વિમલમેતાનો

શલોકો અને લાધાશાહ કૃત શિવચંદ રાસ, ૧૭૯૭માં પુણ્યરત્ન (૨) કૃત ન્યાયસાગર નિર્વાણ રાસ, ૧૭૯૮માં નિત્યલાભકૃત વિદ્યાસાગર સૂરિ રાસ તથા હરખચંદ કૃત માણેકદેવીનો રાસ તથા ૧૭૯૯ પછી ઉત્તમવિજયકૃત જિનવિજય નિર્વાણ રાસ.

૯૮૩ દાર્શનિક વિષયપર-દ્રવ્યાનુયોગ પર રાસ રચવાની પહેલ યશોવિજય ઉપાધ્યાયે દ્રવ્યગુણપર્યાય રાસ રચી કરી. 'રાસ' સામાન્યતઃ કથા ઉપર નાયકના યશોગાન કરવા અર્થે રચાતો—એ શબ્દ ત્યાં વપરાતો. તે સિવાયના વિષય પરત્વે રાસ એટલે રસમય શબ્દોમાં પદ્ય ઘટના એ અર્થમાં હવે વપરાયો. એવામાં માનવિજયકૃત નયવિચાર-સાત નયનો રાસ, હેમરાજકૃત સં. ૧૭૨૬ માં નયચક્ર રાસ રચાયા. ઉપદેશ અને અધ્યાત્મ વિષયે અનુવાદ રૂપે હીરમુનિએ સં. ૧૭૨૭ મા ઉપદેશ રત્નકોશ ચો. અને દેવચંદે ૧૭૬૬ માં ધ્યાનદીપિકા ચો. અને સં. ૧૭૭૭ માં રંગવિલાસે અધ્યાત્મ કલ્પદ્રુમ ચો. ની રચના કરી. દેવચંદ્ર તો ખરેખર અધ્યાત્મરસિક પંડિત હતા તેથી તેમની પ્રાયઃ સર્વ કૃતિમાં અધ્યાત્મ ઝળકે છે. નેમિદાસ શ્રાવકની સં. ૧૭૬૬ ની ધ્યાનમાલા સ્વતંત્ર કૃત છે.

૯૮૪. વૈદકના વિષયપર અત્યાર સુધી ગૂજરાતી ભાષામાં કોઇએ પદ્યમય રચના કરી નહોતી તે આ શતકમાં નયનશેખરે સં. ૧૭૩૬ માં યોગરત્નાકર ચો. રચીને કરી.

૯૮૫. તીર્થોના, તીર્થયાત્રાઓના ઇતિહાસ અને બનાવો નોંધવાની પણ જૈન મુનિઓએ કાળજી રાખી છે. આ શતકમાં તેના દાખલા તરીકે ૧૭૭૨ માં મહિમાસૂરિ કૃત ચૈત્ય પરિપાટી અને વિનીતકુશલ કૃત શત્રુંજય તીર્થમાલા, ૧૭૪૬ માં શીલવિજય કૃત તીર્થમાલા, સં. ૧૭૫૦ માં સૌભાગ્યવિજય (૨) કૃત તીર્થમાલા ૨૯૦, ૧૭૫૫ માં જ્ઞાનવિમલ કૃત તીર્થમાલા, ૧૭૭૧ માં જિનસુખ કૃત જેસલમેર ચૈત્યપાટી વગેરે. આ શતકના અંતમાં-સં. ૧૭૯૧માં શત્રુંજય પર છીપાવસહી નામની ટૂંક છીપા (ભાવસાર) લોકોએ બનાવી.

પ્રકરણ ૬ ઠું.

વિ૦ ૧૯ મું અને ૨૦ મું શતક.

अनंतविज्ञानविशुद्धरूपं निरस्तमोहादिपरस्वरूपम् ।
नरामरेंद्रैः कृतचारुभक्तिं नमामि तीर्थेशमनंतशक्तिम् ॥१॥
अनादिसंबद्धसमस्तकर्म-मलीमसत्वं निजकं निरस्य ।
उपात्तशुद्धात्मगुणाय सद्यो नमोऽस्तु देवार्यमहेश्वराय ॥२॥

—જેમનું વિજ્ઞાન અનંત છે,-સ્વરૂપ નિર્મલ છે, જેમણે મોહ આદિ પરના સ્વરૂપને ટાળેલું છે અને જેમની સુંદર ભક્તિ મોટા મોટા નરો અને અમરોએ કરી છે એવા અનંત શક્તિવાળા તીર્થંકરને નમું છું.

પોતાની અનાદિકાળથી બંધાયેલા સમસ્ત કર્મની મલીનતાને દૂર કરી જેમણે શુદ્ધ આત્મગુણ ગ્રહણ કરેલો છે, એવા દેવતાઓને પૂજવા યોગ્ય દેવાર્ય-મહાવીર પ્રભુને નમસ્કાર હો !

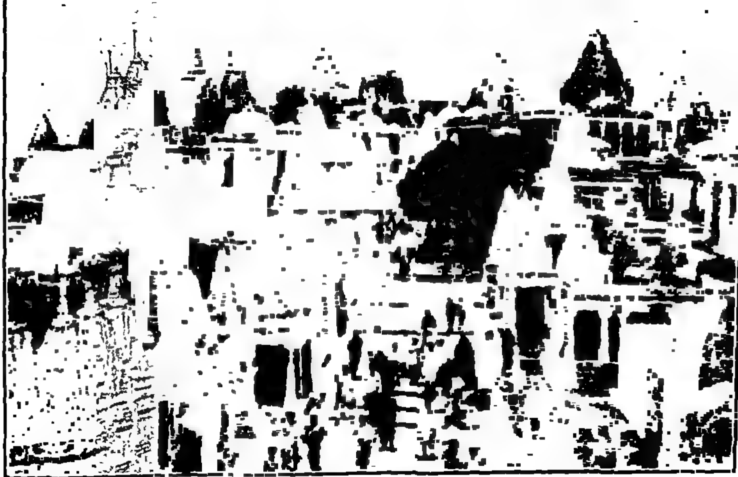
[ખ૦ જિનલાભસૂરિકૃત આત્મપ્રબોધ સં. ૧૮૩૩].

૯૮૬ **શાંતિદાસ શેઠના પ્રસિદ્ધ વંશજો**—શાંતિદાસ (જુવો પારા ૮૩૩-૮૩૪)ના લખમીચંદ ને તેના ખુશાલચંદ; સં. ૧૭૮૯ (હીજરી ૧૧૩૭)માં મરેઠાઓ અમદાવાદને લૂટવા આવેલા તે વખતે તેમણે વચમાં પડી ગાંઠના પૈસા આપી મરેઠાની ફોજોના મોરચા ઉઠાવી લેવરાવ્યા, તે ઉપરથી શહેરના મહાજનોએ એકત્ર થઇ તેને હમેશનો હક કરી આપ્યો કે જેટલો માલ શહેરના કાંટા ઉપર છપાય તે ઉપર સેંકડે ચાર આના તે શેઠ તથા તેમની ઓલાદને આપતા રહીશું, આ હકને બદલે હાલ પ્રેમાભાઇના સમયથી સરકારી તીજોરીમાંથી રૂા. ૨૧૩૩ નગરશેઠને મળે છે. આ વરસમાં બાદશાહી ફરમાનથી ખુશાલચંદ શેઠ અમદાવાદના નગરશેઠ ઠર્યા અને શહેરનાં મોટાં મહાજનોએ તેમને નગરશેઠ માન્યા. આ કુટુંબ લોકહિતાર્થ બુદ્ધિ અને ધન વિશેષે જૈન ધર્મને પુષ્ટિ કરવી એથી

નામાંકિત થયેલું તેથી તેના મુખીને સઘળા વેપારીઓએ મળીને નગરશેઠનું માન આપેલું તે પ્રસંગે પ્રસંગે શહેરના લોકના મુખી છે અને જૈન સંઘના તે હમેશ વડા છે તે અત્યાર સુધી વંશપરંપરા ચાલુ છે. ગાયકવાડોએ પણ પાલખી, છત્રી, મસાલ ને વર્ષે રૂ. એક હજાર એટલો હક કરી આપ્યો. (ગુજરાત સર્વ સંગ્રહ) ખુશાલચંદના નથુશા, જેઠમલ અને વખતચંદ એ ત્રણ પુત્રો. વખતચંદ શેઠ પ્રતાપી હતા. સં. ૧૮૨૨માં દામાજીએ પાટણ મુસલમાનો પાસેથી લઇ લીધું ને ત્યારથી ગાયકવાડના તાબામાં છે. તેમના સમયમાં ગુજરાતમાં ગાયકવાડ, પેશ્વા અને અંગ્રેજ કંપની એ ત્રણેનું રાજ્ય થયું હતું. દીલ્હીના પાતશાહનું તો માત્ર નામજ હતું. સં. ૧૮૬૪ મા પોતે શત્રુંજયનો સંઘ કાઢ્યો. કેટલીક પ્રતિષ્ઠા કરી. ૧૮૬૮ માં આ નગરશેઠના મુખીપણા નીચે અમદાવાદના શહેરીઓએ અરજ કરતાં એવો સરકારી હુકમ થયો કે માત્ર કન્યા મૂકી કોઈપણ ગુજરી જાય, તો તેની મિલ્કતમાં ડખલ ન કરતાં તે તેની કન્યાને ત્યાંસુધી તેને સંતાન થાય ત્યાંસુધી વારસદાર ગણવી આ બાબતનો ગૂજરાતી ભાષામાં કરેલો હુકમ અમદાવાદના ત્રણ દરવાજા પરના શિલાલેખમાં કોતરેલો છે.[૫૩૯] વખતચંદ શેઠને ગાયકવાડ સાથે ઘણો ગાઢ સંબંધ હતો. ૨૪૦ સં. ૧૮૭૦. તેના પુત્ર હેમાભાઇ થયા. સં. ૧૮૭૪ માં અમદાવાદ અંગ્રેજ સરકારના હાથમાં સંપૂર્ણ આવ્યું. હેમાભાઇએ ઘણી સાર્વજનિક સખાવતો કરી. અમદાવાદમાં અંગ્રેજી

૫૩૯ જુઓ મુંબઈ રો. એ. સો. નું જર્નલ વૉ. ૧૯ અં. ૫૩ સને ૧૮૯૭ પૃ. ૩૪૮-લેખ નામે *Inscription on the 'Three Gateways'-Ahmedabad.* તેમાં આ લેખ અંગ્રેજી ભાષાંતર સહિત આપેલ છે, ને તે ઉપરાંત તેમાં ઉલ્લેખેલ વ્યક્તિઓની ઓળખાણ અને શાંતિદાસ શેઠનું વંશવૃક્ષ તથા વંશજોનાં ટૂંક વૃત્તાંત પણ આપેલ છે. આ બધા વંશજોનાં વિશેષ વૃત્તાંત માટે જુઓ મારો 'જૈન ઐતિહાસિક રાસમાળા' ગ્રંથમાં મારી લખેલ સમાલોચના તથા નિવેદન; વળી જુઓ 'ગુજરાતનું પાટનગર અમદાવાદ.'

નિશાળ, હેમાભાઈ ઇન્સ્ટિટયુટ નામની પુસ્તકશાળા, સંગ્રહસ્થાન, કન્યાશાળા અને એક હૉસ્પિટલ વગેરે પ્રજા ઉપયોગી કામો તેમની સહાયથી થયા છે. સં. ૧૯૦૪ માં જન્મ પામેલ 'ગુજરાત વર્નાકયુલર સોસાયટી'ને પણ સારી મદદ આપી. ગૂજરાત કૉલેજ કરવામાં દશ હજાર રૂ. આપ્યા. ત્યાંની શહેર-સુધરાઈ માટે સારો પરિશ્રમ લીધો. શત્રુંજય પર સવા ત્રણ લાખ રૂ. ખરચી ઉજમબાઈની ટુંક-નંદીશ્વરની ટુંક બંધાવી. પોતાની ટુંક સં. ૧૮૮૨ માં ત્યાં બંધાવી. સં. ૧૮૮૬ માં પ્રતિષ્ઠા કરાવી. ઘણે ઠેકાણે ધર્મશાળા બંધાવી. ગાયકવાડે રાંચરડા ગામ બક્ષીસ કર્યું તેની ઉપજમાંથી અમુક રકમ ખોડાં ઢોર અર્થે કાઢેલી છે, ને તે ગામ તેમના વંશજોના તાબામાં હજુ સુધી છે. સ્વ૦ સં. ૧૯૧૪. તેમના પુત્ર પ્રેમાભાઇ-તેઓ પણ એક પ્રખ્યાત વ્યક્તિ હતા. સં. ૧૯૦૫ માં શત્રુંજયનો સંઘ કાઢયો હતો. તેમણે અમદાવાદની હઠીસિંગ-પ્રેમાભાઇ હૉસ્પિટલમાં (સિવિલ હૉસ્પિટલ)માં બાવીસ હજાર દોઢસો, હેમાભાઈ ઇન્સ્ટિટયૂટના મકાન માટે સાત હજાર પચાસ, ગૂજરાત કૉલેજના ફંડમાં દશ હજાર, મુંબઈની ગ્રાંટ મેડિકલ કૉલેજમાં સુવર્ણ ચાંદ માટે અઢારસો, વિકટોરિયા મ્યુઝિયમમાં તેરસો પચાસ, મુંબઈની વિકટોરિયા ગાર્ડન્સમાં દશ હજાર, ગુ. વ. સોસાયટી ફંડમાં બે હજાર આપવા ઉપરાંત સં. ૧૯૩૪ ના દુકાળમાં વીસ હજાર, ને ૭ સ્થળે ધર્મશાળાઓ બંધાવવા ત્રેવીસ હજાર એમ કુલ લાખેક રૂ. ની સખાવત કરી. તેમના નામથી 'પ્રેમાભાઇ હૉલ' અમદાવાદમાં પ્રસિદ્ધ છે. શત્રુંજય પર પાંચ લાખ ખર્ચી દેરાસર અને પાલીતાણામાં ધર્મશાળા બંધાવેલ, વળી કેશરીયાજી, પંચતીર્થના સંઘ કાઢયા. સર્વ તીર્થ સ્થળોનું રક્ષણ ને વહીવટ કરવા માટે આણંદજી કલ્યાણજી નામની પેઢીની સ્થાપના કરી ને તેના કાયદા તથા બંધારણ તેમના સમયમાં થયાં. સ્વ. ૧૯૪૩. તેમના પુત્ર મણિભાઇ, પછી ચીમનભાઈ લાલભાઈ નગરશેઠ થયા. પછી કસ્તુરભાઇ મણિભાઈ હાલ વિમલભાઇ મયાભાઇ નગરશેઠ છે.



શત્રુંજય પરનાં જૈન મંદિરો. પૃ. ૬૭૨.

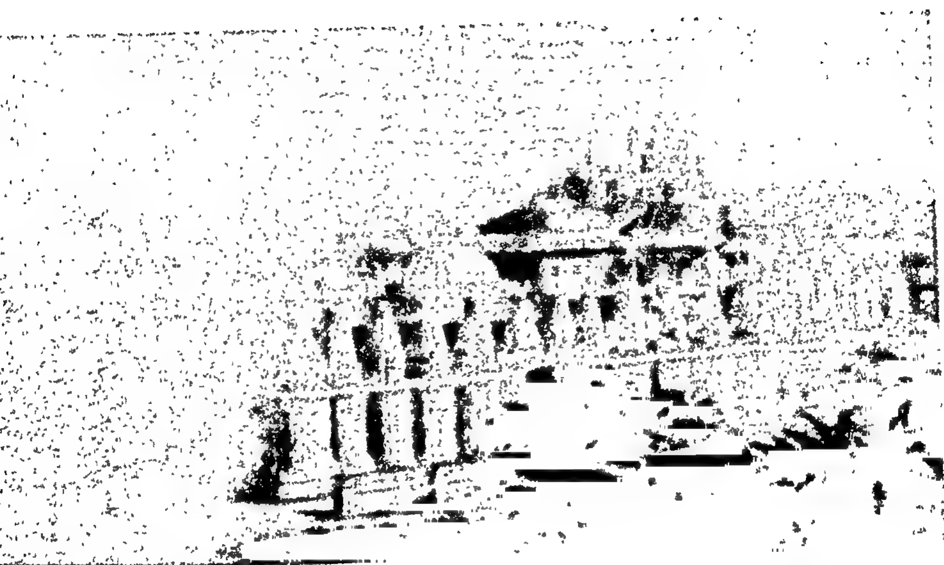
[શ્રી પૂર્ણચંદ્ર નહાર, કલકત્તાના સૌજન્યથી]

૯૯૧ મુંબઇના પ્રસિદ્ધ શેઠ મોતીશાહે (મોતીચંદ અમીચંદ જન્મ સં. ૧૮૩૮ સ્વ. સં. ૧૮૯૨) મુંબઇમાં ભાયખલાના મંદિરમાં સં. ૧૮૮૫ માગશર શુ. ૬ શુક્રે આદીશ્વરની પ્રતિમા પધરાવી તથા મુંબઇમાં પાંજરાપોળ સં. ૧૮૯૦ માં સ્થપાઇ તેમાં આ શેઠે જબરો ફાળો આપ્યો. પાલીતાણામાં સં. ૧૮૮૭ માં ધર્મશાળા બાંધી. શત્રુંજય તીર્થ ઉપર સં. ૧૮૮૮ માં આરંભ કરી કુંતાસરની ખીણ-ખાડ પુરી તે પર મધ્યમાં મોટું મંદિર બંધાવ્યું, પ્રતિમાની અંજન-શલાકા કરી. ત્યાં તેમનો સ્વર્ગવાસ થવાથી તેમના પુત્ર ખીમચંદે સં. ૧૮૯૩ માં પ્રતિષ્ઠા કરી. આ 'મોતીશાની ટુંક' કહેવાય છે. તેમાં ૭ લાખ રૂ. ખર્ચાયા. (જુઓ વીરવિજયકૃત મોતીશાના ઢાળીયાં આદિ કૃતિઓ) આ વર્ષમાંજ અમદાવાદના શેઠ સાકરચંદ પ્રેમચંદે ત્યાં ત્રણ મોટાં મંદિર અને નાની દેરીઓ બંધાવી કે જેને 'સાકર-વસહી' યા 'સાકરચંદની ટુંક' કહેવામાં આવે છે. વળી ઘોઘાના શેઠ બાલાભાઈ ઉર્ફે દીપચંદ કલ્યાણજીએ તે વર્ષમાં મોતીશાની ટુંકમાં 'બાલાભાઈ ટુંક' બંધાવી. વિશેષમાં આ વર્ષમાં અમદાવાદના પ્રસિદ્ધ શેઠ હઠ્ઠીસિંહ કેસરીસિંહે બિંબ પ્રતિષ્ઠા માટે અંજનશલાકા કરાવી બાવન જિનાલયવાળો ભવ્ય પ્રાસાદ અમદાવાદના દિલ્હી દરવાજા બહાર બંધાવ્યો,[૫૪૧] પણ તે પૂર્ણ થયા પહેલાં તે શેઠ સ્વર્ગસ્થ થવાથી તેમના ધર્મપત્ની હરકોર શેઠાણીએ સં. ૧૯૦૩ માં તેમાં પ્રતિષ્ઠા કરાવી. (જિ. ૨, નં. ૫૫૬). આ વિશાલ મંદિર અમદાવાદમાં એક જોવા લાયક સુંદર કારીગિરીના નમુના રૂપ છે. તેમાં

૫૪૧ 'આ દહેરૂં પ્રેમચંદ સલાટે સણગારની મોટામાં મોટી દોલતે પૂરૂં કીધું છે. કોતરકામ ઉતરતું છે, શિલ્પઘાટી સ્વચ્છ નથી, પણ કામ એવું તવંગર છે કે જે કાળમાં જૈન શિલ્પનો ઉત્કર્ષ હતો તે કાળના જેવુંજ (છે) ને તે ઉપરથી જણાય છે કે હજી પણ ગૂજરાતમાંથી બાંધવાનો ને પથ્થર કાપવાનો હુન્નર ગયો નથી × વળી તેમાં જે પીતળના પડદા છે તે જોતાં જણાય છે કે અમદાવાદની તે કારીગિરીએ પોતાનો જૂનો હુન્નર હજુ ખોયો નથી. (ગૂજરાત સર્વસંગ્રહ પૃ. ૪૨૫, ૪૩૮).



શેઠ હઠીસિંહ કેસરીસિંહ. અમદાવાદ સ્વ. સં. ૧૯૦૧ પારા ૯૯૧. પૃ. ૬૭૪.
[ગુજરાત સાહિત્ય સભા અમદાવાદના સૌજન્યથી.]



હઠીસિંહનું દેહેરૂં – અમદાવાદ સં. ૧૯૦૩ પારા ૯૯૧ પૃ. ૬૭૮
[શેઠ જીવણચંદ સાકરચંદ ના સૌજન્યથી.]

દશલાખ રૂ. ખર્ચ થયો. સં. ૧૯૦૮ માં ઉક્ત હરકોર શેઠાણીએ શત્રુંજયનો સંઘ અમદાવાદથી કાઢયો.

૯૯૨ સં. ૧૯૦૫ માં કચ્છ જખૌમાં શા જીવરાજ રતનસિંહે ત્રણ લાખકોરી ખર્ચી પુસ્તકોનો ભંડાર કરાવ્યો. સં. ૧૯૨૦ માં કચ્છ નલીઆના દશા ઓસવાળ જ્ઞાતિના શેઠ **નરસિંહ નાથા નાગડાએ** શત્રુંજયનો સંઘ કાઢી ત્યાં ચંદ્રપ્રભનું ચૈત્ય કરાવ્યું ને પાલીતાણામાં એક મોટી ધર્મશાળા બંધાવી. મુંબઈનું અનંતનાથજીનું દહેરૂં તથા મહાજનવાડી પણ તેમનેજ આભારી છે. (જુઓ વિશેષમાં કચ્છી દ. ઓ. પ્રકાશ પુ. ૪ ભાદ્રપદ ૧૯૮૪ના અંકમાં 'નાગડા ગોત્રની ઉત્પત્તિ' એ લેખ) આજ જ્ઞાતિના કચ્છ કોઠારાના શેઠ **કેશવજી નાયકે** મુંબઇમાં ઘણી દોલત વેપારમાં મેળવી અંજનશલાકા કરી શત્રુંજયનો સંઘ કાઢી ત્યાં સં. ૧૯૨૧માં પ્રતિષ્ઠા કરાવી (જિ. ૨ નં. ૩૨ અ). તે ઉપરાંત સં. ૧૯૨૯ થી ૩૨-એ સાડા ત્રણ વર્ષમાં ગિરિનાર તીર્થ પરનાં દેરાસરો વગેરે જીર્ણ થયાં હતાં તેને સમરાવી ઉદ્ધાર કર્યો ને તેમાં ૪૫ હજાર રૂ. ખર્ચ્યા (જુઓ ત્યાં વસ્તુપાલ તેજપાલના દેરાસરના વંડાના દરવાજા પાસેની ભીંતમાં હાલ ચોડેલો લેખ). આ શેઠે શા. **ભીમશી માણેકના** ધર્મપુસ્તકો મુદ્રિત કરાવી પ્રકટ કરવાના પ્રયત્નમાં ઘણી દ્રવ્યસહાય કરી હતી. સં. ૧૯૩૦-૩૨ માં જોયણી તીર્થની સ્થાપના થઈ. જે શેઠ પ્રેમચંદ રાયચંદે જમાનો સમજી પાશ્ચાત્ય કેળવણી માટે તેમજ અન્ય ધર્માદાય કાર્યો માટે લગભગ કરોડ રૂ.ની સખાવત કરી તેમનું ટુંક વર્ણન હવે પછી આવનાર છે.

૧૯મા શતકનું સાહિત્ય.

૯૯૩ **૧૯ સદીમાં સંસ્કૃત સાહિત્યમાં** બહુ ગ્રંથો રચાયા નથી. જે કંઇ રચાયા છે તેની નોંધ લઇશું. સં. ૧૮૦૪ માં આં. ઉદયસાગર સૂરિએ સ્નાત્ર પંચાશિકા (કાં. વડો), સં. ૧૮૦૭માં ખ. ક્ષેમકીર્ત્તિ-શાખાના શાંતિહર્ષ-જિનહર્ષ-સુખવર્ધન અને દયાસિંહ-અભયસિંહના શિષ્ય રૂપચંદ્ર અપરનામ રામવિજયે જિનલાભસૂરિ રાજ્યે જોધપુરમાં રામસિંહના રાજ્યમાં ગૌતમીય મહાકાવ્ય ૧૧ સર્ગમાં (પ્ર૦ ચંદ્રસિંહ

સૂરિ ગ્રંથમાલા નં. ૧), સં. ૧૮૦૪ માં મયાચંદ્રે પોરબંદરમાં જ્ઞાનક્રિયાવાદ (વે. નં. ૧૬૦૭), સં. ૧૮૧૪ (૭)માં ઉક્ત ખ૦ રામવિજય ગણિએ જિનલાભ સૂરિની આજ્ઞાથી ગુણમાલા પ્રકરણ [પી. ૨ નં. ૨૯૦, મુદ્રિત, વિવેક. ઉદે.), સં ૧૮૨૨માં ત૦ વિનીતસાગર ગણિ–ધીરસાગર શિષ્ય કૃત્તેન્દ્રસાગર ગણિએ ૧૩૯ શ્લોકમાં હોલીરજ: પર્વ કથા (વે. નં. ૧૭૯૨), અને સં. ૧૮૩૩માં ખ. જિનલાભસૂરિએ આત્મપ્રબોધ કે જેનો પ્રથમાદર્શ ક્ષમાકલ્યાણે લખ્યો (બુહ. ૪, નં. ૧૨૮ પ્ર. આ. સભા)ની રચના કરી.

૯૯૪ આ શતકમાં થયેલા તપાગચ્છના વિજયલક્ષ્મીસૂરિએ ઉપદેશપ્રાસાદ નામનો ગ્રંથ ૩૬૦ વ્યાખ્યાનમાં રચ્યો છે (પ્ર. જૈ. ધ. સભા બુહ. ૨.) પદ્મવિજય ગણિએ જયાનંદ ચરિત્રને સંસ્કૃત ગદ્યમાં અવતાર્યું છે (ખેડા ભં.) અને ખરતરગચ્છના ક્ષમાકલ્યાણ ઉપાધ્યાય થયા કે જે ખ. જિનલાભસૂરિના શિષ્ય અમૃતધર્મના શિષ્ય હતા; તેમણે સં. ૧૮૨૯ થી ૧૮૬૯ ના ગાળામાં અનેક ગ્રંથોના દોહનરૂપે સાદી ભાષામાં વિવરણ કરેલ છે. તેમના ગ્રંથો એ છે કે ગૌતમીયકાવ્ય વ્યાખ્યા, સં. ૧૮૩૦ માં ખરતગચ્છ પટ્ટાવલી, સં. ૧૮૩૫માં ચાતુર્માસિક–હોલિકા આદિ દશ પર્વ કથા (વે. નં. ૧૭૩૪), સં. ૧૮૩૯ માં જેસલમેરમાં યશોધર ચરિત (ગુ. પોથી ૧૦), ૧૮૪૭માં મકસુદાબાદમાં સૂક્ત મુક્તાવલી વૃત્તિ, સં. ૧૮૫૦માં વીકાનેરમાં જીવ વિચાર પર વૃત્તિ (વે. નં. ૧૬૨૨), સં. ૧૮૫૧માં પ્રશ્નોત્તર સાર્ધ શતક (કાં. વડો.), સં. ૧૮૫૪માં તર્કસંગ્રહ ફક્કિકા, સં. ૧૮૬૦માં જેસલમેરમાં અક્ષયતતીયા અને પર્યુષણ અષ્ટાન્હિકા વ્યાખ્યાન (ગુ.) અને તેજ વર્ષમાં વીકાનેરમાં મેરુત્રયોદશી વ્યાખ્યા અને સં. ૧૮૬૯માં શ્રીપાલચરિત્ર વ્યાખ્યા યોજેલ છે. તે અરસામાં યોજાયેલા તેમના અન્ય ગ્રંથો નામે પરસમયસાર વિચાર સંગ્રહ, વિચાર શતક બીજક, સમરાદિત્ય ચરિત, સૂક્ત રત્નાવલી વૃત્તિ આદિ છે (જુઓ જેસ૦ પ્ર૦ ૪૨, ૫૫). ભાષા સાહિત્યમાં તેમણે જૂની ગૂજરાતીમાં ગદ્ય રૂપે શ્રાવકવિધિ પ્રકાશ નામનો ગ્રંથ ગુંથ્યો છે, કે જેમાં જિનપ્રભકૃત વિધિ-

પ્રપા, ખ. તરૂણપ્રભનો ષડાવશ્યક બાલાવબોધ, સામાચારી શતક, વૃન્દારૂ વૃત્તિ, આચાર દિનકર, જિનપતિસૂરિનાં સામાચારી પત્ર, શિવનિધાન ઉપાધ્યાય કૃત લઘુ વિધિપ્રપા વગેરે ગ્રંથોની સહાય લીધી છે (બાલચંદ્ર યતિ ભં. કાશી).

૯૯૫ સંસ્કૃત સાહિત્યમાં બીજા ગ્રંથોમાં સં. ૧૮૬૮માં જેસલમેરમાં મૂલરાજ રાજ્યે ખ. જિનકીર્તિએ મૂલપ્રાકૃતમાંથી સંસ્કૃત ગદ્યમાં ૪ પ્રસ્તાવમાં યોજેલ શ્રીપાલચરિત્ર (ગુ. પોથી નં. ૧૫, વે. નં ૧૭૮૨), સં. ૧૮૭૭માં બંગાલના વાલૂચરમાં હું. હરચંદ-રૂપ શિષ્ય કેશવે ગદ્યમાં શ્રીપાલચરિત્ર (ગુ. નં. ૬૧-૧), ૧૮૮૧માં ઉક્ત ક્ષમાકલ્યાણના શિષ્ય ઉમેદચંદ્રકૃત પ્રશ્નોત્તર શતક (વિવેક. ઉદે.), સં. ૧૮૮૨માં ઉક્ત પદ્મવિજયના શિષ્ય રૂપવિજયકૃત પૃથ્વીચંદ્ર ચરિત્ર (મોહન૦ સુરત), સં. ૧૮૯૭માં ભટ્ટારક પદ પ્રાપ્ત કરનાર ખરતર જિનહેમસૂરિના શિષ્યે રચેલ સિદ્ધાન્ત રત્નાવલી (પી. ૪, ૧૨૫) અને સં. ૧૮૯૯માં ખ. સમયસુન્દર ગણિના સંતાનીય કીર્તિવર્ધન-અમરવિમલ-અમલચંદ્ર-ભક્તિવિલાસ-જયરત્ન શિષ્ય કસ્તૂરચંદ્રે જયપુરમાં જિનહેમસૂરિ રાજ્યે જ્ઞાતાસૂત્ર પર કરેલી ટીકા (કાં. વડો.) છે. ત્યાર પછી સં. ૧૯૩૦માં બાલચંદ પાઠક અને ઋદ્ધિસાગરે ખ. જિનમુક્તિસૂરિ રાજ્યે નિર્ણય પ્રભાકર નામનો ગ્રંથ સં.માં રચેલ મળે છે (કાં. વડો.)

૯૯૬. **ગૂજરાતી કવિઓમાં**—ઉત્તમવિજય (૧૭૯૯-૧૮૧૩), ઉદયસાગર ૧૮૦૨, ભક્તિવિજય ૧૮૦૩, મતિરત્ન ૧૮૦૪, ચેતનવિજય ૧૮૦૫, જેમલ ૧૮૦૭, નેમવિજય બીજા ૧૮૦૭-૧૮૨૧, રત્નવિજય ૧૮૦૮, સદાનંદ ૧૮૦૯-૧૮૪૯, વૃદ્ધિવિજય ૧૮૦૯, રત્નસાગર તથા લબ્ધિવિજય ૧૮૧૦, સૌજન્યસુંદર ૧૮૧૧, રામવિજય ત્રીજા ૧૮૧૪, દેવરત્ન બીજા તથા મયાચંદ ૧૮૧૫, માણેક્યસાગર તથા અમૃતસાગર ૧૮૧૭, ભૂધર ૧૮૧૭-૨૦ પદ્મવિજય ૧૮૧૭-૧૮૫૮, મયારામ ૧૮૧૮, ફતેચંદ ૧૮૧૯, ઉદયકમલ અને વાનોશ્રાવક ૧૮૨૦, સુમતિપ્રભ સૂરિ, સુજ્ઞાનસાગર, ગુલાલ તથા દેવવિજય ૧૮૨૧, આલમચંદ તથા શોભાચંદ ૧૮૨૨, દર્શન-

સાગર ૧૮૨૪, ક્ષેમહર્ષ ૧૮૨૫ પહેલાં, રઘુપતિ તથા કવિયણ ૧૮૨૫, દેવીદાસ ૧૮૨૭, **વિજયલક્ષ્મીસૂરિ** ૧૮૨૭-૩૪, **ભાણવિજય** ૧૮૩૦, રત્નવિમલ ૧૮૩૨-૩૯, **રાયચંદ** ૧૮૩૩-૪૧, ઉત્તમવિજય ૧૮૩૪, કાંતિવિજય તથા માલસિંહ ૧૮૩૫, લાલચંદ્ર બીજા ૧૮૩૭, ખેમવિજય ૧૮૩૯, અમૃતવિજય ૧૮૩૯-૪૦, દીપમુનિ તથા મકન (મુકુંદ મોનાણી) શ્રાવક ૧૮૪૦-૪૮, ઋષભસાગર ૧૮૪૦ (?) ઉદય ઋષિ ૧૮૪૧, ગુલાબવિજય ૧૮૪૬, ક્ષમાકલ્યાણ ૧૮૪૮-૫૬, રંગવિજય ૧૮૪૯-૫૦, ફત્તેંદ્રસાગર ૧૮૫૦, લખમીવિજય ૧૮૫૧ પછી, રૂપમુનિ ૧૮૫૬-૮૦, માનવિજય (૪) ૧૮૫૭, **વીરવિજય** ૧૮૫૭-૧૯૦૮, પ્રેમમુનિ (૨) ૧૮૫૮, **દીપવિજય** (કવિરાજ બહાદુર) ૧૮૫૯-૧૮૮૬, **રામવિજય** તથા **રામચંદ્ર** ૧૮૬૦, **જ્ઞાનસાર** ૧૮૬૧, **રૂપવિજય** ૧૮૬૧-૧૯૦૦, હરજશ ૧૮૬૪, અવિચલ ૧૮૬૯ પહેલાં, તેજવિજય ૧૮૭૦, ક્ષેમવર્દ્ધન ૧૮૭૦-૭૯, વિવેકવિજય ૧૮૭૨, સૌભાગ્યસાગર ૧૮૭૩, ઋષભવિજય ૧૮૭૭-૮૬, ઉત્તમવિજય (૨) ૧૮૭૮-૭૯, લાલવિજય (૨) ૧૮૮૧, કૃષ્ણવિજય શિ૦ ૧૮૮૫, અમીવિજય ૧૮૮૯, ક્ષેમવિજય અને સવરાજ ૧૮૯૨, ધર્મચંદ્ર ૧૮૯૬, ઉદયસોમ ૧૮૯૮ સાંપડે છે.

૯૯૭. ગૂ. કવિઓ ૧૮મા શતક કરતાં આ શતકમાં ઘણી ઓછી સંખ્યામાં છે. આ પૈકી પદ્મવિજયના વૃત્તાંત માટે જુઓ તેમના સંબંધી રાસ (પ્ર૦ મારો જૈન ઐ. રાસમાળા નામનો ગ્રંથ), વિજયલક્ષ્મીસૂરિ માટે જુઓ તેમના સંબંધી સઝાય (પ્ર૦ ત્યાંજ), વીરવિજય માટે જુઓ તેમના પરનો રાસ (જૈન ઐ૦ ગૂર્જર કાવ્ય સંચય) તથા રા. ગિરધરલાલનો 'પંડિત વીરવિજયજીનો ટુંકો પ્રબંધ (જૈન યુગ, પુ. ૪, પૃ. ૧૩૨), અને જ્ઞાનસાર માટે જુઓ તેના પર લેખ જૈ. શ્વે. કૉ. હેરેલ્ડ સને ૧૯૧૦ પુ. ૯-૧૦. પૃ. ૩૪૩ તથા સને ૧૯૧૩નું પુ. ૧૦ પૃ. ૨૦૯). **વીરવિજય** તે જૈનોના દયારામ છે. દયારામે શૃંગારિક કવિતા ગરબીમાં ગાઈ છે, જ્યારે ગરબી જેવાં ગીતો, પૂજા આદિમાં વીરવિજયે રચેલાં છે. વિશેષમાં વીરવિજયે મોટા મોટા રાસો પણ રચ્યા છે. દરેક નવીન ઢબની ગરબી કે એવી ચીજ સાંભ-

જાતા એટલે તે રાહમાં પોતે લાલિત્યભર્યાં કાવ્યો રચતાં. તેમાંથી અનેક ઉર્મીગીતો (lyrics) મળશે.

૯૯૮. આ શતકમાં લોકકથા સાહિત્યમાં ગૂજરાતી ભાષામાં સં. ૧૮૨૫ પહેલાં ક્ષેમહર્ષે ચંદનમલયાગિરિ ચો૦, ભાણુવિજયે સં. ૧૮૩૦માં વિક્રમ પંચદંડ રાસ, ઋદ્ધપભસાગર બીજાએ સં. ૧૮૪૦ માં (વિદ્યાવિલાસ પવાડા પરથી) વિનયચટ રાસ, લાં. રૂપમુનિએ સં. ૧૮૮૦માં વિક્રમરાજાના સમયમાં મૂકેલા અંબડ પર રાસ (કે જેમાં વિક્રમનાં પરાક્રમ પંચ દંડ વગેરેની અદ્ભુત વાતો છે) મળી આવે છે. ઐતિહાસિક સાહિત્યમાં સં. ૧૮૦૨માં ઉદયસાગરે અને સં. ૧૮૧૭માં માણિક્યસાગરે આં. કલ્યાણસાગરસૂરિપર રાસ, વાના-શ્રાવકે સં. ૧૮૨૦માં વિબુધવિમલસૂરિ રાસ, કવિયણે સં. ૧૮૨૫માં દેવચંદ્રજી પર દેવવિલાસ, પદ્મવિજયે સં. ૧૮૨૮માં ઉત્તમવિજય નિર્વાણ રાસ, રંગવિજયે સં. ૧૮૪૯માં પ્રતિષ્ઠાકલ્પ સ્તવન, લખમીવિજયે સં. ૧૮૫૧ પછી ઢુંઢિયા ઉત્પત્તિ, રૂપવિજયે સં. ૧૮૬૨ માં પદ્મવિજય નિર્વાણ રાસ તથા સં. ૧૯૦૦માં વિમલમંત્રી રાસ, અવિચલે સં. ૧૮૬૯ પહેલાં ઢુંઢક રાસ, તેજવિજયે સં. ૧૮૭૦ માં ધુલેવા કેસરીઆજીનો રાસ, ક્ષેત્રવર્દ્ધને સં. ૧૮૭૦માં શાંતિદાસ અને વખતચંદશેઠનો રાસ, ઉત્તમવિજયે સં. ૧૮૭૮માં ઢુંઢક રાસ, 'કવિ બહાદુર' દીપવિજયે સુરત ખંભાત જંબૂસર ઉદયપુર ચિતોડ (?) એ પાંચ શહેરપર ગજલો સં. ૧૮૭૭માં તથા તે વર્ષમાં મોટો સોહમકુલ પટ્ટાવલી રાસ, અને વીરવિજયે સં. ૧૮૬૦માં સ્વગુરૂ શુભવિજય પર શુભવેલી, સં. ૧૮૯૩માં મોતીશા શેઠનાં ઢાળીઆં, સં. ૧૯૦૩ માં હઠીસિંહની અંજનશલાકાનાં ઢાળીયાં, સં. ૧૯૦૫માં સિદ્ધાચલ ગિરિનાર સંઘ સ્ત૦, તથા સં. ૧૯૦૮માં હરકુંઅર સિદ્ધક્ષેત્ર સંઘ સ્ત૦, વગેરે કરેલી રચનાઓ ઉપલબ્ધ થાય છે.

૯૯૯. ગૂ૦ગદ્ય સાહિત્યમાં સં. ૧૮૦૧માં તત્ત્વહંસે ભુવનભાનુ ચરિત્રપર, સં. ૧૮૦૩માં (વિજયસિંહસૂરિ-ગજવિજય-ગુણવિજય અને હિતવિજય-જ્ઞાનવિજય શિ૦) જીતવિજયે (જીવવિજયે) કર્મ ગ્રંથ પર, સં. ૧૮૦૫માં (ખ૦ હર્ષવિશાલ-જ્ઞાનસમુદ્ર-જ્ઞાનરાજ-લબ્ધોદય-

દાનસાગર શિ૦) રત્નધીરે ભુવનદીપકપર, સં. ૧૮૧૩માં વિબુધવિમલસૂરિએ સ્વરચિત સમ્યક્ત્વ પરીક્ષાના સંસ્કૃત પદ્યમય ગ્રંથપર સ્વોપજ્ઞ, સં. ૧૮૩૩માં રંગવિજય શિ૦ રામવિજયે વિજયધર્મસૂરિ રાજ્યે જિનકીર્તિસૂરિ કૃત ધન્યચરિત્ર-દાનકલ્પદ્રુમ પર (જયા૦), સં. ૧૮૩૪માં લોં. મહાનંદે કલ્પસૂત્રપર, પદ્મવિજયે સં. ૧૮૩૦માં યશોવિજયકૃત ૩૫૦ ગાથાના સીમંધર સ્ત૦ પર, સં. ૧૮૪૬માં ગૌતમકુલક પર, તથા સં. ૧૮૪૯માં રાધનપુરમાં યશોવિજયકૃત વીર હુંડી સ્ત૦ પર, (ત૦ ભાવરત્ન-શાંતિરત્ન-હસ્તિરત્ન-કનકરત્ન-સુબુધિ રત્ન શિ.) ધર્મરત્ને સં. ૧૮૪૯માં ધન્યચરિત્રપર, સં. ૧૮૬૬માં જ્ઞાનસારે આનંદઘનકૃત ૨૨ જિનસ્તવનોપર (પ્ર૦ પ્રકરણ રત્નાકર ભા. ૧), ઉક્ત પ્રસિદ્ધ કવિ વીરવિજયે સં. ૧૮૮૧માં યશોવિજયકૃત અધ્યાત્મસાર પર (પ્ર૦ પ્રકરણ રત્નાકર ભાગ ૧); ત૦ સુમતિવિજય શિ૦ રામવિજયે સં. ૧૮૭૮ (? ચંદ્રગજદ્વિભ પ્રભુ મિતે) ઉપદેશમાલાપર અને સં. ૧૮૮૪માં હેમાચાર્યકૃત નેમિનાથ ચરિત્ર પર (પ્ર. કા. વડો.), (ત૦ જિનવિજય-ઉત્તમવિજય-અમીવિજય શિ.) કુંવરવિજયે સં. ૧૮૮૨માં પાલીમાં ખ૦ દેવચંદ્રજીકૃત અધ્યાત્મ ગીતા નામની ભાષાકૃતિ પર, ઉક્ત પ્રસિદ્ધ શ્રી યશોવિજય ઉપાધ્યાયના ગુણવિજય-સુમતિવિજય શિ૦ ઉત્તમવિજયે વિજયજિનેંદ્ર સૂરિ રાજ્યે (સં. ૧૮૪૧ થી ૧૮૮૪ વચ્ચે) રત્નશેખરસૂરિકૃત શ્રાદ્ધવિધિવૃત્તિપર, બાળાવબોધની રચના કરી. ખ૦ ક્ષમાકલ્યાણે સં. ૧૮૩૮માં પાક્ષિકાદિ પડિક્કમણ વિધિ ગદ્યમાં સંગ્રહિત કરી તથા પછી પ્રશ્નોત્તર સાર્ધશતક ભાષામાં રચ્યું. 'કવિ બહાદુર' દીપવિજયે સં. ૧૮૭૯ પછી નવ બોલની ચર્ચા લખી અને સં. ૧૮૮૬માં સુરતમાં પ્રશ્નોત્તરસમુચ્ચય ભાષામાં રચ્યું (ખેડા ભં; પ્ર. કા.)

વિક્રમ ૨૦મું શતક [સં. ૧૯૦૧ થી ૧૯૬૦].

૧૦૦૦. આ શતકમાં ખાસ નોંધવા જેવી સંસ્કૃત કે પ્રાકૃત કૃતિ જોવામાં આવી નથી. જૂની પદ્ધતિપર કવિતા રચનારા થોડા ભાષા-કવિઓ નીચેના પ્રાપ્ત થાય છેઃ-ચિદાનંદ (મૂલ કપૂરવિજય)



સં. ૧૯૦૩ ના હઠીસિંહના દહેરાનો બહારનો દેખાવ, અમદાવાદ.

[By Courtesy of B. B. & C. I. Ry.]



કુંભારિયા મંદિર નં. ૨

તે મંદિરનો અંદરનો ભાગ.

સં. ૧૯૦૦-૧૯૦૭, અમૃતવિજય ૧૯૦૨, બાલચંદ ૧૯૦૭. જશ-વિજય ૧૯૧૦, રંગવિજય ૧૯૧૧, દયાવિજય ૧૯૧૨, ઋદ્ધિશ્રી (સાધ્વી) ૧૯૧૬, રત્નપરીખ ૧૯૧૮, ખેઠીદાસ ૧૯૧૯-૨૮, રવ-ચંદ ૧૯૨૭, જિનદાસ ૧૯૩૦, મયારામ ભોજક ૧૯૩૦ આસપાસ, મણિચંદ્ર ગોરજી, હુલાસચંદ્ર ૧૯૪૭.

૧૦૦૧ અર્વાચીન શુદ્ધ અને શિષ્ટ ગૂજરાતીમાં કવનાર અને લખનાર પ્રસિદ્ધ વ્યક્તિઓ તો ડાહ્યાભાઇ ધોળશાજી નાટકકાર અને રાયચંદ કવિ અધ્યાત્મી ફિલસુફ. ચિદાનંદજી મસ્ત અધ્યાત્મી હતા-તેમણે મિશ્ર ભાષામાં હિંદી પ્રત્યેજ ઢળતી ભાષામાં અધ્યાત્મકૃતિઓ પદ્યમાં રચી છે. પ્રસિદ્ધ જૈનાચાર્ય આત્મારામજીએ હિંદીમાં પૂજા રચી છે. આ ટૂંકમાં સં. ૧૯૫૦-૫૫ સુધીનો કાવ્ય સાહિત્યનો ઇતિહાસ છે. ત્યાં સુધીમાં થયેલ ઉપર્યુક્ત ચારે પ્રસિદ્ધ વ્યક્તિઓ તથા વીરચંદ રાઘવજી ગાંધી કે જેમણે અંગ્રેજીમાં જૈનધર્મ સંબંધી વ્યાખ્યાનો અમેરિકા, ઇંગ્લંડ, હિંદમાં આપી ખ્યાતી મેળવી-તેઓનાં ટુંક વૃત્તાંત હવે પછી આપવામાં આવે છે.

ચિદાનંદજી

મતિ મત વિચારો રે મત મતીયનકા ભાવ; મતિ૦
વસ્તુગતેં વસ્તુ લહોરે વાદવિવાદ ન હોય
સૂર તિહાં પરકાશ પિયારે ! અંધકાર નવિ હોય—મતિ૦
રૂપ રેખ તિહાં નવિ ઘટેરે મુદ્રા ભેખ ન હોય
ભેદજ્ઞાન દૃષ્ટિ કરી પ્યારે ! દેખો અંતર જોય—મતિ૦
તનતા મનતા વચનતારે પર પરિણતિ પરિવાર
તનમનવચનાતીત પીયારે ! નિજ સત્તા સુખકાર—મતિ૦
અંતર શુદ્ધ સ્વભાવમેં રે નહીં વિભાવ લવલેશ
ભ્રમ આરોપિત લક્ષથી પ્યારે ! હંસા સહત કલેશ—મતિ૦
અંતર્ગત નિશ્ચે ગહી રે કાયાથી વ્યવહાર
ચિદાનંદ તવ પામીયેં પ્યારે ! ભવસાયરકો પાર—મતિ૦

૧૦૦૨ ચિદાનંદ—પૂર્વનામ કપૂરવિજય હતું. તેઓ આત્મજ્ઞ હતા. આ સૈકામાંજ થયેલા એટલે તેમના સંબંધી તેમના સમાગમમાં

આવેલા તરફથી ઘણું જાણી શકાય પણ દુર્ભાગ્યે કંઇ મળ્યું નથી. તેમનાં વચનો પરથી અને જે કંઇ કિંવદન્તી સાંભળી છે તે પરથી કહી શકાય કે ' જૈન મુનિ થયા પછી પોતાની પરમ નિર્વિકલ્પ દશા થઇ હતી અને મધ્યમ અપ્રમત્ત દશામાં પ્રાયે હતા. આ કાળમાં એવી દશાએ પહોંચેલા બહુજ થોડા મનુષ્યની પ્રાપ્તિ પણ દુર્લભ છે. એ આત્માનુભવી હતા. તેમની કૃતિ નામે સ્વરોદયની ભાષા અર્દ્ધ હિંદી અને અર્દ્ધ ગૂજરાતી આપણે જોઇ શકીશું, જે ભાષામાં એકકે ભાષા સંપ્રદાયપૂર્વક ભણ્યા હોય એવું કંઇ જણાતું નથી; એથી એમની આત્મશક્તિ કે યોગદશાને કંઈ બાધ નથી. તેમ ભાષાશાસ્ત્રી થવાની તેમની કંઇ ઇચ્છા પણ રહી હોય એમ નહીં હોવાથી, પોતાને જે કંઇ અનુભવગમ્ય થયું છે તેમાંનો કંઇ પણ બોધ લોકોને મર્યાદાપૂર્વક જણાવી દેવો એ તેમની જિજ્ઞાસાથી એ ગ્રંથની ઉત્પત્તિ છે; અને એમ હોવાથીજ ભાષા કે છંદની ટાપટીપ, અથવા યુક્તિ પ્રયુક્તિનું વધારે દર્શન આ ગ્રંથમાં આપણે જોઇ શકતા નથી.' (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર)

૧૦૦૩ **હુકમ મુનિ**—આ પણ એક અધ્યાત્મી મુનિ થયા. રાધનપુરના વીશાશ્રીમાળી વણિક જન્મ સં. ૧૮૭૦ પિતા લાલચંદ માતા અચરત. સ્વતઃ દીક્ષા સં. ૧૯૦૩. ઘણી તપશ્ચર્યા ને ગ્રામનુગ્રામ વિહાર. છેવટે સુરતમાં વધુ વર્ષ રહ્યા. સ્વ. સં. ૧૯૪૮. તેમણે દ્રવ્યાનુયોગ અને અધ્યાત્મને લક્ષીને અનેક કૃતિઓ ગદ્યપદ્યમાં ગૂર્જર ભાષામાં રચીઃ-સમ્યકત્વ સારોદ્ધાર, જ્ઞાનવિલાસ તત્ત્વસારોદ્ધાર, જ્ઞાન ભૂષણ, હુકમવિલાસ, આત્મચિંતામણી, પ્રકૃતિપ્રકાશ, પદ સંગ્રહ, ધ્યાનવિલાસ, મિથ્યાત્વવિધંસણ, અભાવ પ્રકરણ, અનુભવ પ્રકાશ, અધ્યાત્મસારોદ્ધાર, બોધદિનકર વગેરે. (જુઓ અનુભવ જૈન હુકમ પ્રકાશની પ્રસ્તાવના).

વિજયરાજેંદ્ર સૂરિ આ સમયમાં થયા. ભારતપુરમાં ઓશવાલ વણિક ઋષભદાસ અને કેસરી બાઇથી જન્મ સં. ૧૮૮૩. નામ રત્નરાજ. યતિ દીક્ષા રત્નવિજય નામ રાખ્યું સં. ૧૯૦૩. ધરણેન્દ્ર

સૂરિ સાથે ઝઘડો થતાં આહોરમાં સં. ૧૯૨૩માં આચાર્ય પદ લઇ વિજયરાજેંદ્ર સૂરિ નામ રાખ્યું. સં. ૧૯૩૩માં જાલોરના કુમારપાલ રાજાએ કરાવેલ મંદિરનો જીર્ણોદ્ધાર કરાવ્યો ને કુંભ શેઠના ચોમુખજીના મંદિરમાં પ્રતિષ્ઠા કરી. ૭૦૦ સ્થાનકવાસી ઘર મંદિરમાર્ગી કર્યા સં. ૧૯૪૧માં અમદાવાદ ચોમાસું કરી આત્મારામજી સાથે પત્રદ્વારા ચર્ચા વાર્તા કરી. સં. ૧૯૪૬માં સિયાણામાં 'અભિધાન રાજેન્દ્ર કોષ'નો આરંભ કર્યો. ૧૯૫૭માં સિયાણામાં કુમારપાલ રાજાએ કરાવેલ સુવિધિનાથના જિનમંદિરનો ઉદ્ધાર કરાવ્યો. ૧૯૫૯માં આહોરમાં મોટો જ્ઞાનભંડાર કરાવ્યો તેમાં અગણિત હસ્તલિખિત તેમજ મુદ્રિત ગ્રંથોનો આરસપહાણની આલમારીમાં રખાવી સંગ્રહ કર્યો. સ્વર્ગસ્થ રાજગઢમાં સં. ૧૯૬૩. તેમણે જુદે જુદે સ્થળે મળી બાવીસ અંજનશલાકા કરી અનેક મૂર્તિઓની પ્રતિષ્ઠા કરી હતી. તેમનું મહાનમાં મહાન્ કાર્ય 'અભિધાન રાજેન્દ્ર કોષ' નામનો સંગ્રહ ગ્રંથ. તેના લગભગ આઠસોથી હજાર પાનાંવાળું એક એમ આઠ વૉલ્યુમો અત્યાર સુધી મુદ્રિત થયાં. તેમાં અકારાદિ વર્ણાનુક્રમે પ્રાકૃત શબ્દ, તેનો સંસ્કૃત શબ્દ, વ્યુત્પત્તિ, લિંગ અને અર્થ જે પ્રમાણે જૈનાગમોમાં મળે છે તે પ્રમાણે તેમજ અન્ય ગ્રંથોમાં આવે છે તે પ્રમાણે તે દરેના ઉતારા ટાંકી આ કોષને બને તેટલો પ્રમાણિક-પ્રમાણ સહિત કરવા મહાભારત પ્રયત્ન કરવામાં આવ્યો છે. જૈનાગમોનો એવો કોઇ પણ વિષય નથી કે જે આ મહાકોશમાં ન આવ્યો હોય. કુલ સાઠ હજાર શબ્દો, તે આખા ગ્રંથનું પ્રમાણ સાડાચાર લાખ શ્લોક પ્રમાણ થશે. અન્યગ્રંથો-શબ્દામ્બુધિકોશ-તેમાં માત્ર પ્રાકૃત શબ્દનો સંસ્કૃત અને હિંદીમાં અર્થ છે, સકલૈશ્વર્ય સ્તોત્ર સટીક, ખાપરિયાતસ્કર પ્રબન્ધ, શબ્દકૌમુદી શ્લોકબદ્ધ, કલ્યાણસ્તોત્ર પ્રક્રિયા ટીકા, ધાતુપાઠ શ્લોક બદ્ધ, ઉપદેશ રત્નસાર ગદ્ય, દીપાવલી કલ્પસાર ગદ્ય, સર્વ સંગ્રહ પ્રકરણ (પ્રાકૃત ગાથા બદ્ધ), પ્રાકૃત વ્યાકરણ વિવૃતિ. ભાષામાં પણ પદ્ય તેમજ ગદ્ય રચના કરી. (અભિધાન રાજેંદ્ર કોષ ભાગ ૧ પ્રતાવના).

પ્રકરણ ૭ મું.

૨૦ મું શતક અનુસંધાન.

આત્મારામજી [વિજયાનંદ સૂરિ]

दुराग्रहध्वान्तविभेदभानो ! हितोपदेशामृतसिन्धुचित्त ।
सन्देहसन्दोहनिरासकारिन् ! जिनोक्तधर्मस्य धुरंधरोऽसि ॥
अज्ञानतिमिरभास्करमज्ञाननिवृत्तये सहृदयानाम् ।
आर्हत्तत्त्वादर्शं ग्रन्थमपरमपि भवानकृत ॥
आनन्दविजय ! श्रीमन्नात्माराम ! महामुने ! ।
मदीयनिखिलप्रश्न व्याख्यातः शास्त्रपारग ! ॥
कृतज्ञताचिन्हमिदं ग्रन्थसंस्करणं कृतिन् ! ।
यत्नसम्पादितं तुभ्यं श्रद्धयोत्सृज्यते मया॥

—डॉ. हॉर्नलनी उवासग दसाओ सूत्रमां अर्पणपत्रिका.

—હે દુરાગ્રહ રૂપી અંધકારને તોડવામાં સૂર્યસમાન ! હિતોપદેશ રૂપી અમૃતના સાગર જેવા ચિત્તવાળા ! સંદેહના સમૂહનો નિરાસ કરનારા ! તમે જિનોએ પ્રરૂપેલા ધર્મની ધોંસરીને ધરનાર-ધુરંધર છો. સહૃદયોના અજ્ઞાનને દૂર કરવા આપે અજ્ઞાનતિમિરભાસ્કર તેમ જૈન તત્ત્વાદર્શ નામનો બીજો ગ્રંથ પણ રચેલ છે. આનંદવિજય ! શ્રીમન્ આત્મારામ ! મહા મુનિ ! શાસ્ત્રની પાર જનારા ! આપે મારા બધા પ્રશ્નોની વ્યાખ્યા કરી આપી. હે ધન્ય ! આ ગ્રંથનું યત્નથી સંપાદિત કરેલું સંસ્કરણ કૃતજ્ઞતાના ચિન્હ રૂપે આપને હું શ્રદ્ધાપૂર્વક અર્પણ કરૂં છું.

(ભીમપલાસી.)

વિસમી સદીના પરમ સાધુ, આત્મારામજી અહો !
ફરકાવી ધર્મની પતાકા, સાધુ હો તો એવા હો !—
બ્રહ્મ તેજ ક્ષત્રિય વીર્ય, પ્રખરતા હૃદય-ઔદાર્ય
દાખવ્યું ગંભીર ધૈર્ય, સાધુ હો તો એવા હો—વિસમી૦
ધર્મરહિત જડ પ્રદેશ, પંજાબને કર્યો વિશેષ

ચુસ્ત જૈન દઇ ઉપદેશ, સાધુ હો તો એવા હો—
વીતરાગના સંદેશ, પાઠવ્યા રૂડા વિશેષ
દિપાવ્યો જૈન મુનિ વેષ, સાધુ હો તો એવા હો—

દુર્નિવાર શિથિલાચાર, નિવારી આત્મશ્લાઘાધાર
વિપક્ષીને દીધા પડકાર, સાધુ હો તો એવા હો—

તત્ત્વાદર્શ આદિ ગ્રંથ, રચ્યા અનેક શાસ્ત્રપંથ
આદર્શ જેનો નિર્ગ્રંન્થ, સાધુ હો તો એવા હો—

૧૦૦૪ વીસમી સદીના આ પરમ સાધુનો જન્મ બ્રહ્મક્ષત્રિય જાતિમાં સં. ૧૮૯૩ ચૈ. શુ. ૧ ગુરૂવારે પંજાબ ફિરોજપુરના લેહરા ગામમાં થયો. પિતાનું નામ ગણેશચંદજી ને માતાનું રૂપાદેવી. પિતાએ પોતાના વૈશ્ય ઓસવાલ મિત્ર જોદ્ધામલને સ્વપુત્ર સોંપતાં તે મિત્રે પોતાના જીરા ગામમાં આ બાલકને શાલાનું શિક્ષણ અપાવ્યું. પિતાનો દેહાન્ત થયો. જીરામાં બધા ઢુંઢીઆ મતના (સ્થાનકવાસી) હતા. ધર્મક્રિયા શીખી લઇ નવતત્ત્વાદિ જૈન દર્શનના પ્રાથમિક મૂળતત્ત્વનો અભ્યાસ કરી લીધો. સં. ૧૯૧૦માં તે મતના સાધુ જીવનરામ પાસે માતાની અનુજ્ઞા લઇ દીક્ષા લીધી. ૩૨ સૂત્રો ઉપરાંત અનેક ધર્મગ્રંથોને—ન્યાય ગ્રંથોને અવગત કરવા સાથે સંસ્કૃતાદિ વ્યાકરણ અને સાહિત્યને પંડિત પાસે શીખી લીધાં. શાસ્ત્રવિચાર દ્વારા જૈન ધર્મના તત્ત્વને હૃદયગત કર્યાં પછી ઘણે સ્થળે વિહાર કર્યો પછી મૂર્ત્તિપૂજા એ આવશ્યક અવલંબન છે, સૂત્રોમાં તેનો નિર્દેશ છે તે જણાતાં મૂર્ત્તિઓ સ્થળે સ્થળે ઘણા કાળથી ચાલી આવી છે તે નિરખતાં અમૂર્ત્તિપૂજક એવા પોતાના સ્વીકારેલા મતનો ત્યાગ કરવાનો નિશ્ચય કરી પંજાબથી ૧૫ સાધુઓને લઇ આબૂ અને શત્રુંજય તીર્થની યાત્રા કરી સં. ૧૯૩૨ માં અમદાવાદ આવ્યા. ત્યાં મુનિ બુદ્ધિવિજય (બુટેરાયજી કે જેમણે પણ પહેલાં ઢૂંઢક દીક્ષા લીધી હતી અને પછી તેનો ત્યાગ કરી મણિવિજય પાસે શ્વે૦ મૂ૦ તપાગચ્છની દીક્ષા લીધી) પાસે ૩૯ વર્ષની વયે તપાગચ્છની દીક્ષા લીધી, નામ આનંદવિજય

રાખ્યું અને સાથેના ૧૫ મુનિઓ પોતાના શિષ્ય થયા. સં. ૧૯૩૨.

૧૦૦૫ ગૂજરાત સૌરાષ્ટ્રમાં ફરી ત્યાંનાં સર્વ જૈન તીર્થોની યાત્રા કરી મારવાડમાં જોધપુર ચોમાસું કરી જયપુર દિલ્લી થઇ પંજાબમાં આવ્યા સં. ૧૯૩૫. મતપલટથી કાયાપલટ થવાથી ત્યાં ઢુંઢીઆ જૈનો સામે ભારે સામનો કર્યો. અનેકને દીક્ષા આપી. ગ્રંથોની રચના કરી. ૧૯૩૭ માં ગુજરાંવાલામાં ચોમાસું રહી જૈન તત્ત્વાદર્શ શરૂ કર્યો ને બીજે વર્ષે હોશિયારપુરમાં પૂરો કર્યો. ૧૯૩૯ માં અંબાલામાં **અજ્ઞાનતિમિરભાસ્કર** લખવો શરૂ કર્યો ને **સત્તરભેદી પૂજા** રચી. પાંચ વર્ષ પંજાબમાં ગાળી ૧૯૪૦ માં વીકાનેર ચોમાસું કર્યું. ત્યાં **વીસસ્થાનક પૂજા** બનાવી. ૧૯૪૧ માં અમદાવાદ ચોમાસું કર્યું. ત્યાંથી શ્રાવકોએ પંજાબ માટે ધાતુ પાષાણની અનેક જૈન મૂર્તિઓ જૂદા જૂદા શહેરોમાં મોકલી અને ત્યાં આચાર્યે સ્થાનકવાસી જેઠમલ સાધુકૃત સમ્યક્ત્વસારમાં કરેલા આક્ષેપોના પ્રતિકાર રૂપે **સમ્યક્ત્વશલ્યોદ્ધાર** નામનું ખંડનાત્મક પુસ્તક રચ્યું. પછી ખંભાતમાં જઇ ત્યાંનાં પ્રાચીન તાડપત્રો પરનાં ધર્મપુસ્તકો વાંચ્યા ને **અજ્ઞાનતિમિરભાસ્કરનો** ગ્રંથ પૂરો કર્યો. તેમાં વેદાદિ શાસ્ત્રોમાં યજ્ઞાદિ ધર્મનો જેવો વિચાર છે તેવો સપ્રમાણ બતાવ્યો તથા જૈનધર્મનું સંક્ષિપ્ત વર્ણન આપ્યું. ૧૯૪૨ માં સુરત ચોમાસું કરી ત્યાં **જૈનમતવૃક્ષ** નામનો ઐતિહાસિક ગ્રંથ લખ્યો; ને ત્યાં રહેતા હુકમ મુનિના **અધ્યાત્મસાર** નામના ગ્રંથમાંથી ૧૪ પ્રશ્ન કાઢી તેના ઉત્તર તેની પાસેથી માગી પ્રશ્ન તથા ઉત્તર સર્વત્ર મોકલી ઉત્તર અને તે ગ્રંથ શાસ્ત્રશૈલી અનુસાર નથી એવી ઘોષણા કરાવી. ૧૯૪૩ માં પાલીતાણામાં ચોમાસું કર્યું અને ત્યાં મળેલા સંઘે કાર્તિક વદી ૫ ને દિને સૂરિપદ આપી તેમનું નામ વિજયાનંદસૂરિ સ્થાપ્યું. ત્યાં **અષ્ટપ્રકારી પૂજા** રચી. પાટણ આવી ત્યાંના પ્રાચીન ભંડારોમાંથી અનેક ગ્રંથોના ઉતારા કરાવરાવી તેમનું દોહન કર્યું, ને ૧૯૪૪ માં રાધનપુરના ચોમાસામાં ચતુર્થ સ્તુતિ નિર્ણય (ભાગ ૧) રચ્યો કે જે **રાજેંદ્રસૂરિના** ત્રિસ્તુતિના વાદનું ખંડન કરે છે.

૧૦૦૬ સં. ૧૯૪૫ ના મહેસાણાના ચાતુર્માસમાં ડા. હૉર્નલ (Hoernle) નામના વિદ્વાને શા. મગનલાલ દલપતરામ દ્વારા એક પત્રથી જૈનધર્મ સંબંધી કેટલાક પ્રશ્નો પૂછતાં આચાર્યશ્રીએ આપેલા ઉત્તરોએ તેનું સંતોષપૂર્વક સમાધાન કર્યું. અને તે માટે તેણે હાર્દિક ધન્યવાદ આપ્યો. (આ ઉત્તરો 'જૈનધર્મ પ્રકાશ'માં પ્રસિદ્ધ થયા છે). તે વિદ્વાન્ મહાશયે ઉપાસગ દશાઓ (ઉપાસક દશાંગ)નું સંપાદન લગભગ કરી લીધું હતું, તે પ્રકટ કર્યું ત્યારે તેમાં આત્મારામજીને અર્પણપત્રિકા સ્વરચિત સંસ્કૃત પદ્યમાં આપી છે કે જે આ વૃત્તાંતને મોખરે મૂકવામાં આવેલ છે; તે ઉપરથી તેમજ તેના ઉપોદ્‌ઘાતમાં કરેલા ઉલ્લેખથી સમજાય તેમ છે કે તે વિદ્વાન્ પર મહારાજશ્રીએ કેટલો બધો પ્રભાવ પાડયો હતો. પછી બીજી વખત ગૂજરાત કાઠિયાવાડ મારવાડ આદિ દેશમાં વિચરી દિલ્લી થઇ પુનઃ પંજાબમાં પધાર્યા. ત્યાં લુધિયાનામાં આર્યસમાજ વગેરે લોક સાથે ચર્ચા કરી. સં. ૧૯૪૮ માં અમૃતસરમાં અરનાથ જિન પ્રતિષ્ઠા કરી અને જૈનમતવૃક્ષનું પુનઃ સંસ્કરણ કર્યું. પટ્ટીમાં ચતુર્થસ્તુતિ નિર્ણયનો બીજો ભાગ અને નવપદ પૂજાની રચના કરી. તે વર્ષમાં જીરામાં ચિંતામણિ પાર્શ્વનાથની અને હુશીયારપુરમાં વાસુપૂજ્યની પ્રતિષ્ઠા કરી. ૧૯૫૦ માં ચીકાગોની વિશ્વધર્મ પરિષદ્ તરફથી ત્યાં આવવા નિમંત્રણ થયું પરંતુ પોતાની સાધુવૃત્તિમાં ખલેલ આવે તેથી ત્યાં જવાની અશક્યતાને કારણે જૈન ગ્રેજ્યુએટ વીરચંદ રાઘવજી ગાંધીને ત્યાં મોકલવાનું નક્કી કરવામાં આવ્યું. વીરચંદે મહારાજ પાસે આવી જૈનધર્મ સંબંધીનું બ્યાન પ્રશ્નોદ્વારા લીધું અને તે ચીકાગો પ્રશ્નોત્તર એ નામના પુસ્તક રૂપે પ્રસિદ્ધ થયેલ છે. તે ધર્મસમાજના અહેવાલમાં આ આચાર્યના ફોટા નીચે જણાવવામાં આવ્યું કેઃ—

'જેટલી વિશેષતાથી મુનિ આત્મારામજી'એ પોતાની જાતને જૈન લાકો સાથે તાદાત્મ્યવાળી કરી છે તેવી રીતે કોઈએ કરેલ નથી. દીક્ષાગ્રહણના દિવસથી તે જીવન પર્યંત જે ઉદારચિત્ત મહાશયોએ સ્વીકૃત ઉચ્ચ 'મિશન' માટે અહોરાત્ર કાર્ય કરવાની પ્રતિજ્ઞા લીધી છે તે પૈકીના તેઓ એક છે.

તેઓ જૈન કોમના આચાર્યવર્ય છે, અને પૌર્વાત્ય પંડિતો—'સ્કૉલરો 'એ તેમને જૈનધર્મ અને સાહિત્યપર વિદ્યમાન ઉંચામાં ઉંચા પ્રમાણભૂત તરીકે સ્વીકારેલ છે.૫૪૨

૧૦૦૭ સં. ૧૯૫૧ ના ચોમાસામાં જીરામાં તત્ત્વનિર્ણય પ્રાસાદ નામનો ગ્રંથ પૂર્ણ કર્યો. તેમણે ઋગ્વેદાદિ વેદો મહાભારત પુરાણો વગેરેનો સ્વાધ્યાય સારી રીતે અનુક્રમે કર્યો હતો કે જે તેમના પુસ્તકોમાં પ્રતિબિંબિત થાય છે. પંજાબમાં હજુ સુધી સાધ્વીઓ નહોતી તે જીરામાં આવી ને ત્યાં એકબાઇને સૂરિએ દીક્ષા આપી. પટ્ટીમાં માઘમાસમાં મનમોહન પાર્શ્વનાથની પ્રતિષ્ઠા કરી. ૧૯૫૨ માં અંબાલા ચોમાસામાં ચીકાગોથી આવીને વીરચંદ ગાંધી મળ્યા ને ત્યાંના ધર્મ-સમાજની કાર્યવાહી જણાવી એથી આચાર્યને ઘણો હર્ષ થયો. ત્યાં સુપાર્શ્વનાથની પ્રતિષ્ઠા કરી. લુધિયાનામાં સંઘનો કલેશ કાઢી નાંખ્યો. સનખતરામાં સં. ૧૯૫૩ માં ૧૭૫ બિંબની અંજનશલાકા કરી ને ત્યાં પ્રતિષ્ઠા કરી, છેવટે સં. ૧૯૫૩ જેઠ શુ. ૮ ને દિને દેહત્યાગ કર્યો. (આ વૃત્તાંતમાં આરૂ સંવત આપ્યાં છે.)

૧૦૦૮ સત્યવિજય ગણિની પરંપરામાં પદ્મવિજય-રૂપવિજય-કીર્ત્તિવિજય-કસ્તૂરવિજય-મણિવિજય-બુદ્ધિવિજયના પોતે શિષ્ય થયા અને તેમના અનેક શિષ્યોનું વૃંદ ગૂજરાતમાં વિચરે છે. પંજાબમાં જે જિનમંદિરો છે તે સર્વ તેમના ઉપદેશનું ફલ છે: તેમના નામથી

---

૫૪૨. 'No man has so peculiarly identified himself with the interests of the Jain Community as "Muni Atmaramji." He is one of the noble band sworn from the day of initiation to the end of life to work day and night for the high mission they have undertaken. He is the high priest of the Jain Community and is recognized as the highest living "Authority" on Jain religion and literature.'



શ્રી આત્મારામજી (વિજયાનંદસૂરિ) પૃ. ૬૮૮



શ્રી વીરચંદ રાઘવજી ગાંધી B. A. પારા. ૧૦૧૪-૧૮

[આગમોદય સમિતિના સૌજન્યથી]

અનેક સંસ્થાઓ ઉદ્દભવી છે તે પૈકી જૈન આત્માનંદ સભા ભાવનગરે અનેક પ્રાચીન પુસ્તકો છપાવી પ્રસિદ્ધ કર્યાં છે, અને આત્માનંદ પ્રકાશ નામનું માસિક ૨૮ વર્ષથી ચાલુ રાખ્યું છે. (આચાર્યનું વિશેષ વૃત્તાંત જોવું હોય તો તત્ત્વનિર્ણય પ્રાસાદની ભૂમિકામાં આપેલ ચરિત્ર પૃ. ૩૩ થી ૮૩, અને જૈન શ્વે૦ કૉન્ફરન્સ હેરૅલ્ડ પુ. ૯ અંક ૮-૯ નો પર્યુષણ અંક પૃ. ૪૬૧ થી ૪૭૫.)

૧૦૦૯ 'યશોવિજય ઉપાધ્યાય પછી શ્રુતાભ્યાસ બંધ પડયા જેવો હતો તે આત્મારામજી મહારાજે શરૂ કર્યો અને બહુશ્રુતપણાનું સ્થાન સંભાળી લીધું. ત્યારથી એટલે લગભગ દોઢસો વર્ષના ઇતિહાસમાં શ્વેતાંબર કે દિગંબર બંને પંથમાં એક મહાન્ વિભૂતિ આત્મારામજીજ નજરે આવે છે; તેમને આ દરજ્જો પ્રાપ્ત થયાનાં ખાસ વિશિષ્ટ કારણો છેઃ-તેમનામાં અડગ શ્રદ્ધા, શાસન પ્રત્યે અનુરાગ હતાં પણ વિશિષ્ટ કારણ એ કે તેમણે બુદ્ધિદ્વાર ખુલ્લું મૂકયું અને મેળવી શકાય તેટલા સમગ્ર જ્ઞાનને મેળવવા પુરૂષાર્થ કર્યો. તેમણે પોતાની બુદ્ધિને શાસ્ત્રવ્યાયામની કસોટીએ જીંદગીભર કસી અને જે વખતે છાપેલાં પુસ્તકો બહુજ ઓછાં હતાં તે વખતે અત્યારના જમાનાનો માણસ કલ્પી ન શકે તેટલાં જૈન જૈનેતર દર્શનોનાં અનેક વિષયોનાં સંખ્યાબંધ પુસ્તકો વાચી કાઢયાં. જે વખતે જૈન પરંપરામાં ઐતિહાસિક દષ્ટિ આવી ન હતી અને જૈન પુસ્તકો ઉપરાંત શિલાલેખો, તામ્રપત્રો, ભૂગોળ, ભૂસ્તર આદિ વિદ્યાઓને પણ બહુશ્રુતપણામાં સ્થાન છે એ કલ્પનાજ જાગી ન હતી તે વખતે મળેલા બધાં સાધનો જાણી ઐતિહાસિક દષ્ટિએ જૈન દર્શનની પ્રાચીનતા અને મહત્તા સ્થાપિત કરવાનો પ્રયત્ન એમણેજ પહેલવહેલાં કર્યો હતો. એમનું આશ્ચર્ય પમાડે એવું વિશાળ વાચન, અદ્દભુત સ્મરણ શક્તિ અને ઉત્તર આપવાની સચોટતા એમનાં સ્મરણીય પુસ્તકોમાં પદે પદે દેખાય છે. એજ બુદ્ધિયોગે તેમને વિશિષ્ટ દરજ્જો આપ્યો છે.

૧૦૧૦ 'તેમનામાં બુદ્ધિયોગ ઉપરાંત એક બીજું તત્ત્વ જે હતું

તેણે તેમને મહત્તા અર્પી છે. આ તત્ત્વ તે તત્ત્વપરીક્ષક શક્તિનું અગર તો ક્રાંતિકારિતાનું. ઘણાં વર્ષ અપાર પૂજાના ભાર નીચે એક સંપ્રદાયમાં બદ્ધ થયા પછી તેને કાંચળીની માફક ફેંકી દેવાનું સાહસ એ એમની ક્રાંતિકારિણી શક્તિ સૂચવે છે. એમના આત્મામાં કોઈ એવી સત્યશોધક શક્તિ હોવી જોઇએ કે જેણે તેમને રૂઢિના ચીલા ઉપર સંતુષ્ટ રહેવા ન દીધા, એમનું જીવન બીજાં ત્રીશેક વર્ષ લંબાયું હત તો તેમની ક્ષત્રિયોચિત ક્રાંતિકારિણી પ્રકૃતિએ તેમને કઈ ભૂમિકાએ પહોંચાડયા હત એની કલ્પના કરવી એ કઠણ છે પણ એટલું તો એમના તરવરતા જીવનમાંથી ચોખ્ખું દેખાય છે કે તેઓ એકવાર પોતાને જે સાચું લાગે તેને કહેવા અને આચરવામાં કોઈ મોટા ખાનખાનાની પરવા કરે કે પ્રતિષ્ઠાથી લલચાઇ જાય તેવા ન હતા.

૧૦૧૧ 'જૈનશ્રુતનો જે વારસો મળ્યો તેજ વારસો સંભાળી બેસી રહ્યા હોત અને બહુશ્રુત કહેવાયા હોત તો પણ તેમનું આ સ્થાન નહોત. એમણે દેશકાળની વિદ્યાસમૃદ્ધિ જોઈ, નવાં સાધનો જોયાં અને ભાવિની જોખમદારી જોઈ, અને આત્મા તનમની ઉઠયો. તે સાથેજ તે માટે જેટલું પોતાથી થઇ શકે તે કરવા મંડયા. એમણે વેદો વાંચ્યા, ઉપનિષદો જોયાં, શ્રૌતસૂત્રો સ્મૃતિઓ અને પુરાણોનું પારાયણ કર્યું, સામયિક નવું ઉદ્‌ભવતું સાહિત્ય જોયું, મૃત અને જીવતી બધી જૈન શાખાઓનું સાહિત્ય, તેમનો ઇતિહાસ અને તેમની પરંપરાઓ જાણી, અને ત્યારબાદ પોતાને જે કહેવું હતું કે કર્યું. એમના કથનમાં શાસ્ત્રનો પ્રચંડ સંગ્રહ છે, વ્યવસ્થાની પ્રતિભા છે અને અભ્યાસની જાગૃતિ છે. એમણે મળેલ વારસામાં આટલો ઉમેરો કર્યો. દરેક આચાર્ય પદે આવનારે તેમ કરવું ઘટે. × × ×

૧૦૧૨ 'મહારાજશ્રીએ જે બહુશ્રુતપણાની ગંગા શરૂ કરી છે તે નવી પરિસ્થિતિ જોતાં માત્ર ગંગોત્રી છે અને સંપ્રદાયની ભૂમિકા ઉપર ઉભા રહી તેમણે જે સંશોધનવૃત્તિ તેમજ ઐતિહાસિક

વૃત્તિ દાખવી છે તે ભાવી સંશોધકો અને ઐતિહાસિકોને ઇતિહાસનો મહેલ બાંધવા માટે પાયામાં મૂકાતા એક પત્થરની ગરજ પૂરી પાડે છે. સંશોધનો, ઐતિહાસિક ગવેષણાઓ અને વિચારો ક્યાં પૂરાં થાય છે તે કોઈ નજ કહી શકે. તેથી તે દિશામાં સમગ્ર પુરૂષાર્થ દાખવી પગલું ભરનારનો નાનકડો શો ફાળો પણ બહુજ કિંમતી ગણાવો જોઇએ. આ દૃષ્ટિએ 'અજ્ઞાન તિમિર ભાસ્કર' ઉપર વિશેષ કામ કરવા ઇચ્છનાર પ્રૌઢ સંશોધક અને ઐતિહાસિકને પુષ્કળ અવકાશ છે."૫૪૩

૧૦૧૩. હવે આપણે આત્મારામજીની બદલીમાં ચીકાગો વિશ્વ-ધર્મ પરિષદમાં જૈનધર્મના પ્રતિનિધિ તરીકે તેમની પાસેથી ધર્મજ્ઞાન મેળવી જનાર અને ત્યાં આદર મેળવનાર જૈન ગ્રેજ્યુએટ વીરચંદ રાઘવજી ગાંધીનો પરિચય કરીશું.

વીરચંદ રાઘવજી ગાંધી.

(ત્રોટક)

પરમાર્થિક વારક મધ્યમણી, વળી દુર્જન ધૂઅડ દિનમણી
વીરચંદ્ર સુધાર્મિક ચંદ્રમણી, જય રાઘવજીસુત રત્નમણી.
વિચરા ધીર વીર વિદેશભણી, પરણી હીરાત કમળા રમણી
રમણીક પ્રભાવિક પૂજ્ય ધણી, જય રાઘવજી સુત રત્નમણી.
ક્રિયાયુક્ત દર્શ વિતર્ક તણાં, મતિમાધ્યથી બેગમસેન ઘણાં
કરી શુદ્ધ ધર્મ ખુબી ગાંધી તણી, જય રાઘવજી સુત રત્નમણી.

—રા૰ દાલાભાઇ પો. ઝવેરી.

૧૦૧૪. જન્મ કાઠિયાવાડના ભાવનગર પાસેના મહુવા ગામમાં

---

૫૪૩ સુવિચારક પંડિત શ્રી સુખલાલજીના 'શ્રી આત્મારામજી જયંતી પ્રસંગે કંઈક વક્તવ્ય' એ નામના સં. ૧૯૮૫ ના જ્યેષ્ઠના જૈનયુગના અંક પૃ. ૩૯૬-૮૦માં પ્રસિદ્ધ થયેલા લેખમાંથી.

સં. ૧૯૨૦ માં (૨૫-૮-૧૮૬૪ દિને) ગરીબ પણ કુલીન ગૃહમાં થયો. પિતાનું નામ રાઘવજી. ભાવનગરમાં અભ્યાસ કરી સોળમે વર્ષે મેટ્રિક ને મુંબઈમાં એલ્ફિન્સ્ટન કૉલેજમાં ભણી વીસ વર્ષની વયે બી. એ. થયા. સં. ૧૯૩૮-૩૯ માં સ્થપાયેલ જૈન એસોસિયેશન ઑફ ઇંડિયાનું મંત્રીપદ પોતાને સં. ૧૯૪૧ માં મળતાં સાંસારિક ધાર્મિક અને રાજકીય સુધારા-અનેક વિષયો પર થતી ભાષણશ્રેણીમાં ભાષણો આપ્યાં ૧૯૪૨ માં હુકમમુનિ સંબંધી વિચાર થયો. શત્રુંજય પર કોઇએ ખોદી નાંખેલી જૈન પાદુકા સંબંધી વિવદ પાલીતાણાના ઠાકોર સુરસિંહજી સાથે થતાં તેમાં વીરચંદભાઇએ પુષ્કળ મહેનત લીધી. આખરે સુરસિંહજી મરણ પામતાં તેની ગાદીએ આવેલા માનસિંહજી સાથે સં ૧૯૪૩ (૧૮૮૬) માં રૂ. ૧૫ હજારની ઉચક રકમ ૪૦ વર્ષ સુધી આપવાનો કરાર થયો. તે વર્ષમાં સોલિસિટર થવાનો અભ્યાસ શરૂ કર્યો. સં. ૧૯૪૮ (સને ૧૮૯૧) માં એક અંગ્રેજ પવિત્ર સમ્મેતશિખરપર ચરબી બનાવવાનું કારખાનું ઉઘાડતાં જૈન સમાજની થયેલી ક્ષુબ્ધ લાગણીને અંગે તેની સામેના મંડાયેલા કેસમાં આખરે અપીલમાં મહા મહેનત લઈ વીરચંદભાઇએ વિજય મેળવ્યો ને તીર્થ પરનો અત્યાચાર દૂર કરાવ્યો.

૧૦૧૫. સં. ૧૯૫૦ (સને ૧૮૯૩) માં ચીકાગોમાં ભરાનારી વિશ્વધર્મ પરિષદ્ (Parliament of Religions) માં જૈનધર્મના પ્રતિનિધિ તરીકે આચાર્યશ્રી આત્મારામજી પર આમંત્રણ આવતાં, જૈનસાધુ સમુદ્રોલ્લંઘન અપવાદ સિવાય ન કરી શકે એમ માન્યતા હોવાને કારણે તેઓ જઈ શકે તેમ નહોતું. વીરચંદભાઇને પ્રતિનિધિ તરીકે મોકલવાનું ઠરતાં તેમણે આત્મારામ સૂરિ પાસે જૈન તત્ત્વજ્ઞાનનું ઉંડું અધ્યયન કરી લીધું અને પોતે પરિષદમા જવા ઉપડી ગયા. ત્યાં હિન્દુ ધર્મના પ્રતિનિધિ તરીકે પ્રસિદ્ધ વિવેકાનંદ આદિ આવ્યા હતા. બંનેએ સારી છાપ ત્યાંના લોકપર પાડી. વીરચંદે જૈનધર્મનું સ્વરૂપ-નીતિ અને તત્ત્વજ્ઞાન બંને એવી ઉત્તમ રીતે પરિ-

ષદ્ સમક્ષ મૂકયું કે અમેરિકાના તે વખતના એક વજનદાર પત્રે જણાવ્યું કેઃ—

—'પાર્લામેંટ'માં પ્રતિષ્ઠિત હિંદુ વિદ્વાનો, તત્ત્વજ્ઞાનીઓ અને ધર્મોપદેશકોએ હાજર થઈ ભાષણો આપ્યાં હતાં તેમાંના કેટલાંક તો એવા હતા કે જેમને વિદ્વત્તા, વકતૃત્વકલા અને ધર્મભક્તિમાં કોઈપણ પ્રજાની ઉચ્ચમાં ઉચ્ચ વ્યક્તિઓ સાથે સમાનપદ પર મૂકાય તેમ છે; પરંતુ એટલું તો નિશ્ચયતાથી કહી શકાય તેમ છે કે પૌર્વાત્ય પંડિતોમાંથી જૈન સમાજના યુવક ગૃહસ્થે પોતાના વર્ગની નીતિ અને તત્ત્વજ્ઞાન સંબંધી આપેલ ભાષણ શ્રોતાઓએ જે રસથી સાંભળ્યું હતું તે કરતાં વધારે રસથી કોઈપણ પૌર્વાત્ય પંડિતનું તેમણે સાંભળ્યું નહોતું.૫૪૪

૧૦૧૬. આને લીધે તેમને તે પરિષદ્ના ઉત્પાદક અને એકત્રિત વિદ્વન્મંડળે રૌપ્ય પદક અર્પણ કર્યો. પછી અમેરિકાના મોટાં શહેરો નામે બોસ્ટન, ન્યૂયૉર્ક, વૉશિંગ્ટન વગેરેમાં જૈનધર્મ પર વ્યાખ્યાનો આપી તેનું રહસ્ય, તેની વ્યાપકતા–સુંદરતા સમજાવ્યાં. કાસાડોગા શહેરના નાગરિકોએ તો સુવર્ણપદક સમર્પ્યો. તદુપરાંત ત્યાં 'ગાંધી ફિલોસૉફિકલ સોસાયટી' સ્થાપી કે જે દ્વારા જૈન તત્ત્વજ્ઞાનનો પરિચય અમેરિકાને મળ્યાં કરે. ત્યાં કેટલોક કાલ રહી એ રીતે કાર્ય કરી ઈંગ્લાંડમાં આવી વ્યાખ્યાનમાલા આપવી શરૂ કરી, અને તેના પરિણામે ઘણાએ જૈનધર્મ સંબંધી જિજ્ઞાસા બતાવી, તેથી તેમના માટે એક શિક્ષણવર્ગ ખોલ્યો. આવા તે વર્ગના વિદ્યાર્થી

---

૫૪૪ A number of distinguished Hindoo Scholars, Philosophers, and Religious Teachers attended and addressed the Parliament; some of them taking rank with the highest of any race for learning, eloquence, and piety. But it is safe to say that no one of the Oriental Scholars was listened to with greater interest than was the young layman of the Jain community as he declared the Ethics and Philosophy of his people.

જિજ્ઞાસુ પૈકી એક નામે હર્બર્ટ વૉરન[૫૪૫] હજુ પણ જીવે છે ને જૈનધર્મ પાળે છે.

૧૦૧૭. સમુદ્રગમન કરી પરદેશ જવા માટે જૈનોનો વિરોધ હતો તે તેમને માન આપવાની સભામાં ખુરશીઓ ઉછળી હતી તે પરથી આબાદ જણાયો. સુભાગ્યે તે વિરોધ લાંબા કાળ સુધી ટક્યો નહિ. સં. ૧૯૫૧ (સને ૧૮૯૫ જુન) માં મુંબઈ આવીને 'હેમચંદ્રાચાર્ય અભ્યાસવર્ગ સ્થાપી જૈનદર્શનનું શિક્ષણ આપવાની યોજના કરી, ને તે સંબંધી વ્યાખ્યાનમાળા થઈ. બીજી સંસ્થાઓમાં જઈ પોતે જૈનધર્મ પર વ્યાખ્યાનો આપ્યાં. અમેરિકાથી આમંત્રણો આવતાં પુનઃ (સને ૧૮૯૬ માં) ત્યાં જઈ થોડા મહિના રહી પછી ઇંગ્લાંડમાં થોડા માસ પોતાની વ્યાખ્યાનમાલા આપી. વિલાયતમાં સાથે સાથે બારિસ્ટરનો અભ્યાસ ચાલુ રાખ્યો. જૈન સમાજના હિતની એક અપીલ વિલાયત થતાં તેની ખાસ માહિતી મેળવવા હિંદમાં આવી બેત્રણ અઠવાડીઆં રહી વિલાયત જઈ અપીલમાં વિજય મળતાં હિંદ પાછા ફર્યા. ત્રીજી વખત સને ૧૮૮૯ માં અમેરિકા ગયા. ને પછી વિલાયત થઈ હિંદમાં આવ્યે બે અઠવાડીઆં થયાં ત્યાં સં. ૧૯૫૭ ના પ્ર૦ શ્રા. વ. ૮ (૭-૮-૧૯૦૧) ને દિને મુંબઇમાં સ્વર્ગસ્થ થયા.

૧૦૧૮ આ પૂર્વે જૈન ધર્મનો પ્રસાર અમેરિકા-ઇંગ્લાંડ-પરદેશ કરવા માટે કોઈ નહોતું ગયું તેથી વિદેશમાં જૈનધર્મનો પરિચય કરાવનારનું પ્રથમ માન આ યુગમાં થયેલ આ વિદ્વાન

---

૫૪૫ આ અંગ્રેજ માંસાહારનો સર્વથા ત્યાગ, જૈન વ્રતોનું મર્યાદાથી ગ્રહણ કરીને જૈન તત્ત્વજ્ઞાનમાં શ્રદ્ધા સંપૂર્ણ ને વિચારપૂર્વક રાખી જૈનધર્મને પાળે છે, વીરચંદભાઈના તે હસ્તદીક્ષિત શિષ્ય છે તેમણે તેમના ભાષણોની નોંધ લઈ રાખી હતી તે હજુ પોતાની પાસે છે; જૈનધર્મ પર Jainism નામનું અંગ્રેજીમાં તેમણે પુસ્તક રચ્યું છે (મુદ્રિત) તે પરથી તે સારા વિચારક છે એ સ્પષ્ટ જણાય છે.

જૈન ગૃહસ્થને-શ્રાવકને ઘટે છે. સ્વામી વીરચંદભાઇ જે ધર્મ પરિષદ્‌માં ચીકાગો ગયા ત્યાં વિવેકાનંદ પણ પહેલાં પ્રથમ આર્ય વેદાંત તત્ત્વજ્ઞાન સમજાવવા આવ્યા હતા. તેઓ માંસાહારી હતા જ્યારે વીરચંદ ધર્મચુસ્ત જૈનનું જીવન ગાળનાર નિર્દોષ અન્નાહારી હતા. બંને ભારતનાં રત્નો, લોકપ્રિય વ્યાખ્યાનકાર અને અમેરિકાના શ્રોતાઓને આકર્ષનાર, તથા પોતાના વિચારોની છાપ પાડનાર હતા. બંને સ્વદેશમાં ટુંકા જીવન ગાળી વિદેહ થયા-વિવેકાનંદ ૪૦ વર્ષની વયે સને ૧૯૨૦ માં બેલુરના મઠમાં અને વીરચંદ તેમની પહેલાં એક વર્ષે ૧૯૦૧ માં ૩૭ વર્ષની ઉમરે મુંબઇમાં. એકના વિચારોની પ્રબલ અસર નિજ શિષ્ય મંડળે રામકૃષ્ણ સોસાયટી આદિ અનેક સંસ્થાઓ સ્થાપી જ્વલંત અને ચિરસ્થાયી રાખી, જ્યારે સ્વ. વીરચંદના વિચારોની અસર કોઈ પણ જૈન તરફથી જારી રહી નથી. તેમનાં અંગ્રેજી વ્યાખ્યાનોનો સંગ્રહ સુભાગ્યે 'જૈન' પત્રના આદ્ય તંત્રી (સ્વ.) ભગુભાઈ ફત્તેહચંદ કારભારીએ સંપાદિત કરેલ ત્રણ પુસ્તકો-Jaina Philosophy, અને દે૦લા૦ ને બીજી આવૃત્તિ આ. સ. તરફથી પ્રકટ થયેલ Yoga Philosophy અને Karma Philosophy એ નામનાં ત્રણ પુસ્તકોમા ઘણોખરો જળવાયો છે.[૫૪૬]



૫૪૬ વિશેષ માટે વાંચો મારો લેખ નામે 'શ્રીયુત સ્વ૦ વીરચંદ ગાંધીનું જીવન અને કાર્ય'-જૈન શ્વે. કૉન્ફરન્સ હૅરૅલ્ડ અકટો૦ નવેંબર ૧૯૧૪ નો શ્રીમન્ મહાવીર સચિત્ર દીવાળી ખાસ અંક પૃ. ૫૪૫-૫૬૯]

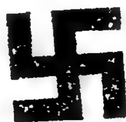
कोहं च माणं च तहेव मायं लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा ।
एआणि वंता अरहा महेसी ण कुव्वई पाव ण कारवेइ ॥

—ક્રોધ, માન, માયા તથા લોભ એમ ચાર પ્રકારના આત્મદોષ છે,
તેઓનો ત્યાગ કરીને અર્હત્ અથવા મહર્ષિ (ગવાય છે) કે જે પાપ (સાવદ્ય
અનુષ્ઠાન) કરતા નથી તેમ (અન્ય પાસે) કરાવતા નથી.–સૂત્રકૃતાંગ શ્રુ૦ ૧, અ. ૬.

—ક્રોધને દાબી દેવો એટલી એક અગત્યની વાત હું કહવા અનુભ-
વોથી ૩૦ વરસમાં શીખ્યો છું. દાબી રાખેલી ઉષ્મતામાંથી જેમ શક્તિ પેદા
થાય છે તેમ સંયમમાં રાખેલ ક્રોધમાંથી પણ એવું બળ પેદા કરી શકાય
કે જે સારા જગતને હચમચાવી નાંખે × × આપત્તિ હોય, જોખમો
હોય તે ખેડવાં ને પોતાનું કામ કરવું એ વીરતાની નિશાની છે. વણિક્ વૃત્તિ
કરતાં વીરતાનો ભાવ યુદ્ધમાં વધારે હોય છે. શાન્તિને સમયે વણિક્વૃત્તિનો
ખપ પડે છે, અશાંતિને સમય વીરતાનો ગુજરાત વણિક્વૃત્તિને સારૂ પ્રખ્યાત
છે; અને એ યોગ્ય જ લાગે છે કે વણિક્વૃત્તિવાળામાં વીરતા આવે જ
નહિ. આ ખ્યાલ બરાબર નથી જેમ પ્રજાનું પોષણ એકજ વૃત્તિથી થાય
નહિ તેમ વ્યક્તિનું પોષણ પણ એક જ વૃત્તિથી નથી થતું. તેથી દરેક
વ્યક્તિમાં વીરતાનો ગુણ તો હોય જ. માત્ર તેનો ઉપયોગ નથી કરવાનો
હોતો ત્યારે આપણામાં તે ન હોય એવું આપણને લાગી આવે છે. ગુજરાતનો
સમય–આખા ભારતવર્ષનો સમય અત્યારે વીરતા બતાવવાનો આવ્યો છે.
ગાંધીજી સં. ૧૯૭૬.

सच्चस्साणाए उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ

—સત્યની આજ્ઞાથી ઉભો થયેલો બુદ્ધિવાન્ પુરૂષ મૃત્યુને તરી જાય છે.
—નિર્ગ્રન્થ મહાત્મા મહાવીર.



વિભાગ ૮ મો.



વિક્રમ વીસમી સદી અને સામાન્ય હકીકત.

જૈનયુગ.

જૈનયુગ-નવીનયુગ

(ગરબો)

કોઈ પ્રેમી દેવાંશી સંભારણે કારણે, વારણે જઈએ વારવાર
દેવતાઇ દેખીયે દેદાર, સંસારમાં સાર, ઓહો ધન્ય અવતાર:
સંસારમાં પારસમણી ચિન્તામણી છે નામના
કામધેનુ કલ્પતરૂ રસકુંપી સૌ ના કામના
અજબ કાન્તિ અલખ શાન્તિ વેદ કરતા વાચના
છે પ્રેમ નિર્મળ રત્ન જેની નવે ખંડે નામના.

—સ્વ. ડાહ્યાભાઇ ધોળશાજી.

મા ! તેં તો રંગ રાખ્યો
પ્રથમ વખત તેં મુક્તિનો સ્વાદ ચાખ્યો;
'બ્હીના ! બ્હીના !' પુકારી
નિજ શિશુજનને ભવ્ય પેગામ ભાખ્યો.
'તેં સાધ્યું કાંઈ યે ના !'
કહી કદિ અધીરો આપશે ક્રૂર મેણું;
કે'જે પ્રત્યુત્તરે કે
'અભય બની પ્રજા : લઈશ હું સર્વ લેણું'.
જાગ્યો મારો વિરાટ,
અમીભર નયનો ઉઘડયાં, લોક જાગ્યો;
પૃથ્વીનું ઝેર પીને
અમર બની જતો જો ત્રિપુરારિ જાગ્યો.
જો એની જાગ્રતિને
સકળ જગ-પ્રજા ભવ્ય સન્માન આપે;
જો એના વૈરીઓની
વિકલ ભ્રમદશા; બ્હીકથી ગાત્ર કાંપે.

—ઝવેરચંદ મેઘાણી.

પ્રકરણ ૧ લું.

પાશ્ચાત્ય કેળવણીનો ઉદય–વીસમી સદી.

I regard English as the language of inter-national commerce and diplomacy, and therefore consider its knowledge on the part of the some of us as essential As it contains some of the richest treasures of thought and literature, I would certainly encourage its careful study among those who have linguistic talents and expect them to translate those treasures for the nation in its vernaculars.—*Mahatma Gandhi.*

—હું અંગ્રેજીને આંતરપ્રજાકીય વ્યાપાર અને કુનેહની ભાષા ગણું છું અને તેથી આપણામાંના કેટલાક માટે તેનું જ્ઞાન આવશ્યક ગણું છું. તેનામાં વિચાર અને વાઙ્‌મયના અતિશય સમૃદ્ધ કેટલાક ખજાનાઓ છે તેથી જેઓમાં ભાષાવિષયક બુદ્ધિ છે તેઓમાં તેનો કાળજીપૂર્વક અભ્યાસ થાય એવું ચોક્કસ ઉત્તેજન આપું અને સાથે ઈચ્છું કે તેઓ પ્રજાને આ ખજાનાઓનું ભાષાંતર તેની લોકભાષાઓમાં કરે.

દાનવીર પ્રેમચંદ રાયચંદ.

'The gentle mind by gentle deeds is known,
For a man by nothing is so well betrayed,
As by his manners in which plain is shewn
Of what degree and what race he is grown.'

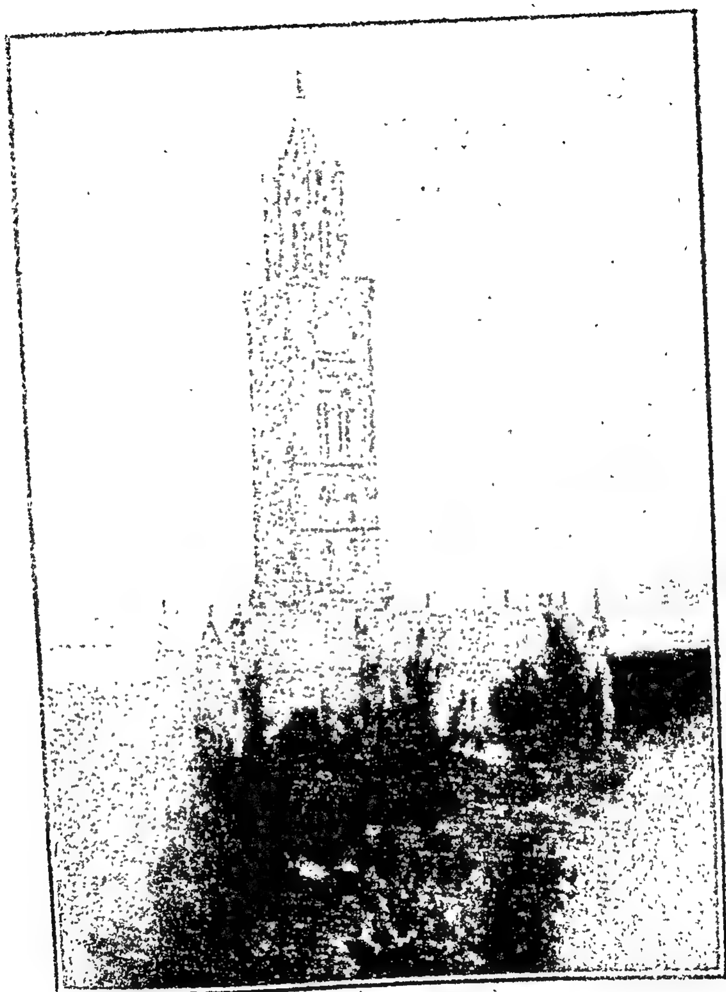
—આર્ય–સભ્ય હૃદય સભ્ય કાર્યોથી જણાય છે, કારણ કે મનુષ્યમાં જે તત્ત્વ ગુપ્ત રહ્યું છે તે તેની રીતભાત પરથી જે સ્પષ્ટપણે પ્રકટ થાય તે પરથી ઝટ પકડાઈ આવે છે, અને તે કેવા દરજ્જાનો અને કેવી જાતિનો વિકસેલ છે, તે જણાઈ આવે છે.

૧૦૧૯ પ્રેમચંદ શેઠ—સુરતના દશા ઓશવાળ શ્રાવક વાણી-આ. જન્મ સં. ૧૮૮૭. 'ગરીબ માત પિતાને પેટે જન્મી, આત્મ બુદ્ધિબળથી વધી, સટ્ટાની દુનિયામાં 'શેર સટ્ટાના રાજા' તરીકે પ્રસિદ્ધિ પામનાર—આખા હિંદને એક ચકવે ચઢાવનાર પુરૂષ—અન્ય શબ્દમાં કહીએ તો મહાપુરૂષ હતા. અને આસ્માની સુલતાનીના ચક્રમાંથી પસાર થવા છતાં, સારૂં નામ—સવારનું નામ પ્રાપ્ત કરનાર, દેશવિદેશમાં સુવિખ્યાત, આખી અણીએ-સર્વ પ્રકારના માન સાથે મરણ પામનાર મુંબઈ ઇલાકામાં આ એકજ પુરૂષ હતા—અને તે એક ગૂજરાતી જૈન. 'આજે ભાવ આ છે ને કાલની વાતતો પ્રેમચંદભાઈ જાણે' એવી સ્થિતિ તેમણે ૩૫ થી ૪૦ વર્ષ સુધી મુંબઇનાં નાણાં બજાર પર એક સરખો કાબુ રાખ્યા પછી સં. ૧૯૧૭-૨૨ સુધીમાં આણી દીધી હતી. કરોડાધિપતિ થયા ને તે વખતે ધર્મ, કોમ, જાતિનો ભેદ રાખ્યા વગર સખાવતો કર્યેજ રાખી. સ્થિતિના ઉછાળા આવ્યા છતાં ધીરજ ડગી નહિ. આ સર્વમાં ઉતરવું અત્ર પ્રસ્તુત નથી. જેવા ચંચલ બુદ્ધિશાલી ને ઉદ્યોગશીલ વેપારી તેવાજ ઉદાર. લક્ષ્મી મળતી ગઈ તેમ તેનો ઉદારતાથી વ્યય થતોજ ગયો. કેળવણીના કાર્યમાં મદદ કરવા માટે તેમણે મુંબઈ અને કલકત્તાની યુનિર્સિટીઓને સવાછ લાખ અને સવાચાર લાખરૂ.ની મદદ આપી.[547] સુરત, ભરૂચ,

[547] વાછાના પુસ્તકમાં જણાવેલું છે કે મુંબઈ યુનિવર્સિટીને બે લાખ ૬-૧૦-૧૮૬૪ના પત્રથી મોટા ઘડીઆળવાળું ટાવર બાંધવાને તથા તા. ૨૭-૮-૧૮૬૪ના પત્રથી બે લાખ તે યુનિવર્સિટીની લાયબ્રેરી માટે કંઈ પણ સરત વગર આપ્યા. કલકત્તાની યુનિવર્સિટીને પણ બે લાખ રૂ. સને ૧૮૬૪-૬૫ માં પ્રેમચંદ રાયચંદ સ્કૉલરશિપો એ નામથી પાંચ વાર્ષિક સ્કૉલરશિપો આપવા માટે કંઇ પણ શરત વગર આપ્યા હતા. અમદાવાદની ગુજરાત વર્નાક્યુલર કોલેજને (પ્રે. રા. મેઇલ ટ્રેનિંગ કોલેજને) ૨૯ હજાર, પોતાના પિતાના નામથી કન્યાશાળા સુરતના નિભાવ માટે દશ હજાર, સ્કોટિશ ઓર્ફનેજ માહિમના મકાન માટે સાઠ હજાર, ફ્રીઅર ફ્રેયેચર સ્કૂલના મકા-



દાનવીર શેઠ પ્રેમચંદ રાયચંદ પૃ. ૬૯૯–૭૦૨.



મુંબઈ યુનિવર્સિટીને પ્રેમચંદ શેઠની બક્ષીસ-રાજાબાઈ ટાવર.

અમદાવાદ અને બીજે ઘણે ઠેકાણે નિશાળો અને કન્યાશાળાઓ ઉભી કરી આપી. જૈનોને મદદ કરવા માટે અને ખાવાનું પુરૂં પાડવા પોતાના પિતાના નામની વીશી મુંબઈમાં ખોલી તેમાં પાંચ લાખ, સુરતમાં સ્વામીવાત્સલ્ય માટે દશ હજાર, ગિરનાર તીર્થની ધર્મશાલા ને ભાતા માટે ચાલીશ હજાર આપ્યા. અમદાવાદ ટ્રેનિંગ કૉલેજ તેમના નામની ચાલે છે તેમાં એંશી હજાર, ગુજરાત વર્નાક્યુલર સોસાયટીને વીશ હજાર, સુરતમાં ધર્મશાળા માટે પાંચક હજાર, ફ્રીયર ફલેચર કન્યાશાળાને સાઠ હજાર, સ્કૉટિશ ઑર્ફનેજને પચાસ હજાર, સુરત રાયચંદ દીપચંદ કન્યાશાળામાં વીસ હજાર, એલેકઝાંડ્રા કન્યાશાળામાં દશ હજાર, ભરૂચની રાયચંદ દીપચંદ લાયબ્રેરીમાં પાંત્રીશ હજાર, આણંદમાં ધર્મશાળામાં વીસ હજાર—આમ પોતાની હયાતી દરમ્યાન કરેલી સખાવતોની સત્તાવાર જાણીતી સખાવતો કુલે ૬૦ લાખ રૂ.ની થાય છે. તે ઉપરાંત મુંબઈના જે. એન. પીટિટ ઇન્સ્ટટ્યુટ, રૉ. એ. સોસાયટી, નેટીવ જનરલ લાયબ્રેરીમાં, તારંગાની ધર્મશાળામાં કેટલીક રકમો આપી, ગુજરાત અને કાઠિયાવાડના ૭૬ ગામોમાં ધર્મશાળાઓ, કુવાઓ, તળાવોના જીર્ણોદ્ધારની અંદર લગભગ ૭ લાખ, જૈન દેરાસરોના જીર્ણોદ્ધારમાં ૮ થી ૧૦ લાખ. વિદ્યાર્થીઓને ભણવા માટે તથા નાની નાની શાળાઓ તથા લાયબ્રેરીઓને પૈસા તથા પુસ્તકોની મદદમાં અઢી લાખ આપ્યા હતા. ગરીબ ગુરબાંને હમેશની ખેરાત—સારા વખતમાં દરમાસે આઠ હજારની અને પાછળથી ઓછામાં ઓછી ત્રણ હજારની હતી એમની ખાનગી સખાવત તેમના કુટું-

---

નમાં પાંચ હજાર, અલેકઝાન્ડ્રા ગર્લ્સ સ્કૂલને પાંચ હજાર, અમદાવાદ કોલેજને સ્કોલરશિપો માટે વીસ હજાર, 'બંગાલા સાયક્લોન રીલીફ ફંડ'માં પચાસ હજાર, અમદાવાદ રિલીફ ફંડમાં પાંચ હજાર, મુંબઈની જ્યોગ્રાફિકલ સોસાયટીને પાચ હજાર આ.પતા ઉપરાંત અમેરિકન મિશન, ઇંડો બ્રિટિશ ઇન્સ્ટિટ્યુશન, હેમાભાઇ ઇન્સ્ટિટ્યૂટ, નેટિવ જનરલ લાયબ્રેરી, એશિયાટિક લાયબ્રેરી તથા બીજી સંસ્થાઓને પણ પોતાની સખાવતનો લાભ આપ્યો હતો.

બીઓથી કરી શકાય તેવી ગણત્રીથી ૪૦ લાખ રૂ.ની થાય છે. કુલ એક કરોડ કરતાં તેમની સખાવત વધી જાય છે. પ્રેમચંદ શેઠ પોતાનાં ધર્માદાય કાર્યો વિષે કહેતા 'હું એવાં કાર્યો કરતાં ભૂલ્યો નથી, પણ તે વિષે સૂચના કરનારાઓ ભૂલ્યા હશે. મને સૂચવેલા માર્ગે મેં યથાશક્તિ ધર્માદા કરેલુંજ છે. + + મારા સુભાગી વખતમાં જેઓ મને સત્કર્મ કરવાની સૂચના કરે છે એજ મારા ખરા મિત્ર છે હું જે આપું છું તેજ મારૂં છે ને રાખું છું તેના માલિક તો બીજાજ છે.' તેમની મહાન્ ઉદારતાનો સ્મરણસ્તંભ તો પોતાની માતુશ્રી રાજબાઇના નામથી 'રાજબાઇ ટાવર' હાલ મુંબઈની યુનિવર્સિટીના મકાન સાથે બેંકએ દરિયાનું અવલોકન કરતો ઉભેલો છે. તે માટે બે લાખ રૂ. આપતાં કોઈપણ જાતની સરત કરી નહિ. જૈન ધર્મમાં તેમજ ન્યાત જાતના તફાવત વગરનાં સાર્વજનિક ધર્માદા કાર્યોમાં તેમણે છૂટે હાથે નાણાંની રકમો ભરી આપી પોતાની સમૃદ્ધિનું સાર્થક કરેલું છે એમ કોઈ પણ વ્યક્તિ પ્રસન્ન અંતઃકરણે વિનાસંકોચે કહેશેજ. આ છતાં એક પણ સરકારી ટાઇટલ તેમણે સ્વીકારેલ-પ્રાપ્ત કરેલ નથી; અને કીર્તિની કે નામની ઇચ્છા રાખી નથી. મહાન્ કુશળ વ્યાપારી પુષ્કળ સંપત્તિ મેળવી તેનો સદુપયોગ કર્યોજ કરી સ્વભાવે ને વર્તને સાદા અને શાંત રહીને ૭૬ વર્ષનું લાંબુ આયુષ્ય ભોગવી સં. ૧૯૬૨ના ભાદ્ર. શુ. ૧૨ શુક્ર દિને સ્વર્ગસ્થ થયા. ધન્ય છે એ ગુર્જર જૈન દાતાને[૫૪૮]

૧૦૨૦ સં. ૧૯૨૦ થી મુંબઈથી અમદાવાદ સુધી રેલ્વે ચાલતી ૧૯૨૬ ને ૨૮ વચ્ચે અમદાવાદથી વઢવાણ સુધી, ૧૯૨૯થી વીરમગામથી ખારાઘોડા સુધી, ૧૯૩૬માં વઢવાણથી ભાવનગર સુધીને ૧૯૩૫માં અમદાવાદથી ઉત્તરમાં રાજપૂતસ્થાન તરફ આગગાડી ચાલવા માંડી.

---

૫૪૮ જુઓ 'ગુજરાતી'નો સં. ૧૯૬૮નો દીવાળીનો ખાસ અંક પૃ. ૯૭-૯૮; (સર) દિનશા એદલજી વાછાનું Premchand Roychand એ નામનું સને ૧૯૧૩માં બહાર પડેલું અંગ્રેજી પુસ્તક)

નાટકકાર ડાહ્યાભાઈ ધોળશાજી.

૧. શંકર ! શિવંકર ! ચિન્તા તું પરિહર
ભૂતાદિનાથ ! જગનાથ ! હે જિનવર !—શંકર !
ચિન્તામણિ ચરણ શરણ છે ચિત્ત વિષે
ત્રાતા ! નિવાર તાપત્રય ભયંકર—શંકર !—શંકર !
ઘટઘટ પ્રગટ તું પોતે સદા રહે
કૈવલ્યશાલી ભજીએ ૐદિગંબર—શંકર !

-તેમના વીણાવેલી નાટકનું મંગલાચરણ

૨. ડગલે ડગલે ડુંગરા, વિકટ પ્રેમનો પંથ;
કૃપા કરે શ્રી રામ તો, સંત પામતા અંત.

—વીણાવેલી.

૩. ગોથાં ખાય છે શિદને હજુ જગનાથને ભજને

× × ×

ડા'પણ દરિયો વાત વિસામો માણેક મિત્ર ! ક્યાં મળશો રે
જન્ને જહાંનમમાં રાજ્ય જગતનું વાતવિસામો ન ટળજો—હજુ૦

× × ×

પતિત પાવન ! અધમ ઉધારણ ! નવીન પાતકી ત્હારો રે
નાથ ! કૃપા કરી પાપ-ઘાણીથી પીલાતો ઉગારો રે—હજુ૦

૪. ડા'પણ ત્હારૂં જાણ્યું રે ડાહ્યા ! ડાહ્યો તું થામાં
જ્ઞાન સુધારસ મુકી આખર માયા વિષ ન્હામાં—
રંગરાગથી રીઝે ઘડીમાં ઘડી વૈરાગે ઝુઝે
તાણાતાણથી પાપી ચેતન ! રઘવાયો હું થામાં—ડા'પણ૦

× × ×

મનજી મિત્ર ! ઘડી મારૂં રાખને બાપ ! પગે પડી વિનવું.
છોડય નાડને હવે અનાડી પાતક-પારો પામાં—ડા'પણ૦

× × ×

અલખ નિરંજન ચિદ્ઘનસંગી ચેતન આતમરામી રે
પાપે ડૂબી ગંગા, મૂકી વૈતરણીમાં ન્હાયાં—ડા'પણ૦

—ડાહ્યાભાઈએ મરણ ઘડીએ બનાવેલ ભજનો.

૧૦૨૧ આ જૈન નાટકકાર અમદાવાદના વતની સં. ૧૯૨૩ ફા. શુ. ૧૪ ને દિને જન્મ પામી સં. ૧૯૬૮ ચૈત્ર વ. ૮ દિને માત્ર ૩૫ વર્ષની નાની વયે સ્વર્ગસ્થ થયા. તેમણે સફળ અને ઉત્તમ નાટકાર તરીકે અનેક નાટકો રચ્યાં; તે સર્વનાં ગાયનો તેમનું ઉંચી કક્ષાનું કાવ્યત્વ રજુ કરે છે. આ કાવ્યત્વને તે સર્વ નાટકોની સુંદર વસ્તુ સંકલનાથી સુઘટિત કરેલાં નાટકો પોતાની સ્થાપેલી 'શ્રી દેશી નાટક સમાજ' દ્વારા ગૂજરાતી પ્રજા સમક્ષ ભજવી બતાવ્યાં ને તેથી ગૂજરાતી નાટય કલામાં જૂદી જ ભાત પાડી તેમાં ઉત્ક્રાન્તિ કરી.

૧૦૨૨ કૉલેજમાં કરેલા અધ્યાયથી તેમને સંસ્કૃતનું સારૂં જ્ઞાન હતું અને અમદાવાદની મિશન હાઇસ્કુલમાં સંસ્કૃત શિક્ષક તરીકે કામ કર્યું. પછી નાટયપ્રયોગ રચી તેને ગૂજરાતની રંગભુમિમાં ભજવવાનો–નાટકનો પવિત્ર ધંધો હાથ ધર્યો તેમાં તેમનો આશય ઉચ્ચ હતો. 'નાટકોમાં જો ઉંચી ભાવના દાખલ થાય, માત્ર હલકી પ્રતિના પ્રેક્ષકોના વિનોદાર્થે નહિ પણ જનસમૂહની વૃત્તિ અને નીતિ ઉચ્ચતર કરવાના સ્તુત્ય અને પ્રશંસનીય હેતુથી જ માત્ર તે લખાય અને ભજવાય તો બેશક ધીરે ધીરે પ્રેક્ષકોની રૂચિ પણ ઉંચી થાય તેમજ લેખકોની દૃષ્ટિ પણ સર્વદા ઉચ્ચ લક્ષ તરફજ રહે. ડાહ્યાભાઈનો નાટકના સાહિત્યની ઉન્નતિ કરવાનો પ્રયાસ સારી રીતે જાણીતો છે. તેમનું નાની વયમાં મૃત્યુ થવાથી તેમનો પ્રયાસ અટકી પડયો' (સાઠીના સાહિત્યનું દિગ્દર્શન પૃ. ૧૧૪).

૧૦૨૩ તેમનાં રચેલાં નાટકો—૧ મ્યુનિસિપાલ ઇલેકશન ૨ કેસર કિશોર સં. ૧૯૫૧ ૩ સતી સંયુક્તા આવૃત્તિ ચોથી સં. સં. ૧૯૫૨, ૪ મદનમંજરી સં. ૧૯૫૩ ૫ સતી પાર્વતી ૬ અશ્રુમતી આ. ૭ મી સં. ૧૯૫૫, ૮ રામવિયોગ આ૦ ૪ થી સં. ૧૯૫૫, ૮ સરદારબા આ. ૬ સં. ૧૯૫૭, ૯ ભોજકુમાર, ૧૦ ઉમાદેવડી આ૦ ૫ સં. ૧૯૫૭, ૧૧ વિજયાવિજય, ૧૨ વીણાવેલી, ૧૩ ઉદયભાણુ આ. ૪ સં. ૧૯૫૮, ૧૪ મોહિનીચંદ્ર, ૧૫ સતિ પદ્-

મિતી-આ પ્રમાણે ૧૫ કુલ નાટકો છે. બધાંનો રચના સંવત્ નિર્ણીત થઈ શકયો નથી, છતાં પૌર્વાપર્ય ક્રમ રચનાના અનુક્રમે પ્રાયઃ છે એમ ભાસે છે. પવિત્ર લીલાવતી નામનું નાટક તેમની મંડળીએ ભજવેલું તે બહુ લોકપ્રિય થયું હતું. તેની વસ્તુ ઉદયરત્નના લીલાવતી સુમતિવિલાસના પ્રસિદ્ધ રાસ પરથી લીધેલું. તેના રચનાર જૈન ભોજક શિવરામ કેશવરામ હતા. સુભદ્રાહરણ, વીર વિક્રમાદિત્ય અને વિજયકમળા નામનાં નાટકોનાં ગાયનોની ચોપડી જોઈ શકાઈ નથી, પણ તે ડાહ્યાભાઈની કૃતિઓ હોવાનું સંભવે છે. વીણાવેલી નાટકનું વસ્તુ પ્રસિદ્ધ જૈનકથા નામે શ્રીપાળ રાસ પરથી લીધેલ છે. તેમનાં નાટકો બહુ લોકાદર પામ્યાં. તેથી અને દુકાળ આદિ અનેક પ્રસંગોએ પોતાનાં નાટકોના પ્રયોગોની આવક આપી જનસેવા બજાવવાથી તેઓ લોકોને અજાણ્યા નથી, ઉચ્ચ પ્રતિના વિદ્વાનથી તે એક ગામડિયા સુધી.

૧૦૨૪ તેમનાં નાટકો છપાયાં ગાયનો ઉપરાંત સમસ્તાકારે નથી તેથી નાટયકાર તરીકે તેમનાં મૂલ આંકવાનાં સાધનો પૂરાં પડયાં નથી. છતાં ગાયનો પરથી તેમજ તેમનાં ભજવાતાં નાટકો જોયા પછી એટલું કહી શકાય કેઃ-" જ્યાં ત્યાં તેમણે સત્યનો જય અને પાપનો ક્ષય એનું અવલંબન લીધું છે ને ઉચ્છૃંખલ દુર્ગુણોનાં હાનિપ્રદ પરિણામો જ એમણે બતાવ્યાં છે. મનુષ્ય દશા-નસીબ કે કર્મની શક્તિને આધીન છે એ વાત પર બહુ ભાર મૂકયો છે. અભિમાન પર સખ્ત પ્રહારો કર્યો છે. શઠ પાત્રો દ્વારા સમાજમાં પ્રચલિત અનર્થો ઝાટકી કાઢ્યા છે. ગુજરાતી સાહિત્યના અનન્ય ઉપાસક અને સમર્થ વિવેચક સદ્ગત રણજીતરામ વાવાભાઈના શબ્દોમાં કહીએ તો "નીતિના સબળ પાયા પર દરેક નાટકની ઈમારત ચણાયલી છે. રા. ડાહ્યાભાઈ એટલા બધા નીતિપ્રચારણ માટે આતુર હતા કે રૂચિરતાની ક્ષતિ થાય તેવે પ્રસંગે પણ નીતિતત્ત્વો પ્રત્યક્ષ રીતે ઉદ્દઘોષ્યા વિના રહેતા નહી. તેમનાં ગાયનોમાં એ તત્ત્વોનો સંભાર છે. પ્રલંબ ભાષણો દ્વારા એ તત્ત્વો ભાર દઈ પ્રેક્ષકો સમક્ષ રજુ થતાં આ દેશની પ્રજાને

'શીખામણીઆં' લખાણ (didactic writings) વધારે અસર કરે છે. ડાહ્યાભાઈનાં નાટકોમાં આ તત્ત્વોનો જેટલો વિસ્તૃત ઉપયોગ થઈ શકે તેટલો કરવામાં આવ્યો હતો. સરળ પણ સચોટ ભાષામાં કહેવાતો. સંસ્કૃત અને ગુજરાતી ગ્રંથોના અભ્યાસે હાથ લાગેલા અલંકારો જેમાંના કેટલાક, વર્ષો થયાં હીન્દુ સમાજને પરિચિત હતા તેમનો ઉપયોગ કરી પોતાને કહેવાનું રા. ડાહ્યાભાઈ કહેતા. એમનાં નાટક પર આ પ્રમાણે નીતિના પટા ઉજ્જ્વલ અને વિશાળ પડયા છે. પરોક્ષ ઉપદેશ જે કલાવિધાનનો પ્રધાન ઉદ્દેશ છે તે આજના અશિક્ષિત કે અલ્પ શિક્ષણવાળા શ્રોતાઓને માટે હિતાવહ નથી એમ માની પ્રત્યક્ષ ઉપદેશ એમણે ઉચ્ચનાદે કર્યો છે."

૧૦૨૫. ગાયનોના સંગીત વિષે શ્રી રણજીતભાઇનાજ મિત શબ્દોમાં કહીશું:–'તેમના ગરબા યોગ્ય લોકાદર પામ્યા છે. કાઠીઆવાડના રાસડા રા. રા. વાઘજી આશારામ ઓઝાએ નાટકોમાં દાખલ કર્યા. રા. રા. ડાહ્યાભાઇની રસિકતા આ રાસડાઓની રસનિષ્પાદન શક્તિ, પ્રેક્ષ [scene) તરીકે અને સંગીત પરત્વેની ખુબી પામી શકી. દરેક ખેલમાં અકેકો ગરબો સ્થાન પામ્યો. આ દેશના આલંકારિકોએ નાનાવિધની નાયિકા વર્ણવી છે તેવી નાયિકાના પ્રસંગો આછાં પ્રકૃતિવર્ણનોથી રંગી ગરબામાં રા. ડાહ્યાભાઇએ આણ્યા છે. લય લલિત, સૂરાવટ મધુર અને ભાષા કોમળ છે; અલંકાર રૂચિકર છે; શૈલી સરળ અને સાદી છે; વચ્ચે વચ્ચે પ્રાચીન કાવ્યોની ભાષા, કે અલંકારો કે વિચારો સૌરસ્યથી ગોઠવ્યા છે. ગોપીગીતો અથવા કલગીતોરાની છટેલ મસ્તી કે અનીતિ છેકી નાંખી તેમની મનોહરતા, શ્રુતિપ્રિયતા, સુગમ્યતા, લાલિત્ય, માધુર્ય અને પ્રવાહીત્વ પોતાનાં ગીતોમાં રા. ડાહ્યાભાઇ લાવ્યા છે. આજનાં ઘણાં નાટકી ગાયનોમાં અસંબદ્ધતા, શિથિલતા, નિરર્થકતા, અવિશદતા, પ્રયોજનહીન શબ્દપ્રાચુર્ય વગેરે જે અરૂચિકર તત્ત્વો હોય છે તે દૂષણો રા. ડાહ્યાભાઇનાં લગભગ બધાં ગીતોમાં નથી; બેશક સંપુર્ણ અંશે શુદ્ધ તો બધાં નથીજ. હલકાં જોડકણાંને બદલે રસભર્યાં ગીતો એમણે રચ્યાં છે. ગરબા અને નાયિકાને ગાવાનાં ગીતોના ભાવ સારા આલેખવા

પ્રયત્ન કરવામાં આવ્યા છે. કંચનીઓનાં ગીતો પણ ઉસ્તાદી સંગીતની પ્રસાદી પામ્યાં છે. અલંકારો વર્ણવતાંજ ધારેલો ભાવ ઉદ્દીપન કરે–અર્થાત્ આજના પ્રેક્ષકવર્ગને સ્હેજ પણ આયાસ વગર તે ભાવ સમજાય એવા પસંદ કરવામાં આવ્યા છે × × ભાષા અમુક અંશે સંસ્કારી રા. ડાહ્યાભાઇએ વાપરી છે. વર્ણસગાઈ પર ઝોક જબરો છે. બેશક ગુજરાતમાં જે જાતની કવિતા આજદિન લગી પ્રચારમાં છે– જે કવિતા લોકો હોંશથી વાંચે છે તેના કેટલાક ગુણો પોતાનાં ગાયનોમાં આણ્યાથી રા. ડાહ્યાભાઇએ લોકપ્રિયતા મેળવી એ સ્વાભાવિક છે. × × અભિનય પરત્વે બોલતાં × 'જ્યશ્રી' ના અભિનયની ખુબી પીછાની તેને રંગભૂમિ પર સ્થાન આપવા માટે પ્રેક્ષકો રા. ડાહ્યાભાઇના અતીવ આભારી છે. અમુક વૃત્તિ કે સંવેગ મૂક અને નીરવ રીતે પ્રકૃષ્ટ સ્વરૂપમાં દાખવનાર અભિનયની કિમ્મત આંકવા લેખિની અસમર્થ છે. × × પોતાના પ્રેક્ષકોને ધીરે ધીરે સંસ્કારી કરવા, તેમની સન્મુખ તેમને પચે એવા આદર્શો મૂકવા, બને તેટલી ભભક ઓછી રાખી સંગીન ઉપદેશ આપવો એવા કાંઇક એમના હેતુ હશે. પોતાની શક્તિના પ્રમાણમાં તેઓથી બન્યું એટલું એમણે કર્યું છે–છતાં એમની વિદ્યા જોતાં વધારેની અપેક્ષા રહે છે. કોલેજનું શિક્ષણ લેનાર રા. ડાહ્યાભાઈએ પોતાનાં નાટકો દ્વારા રાજ્ય, સંસાર, ગૃહ અને ધર્મના પ્રશ્નો ચર્ચી શ્રોતાઓમાં અલૌકિક પ્રબળ ચેતન જગાવ્યું હોત તો જે જે સેવાઓ એમણે કરી છે તે વધુ શ્રેયસ્કર અને ચિરંજીવ થઇ હોત–ભારતના આધુનિક ઇતિહાસ ઘડનારની કક્ષામાં તેઓ સ્થાન પામ્યા હોત. રા. ડાહ્યાભાઇ વધારે જીવ્યા હોત તો એમનું કલાવિધાન હજુ વિકસત અને આવી (જણાવેલી) ખામીઓ જતી રહી હોત."૫૪૯

૧૦૨૬ તેમનાં નાટકો આખાં છપાયેલાં નથી. એ ખેદનો વિષય છે. તેમ થવાની અતિ જરૂર છે કે જેથી તેમના પર વિદ્વાનો સપ્રમાણ અભિપ્રાય આપી શકે.

---

૫૪૯ વધુ વિસ્તાર માટે જુઓ જૈનયુગ સં. ૧૯૮૩ નો કાર્તિક-માગશર અંક પૃ. ૧૭૪ થી ૧૮૩ માં 'ડાહ્યાભાઇ ધોળશાજી' એ નામનો લેખ.

પ્રકરણ ૨ જું.

અધ્યાત્મી ફિલસુફ રાયચંદ કવિ.

હે પ્રભુ! હે પ્રભુ! શું કહું, દીનાનાથ દયાળ!
હું તો દોષ અનંતનું, ભાજન છું કરૂણાળ.

× × × ×

અધમાધમ અધિકો પતિત, સકળ જગતમાં હુંય;
એ નિશ્ચય આવ્યા વિના, સાધન કરશે શુંય?

× × × ×

જહાં રાગ અને વળી દ્વેષ, તહાં સર્વદા માનો કલેશ;
ઉદાસીનતાનો જ્યાં વાસ, સકળ દુઃખનો છે ત્યાં નાશ.
સર્વકાળનું છે ત્યાં જ્ઞાન, દેહ છતાં ત્યાં છે નિર્વાણ
ભવ છેવટની છે એ દશા, રામ ધામ આવીને વસ્યા.

× × × ×

જે સ્વરૂપ સમજ્યા વિના, પામ્યો દુઃખ અનંત
સમજાવ્યું તે પદ નમું, શ્રીસદ્‌ગુરૂ ભગવંત.

× × × ×

સુખધામ અનંત સુસંત અહિં, દિન રાત્ર રહે તદ ધ્યાન મહિં.
પ્રશાંતિ અનંત સુધામય જે, પ્રણમું પદ તે વરતે જય તે.

—શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર.

૧૦૨૭ કાઠિઆવાડના મોરબી રાજ્યના વવાણીઆ ગામમાં દશા શ્રીમાળી વણિક કુળમાં 'સં. ૧૯૨૪ ના કાર્તિક શુદ ૧૫ રવિએ જન્મ થયો × સાત વર્ષ સુધી એકાંત બાળવયની રમત ગમત સેવી હતી. એ નિરપરાધિ દશા પછી સાતથી અગિયાર વર્ષ સુધીનો કાળ કેળવણી લેવામાં હતો. તે વખતે ખ્યાતિનો હેતુ ન હોવાથી સ્મૃતિ નિરપરાધી હતી. તેવી સ્મૃતિ હોવાથી એકજ વાર પાઠનું અવલોકન કરવું પડતું હતું. તે સ્મૃતિ એવી બળવત્તર હતી કે જેવી સ્મૃતિ બહુજ

થોડા મનુષ્યોમાં આ કાળે, આ ક્ષેત્રે હશે. આઠમા વર્ષમાં કવિતા કરી હતી. મારા પિતામહ કૃષ્ણની ભક્તિ કરતા હતા, તેમની પાસે તે વયમાં કૃષ્ણ કીર્તનનાં પદો મેં સાંભળ્યાં હતાં, તેમજ જુદા જુદા અવતારો સંબંધી ચમત્કારો સાંભળ્યા હતા, જેથી મને ભક્તિની સાથે તે અવતારોમાં પ્રીતિ થઇ હતી; અને રામદાસજી નામના સાધુની સમીપે મેં બાળલીલામાં કંઠી બંધાવી હતી. × પ્રવિણસાગર નામનો ગ્રંથ તેવામાં મેં વાંચ્યો હતો. × ગુજરાતી ભાષાની વાંચનમાળામાં જગત્કર્તા સંબંધી કેટલેક સ્થળે બોધ કર્યો છે તે મને દૃઢ થઈ ગયો હતો; જેથી જૈન લોકો ભણી મારી બહુ જુગુપ્સા હતી; બનાવ્યા વગર કોઈ પદાર્થ બને નહીં માટે જૈન લોકો મૂર્ખ છે, તેને ખબર નથી. તેમજ તે વેળા પ્રતિમાના અશ્રદ્ધાળુ લોકોની ક્રિયા મારા જોવામાં આવી હતી, જેથી તે ક્રિયાઓ મલિન લાગવાથી હું તેથી બીતો હતો, એટલે કે તે મને પ્રિય નહોતી. જન્મભૂમિકામાં જેટલા વાણિયાઓ રહે છે, તે બધાની કુળશ્રદ્ધા ભિન્ન ભિન્ન છતાં, કાંઈક પ્રતિમાના અશ્રદ્ધાળુનેજ લગતી હતી, એથી મને તે લોકોનોજ પનારો હતો. × પણ હળવે હળવે મને તેમનાં પ્રતિક્રમણ સૂત્ર ઈત્યાદિક પુસ્તકો વાંચવા મળ્યાં; તેમાં બહુ વિનયપૂર્વક સર્વ જગત્‌ને જીવથી મિત્રતા ઇચ્છી છે તેથી, મારી પ્રીતિ તેમાં થઇ; અને પેલામાં પણ રહી; હળવે હળવે આ પ્રસંગ વધ્યો, છતાં સ્વચ્છ રહેવાના તેમજ બીજા આચાર વિચાર મને વૈષ્ણવના પ્રિય હતા; અને જગત્‌કર્તાની શ્રદ્ધા હતી. તેવામાં કંઠી તુટી ગઇ, એટલે ફરીથી મેં બાંધી નહીં, તે વેળા બાંધવા-ન બાંધવાનું કંઇ કારણ મેં શોધ્યું નહોતું. આ મારી તેર વર્ષની વયની ચર્યા છે. પછી હું મારા પિતાની દુકાને બેસતો× દુકાને મેં નાના પ્રકારની લીલાલ્હેર કરી છે; અનેક પુસ્તકો વાંચ્યાં છે. રામ ઈત્યાદિકનાં ચરિત્રો પર કવિતાઓ રચી છે; સંસારી તૃષ્ણાઓ કરી છે. છતાં કોઇને મેં ઓછો અધિકો ભાવ કહ્યો નથી, કે કોઈને મેં ઓછું અધિકું તોળી દીધું નથી, એ મને ચોક્કસ

સાંભરે છે.' (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર લેખાંક ૬૩ બીજી આવૃત્તિ, ૬૪ છેલ્લી આવૃત્તિમાંથી].

૧૦૨૮. ૧૪-૧૫ વર્ષે વયે અષ્ટઅવધાન, પછી સોળ બાવન અને અંતે સો અવધાન ૧૯ વર્ષની વયે મુંબઇમાં કર્યાં (કે જે કર્યાં પહેલાં તુરતમાંજ 'સાક્ષાત્ સરસ્વતિ' એ નામની ૩૮ પાનાંની ચોપડી બહાર પડી કે જે પરથી અવધાનોમાં ખ્યાતિનો હેતુ સ્પષ્ટ ભાસે છે). આ શતાવધાન જોઇ સ્વ૦ મલબારી જેવા વિદ્વાન્ સુધારક નેતાએ તેમને 'બુદ્ધિ અને સ્મરણ શક્તિ અદ્ભુત રીતે ધરાવનાર (prodigy of intellect and memory) કહ્યા. આ કવિએ ૧૬ વરસ અને પાંચ માસની ઉમ્મરે ત્રણ દિવસમાં (શ્રી૦ રા૦ પૃ. ૭૧૪) જૈન દર્શનમાં પ્રાથમિક ચંચુપ્રવેશ કરાવનાર શિક્ષાપાઠોની વાંચનમાળા-વીતરાગ માર્ગપ્રવેશિકા એવી મોક્ષમાળા રચી હતી. 'જૈનમાર્ગમાં યથાર્થ સમજાવવા તેમાં પ્રયાસ કર્યો છે. જિનોક્ત માર્ગથી કાંઇ પણ ન્યૂનાધિક તેમાં કહ્યું નથી. વીતરાગમાર્ગ પર આબાલવૃદ્ધની રૂચિ થાય, તેનું સ્વરૂપ સમજાય, તેનું બીજ હૃદયમાં રોપાય તેવા હેતુએ બાલાવબોધ રૂપ યોજના તેની કરી છે. તે શૈલી તથા તે બોધને અનુસરવા પણ એ નમુનો આપેલ છે.' (શ્રી૦ રા૦ પૃ. ૭૧૫) 'એ છપાતાં વિલંબ થયેલ તેથી ગ્રાહકોની આકુળતા ટાળવા ભાવનાબોધ ત્યાર પછી (૧૭મા વર્ષે) રચી ઉપહારરૂપે ગ્રાહકોને આપ્યો હતો. સં. ૧૯૫૨માં પદ્યમાં નડીઆદ મુકામે આત્મસિદ્ધિ શાસ્ત્ર[૫૫૦] એ નામની કૃતિ રચી. તે સર્વે કૃતિઓ તેમજ તેમણે જુદા જુદા પ્રશ્નકારોને અને જિજ્ઞાસુઓને લખેલા ઉપયોગી પત્રાંકો શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર એ નામના

૫૫૦ આનું અંગ્રેજી ભાષાંતર મહાત્મા ગાંધીજીએ દક્ષિણ આફ્રિકાથી કરી સ્વ. મનસુખલાલ રવજીપર મોકલી આપ્યું હતું, પણ તે દરકારના અભાવે ગુમાઈ ગયું. ઇદોર હાઈકોર્ટના જજ રાય જગમંદિરલાલ જૈની બૅરિસ્ટરે તેનું અંગ્રેજી ભાષાંતર કરેલું તે તેની પ્રસ્તાવના સહિત The Self Realisation એ નામથી સને ૧૯૨૩માં પ્રસિદ્ધ થયું છે.

પુસ્તકમાં તેમના ભાઇ મનસુખલાલે [૫૫૧]સંગ્રહીત કરી પ્રકટ કરાવેલ છે. તેમાં અનુભવ, પ્રેરણા, ઉપયોગ, રાજ્યોગ આદિથી ઉદ્દભવતા ઉદ્દગારો જણાય છે. દેહોત્સર્ગ માત્ર ૩૩ વર્ષની વયે રાજકોટમાં સં. ૧૯૫૭ ચૈત્ર વ. ૫ દિને થયો.

૧૦૨૯. પોતે 'કવિ' તરીકે ઓળખાયા પણ ખરી રીતે પ્રધાનપણે કવિ નહિ, પણ ફિલસુફ હતા. તેમણે જણાવ્યું છે કે 'કવિતા કવિતાર્થે આરાધવા યોગ્ય નથી. સંસારાર્થે આરાધવા યોગ્ય નથી. ભગવદ્દભજનાર્થે—આત્મકલ્યાણાર્થે જો તેનું પ્રયોજન થાય, તો જીવને તે ગુણની ક્ષયોપશમતાનું ફળ છે. જે વિદ્યાથી ઉપશમ ગુણ પ્રગટ્યો નહીં, વિવેક આવ્યો નહી, કે સમાધિ થઈ નહીં, તે વિદ્યાને વિષે રૂડા જીવે આગ્રહ કરવો યોગ્ય નથી.' (પત્રાંક ૩૯૬). 'કાવ્ય સાહિત્ય કે સંગીત આદિ કળા જો આત્માર્થે ન હોય તો કલ્પિત છે. કલ્પિત એટલે નિરર્થક, સાર્થક નહિ તે, જીવની કલ્પના માત્ર. ભક્તિપ્રયોજનરૂપ કે આત્માર્થે ન હોય તે બધું કલ્પિતજ.' (પૃ. ૭૨૫ પત્ર ૮૦૫) ખરૂં જ્ઞાન ગ્રંથોમાં ભાષામાં કે કવિ-ચાતુરીમાં નથી પરંતુ જ્ઞાનીઓ—આત્મજ્ઞોમાં રહ્યું છેઃ—

---

૫૫૧. મનસુખલાલ સં. ૧૯૮૦માં સ્વર્ગસ્થ થયા, ત્યારે ગાંધીજીએ લખ્યું કે 'ભાઇ મનસુખલાલને હું નાનપણથી ઓળખતો અને ત્યારથીજ એની ચંચળ બુદ્ધિને પણ હું ઓળખતો થયો હતો. ભાઈ મનસુખલાલ અત્યંત ઉત્સાહી હોઈ તેણે અનેક પ્રવૃત્તિઓમાં હાથ ઘાલ્યો હતો. પણ મારી એવી માન્યતા [illegible] કે શ્રીમદ્ રાયચંદભાઈનાં લખાણોનો સંગ્રહ કરવાનો અને આ ઉતાવળીયા યુગમાં ઉતાવળીયા માણસોને રૂચી શકે તેમ તેમનાં વચનો ગોઠવી પ્રગટ કરવાનો ઉદ્યમ કરવાને સારૂ તેનું સ્મરણ લાંબા કાળ સુધી રહેશે. × ×'. ઑગસ્ટ ૧૯૦૫માં 'સનાતન જૈન' નામનું માસિક કાઢી ચારેક વર્ષ ચલાવ્યું. તેમાં સ્વતંત્ર અને નિડર લેખો લખતા. તેમાં તેમનું ધ્યેય એ હતું કે જૈનો મતમતાંતર-પ્રત્યેક મતભેદ દૂર કરી એકતાપૂર્વક સનાતન જૈન આમ્નાયથી વર્તવાની અગત્ય સિદ્ધ કરવી. ૧૯૦૭ના માર્ચ માસથી હું તેમની સાથે ઉપસંપાદક તરીકે જોડાયો હતો.

નહિ ગ્રંથમાંહિ જ્ઞાન ભાખ્યું, જ્ઞાન નહિ કવિ-ચાતુરી
નહિ મંત્ર તંત્રો જ્ઞાન દાખ્યાં, જ્ઞાન નહિ ભાષા ઠરી
નહિ અન્યસ્થાને જ્ઞાન ભાખ્યું, જ્ઞાન જ્ઞાનીમાં કળો
જિનવર કહે છે જ્ઞાન તેને, સર્વ ભવ્યો સાંભળો.

૧૦૩૦. જૈન ધર્મમાં પડેલા મતમતાંતરોથી રહિત ગ્રંથો ગુંથવાનો વિચાર કર્યો. 'એવા સાત ગ્રંથો રચવાનો વિચાર હતો. લાલિત્યયુક્ત પ્રેરણાવાળી ઉપદેશ તરંગથી છલકાતી મોક્ષમાળા રચ્યા ઉપરાંત નિમિરાજ નામે એક સંસ્કૃત મહાકાવ્યના નિયમાનુસારે શાંતિરસ પ્રાધાન્ય રાખીને નવરસાત્મક પાંચ હજાર શ્લોકના પૂરનો ગ્રંથ ૭ દિવસમાં રચ્યો હતો, કે જેમાં ધર્મ અર્થ કામ અને મોક્ષ એ ચતુર્વર્ગ સંબંધી ઉપદેશ કરી ફળમાં મોક્ષમાર્ગ મૂકી દીધો છે. તેમાં કવિત્વશક્તિના લાલિત્યનું ભાન થાય છે. એક સાર્વજનિક સાહિત્યનો એક હજાર શ્લોકનો ગ્રંથ એક દિવસમાં રચ્યો છે.' (સાક્ષાત્ સરસ્વતી નામનું ચોપાનિયું) આ છેલ્લા બે ગ્રંથો અનુપલબ્ધ છે.

૧૦૩૧. જૈન ધર્મનો-માર્ગનો ઉદ્ધાર કરવા સંબંધી નાની વયે જિજ્ઞાસા વર્તતી હતી. (જુઓ હાથનોધ ૧૪ અને ૧૫ પત્રાંક ૪૬૪ બીજી આવૃત્તિ અને તે પણ સર્વસંગપરિત્યાગ કરીને બીજી આવૃત્તિ પૃ. ૬૨૨ માં) પણ ઉદયકાળ તેવો ન આવ્યો. તેમણે સત્સંગ, ગુરૂ-જ્ઞાનીનો પરિચય એ પર બહુ ભાર મૂકયો છે. પોતાની આત્મદશા માટે જણાવે છે કે દશ વર્ષે ધારા ઉલ્લસી, સં. ૧૯૪૧ માં અપૂર્વનો અણસાર આવ્યો, ૧૯૪૨માં સમ્યકત્વ થયું. સત્ય ધર્મનો ઉદ્ધાર કરવાનો નિર્ધાર થયો વગેરે.' પોતાને લાગ્યું કે 'વર્ત્તમાનમાં જૈનદર્શન એટલું બધું અવ્યવસ્થિત અથવા વિપરીત સ્થિતિમાં જોવામાં આવે છે. × જૈન માર્ગમાં પ્રજા પણ થોડી રહી છે અને તેમાં સેંકડો ભેદ વર્તે છે, એટલુંજ નહિ પણ મૂળમાર્ગ (પૃ. ૫૫૧) ની સન્મુખની વાત પણ તેમને કાને નથી પડતી. × × સર્વસંગપરિત્યાગ થયે તે કાર્યની પ્રવૃત્તિ સહજ સ્વભાવે ઉદયમાં આવે તો



અધ્યાત્મી ફિલસુફ રાયચંદ કવિ. પૃ. ७०८

[પરમશ્રુત પ્રભાવક મંડળના સૌજન્યથી.]



મહાત્મા મોહનદાસ ગાંધી.

[ફ્રિનિક્ષ પ્રિ. વર્ક્સના સૌજન્યથી.]

કરવી એવી માત્ર કલ્પના છે' (પૃ. ૪૮૫) આવો 'હૃદય' આવ્યો નહિ અને તે 'માત્ર કલ્પના' તે કલ્પના માત્ર રહી.

૧૦૩૨ મહાત્મા મોહનદાસ ગાંધી પર રાજચંદ્રનો પ્રભાવ પડયો છે અને તેને લીધે જૈન ધર્મની ચોખ્ખી અને સુરેખ અસર તેમના અંતરાત્મા પર અહિંસા અને સત્યની ઉંડી ઝીણવટપૂર્વક થઈ છે તેથી ગાંધીજીએ રાજચંદ્ર વિષે જે વક્તવ્ય કર્યું છે તે અત્ર આપવું પ્રસ્તુત ગણાશે.

૧૦૩૩ સન ૧૮૯૭ ના જૂલાઈમાં વિલાયતથી પાછા ફરી પોતે મુંબઈ પહોંચ્યા તેજ દિવસે ગાંધીજીને રાયચંદભાઈ સાથે ઓળખાણ થઇ. પોતાની આત્મકથાના પહેલા ભાગમાં જણાવે છે કે:-

'એક (ઓળખાણ) નોંધ્યા વિના નજ ચાલે. તે તો કવિ રાયચંદ અથવા રાજચંદ્રની. તેમની ઉમ્મર તે વેળા ૨૫ વર્ષ ઉપરની નહોતી. છતાં તે ચારિત્રવાન અને જ્ઞાની હતા એતો હું પહેલી જ મુલાકાતે જોઈ શકયો. તે શતાવધાની ગણાતા હતા. શતાવધાનની વાનગી જોવા દા. મહેતાએ મને સૂચવ્યું. મેં મારા ભાષાજ્ઞાનનો ભંડોળ ખાલી કર્યો ને કવિએ મેં કહેલા શબ્દો જે નિયમમાં કહ્યા હતા તેજ નિયમમાં કહી સંભળાવ્યા ! (હું રાજી થયો. ચકિત થયો અને કવિની સ્મરણશક્તિ વિષે મારો ઉંચો અભિપ્રાય બંધાયો—'રાયચંદભાઈનાં સ્મરણો') આ શક્તિની મને અદેખાઈ થઈ પણ હું તે ઉપર મુગ્ધ ન થયો. જેના ઉપર હું મુગ્ધ થયો તે વસ્તુનો પરિચય મને પાછળથી થયો. એ હતું તેમનું બહોળું શાસ્ત્રજ્ઞાન, તેમનું શુદ્ધ ચારિત્ર અને તેમની આત્મદર્શન કરવાની ભારે ધગશ. આત્મદર્શનનેજ ખાતર તે પોતાનું જીવન વ્યતીત કરતા હતા એમ મેં પાછળથી જોયું:

હસતાં રમતાં પ્રગટ હરિ દેખું રે, મારૂં જીવ્યું સફળ તવ લેખું રે;
મુક્તાનંદનો નાથ વિહારીરે, ઓધા! જીવનદોરી અમારી રે.

એ મુક્તાનંદનું વચન તેમને મોઢે તો હતું જ પણ તે તેમના હૃદયમાંયે અંકિત હતું (સ્મરણ શક્તિ ઘણાની તીવ્ર હોય, તેથી અંજા-

વાની કશી જરૂર નથી. શાસ્ત્રજ્ઞાન પણ ઘણાને જોવામાં આવે છે. પણ જો તે સંસ્કારી ન હોય તો તેમની પાસેથી ફુટી બદામ પણ નથી મળતી. સંસ્કાર સારા હોય ત્યાંજ સ્મરણશક્તિ અને શાસ્ત્રજ્ઞાનનો મેળાપ શોભે અને જગતને શોભાવે. કવિ સંસ્કારી જ્ઞાની હતા. (સ્મરણો જૈ. સા સં. ૩,૧ પૃ. ૫૧)

૧૦૩૪ 'પોતે હજારોના વેપાર ખેડતા, હીરા મોતીની પારખ કરતા, વેપારના કોયડા ઉકેલતા. પણ એ વસ્તુ તેમનો વિષય ન હતી. તેમનો વિષય તેમનો પુરૂષાર્થ-તો આત્મઓળખ-હરિદર્શન હતો. પોતાની પેઢી ઉપર બીજી વસ્તુ હોય યા ન હોય પણ કોઈને કોઈ ધર્મપુસ્તક અને રોજનિશી હોયજ. વેપારની વાત પૂરી થઈ કે ધર્મપુસ્તક ઉઘડે અથવા પેલી નોંધપોથી ઉઘડે. તેમના લેખોનો જે સંગ્રહ પ્રગટ થયો છે તેમાંનો ઘણો (કેટલોક) ભાગ તો આ નોંધપોથીમાંથી લેવાયલો છે. જે મનુષ્ય લાખોના સોદાની વાત કરી લઇને તુરત આત્મજ્ઞાનની ગૂઢ વાતો લખવા બેસી જાય તેની જાત વેપારીની નહિ પણ શુદ્ધ જ્ઞાનીની છે. તેમનો આવી જાતનો અનુભવ મને એક વેળા નહિ પણ અનેક વેળા થયેલો. મેં તેમને કદી મૂર્છિત સ્થિતિમાં નથી જોયા. મારી જોડે તેમને કશો સ્વાર્થ ન હતો. તેમના અતિ નિકટ સંબંધમાં હું રહ્યો છું. હું તે વેળા ભિખારી બારીસ્ટર હતો. પણ જ્યારે હું તેમની દુકાને પહોંચું ત્યારે મારી સાથે ધર્મવાર્તા સિવાય બીજી વાર્તા નજ કરે. આ વેળા જો કે મેં મારી દિશા જોઇ ન હતી, મને સામાન્ય રીતે ધર્મવાર્તામાં રસ હતો એમ ન કહી શકાય, છતાં રાયચંદભાઇની ધર્મવાર્તામાં મને રસ આવતો. ઘણા ધર્માચાર્યોના પ્રસંગમાં હું ત્યાર પછી આવ્યો છું, દરેક ધર્મના આચાર્યોને મળવાનો પ્રયત્ન મેં કર્યો છે, પણ જે છાપ મારા ઉપર રાયચંદભાઈએ પાડી તે બીજા કોઇ નથી પાડી શક્યા. તેમનાં ઘણાં વચનો મને સોંસરાં ઉતરી જતાં. તેમની બુદ્ધિને વિષે મને માન હતું; તેમની પ્રામાણિકતા વિષે તેટલુંજ હતું. તેથી હું જાણતો હતો કે

તેઓ મને ઇરાદાપૂર્વક આડે રસ્તે નહિ દોરે ને પોતાના મનમાં હશે એવુંજ કહેશે. આથી મારી આધ્યાત્મિક ભીડમાં હું તેમનો આશ્રય લેતો." (ગાંધીજીની આત્મકથા–ખંડ ૧ પૃ. ૧૩૯–૧૪૨)

૧૦૩૫ આવી રીતે આશ્રય લેવાનો પ્રસંગ ધર્મશોધઅર્થે થયેલા હૃદયમંથન વખતે ગાંધીજીએ લીધો હતો 'જેમ ખ્રિસ્તી મિત્રો મારા ઉપર અસર કરવા મથી રહ્યા હતા તેમ મુસલમાન મિત્રોનો પણ પ્રયત્ન હતો × મેં મારી મુસીબતો રાયચંદભાઈ આગળ મૂકી. હિંદુસ્તાનના બીજા ધર્મશાસ્ત્રીઓ સાથે પણ પત્રવ્યવહાર ચલાવ્યો. તેમના જવાબ ફરી વળ્યા. રાયચંદભાઈના પત્રથી મને કંઇક શાંતિ થઇ. તેમણે મને ધીરજ રાખવા ને હિંદુધર્મનો ઊંડો અભ્યાસ કરવા ભલામણ કરી. તેમના એક વાક્યનો ભાવાર્થ આ હતો; 'હિંદુધર્મમાં જે સૂક્ષ્મ અને ગૂઢ વિચારો છે, આત્માનું નિરીક્ષણ છે, દયા છે, તેવું બીજા ધર્મમાં નથી એવી નિષ્પક્ષપાતપણે વિચારતાં મને પ્રતીતિ થઇ છે.' × કવિની સાથે તો છેવટ સુધી પત્રવ્યવહાર ટક્યો. તેમણે કેટલાંક પુસ્તકો મોકલ્યાં.તે પણ મેં વાંચ્યાં. તેમાં પંચીકરણ, મણિરત્નમાળા, યોગવશિષ્ઠનું 'મુમુક્ષુપ્રકરણ', હરિભદ્રસૂરિનું 'પડ્દર્શન સમુચ્ચય' ઇ૦ હતાં' (આત્મકથા ખંડ ૧ પૃ. ૨૧૪–૨૧૫)

૧૦૩૬ આ સંબંધમાં વિશેષ સ્પષ્ટતાથી અન્ય પ્રસંગે ગાંધીજી જણાવે છે કે 'હિંદુ ધર્મમાં મને શંકા પેદા થઈ તે સમયે તેના નિવારણમાં મદદ કરનાર રાયચંદભાઇ હતા. સને ૧૮૯૩ (સં. ૧૯૪૯) ની સાલમાં દક્ષિણ આફ્રિકામાં હું કેટલાક ખ્રિસ્તી સજ્જનોના ખાસ સંબંધમાં આવેલો. તેમનું જીવન સ્વચ્છ હતું. તે ધર્મચુસ્ત હતા. બીજા ધર્મવાળાને ખ્રિસ્તી થવા સમજાવવા એ તેમનો મુખ્ય વ્યવસાય હતો. જોકે મારો તેમની સાથે સંબંધ વ્યાવહારિક કાર્યનેજ અંગે થયેલો તોપણ તેમણે મારા આત્માના કલ્યાણ અર્થે ચિંતા કરવા માંડી. મારૂં એક કર્ત્તવ્ય હું સમજી શક્યો. જ્યાંસુધી હિંદુ ધર્મનું રહસ્ય હું પૂરૂં ન જાણી લઉં અને તેનાથી મારા આત્માને અસંતોષ ન થાય ત્યાં સુધી મારા જન્મનો ધર્મ મારે નજ તજવો જોઇએ. તેથી મેં

હિંદુ અને બીજાં ધર્મપુસ્તકો વાંચવાં શરૂ કર્યાં. ખ્રિસ્તી, મુસલ્લમાની પુસ્તકો વાંચ્યાં. લંડનમાં થયેલા ઇંગ્રેજ મિત્રોની સાથે પત્રવ્યવહાર ચલાવ્યો તેમની આગળ મારી શંકાઓ મૂકી, તેમજ હિંદુસ્થાનમાં જેઓ ઉપર મારી કંઇપણ આસ્થા હતી તેમની સાથે પત્રવ્યવહાર ચલાવ્યો. તેમાં રાયચંદભાઈ મુખ્ય હતા. તેમની સાથેતો મને સરસ સંબંધ બંધાઇ ચૂક્યો હતો. તેમના પ્રત્યે માન હતું, તેથી તેમની મારફતે જે મળી શકે તે મેળવવા વિચાર કર્યો. તેનું પરિણામ એ આવ્યું કે હું શાંતિ પામ્યો. હિંદુધર્મમાં મને જે જોઇએ તે મળે એમ છે, એવો મનને વિશ્વાસ આવ્યો. આ સ્થિતિને સારૂ રાયચંદભાઇ જવાબદાર થયા એટલે સારૂં માન તેમના પ્રત્યે કેટલું વધ્યું હોવું જોઇએ તેનો ખ્યાલ વાંચનારને કંઇક આવશે. (રાયચંદભાઈનાં કેટલાંક સ્મરણો જૈ. સા. સં. ૩, ૧, પૃ. ૫૦ તથા શ્રીમદ્ રાજચંદ્રની ત્રીજી આવૃત્તિની ભૂમિકા.) × × સ્વસ્ત્રી પ્રત્યે પણ બ્રહ્મચર્યનું પાલન કરવું એ મને દક્ષિણ આફ્રિકામાંજ સ્પષ્ટ સમજાયું. × એટલું સ્મરણ છે કે એમાં રાયચંદભાઇની અસરનું પ્રાધાન્ય હતું.' (આ બે પ્રસંગ માટે જુઓ ગાંધીજીની આત્મકથા ખંડ ૧ પૃ. ૨૧૪ અને ૩૧૭) આ ઉપરાંત શંકા વગેરેનું સમાધાન આદિ અર્થે કવિએ ગાંધીજી પર લખેલ પત્રો (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક ૪૪૭, ૪૧૨, ૬૪૭) નોંધવા યોગ્ય છે.

૧૦૩૭ વળી પોતાનાં સ્મરણોમાં ગાંધીજીએ વિશેષ કરી જણાવ્યું છે કે:-'તેમનાં લખાણોની એક અસાધારણતા એ છે કે પોતે જે અનુભવ્યું તેજ લખ્યું છે. તેમાં ક્યાંયે કૃત્રિમતા નથી. બીજાની ઉપર છાપ પાડવા સારૂ એક લીટી સરખી પણ લખી હોય એમ મેં નથી જોયું. તેમની પાસે હમેશાં કંઇક ધર્મપુસ્તક અને એક કોરી ચોપડી પડેલાં જ હોય. એ ચોપડીમાં પોતાના મનમાં જે વિચાર આવે તે લખી નાખે. કોઇ વેળા ગદ્ય ને કોઇ વેળા પદ્ય. એવી રીતેજ 'અપૂર્વ અવસર' પણ લખાએલું હોવું જોઇએ. (તેનાં પ્રથમ બે પદ ટાંક્યાં છે કે:)

અપૂર્વ અવસર એવો ક્યારે આવશે, ક્યારે થઇશું બાહ્યાન્તર નિર્ગ્રન્થ જો;
સર્વ સંબંધનું બંધન તીક્ષ્ણ છેદીને, વિચરશું કવ મહત્પુરુષને પંથજો ? ૧
સર્વ ભાવથી ઔદાસીન્ય વૃત્તિ કરી, માત્ર દેહ તે સંયમહેતુ હોય જો,
અન્ય કારણે અન્ય કશું કલ્પે નહિં, દેહે પણ કિંચિત્ મૂર્છા નવ જોયજો. ૨

ખાતાં, બેસતાં, સુતાં, પ્રત્યેક ક્રિયા કરતાં તેમનામાં વૈરાગ્ય તો હોયજ. કોઈ વખત આ જગતના કોઈ પણ વૈભવને વિષે તેમને મોહ થયો હોય એમ મેં નથી જોયું.

૧૦૩૮ ' × × ભાષા એટલી પરિપૂર્ણ હતી કે તેમને પોતાના વિચારો બતાવતાં કોઈ દિવસ શબ્દ ગોતવો પડ્યો છે એમ મને યાદ નથી. કાગળ લખવા બેસે ત્યારે ભાગ્યેજ શબ્દ બદલતાં મેં તેમને જોયા હશે; છતાં વાંચનારને એમ નહિ લાગે કે ક્યાંએ વિચાર અપૂર્ણ છે કે વાક્યરચના તુટેલી છે, અથવા શબ્દની પસંદગીમાં ખોડ છે.[૫૫૨] આ વર્ણન સંયમીને વિષે સંભવે. બાહ્યાડંબરથી મનુષ્ય વીતરાગી નથી થઇ શકતો. વીતરાગતા એ આત્માની પ્રસાદી છે.

---

૫૫૨ ગુજરાતી માતૃભાષાદ્વારાજ કેળવણી લેવીજ જોઈએ એ વિષે મહાત્માજીએ બીજી ગુજરાત કેળવણી પરિષદ્‌ના પ્રમુખ તરીકે જે નીચેના શબ્દો કહ્યા હતા તેમાં પણ રાયચંદ કવિની ભાષા સંબંધીના મિત શબ્દો નોંધવા જેવા છેઃ—

નરસિંહ મહેતાની જે ભાષા છે, જેમાં નંદશંકરે પોતાનો કરણઘેલો લખ્યો, જેમાં નવલરામ, નર્મદાશંકર, મણિલાલ, મલબારી વગેરે લેખકો લખી ગયા છે, જે બોલીમાં મરહુમ રાજચંદ્ર કવિએ અમૃતવાણી સંભળાવી છે, જે ભાષાની સેવા કરી શકે એવી હિંદુ, મુસલમાન ને પારસી જાતિઓ છે, જેનાં બોલનારામાં પવિત્ર સાધુ થઈ ગયા છે, જે વાપરનારામાં ધનાઢ્યો છે, જેમાં પરદેશ ખેડનારા વહાણવટીઓ થઇ ગયા છે, જેમાં મુળુ માણેક ને જોધા માણેકના શૂરાતનના પડઘા આજ પણ બરડા ડુંગરમાં સંભળાય છે તે ભાષાની મારફતે ગુજરાતીઓ કેળવણી ન લેય તો તેઓ બીજું શું વળનારો ? આ પ્રશ્નને વિચારવો પડે છે એજ ખેદ છે.' (વસંત કાર્તિક સં. ૧૯૭૪ પૃ. ૫૯૭)

અનેક જન્મના પ્રયત્ને મળી શકે છે એમ હરકોઈ માણસ અનુભવી શકે છે. રાગોને કહાડવાનો પ્રયત્ન કરનાર જાણે છે કે રાગરહિત થવું કેવું કઠિન છે. એ રાગરહિત દશા કવિને સ્વાભાવિક હતી એમ મારી ઉપર છાપ પડી હતી. આમ અપવાદો છતાં વ્યવહારકુશળતા અને ધર્મપરાયણતાનો સુંદર મેળ જેટલો મેં કવિને વિષે જોયો એટલો બીજામાં નથી અનુભવ્યો.

૧૦૩૯. 'અમુક હદ પછી શાસ્ત્રો મદદ નથી કરતાં, અનુભવ મદદ કરે છે તેથી રાયચંદભાઇએ ગાયું છેઃ—

જે પદ શ્રી સર્વજ્ઞે દીઠું જ્ઞાનમાં, કહી શક્યા નહિ તે પદ શ્રી ભગવંત જો,
એહ પરમપદ પ્રાપ્તિનું કર્યું ધ્યાન મેં, ગજા વગર પણ હાલ મનોરથરૂપ જો.

એટલે છેવટે તો આત્માનો મોક્ષ દેનાર આત્મા જ છે. આ શુદ્ધ સત્યનું અપૂર્વ નિરૂપણ રાયચંદભાઈએ ઘણી રીતે પોતાનાં લખાણોમાં કર્યું છે. રાયચંદભાઈએ ઘણાં ધર્મપુસ્તકોનો સરસ અભ્યાસ કર્યો હતો. તેમને સંસ્કૃત માગધી ભાષા સમજતાં જરાએ મુશ્કેલી નહોતી આવતી. વેદાંતનો અભ્યાસ તેમણે કરેલો, તેમજ ભાગવતનો અને ગીતાજીનો. જૈન પુસ્તકો તો જેટલાં તેમને હાથ આવતાં તે વાંચી જતા. તેમની તે ગ્રહણ કરવાની શક્તિ અથાગ હતી. એક વખતનું વાંચન તે તે પુસ્તકોનું રહસ્ય જાણી લેવાને સારૂ તેમને પુરતું હતું. કુરાન, ઝંદ અવસ્તા ઇ. નું વાંચન પણ અનુવાદો મારફતે તેમણે કરી લીધું હતું.

૧૦૪૦. 'તેમનો પક્ષપાત જૈન દર્શન તરફ હતો એમ તેઓ મને કહેતા. તેમની માન્યતા હતી કે જિનાગમમાં આત્મજ્ઞાનની પરાકાષ્ઠા છે. પણ રાયચંદભાઇને બીજા ધર્મ પ્રત્યે અનાદર ન હતો. વેદાંત પ્રત્યે પક્ષપાત પણ હતો. વેદાંતીને તો કવિ વેદાંતી જ જણાય. મારી સાથે ચર્ચા કરતાં મને કોઈ દિવસે તેમણે એવું તો કહ્યું જ નહિ કે મારે મોક્ષ મેળવવા સારૂ અમુક ધર્મને અવલંબવો જોઇએ.

મારો આચાર વિચારવાનું જ તેમણે મને કહ્યું. પુસ્તકો કયાં વાંચવાં એ પ્રશ્ન ઉઠતાં મારૂં વલણ ને મારા બચપણના સંસ્કાર વિચારી તેમણે મને ગીતાજી વાંચતાં તેમાં ઉત્તેજન આપેલું, અને બીજા પુસ્તકોમાં પંચીકરણ, મણિરત્નમાલા, યોગવાસિષ્ટનું વૈરાગ્યપ્રકરણ, કાવ્યદોહન પહેલો ભાગ અને પોતાની મોક્ષમાળા વાંચવાનું સૂચવ્યું હતું.

૧૦૪૧. 'રાયચંદભાઇ ઘણી વેળા કહેતા કે જૂદા જૂદા ધર્મ એ તો વાડાઓ છે તેમાં મનુષ્ય પુરાઇ જાય છે. જેણે મોક્ષ મેળવવો એજ પુરૂષાર્થ માન્યો છે તેને કોઇ ધર્મનું તિલક પોતાને કપાળે લગાડવાની આવશ્યકતા નથી.

સુતર આવે ત્યમ તું રહે, જયમ ત્યમ કરિને હરીને લહે

—એ જેમ અખાનું તેમ રાયચંદભાઇનું પણ સૂત્ર હતું. ધર્મના ઝઘડાથી તેમને હમેશાં કંટાળો આવતો, તેમાં ભાગ્યે જ પડતા. બધા ધર્મોની ખૂબીઓ પુરી જોઈ જતા ને તે તે ધર્મીની પાસે મૂકતા. દક્ષિણ આફ્રિકાના મારા પત્રવ્યવહારમાં પણ મેં તેમની પાસેથી એજ વસ્તુ મેળવી હતી. (જૈ. સા, સં. ખંડ ૩ અંક ૧ પૃ. ૫૨ થી ૫૫)

૧૦૪૨ '× પણ શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર અસાધારણ વ્યક્તિ હતા. તેમનાં લખાણ એ તેમનાં અનુભવનાં બિંદુ સમાં છે. તે વાંચનાર વિચારનાર અને તે પ્રમાણે ચાલનારને મોક્ષ સુલભ થાય, તેના કષાયો મોળા પડે, તેને સંસાર વિષે ઉદાસીનતા આવે, તે દેહનો મોહ છોડી આત્માર્થી બને × શ્રીમદ્‌નાં લખાણ અધિકારીને સારૂ છે. બધા વાંચનાર તેમાં રસ નહિ લઇ શકે. ટીકાકારને તેની ટીકાનું કારણ મળશે. પણ શ્રદ્ધાવાન્ તો તેમાંથી રસ જ લૂંટશે. તેમનાં લખાણોમાં સત્ નીતરી રહ્યું છે એવો મને હમેશાં ભાસ આવ્યો છે. તેમણે પોતાનું જ્ઞાન બતાવવા સારૂ એક પણ અક્ષર નથી લખ્યો. લખનારનો હેતુ વાંચનારને પોતાના આત્માનંદમાં ભાગીદાર બનાવવાનો હતો. જેને આત્મક્લેશ ટાળવો છે, જે પોતાનું કર્તવ્ય જાણવા ઉત્સુક

છે તેને શ્રીમદ્‌નાં લખાણોમાંથી ખડું મળી રહેશે, એવો મને વિશ્વાસ છે, પછી ભલે તે હિંદુ હો કે અન્યધર્મી.' (પૃ. ૪૯)

૧૦૪૩ મહાત્મા ગાંધી દક્ષિણ આફ્રિકામાં હતા ત્યારે૮ તેમણે જણાવ્યું હતું કે 'તેમનાં જીવન અને વચનોનો હું ફરી ફરી અભ્યાસ કરૂં છું તેમ મને તેઓ ખરેખર તેમના સમકાલિન હિંદીઓમાં સર્વોત્કૃષ્ટ લાગે છે. ધર્મબોધમાં મને તેઓ ટૉલ્સ્ટૉય કરતાં ઘણા ચઢતા જણાય છે. એ કવિ અને ટૉલ્સ્ટૉય-બંને પુરૂષોનાં ઉપદેશ અને વર્ત્તન અવિસંવાદી છે'૫૫૩ ગાંધીજીના 'જીવન ઉપર ઉંડી છાપ પાડનાર આધુનિક મનુષ્યો ત્રણ છે. રાયચંદભાઇએ તેમના જીવંત સંસર્ગથી, ટૉલ્સ્ટૉયે તેના 'વૈકુંઠ તારા હૃદયમાં છે' નામના પુસ્તકથી (અને તેમની સાથેના થોડા પત્રવ્યવહારથી) ને રસ્કિને 'Unto this last'— 'સર્વોદય' નામના પુસ્તકથી મને ચકિત કર્યો (આત્મકથા ખંડ ૧, પૃ. ૧૪૩) સં. ૧૯૭૨ ની અમદાવાદની રાજચંદ્ર જયંતી પ્રસંગે મહાત્માજીએ જણાવ્યું હતું કે 'મારા જીવનપર શ્રીમદ્ રાજચંદ્રભાઇનો એવો સ્થાયી પ્રભાવ પડયો છે કે હું તેનું વર્ણન કરી શકતો નથી. તેમના વિષે મારા ઉંડા વિચાર છે. હું ઘણાં વર્ષોથી ભારતમાં ધાર્મિક પુરૂષની શોધમાં છું, પરન્તુ મેં એવો ધાર્મિક પુરૂપ ભારતમાં હજુ સુધી જોયેલ નથી કે જે શ્રીમદ્ રાજચંદ્રભાઈની સાથે પ્રતિસ્પર્દ્ધામાં ઉભો રહી શકે. તેમનામાં જ્ઞાન, વૈરાગ્ય અને ભક્તિ હતાં. ઢોંગ, પક્ષપાત યા રાગદ્વેષ નહોતાં. તેમનામાં એક મોટી શક્તિ હતી કે જેદ્વારા તેઓ પ્રાપ્ત થયેલ પ્રસંગનો પૂર્ણ લાભ લઈ શકતા હતા. તેમના લેખ અંગ્રેજ તત્ત્વજ્ઞાનીઓની અપેક્ષાએ પણ વિચક્ષણ, ભાવનામય અને

---

૫૫૩ The more I consider his life and his writings, the more I consider him to have been the best Indian of his times. Indeed, I put him much higher than Tolstoy in religious perception. Both Kavi and Tolstoy have lived as they have preached.

આત્મદર્શી છે. યૂરોપના તત્ત્વજ્ઞાનીઓમાં હું ટૉલ્સ્ટૉયને પહેલી શ્રેણીના અને રસ્કિનને બીજી શ્રેણીના વિદ્વાન્ સમજું છું, પરંતુ શ્રીમદ્ રાજચંદ્રભાઇનો અનુભવ આ બંનેથી પણ વધે છે–ચડે છે. આ મહાપુરૂષના જીવનના લેખોને આપ અવકાશે વાંચશો તો આપના પર તેનો ઘણો સારો પ્રભાવ પડશે. તેઓ પ્રાયઃ કહ્યાં કરતા કે હું કોઈ વાડાનો નથી અને કોઇ વાડામાં રહેવા પણ માંગતો નથી. આ સર્વે તો ઉપધર્મ–મર્યાદિત છે અને ધર્મ તો અસીમ છે કે જેની વ્યાખ્યા થઇ શકે તેમ નથી. તે પોતાના ઝવેરાતના ધંધાથી વિરક્ત થતાં તુરતજ પુસ્તક હાથમાં લેતા. જો તેમની ઇચ્છા હોત તો તેમનામાં એવી શક્તિ હતી કે તેઓ એક સારા પ્રતિભાશાલી બૅરિસ્ટર, જજ યા વાઇસરાય થઇ શકત. આ અતિશયોક્તિ નથી, કિન્તુ મારા મનપર તેમની છાપ છે. તેમની વિચક્ષણતા બીજાનાપર પોતાની છાપ પાડતી હતી.' ગાંધીજીનો છેવટમાં એક ટૂંકો મિતાક્ષરી અંગ્રેજી લેખ હમણાંજ દાંડીની કુચ દરમ્યાન લખેલો તે મૉડર્ન રીવ્યુના જુન ૧૯૩૦ ના અંકમાં પ્રગટ થયો છે (તેના ગુજરાતી ભાષાંતર માટે જુઓ જૈનયુગ આષાઢ–શ્રાવણ ૧૯૮૬ નો અંક પૃ. ૪૨૫)

૧૦૪૪ દર્શનોના અભ્યાસી શ્રી નર્મદાશંકર મહેતાએ જણાવ્યું છે કે 'શ્રીમાન્ રાજચંદ્રના સંબંધમાં આપણને સ્પષ્ટ સમજાય છે કે તેઓ પરધર્મ પ્રતિ માનદૃષ્ટિ વાળા છતાં નિશ્ચયબળથી ચુસ્ત જૈની હતા × × ધર્મસિદ્ધિમાં વૈરાગ્યભાવના પ્રકર્ષ પામવીજ જોઇએ અને તેવા પ્રકર્ષને શ્રીમાન્ રાજચંદ્રમાં તે પામી વિલાસરૂપે ઝળકતી હતી. તેમનું સમગ્ર જીવન કોઇપણ સાંસારિક સુખની અથવા કીર્તિઆદિની લાલસાથી રંગાયેલું ન હતું અને તેથી શ્રીમહાવીરના જૈન શાસનને પોતાના સંબંધમાં આવનાર અધિકારીજનોને તે સચ્ચોટ પ્રબોધી શક્યા હતા. વૈરાગ્યભાવનાના પ્રકર્ષવડે તેમની વિશાલબુદ્ધિ, મધ્યસ્થતા અને સરલતા જે તત્ત્વોદયમાં આવશ્યક ગુણો તેઓશ્રીએ માન્યા છે તે વધારે દીપ્તિવાળા થયા હતા' (અમદાવાદ રાજચંદ્ર જયંતી સં. ૧૯૭૨)

૧૦૪૫ આચાર્ય **આનંદશંકર** ધ્રુવે વેદાંતી તરીકે કહેવાય તેટલું કહેતાં જણાવ્યું હતું કે 'શ્રીમદ્ **રાજચંદ્ર** વેદાંત તરફ વળેલ હતા એમ તેમના પત્રો વાંચવાથી કોઈ કોઇને લાગે છે પણ જૈનધર્મ તરફ તેમણે વધારે મહત્ત્વ મૂક્યું હતું. × તેમણે પોતાના ધર્મમાં સ્થિર રહી અન્ય ધર્મનાં ખરાં તત્ત્વો શોધી કાઢયાં છે. × આપણો ભવ્ય ધર્મ શ્રીમદ્ **રાજચંદ્ર** જેવા સમર્થ પુરૂષોના પ્રતાપે હજી પણ ટકી રહ્યો છે. × મરહુમ **રાજચંદ્ર**નું જીવન એક યથાર્થ મહાત્માનું જીવન હતું. × 'શ્રીમદ્ **રાજચંદ્ર**'ના ગ્રંથને એક આદર્શરૂપે રાખવામાં આવે તો તેથી તેના ઉપાસકને અત્યંત લાભ થયા વગર રહે નહીં, એ ગ્રંથમાં તત્ત્વજ્ઞાનનાં ઝરણો વહ્યાં કરે છે, એ ગ્રંથ કોઇ ધર્મનો વિરોધી નથી, કારણકે તેની શૈલી બહુ ગંભીર પ્રકારની છે.' (વઢવાણ રાજચંદ્ર જયંતી વખતે પ્રમુખ તરીકેના ભાષણમાંથી)

૧૦૪૬ મહાત્મા ગાંધીજી પર **રાજચંદ્ર**ના સમાગમ, વિચારોની જબરી અસર થઈ છે તે ઉપરાંત તેમની ગુજરાતી ભાષાની શૈલીપર પણ પ્રભાવ પડયો છે. આચાર્ય **આનંદશંકર**ના શબ્દોમાં '**ગાંધીજી** × × એક સાદા પત્રકાર છે. પણ પત્રકાર તરીકે એમણે ગૂજરાતી ભાષામાં સાદી સીધી અને સચોટ, છતાં તળપદી નહિ કિંતુ આત્મસંસ્કારની સાદી શોભા ધરાવતી એવી, કોઇક અવર્ણનીય શૈલી દાખલ કરી છે, જે વિદ્વાન અને અવિદ્વાન સર્વને સરખી રીતે મુગ્ધ કરી મૂકે છે.' એવી **ગાંધીજી**ની શૈલી કરતાં **રાયચંદભાઇ**ની શૈલી વધુ પ્રૌઢ, સંસ્કૃત, મિત અને સચોટ–અનુભવના અમૃતમય છે–કોઇ અપૂર્વ શૈલી છે.



પ્રકરણ ૩ જું

સાહિત્યપ્રકાશકો-સંસ્થાઓ

શા. ભીમસિંહ માણેક

આર્યા ગીતિવૃત્ત

પ્રકરણ રત્નાકર આ, પુસ્તક સાદ્યંત પૂર્ણ કરી લીધું;
અર્હત્પ્રસાદ પામી, વિઘ્નરહિત શ્રેષ્ટ કામ શુભ સીધ્યું. ૧

જિનવર પદ વંદનમય, મંગલ અવસાનરૂપ કરૂં પ્રેમેં
ઇમ નિર્વિઘ્નપણાથી, અન્ય કૃતી પણ ચલે પૂર્ણ નેમેં. ૨

જિનવર આણા ગર્ભિત, નાના વિદ્વજ્જનાભિરચિત ગિરા
ગદ્ય પદ્ય વા સરલા, પ્રસિદ્ધિ પામો અખંડ સકલ ધરા. ૩

શાર્દૂલ વિક્રીડિત વૃત્ત

હે શ્રી વીર સુધીર ઈશ અજ ને દેવાધિદેવ પ્રભુ
વંદૂ હું સુત ભક્તિભાવ ધરિને થાજો સહાએ વિભુ
આવાં કૃત્ય અનેક તે કરિ શકું રૂડાં કૃપા તેહવી
કીજે માણક પુત્ર ભીમસિ શિરેં જોયેં તથા જેહવી. ૪

—પ્રકરણ રત્નાકર ભાગ ૪ થાની પોતાની પ્રસ્તાવના સં. ૧૯૩૭

૧૦૪૭. તાડપત્ર પછી લુગડાપર ને કાગળપર હાથેથી લખવાની કળા અરાઢમા શતક સુધી કાયમ રહી. ઓગણીસમી સદીમાં શિલા-છાપનો પ્રચાર થતાં તેમાં થોડાં-રાસ ચોપાઈ પૂજા આદિ છપાયાં. પછી વીસમી સદીમાં મુદ્રણકલાનો વિશેષ આવિષ્કાર થયો[૫૫૫] ને તે કલાનો આશ્રય લઈ ધર્મપુસ્તકો છપાવવામાં પહેલ કરનાર કચ્છી બંધુ શા ભીમશી (ભીમસિંહ) માણેક હતા. તેમણે એક લાખ રૂ.ના

૫૫૫ ગુજરાતી મુદ્રણકળાની સ્થાપનાનું વર્ષ સં. ૧૮૬૮ છે. તે પૂર્વે દીવ બંદરના ભીમજી પારેખ નામના વાણિયાએ સં. ૧૭૩૪ માં નાગરી

અર્થે પ્રકરણરત્નાકર ચાર ભાગમાં છાપવાની યોજના કરી. તેનો પ્રથમ ભાગ સં. ૧૯૩૨ જેઠ સુદ ૨ ગુરુએ 'નિર્ણયસાગર' નામના મુંબઇના પ્રસિદ્ધ મુદ્રાયંત્રમાં છપાવી પ્રસિદ્ધ કર્યો. પ્રસ્તાવનામાં એ પણ જણાવ્યું કે 'એવા વખતમાં (કાલાંતરે લખવાની મહેનતને લીધે ગ્રંથો લખવાનો વ્યાપાર ઓછો થવા લાગ્યો તે સમયમાં) વર્તમાન-કાલાશ્રિત યુક્તિપૂર્વક જ્ઞાનરક્ષા અથવા વૃદ્ધિનાં જે જે સાધનો હોય, તેઓનું ગ્રહણ કરીને તેના ઉપયોગ વડે એ શુભ કૃત્ય કરવામાં કાંઇપણ પ્રમાદ કરવો નહીં. ચાલતા સમયમાં જ્ઞાનવૃદ્ધિનું સર્વોત્કૃષ્ટ

અને માથાં બાંધેલા વાણિયાસાઇ અક્ષરોનાં 'ગંઠા' અને 'મેજિરો' કરાવેલ હશે એમ ધારવામાં આવે છે. સં. ૧૮૬૮ માં ફરદુનજી મર્ઝબાને 'સમાચાર' નામનું છાપખાનું મુંબઈમાં કાઢ્યું ને તેમાંથી 'મુંબઇસમાચાર' નું પંચાંગ જે આજે નીકળે છે તેનો પ્રારંભ સં. ૧૮૭૦ માં થયો. સં. ૧૮૭૮ માં 'મુંબઇસમાચાર' એ નામનું વારિક પત્ર તેમાંથી કાઢવામાં આવ્યું. આ રીતે નાગરી અને ગુજરાતી બીબાંનો ઉત્પાદક અનુક્રમે એક વાણિયો અને એક પારસી છે. સં. ૧૮૮૬ માં મુંબઈ સરકાર તરફથી મુદ્રાલય નીકળ્યું. સુરતમાં રૂસ્તમજીએ સીસાના બીબાનું મુદ્રાલય સં. ૧૮૯૮ માં અને અંગ્રેજ મિશનરીઓએ સુરત મિશનપ્રેસ સં. ૧૯૦૨ માં કાઢ્યું. સં. ૧૯૧૩ માં મુંબઈમાં પચીસેક મુદ્રાલયો હતાં. તેમાં દેશીઓ હસ્તક ચાલતાં મુખ્ય મુદ્રાલયોમાં ગણપત કૃષ્ણાજીનું, ઓરીયેન્ટલનું, 'ઈન્દુપ્રકાશ'નું, 'જામેજમશેદ' નું વગેરે હતાં. સૌથી મોટી અને જૂની ટાઇપફાઉંડરી (બીબાં બનાવવાનું કારખાનું) સ્વ. જાવજી દાદાજીએ નિર્ણયસાગર નામની કાઢેલી. ૧૯૪૨ માં સુરતના ઘેલાભાઈ અને ફીકાભાઇએ ટાઈપ ફાઉંડરી કાઢી.

સીસાનાં બીબાં ઓટી અક્ષર બનાવી છાપવાનું આ રીતે કાર્ય શરૂ થયું તે પૂર્વે શિલાછાપથી છાપવાનું કામ ચાલતું હતું. મુંબઈમાં બાપુ હર્ષદ દેવલેકરનું શિલાછાપનું મોટું છાપખાનું હતું. ગણપત કૃષ્ણાજીનું પ્રેસ પણ શિલાછાપમાં વખણાતું હતું. સુરતમાં જદુરાયનું અને અમદાવાદમાં બાજીભાઈ અમીચંદનું સં. ૧૮૯૮ માં શિલાછાપનું છાપખાનું સ્થપાયું. (જુઓ 'ગુજરાતી'નો સં. ૧૯૬૮ ના દીવાળી ખાસ અંકમાં પહેલો લેખ 'ગુજરાતી મુદ્રણકળાની શતવર્ષી'.)

સાધન મુદ્રાયંત્રકલા છે. એ કલાનો મૂલ પાયો જો પણ (કે) યુરોપ દેશમાં અન્ય ધર્મીઓના હાથથી પડ્યો છે, તોપણ તે સર્વ લોકોને અતિ ઉપયોગી હોવાથી તેનો નિરસ્કાર ન કરતાં, સર્વ જ્ઞાનની વૃદ્ધિની પ્રચ્છા કરનારા મનુષ્યોએ અંગિકાર કરવો જોયે. હરેક સર્વોપયોગી વસ્તુની ઉત્પત્તિ ગમે ત્યાં થઈ હોય, તોપણુ તેને નિર્પક્ષપાતથી ગ્રહણુ કરી લેવી એ નીતિ છે. માટે પુસ્તક મુદ્રિત કરવાની અતિ ઉત્કૃષ્ટ અને સહુથી સહેલી રીતને ન ગ્રહણુ કરવાને લીધે જ્ઞાનની ન્યૂનતારૂપ મહા હાની કરી લેવી નહી. પણુ જેમ બને તેમ જ્ઞાનની વૃદ્ધિનાં સાધનોને ઉપયોગમાં આણીને તે ઉદ્યોગનો આરંભ કરવો, તેમાં કાંઇ દોષ નથી પણુ મહોટો પુણ્યાનુબંધી પુણ્ય છે. કેમકે સૂક્ષ્મ દૃષ્ટિયે વિચાર કરીએ તો એથી જ્ઞાનનો વિનય થાય છે; કારણુકે મહોટા શ્રમેથી પરોપકાર બુદ્ધિથી પૂર્વાચાર્યોએ જે ગ્રંથો કરેલા છે, તેને અપમાન આપી કોઇને ઉપયોગમાં પણુ ન આવે એવી રીતે છાના રાખી મૂકવા કરતાં તે ગ્રંથો પ્રસિદ્ધ કરી તેનો લાભ હરેક પ્રાણીને આપવો એ કરતાં બીજું વધારે રૂડું કામ કોઇપણુ જણાતું નથી. મારા વિચાર પ્રમાણે તો જે તે પ્રકારે ગ્રંથો છપાવીને પ્રસિદ્ધ કરવા જોયે, જેથી અનેક ભવ્યજીવો જ્ઞાનને પામે અને જ્ઞાનની વૃદ્ધિ થાય કેમકે એક વખત છપાઇ ગયેલો ગ્રંથ હમેશ કાયમ રહે છે; તેનો ઘણા કાલસુધી વિચ્છેદ થતો નથી, કારણુકે જે ગ્રંથની ઘણી પ્રતો પ્રસિદ્ધ થઈ હોય, તે બધી ઘણા કાળ સુધી નાશ થાય નહી. તેમ છતાં જે અલ્પબુદ્ધિવાળા, અવિ-ચારિઓ એ કૃત્યનો ધિક્કાર કરે છે તેઓ મૂર્ખ, જ્ઞાનના દ્વેષી, અને અજ્ઞાની જાણુવા. એવા મનુષ્યોની કાંઇપણુ પરવા ન કરતાં મેં આ મોટું પુસ્તક છાપવાનો આરંભ કરીને તેનો પહેલો ભાગ સમાપ્ત કર્યો છે, અને બાકીના ત્રણુ ભાગ પણુ જ્ઞાનીની કૃપાથી કોઇ વિઘ્ન ન પડતાં સમાપ્ત થાઓ તથાસ્તુ.'

૧૦૪૮. આ છપાવવામાં શેઠ કેશવજી નાયકે મુખ્યપણે અને રાવબહાદુર લક્ષ્મીપતિસિંહજીએ તથા અન્યે સહાયતા આપી હતી.

ને આં. મુનિ મહિમાસાગરે અને વિવેકસાગરસૂરિએ તથા સુરતના મુનિ હુકમચંદે, શાંતિસાગરજીએ, વિજયધરણેંદ્રસૂરિએ ઉત્તેજના આપી આશ્રય અપાવ્યો હતો.

૧૦૪૯ ભીમશીએ ૧૯૩૩ ના પોષમાં અને ૧૯૩૪ ના પોષમાં પ્રકરણ રત્નાકર બીજો અને ત્રીજો ભાગ અનુક્રમે 'નિર્ણયસાગર' માંજ છપાવી પ્રસિદ્ધ કર્યાં. તેનો ચોથો ભાગ સં. ૧૯૩૭ માં પ્રગટ કર્યો પણ તે પહેલાં પાંડવ ચરિત્રનો બાલાવબોધ, સાર્થ પ્રતિક્રમણ સૂત્ર, વિવિધ પૂજાસંગ્રહ, સમ્યક્ત્વમૂલ બારવ્રતની ટીપ તથા રાયધનપતિસિંહજી તરફથી સૂયગડાંગ સૂત્ર મૂલ તથા દીપિકા ટીકા અને ટબા સહિત છપાવી નાંખ્યાં. પુસ્તક છપાવવામાં જ્ઞાનની આશાતના થાય છે એ જાતનો વિચાર સાધુ અને શ્રાવકોના મોટા સમૂહમાં પ્રવર્ત્તતો હતો તેવા કાળે છપાવવાની પહેલ કરવી એ સાહસ હતું; છતાં તેમ કરવામાં પોતાનો નમ્રભાવ અને પોતાનો ઉચ્ચ ઉદ્દેશ પોતે નીચેના જે રૂપમાં પ્રકટ કર્યો તે ધ્યાન ખેંચે તેવો છેઃ—

'હાલના સમયમાં ગ્રંથોનો જીર્ણોદ્ધાર કરવાના જેવાં સાધનો મળી આવે છે તેવાં આગળ કોઈ વખતે પણ નહોતાં. પહેલાં પ્રથમ ગ્રંથોનો જીર્ણોદ્ધાર તાલપત્ર ઉપર થએલો દેખાય છે, ને ત્યાર પછી કાગળ ઉપર થયો છે તે અદ્યાપિ સિદ્ધ છે. પરંતુ તે હસ્તક્રિયા વિના યંત્રાદિકની સહાયતાથી થએલો નથી. ને હાલ તો મુદ્રાયંત્રની અતિ ઉત્કૃષ્ટ સહાયતા મળી આવે છે, તેનો ઉપયોગ કરવાનું મૂકી દઇને આળસ કરી બેશી રહેશું તો ગ્રંથો કેમ કાયમ રહેશે? હાલ વિદ્યાભ્યાસ કરીને નવા નવા ગ્રંથોની રચના કરવી તો એક કોરે રહી, પણ છતી શક્તિયે પુરાતન ગ્રંથોની રક્ષા કરવાનો યત્ન નહી કરશું તો આપણેજ જ્ઞાનના વિરોધી ઠરશું. કેમકે જે જેની રક્ષા કરે નહી તે તેનો વિરોધી અથવા અહિતકર હોય છે. એ સાધારણ નિયમ આપણી ઉપર લાગુ પડશે.

'શ્રાવક ભાઇયો, પુરાતન ગ્રંથોનો જીર્ણોદ્ધાર કર્યાંથી તે ગ્રંથોનું અવલોકન થશે, પ્રયાશ વિના કેટલાએક વિદ્યાભ્યાસ થશે, રસ ઉત્પન્ન થઇને જ્ઞાનસંપાદન કરવાની અંતઃકરણમાં ઉત્કંઠા થશે. શુદ્ધ ધર્મ ઉપર પ્રીતિ

વધશે, અભિરૂચિ એટલે પુનઃ પુનઃ જ્ઞાન મેળવવાની ઇચ્છા થશે, અને ઉદ્યોગ પ્રમુખ સર્વ જ્ઞાનનાં સાધનોતો (તો) સહજ પ્રાપ્ત થશે. ઉદ્યોગ એ સર્વ પદાર્થ મેળવવાનું અથવા વૃદ્ધિ કરવાનું મુખ્ય સાધન છે; પરંતુ અમસ્તા ઉદ્યમથી જ કાંઈ થઇ શકતું નથી. તેની સાથે દ્રવ્યની પણ સહાયતા જોયે છે. દ્રવ્ય જે છે તે સર્વોપયોગી પદાર્થ છે. માટે દ્રવ્યવાન પુરૂષોએ અવશ્ય એ ક્રમ ઉપર લક્ષ દેવો જોયે છે. કેમકે તેઓની એ ફરજ છે કે, જેમ બને તેમ જ્ઞાનની વૃદ્ધિ કરવી જોયે છે. તે આ પ્રમાણેઃ-સારા સારા પંડિતોની મારફતે પ્રાચીન ગ્રંથો સુધારી લખાવી અથવા છપાવીને પ્રસિદ્ધ કરવા. તેનો સાત્વિક લોકોને અભ્યાસ કરાવવો. ઇત્યાદિક શાસ્ત્રોમાં કહ્યા પ્રમાણે સર્વ પ્રકારે જ્ઞાનની વૃદ્ધિ કરવી. એવા હેતુથીજ મેં આ ગ્રંથો છપાવવાનું કામ હાથમાં લીધું છે.' (પ્રકરણ રત્નાકર ભાગ ૨, પ્રસ્તાવના)

૧૦૫૦. વિશેષમાં છપાયેલા ગ્રંથો વિશેષ લોકપ્રિય બને તે માટે શાસ્ત્રી લિપિ રાખી સુંદરમાં સુંદર ટાઇપમાં મોટા સુવાચ્ય વર્ણોમાં પાક્કા પુંઠા વાળા દળદાર આકારમાં પ્રકરણ રત્નાકરના ચાર ભાગ, સૂયગડાંગ આદિ આગમો પણ, જૈનકથારત્નકોષના કરવા ધારેલા પંદર ભાગો પૈકી આઠ ભાગ-એ સર્વ લોકો સમજી શકે તેવી ભાષામાં કરેલા અનુવાદ સહિત બહાર પાડચે ગયા. પરિણામ ધારેલું આવ્યું. બહોળો પ્રચાર થયો, ધર્મજ્ઞાન લોકોમાં વધતું ગયું. આ રીતે આ શ્રાવક ભાઇએ સાહિત્યવૃદ્ધિ કરી લોકોપકાર કર્યો છે કારણકે વર્તમાન જૈનોમાં કાંઇક પણ જાગૃતિ-બોધ આપવાની શરૂઆત કરનાર એમના છપાવેલા ગ્રંથો ગણી શકાય. તેઓ સં. ૧૯૪૭ ના જેઠ વદ ૫ ગુરુને રોજ સ્વર્ગસ્થ થયા. એ ભાઇને આયુષ્યે વિશેષ યારી આપી હત, તો તે ખચીત જૈન કોમ ઉપર વિશેષ ઉપકાર કરી શકત. તેઓનો દેહ છુટયા પછી પણ તેમની પેઢી તરફથી યોગશાસ્ત્ર, હરિભદ્રાષ્ટકાદિ પુસ્તકો મૂળ અને અનુવાદ સહિત બહાર પડયાં છે. વળી તેમણે ગૂજરાતી રાસ ચોપાઇઆદિ પણ પ્રકટ કર્યા છે.

૧૦૫૧. **રાય ધનપતસિંહ બહાદુર**—દુગડગોત્રી વૃદ્ધ શાખા વીરદાસ સં. ૧૮૦૨માં પૂર્વ દેશમાં ગયા. તેના પુત્ર બુધસિંહ ને તેના પ્રતાપસિંહ. પ્રતાપસિંહે અને તેમની ધર્મપત્નિ મહતાબકુંવરે સંતતિ થયા પછી ચતુર્થ વ્રત સ્વીકાર્યું હતું ને મહતાબકુંવરે બાર વ્રત ધાર્યા હતા. તેમનાથી બે પુત્ર થયા—એક લક્ષ્મીપતિસિંહ અને બીજા ધનપતિસિંહ. બંગાલ—અજીમગંજના—મકસુદાબાદના આ ધનપતિસિંહને ૪૫ આગમોને છપાવી બહાર પાડવાનો વિચાર થયો. સં. ૧૯૩૩ માં એ વિચારાનુસારે છપાવેલ પ્રશ્ન વ્યાકરણની ટુંક પ્રસ્તાવનામાં બાબુહિંદીમાં જણાવ્યું છે કે:—

'યે પુસ્તક છપાવણેકા કારણ યે હે કે સર્વ જૈન ધર્માવલંબિ સાધવી શ્રાવક શ્રાવિકા કે પઢણે સેં જ્ઞાનકી વૃદ્ધી હોગા ઈસ ખાતર ૪૫ આગમસૂત્ર ઔર ટીકા ઔર બાલાવબોધ સહિત ૫૦૦ પુસ્તક છપાકે ૫૦૦ ઠીકાને ભંડાર કીયા ઈસ્સે મહાન્ જ્ઞાનકા વૃદ્ધી હોગા ઔર પંડત જનોસે એહી પ્રાર્થના હે કે અચ્છી તરેસે પઠે પઢાવે શુણે શુણાવે જયણા કરકે ઔર વિનય કરકે રક્ખે ઔર યહશ્રી સિદ્ધાંન્ત પંચાંગી પ્રમાણ સંગ્રહ કીયા ઔર ઈસમે ચરમ ચક્ષુ કરકે ભલચુક રહ ગયા હોય તો મિચ્છામિદુકડં દેતા હુ ઔર શ્રીસંઘકો યહ વિનતિ હે કી જીસ વખત વાચે ઉસ વખત જો ભુલચુક નીકસે તો પંડત જનોસે સંસોધન કરાય લેવે મેરે પર કૃપા કરકે ઈહ પ્રાર્થના અંગીકાર કરના ઔર ભંડાર કરી ભઈ પુસ્તક કોઈ વેચના નહિ કોઈ ખરીદ કરે નહી કરે તો ૨૪ (તીર્થંકર) કા ગુનેગાર સંઘકા ગુનાગાર હોગા બડા પરિશ્રમસે સંસોધન કરાયા હે ઔર શ્રી (બુટેરાયજી શિ૦) ભગવાનવીજેજીને સંશોધન કરા.'

૧૦૫૨ આમ ૪૫ આગમ છપાવી પ્રસિદ્ધ કરવાના ઉદ્યમ ચાલુ કરવા માટે ધનપતિસિંહ બહાદૂરને ધન્યવાદ છે. ૧૯૩૩માં અભયદેવસૂરિની ટીકાઓ સહિત ઉક્ત પ્રશ્નવ્યાકરણ અને **જ્ઞાતાધર્મ-કથા**, સં. ૧૯૩૬માં ઉવવાઇસૂત્ર (અભયદેવસૂરિની ટીકા ને લોંકાગ-

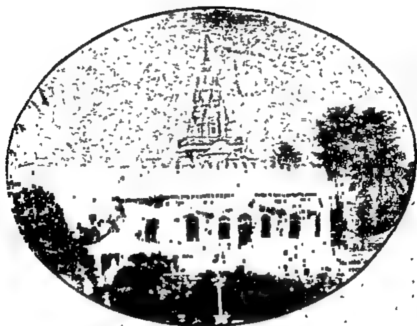
જીના અમૃતચંદ્રસૂરિના બાલાવબોધ સહિત), અનુયોગ દ્વાર (મલ-ધારી હેમચંદ્રસૂરિ કૃત ટીકા અને જીવાઋષિ શિ૦ શોભા ઋષિના શિ૦ મોહનકૃત બાલા૦ સહિત), નંદીસૂત્ર (મલયગિરિની ટીકા અને તેના પર બાલા૦ સહિત), આચારાંગસૂત્ર (શીલાંકસૂરિની ટીકા, જિનહંસસૂરિની દીપિકા, ને પાર્શ્વચંદ્રસૂરિના બાલા૦ સહિત), સૂય-ગડાંગસૂત્ર (શીલાંગસૂરિની ટીકા, હેમવિમલસૂરિની સં. ૧૫૮૩ની દીપિકા ને પાર્શ્વચંદ્રસૂરિના બાલા૦ સહિત) છપાવ્યાં. છેલ્લું ભીમસી માણેક દ્વારા નિર્ણયસાગરમાં છપાવ્યું. અન્ય સર્વ કલકત્તાનાં પ્રેસમાં બાબુનાગરી લિપિમાં છપાવેલ છે. પછી સં. ૧૯૩૭માં ઠાણાંગ અને સમવાયાંગ (અભયદેવસૂરિ કૃત ટીકા અને મેઘરાજ ગણિના બાલા૦ સહિત), ૧૯૩૮માં ભગવતી (અભયદેવસૂરિની ટીકા, રામચંદ્રગણિનો સં. અનુવાદ અને મેઘરાજના બાલા૦ સહિત), ૧૯૪૦માં પન્નવણા (મલયગિરિની ટીકા અને ઋષિ પરમાણંદના બાલા૦ સહિત), ૧૯૪૬માં જંબૂદ્વીપ પ્રજ્ઞપ્તિ (શાંતિચંદ્ર કૃત ટીકા ને ઋષિ ચંદ્રભાણજીના બાલા૦ સહિત) અને સં. ૧૯૪૭માં અણુત્તરોપપાતિક દશા (અભયદેવસૂરિની ટીકા અને ઋષિ કૃષ્ણલાલના સં. અનુવાદ તથા બાલા૦ સહિત) પ્રકટ કરવામાં આવ્યાં. અજીમગંજની જૈન બુક સોસાયટી માટે તેના સં. ૧૯૩૬ના પત્રથી દામથી વેચવા માટે પાંચસો નકલ વધુ કાઢવામાં આવતી હતી ને તેથી પછીથી દરેક પર કિંમત આચારાં-ગસૂત્રથી મૂકવાનું રાખ્યું હતું.

૧૦૫૩ જૈન ધર્મ પ્રસારક સભા—નાં મૂળ ભાવનગરમાં સં. ૧૯૩૯માં સપ્તવ્યસન ત્યાગાદિ પાંચ નિયમો ધારી બનેલા ૧૧ સભ્યોએ જૈન ધ૦ પ્ર૦ મંડળી સ્થાપી નાંખ્યાં. સં. ૧૯૪૦માં નિબંધો લખી છપાવવાની યોજના થઇ અને તેને અંગે સં. ૧૯૪૧ ચૈત્રમાં 'જૈન ધર્મ પ્રકાશ' એ માસિકનો ઉદ્ભવ થયો. ૧૯૪૨માં સંસ્કૃત પાઠશાળા સ્થાપી ને ત્યાર પછી ધર્મ પુસ્તકોનાં ભાષાંતર શાસ્ત્રી પાસે કરવાની પ્રવૃત્તિ ચાલુ થઇ. પુસ્તકાલય ઉભું કર્યું અને મૂલ

સંસ્કૃત પ્રાકૃતાદિ પુસ્તકોના પણ પ્રકાશનનો પ્રબંધ કર્યો. ઉક્ત માસિક અને પુસ્તકપ્રકાશનનું કાર્ય હજુ સુધી ચાલુ છે અને તેથી અનેક લેખો, નિબંધો, પુસ્તકો પ્રકટ થયાં છે જે પૈકી મળી શકયાં તેની નોંધ આ ઇતિહાસમાં લેવાઇ છે. [વિશેષ હકીકત માટે જુઓ તે સભાના રજતોત્સવનો ખાસ અંક. જૈન સાહિત્ય સંશોધક પુ. ૩, અંક ૧ પૃ. ૬૮-૭૮]

૧૦૫૪ 'જૈન ધર્મ પ્રકાશ' એ માસિક પહેલાં નીકળેલ સં. ૧૯૩૨માં શા છગનલાલ ઉમેદચંદની કાર્યવાહી નીચે અમદાવાદમાં 'જૈન દિવાકર' થોડા વર્ષ સુધી અને સં. ૧૯૩૩માં રા. કેશવલાલ શિવરામ તરફથી નીકળેલું 'જૈન સુધારસ' માસિક એક વર્ષ સુધી ચાલ્યું. સં. ૧૯૪૧ના માઘમાસમાં અમદાવાદમાં જૈન નાટકકાર ડાહ્યાભાઇ ધોળશાજીની કાર્યવાહી તળે જૈન ધર્મ પ્રવર્ત્તક સભા તરફથી બે વર્ષ સુધી 'સ્યાદ્વાદ સુધા' પ્રકટ થયું હતું અને તેના પછી ૧૯૪૧ના વૈશાખમાં ભાવનગરમાંજ જૈન હિતેચ્છુ સભા તરફથી પ્રકટેલું 'જૈન હિતેચ્છુ' એક વરસ ચાલ્યું. સં. ૧૯૪૫માં સ્થાનકવાસીઓ તરફથી અમદાવાદના વિસલપુરના રા. **મોતીલાલ મનસુખલાલ**ના અને તેમના પછી તેમના વિદ્વાન વિચારક પુત્ર રા. **વાડીલાલ મોતીલાલ** શાહના તંત્રી પણા નીચે ઘણાં વર્ષો સુધી 'જૈન હિતેચ્છુ' નામનું માસિક ચાલ્યું. ૧૯૪૬-૪૭માં **લીંબડી**માં સ્થાનકવાસી ભાઇઓ તરફથી શરૂ થયેલું 'જૈન ધર્મોદય' બે ત્રણ વરસનું આયુષ્ય ભોગવી આથમ્યું.

૧૦૫૫ સં. ૧૯૪૮ માં મુંબઇમાં શ્રી **માંગરોળ** જૈન સંગીત મંડળીની સ્થાપના થયા પછી તેણે સંગીત સાથે પ્રભુ ભક્તિનાં પદો-ગાયનોની તાલીમ આપવા ઉપરાંત જ્ઞાનશાળા ખોલી ધાર્મિક જ્ઞાન જૈન બાળકોને આપ્યું ને વકતૃત્વ શક્તિ ખીલવવા અર્થે ભાષણશ્રેણીઓ શરૂ કરી, કે જે હજુ સુધી ચાલુ રહી. સં. ૧૯૫૩ માં તેનું નામ શ્રી માંગરોળ જૈન સભા પડયું. તેણે અનેક સામાજિક કાર્યો ઉપાડયાં ને સાહિત્યમાં પણ થોડો ફાળો આપ્યો. મુંબ-



રાય બદ્રિદાસે કરાવેલ જૈન મંદિર, કલકત્તા.

[શ્રી. પૂર્ણચંદ્ર નહારના સૌજન્યથી]

ઇના જૈનોમાં ચેતન રેડનાર આ સંસ્થા છે, કે જે સં. ૧૯૬૫થી શ્રી મુંબઇ માંગરોળ જૈન સભા એ નામથી હજુ કાર્ય કર્યે જાય છે.

૧૦૫૬ સં. ૧૯૫૨માં આત્મારામજી મહારાજ સ્વર્ગસ્થ થયા તેને બીજે માસે તેમના ભક્ત-કેટલાક ભાઇઓએ શ્રી **જૈન આત્માનંદ સભાની** ભાવનગરમાં સ્થાપના કરી. જૈનોમાં જ્ઞાનપ્રચાર તથા ધર્મનાં પુસ્તકોનું પ્રકાશન વગેરે કરવાનો ઉદ્દેશ રાખી પુસ્તકાલય સ્થાપી, સં. ૧૯૫૮માં 'આત્માનંદ પ્રકાશ' નામનું માસિક પ્રકટ કરી, તથા ઉજમબાઇ કન્યાશાળા ઉઘાડી, અનેક મૂળ તેમજ સાનુવાદ પુસ્તકો પ્રકટ કરી સારી સેવા કરી છે અને તેને શ્રી આત્મારામજીના શિષ્ય મંડળનો વિશેષ ટેકો રહેવાથી કાર્યવિસ્તાર વિશેષ પ્રમાણમાં કરી શકી છે. સાહિત્યનાં પ્રકાશનમાં સારો ફાળો આપ્યો છે ને તેણે પ્રકટ કરેલ ગ્રંથો પૈકી લબ્ધ થયા તેની નોંધ આ પુસ્તકમાં લેવાઈ છે.

૧૦૫૭ **ભગુભાઇ ફત્તેહચંદ કારભારી**—મૂળ વતન પેથાપુર. તેમણે અંગ્રેજી શિક્ષણ લઈ ગ્રંથ આદિ બહાર પાડવામાં ચિત્ત દોડાવ્યું. લંડન રાજ્યરહસ્ય બે ભાગ, લંગડો જરવાસ, ગૂજરાતી અંગ્રેજી ડિક્ષનેરી, ઇંગ્રેજી-ગૂજરાતી ડિક્ષનેરી, કુમુદ બહાર પાડયાં. સ્વામી વિવેકાનંદકૃત વ્યાખ્યાનમાળા શરૂ કરી કર્મયોગનું ગૂ. ભાષાંતર સં. ૧૯૫૩ માં પ્રકટ કર્યું. વળી તે એક પત્રકાર હતા. અમદાવાદમાં 'પ્રજાબંધુ' છાપખાનું કાઢી પછી 'પ્રજાબંધુ' પત્ર કાઢયું સં. ૧૯૫૪. સવાવર્ષ તે પત્ર કાઢી રા. ઠાકોરભાઈ ઠાકોરને સોંપ્યું તે અત્યારસુધી ચાલુ છે. આ ઉપરાંત 'સમાલોચક' પત્રના ઉત્પાદક પણ તેઓ હતા; સં. ૧૯૫૯ માં 'જૈન' નામનું જૈનકોમમાં પહેલું અઠવાડિક પત્ર પહેલ વહેલું (૧૨-૪-૧૯૦૩ ના દિને) અમદાવાદમાં પછી મુંબઇ લઈ જઇ પોતાના સ્વર્ગવાસ સુધી (લગભગ સં. ૧૯૬૦ સુધી)

તૂટી પડયો. યવન તોબા તોબા કરી અહીં તહીં ભાગવા લાગ્યો. પરંતુ માર્ગ રોકાઈ ગયા હતા. આથી ઘણી ખરાબ રીતે તેનું લશ્કર મરાયું અને વસ્તુપાલે તેના (तच्छीर्षलक्षैः शकटानि भृत्वा) લાખો મુંડ-માથાં ગાડામાં ભરીને ધોલકામાં લાવી વીરધવલને બતાવ્યાં [રાજશેખર ચ૦ પ્ર૦].૩૮૩

૫૧૯. સોરઠના-(કચ્છ) ભદ્રેશ્વરના રાજા ભીમસેન (ભીમસિંહ)નું સૈન્ય એક વખત ચઢી આવ્યું ને ઘોર યુદ્ધ થયું તેમાં બંને મંત્રીઓ ભારે વીરતાથી લડયા. અંતે સંધિ થતાં યુદ્ધનો અંત થયો.

૫૨૦. વસ્તુપાલને લીલા (લલિતા) દેવી અને વેજલદેવી નામે બે પત્ની હતી. લલિતા દેવી ગુણશાલી અને બુદ્ધિશાળી હોવાના કારણે વસ્તુપાલ તેની ખાસ સલાહ લેતા, અને તેનાથી જયન્તસિંહ (જૈત્ર-સિંહ) નામનો પુત્ર થયો હતો અને તેજપાલને બે સ્ત્રી નામે અનુપમા દેવી અને સુહડા દેવી પૈકી અનુપમા દેવીથી લાવણ્યસિંહ (લૂણસિંહ) નામનો પુત્ર થયો હતો. જયન્તસિંહ ૩૮૪સં. ૧૨૭૯ થી ખંભાતનો સૂબો હતો (ગિરનાર પ્રશસ્તિ) અને તેની પ્રાર્થનાથી બાલચંદ્ર સૂરિએ 'વસંત વિલાસ' મહાકાવ્ય રચ્યું અને તેની આજ્ઞાથી (ખંભાતના) ભીમેશ્વર ભગવાનની યાત્રાના ઉત્સવ પ્રસંગે ખંભાતમાં પહેલવહેલું જયસિંહ સૂરિનું હમ્મીરમદમર્દન નામનું નાટક ભજવાયું હતું. વસ્તુપાલના મૃત્યુ પછી વીશળદેવે- જૈત્રસિંહને તેના શૌર્યથી આકર્ષાઈ પેટલાદનો સૂબો નીમ્યો હતો અને તેણે પોતાના

---

૩૮૩ આ હકીકત લઈ તેના ઐતિહાસિક સત્ય સંબંધે શ્રી રસિકલાલ છોટાલાલ પરીખે 'એક ઐતિહાસિક શ્રુતપરંપરા અને તેની પરીક્ષા' એ નામના લેખમાં યોગ્યવિચારણા કરી છે. જૈ. સા. સં. ૩, ૧ પૃ ૧૫૩ થી ૧૬૦.

૩૮૪. જુઓ ગિરનાર પ્રશસ્તિ. જયન્તસિંહને બે પુત્ર નામે પ્રતાપ-સિંહ અને બીજો હતા તે બંનેના શ્રેય માટે વસ્તુપાલે ખંભાતના કુમાર-વિહારમાં બે દેવકુલિકાઓ બંધાવી હતી.

કાકા તેજપાલના મૃત્યુ પછી તેના સ્મારક તરીકે ચંદ્રોન્માનપુર (આણસમા ?)માં એક જિનમંદિર, સરોવર, ધર્મશાળા, સત્રાલય કરાવ્યાં. (જિનહર્ષ-વસ્તુપાલ ચરિત્ર ૮-૫૯૨-૫૯૩) જૈત્રસિંહને જયતલદેવી, જમ્મણુ દેવી અને રૂપાદેવી નામની ત્રણ સ્ત્રી હતી. લાવણ્યસિંહ સં. ૧૨૯૬ માં ભરૂચનો હાકેમ હતો, તેને રયણાદેવી અને લખમાદેવી નામની બે સ્ત્રીઓ અને ગઉરદેવી નામની એક પુત્રી હતી. તેજપાલને સુહડદેવીથી સુહડસિંહ નામનો બીજો પુત્ર હતો, વળી બઉલદે નામની પુત્રી હતી. સુહડસિંહની બે સ્ત્રીનાં નામ સુહડાદેવી અને સુલખણાદેવી હતાં.

૫૨૧. સં. ૧૨૭૫ વર્ષમાં મંત્રી વસ્તુપાલ અને તેજપાલથી પ્રાગ્વાટ લઘુ શાખા પ્રગટ થઈ;[૩૮૫] એટલે તેમના સમયમાં પોતાની પોરવાડ જ્ઞાતિમાં 'દશા' અને 'વીસા' એ બે ભેદ પડયા. વીસ વસાના-ઉત્તમ-પૂરી યોગ્યતા વાળા તે 'વીસા'; અને તેથી ઓછી યોગ્યતા વાળા તે 'દશા'. [આ દશા વીસાના ભેદ અન્ય વણિક જ્ઞાતિઓમાં અને તે ગૂજરાતમાંજ ધીમે ધીમે દેખા દેતા ગયા, અને સં. ૧૫૧૨ માં તો આ ભેદ જાણીતા થઇ ગયા.][૩૮૬]

૫૨૨. **ધનસંગ્રહ અને તેનો સુકૃત્યોમાં ઉપયોગ**—વસ્તુપાલના પૂર્વજો મંત્રિઓના અધિકાર પર નિયુક્ત રહ્યા હતા અને

---

૩૮૫. જુઓ જૈન કૉ. હેરેલ્ડના સન ૧૯૧૧ના ખાસ અંકમાં મેં આપેલી 'તપાગચ્છ પટ્ટાવલી' અને જૈન સા. સંશોધકના ખંડ ૧ અંક ૩ માં આપેલી 'વીરવંશાવલી'.

૩૮૬. સં. ૧૩૬૧ નું મેરૂતુંગનું પ્રબંધચિંતામણી, સં. ૧૫૭૮ નું સૌભાગ્યનંદી કૃત વિમલચરિત્ર, સં. ૧૭૨૧ માં મેરૂવિજયે રચેલ વસ્તુપાલ તેજપાલ રાસ, સં ૧૮૮૧ માં દીપવિજયે બનાવેલા 'સોહમ કુલરત્નપટ્ટાવલીરાસ'; કાન્હડદે પ્રબંધ આદિ પરથી સ્વ. મણિલાલ બકોરભાઈ વ્યાસનો નિર્ણય જુઓ તેનો ગ્રંથ નામે 'શ્રીમાળી (વાણીઆ)ઓના જ્ઞાતિભેદ.' સં. ૧૯૭૭.

ધર્મપરાયણ હતા. તેના પિતા મંત્રી અશ્વરાજ સંબંધી સોમેશ્વરે લખ્યું છે કે:—

> आनीतं न्यायतो वित्तं व्यसितं धर्मकर्मसु ।
> यशस्तु जगति स्तुत्यं केवलं यस्य तिष्ठति ॥ की. कौ. ३,१९

—જગતમાં તેનો યશ ફેલાય છે કે જેણે ન્યાયથી ધનનો સંગ્રહ કર્યો હોય અને જે ધનને ધાર્મિક કાર્યોમાં વાપરેલું હોય.

૫૨૩. વસ્તુપાલ-તેજપાલ બંને મંત્રીઓ થયા. તેમણે ન્યાયથી ધન મેળવ્યું અને તે ઉપરાંત બીજાં કારણો પણ ધનસંગ્રહનાં મળ્યાં. (૧) એક સમય તેઓ પોતાના ધનને હડાલક (હડાલા-કાઠિયાવાડ) માં એક સ્થાનપર દાટવા જતાં ત્યાં ખોદતાં ભારે ખજાનો મળ્યો. (૨) જ્યારે વસ્તુપાલ સ્તંભતીર્થમાં મંત્રી થઇ ગયો ત્યાં એક મુસલમાન સોદાગર નામે સૈયદ (સિદિક) અતિ ધનવાન રહેતો હતો, તે વસ્તુપાલની આજ્ઞા ન માનતાં સામો થયો ને ભૃગુપુર (ભરૂચ)ના શંખને પોતાની મદદે બોલાવ્યો અને તેને વસ્તુપાલની સામે યુદ્ધ કરવાને તત્પર કર્યો. વસ્તુપાલે શંખને પરાજિત કરી સૈયદને કેદ કરી તેની સંપત્તિનું અપહરણ કર્યું. જ્યારે આ બાબતની સૂચના લવણપ્રસાદને કરવામાં આવી ત્યારે તેણે આજ્ઞા કરી કે જે કંઈ બહુમૂલ્ય હોય તે રાજમાં જમા કરી દેવું. વસ્તુપાલે વિજ્ઞાપન કર્યું કે તે સોદાગર એટલો બધો શ્રીમંત છે કે તેના ઘરની ધૂળ પણ બહુમૂલ્ય છે. રાજાએ ઘરની ધૂળ મંત્રીને સમર્પણ કરી. દૈવયોગે તેજ કાલે સૈયદનાં કેટલાંક વહાણોમાં આગ લાગી અને ઘણો બહુમૂલ્ય ધાતુમય સામાન ધૂળ થઈ ગયો કે જે રાજાની આજ્ઞાનુસાર વસ્તુપાલનું નિજ દ્રવ્ય બન્યું.

૫૨૪. આ બંને મંત્રીશ્વરોના દાનનો લાભ એકલા જૈન ધર્મીઓને મળતો અથવા તેનો વિસ્તાર એકલા ગૂજરાતમાંજ હતો એમ ન હતું. 'દક્ષિણમાં શ્રી શૈલ (શ્રી પર્વત-કાંચીની પાસે), પશ્ચિમમાં પ્રભાસ ઉત્તરમાં કેદાર અને પૂર્વમાં કાશી સુધીમાં-'કોઇ પણ દેશ-

લય ન હતું, કોઇ પણ ધર્મ કે વિદ્યાની સંસ્થા ન હતી કે જેને વસ્તુપાલ તેજપાલની મદદ મળતી ન હોય. સોમેશ્વર મહાદેવના મંદિરને દર વર્ષે દશ લાખ અને કાશી વિશ્વેશ્વરના મંદિરને દરવર્ષે એક લાખની ભેટ ધરાતી. તેજ પ્રમાણે દ્વારકાના મંદિરને પ્રયાગરાજને, ગંગાતીર્થને તથા આબુ ઉપરના અચલેશ્વર મહાદેવને (જુઓ ત્યાંનો ખંડિત લેખ) એક એક લાખ દ્રવ્ય પ્રતિવર્ષ પહોંચાડવામાં આવતું. હિંદુસ્તાનમાં કાંઇકે જાણવા લાયક કે કાંઇકે પવિત્ર ગણાતું એવું એક પણ સ્થળ ન હતું, જ્યાં વસ્તુપાળ તેજપાળને યાદ કરાવે એવું કાંઈ ને કાંઇ ન હોય' (મધપૂડો) આબુની તથા ગિરનારની પ્રશસ્તિમાં અને વસંતવિલાસમાં કથેલ છે કે તેમનાં ખોદાવેલાં કૂવા, વાવ, સરોવર, નવીન બંધાવેલાં અને જૂનાં સમરાવેલાં સ્થાનોનો હિસાબ એક પૃથ્વીજ જાણતી હશે. તેમણે ભરૂચમાં ભૃગુ મહાદેવનું દેવાલય પાંચ લાખ દ્રવ્ય ખર્ચી સમરાવ્યું હતું.

૫૨૫. તીર્થકલ્પમાં જિનપ્રભસૂરિએ વસ્તુપાલસંકીર્ત્તનમાં જણાવ્યું છે કે 'સવા લાખ જિનબિંબો કરાવવા શત્રુંજયતીર્થમાં ૧૮ ક્રોડ ૯૬ લાખ, ગિરિનારતીર્થમાં ૧૨ ક્રોડ ૮૦ લાખ, અર્બુદશિખરે લુણિગવસતિમાં ૧૨ ક્રોડ ૫૩ લાખ ખર્ચ્યાં, ૯૮૪ પૌષધશાલા, ૫૦૦ દંતમય સિંહાસનો, ૫૦૫ જાદરમય સમવસરણો, ૭૦૦ બ્રાહ્મણશાલા, ૭૦૦ સત્રાકાર (સદાવ્રતશાલા), ૭૦૦ તપસ્વિ અને કાપાલિકોના મઠો કરાવ્યાં. ભોજન નિર્વાપાદિદાન સર્વેને કર્યું. ૩૦૦૨ માહેશ્વરાયતનો (શિવમંદિરો), ૧૩૦૪ શિખરબદ્ધ જૈન પ્રાસાદો. ૨૩૦૦ જીર્ણચૈત્યોદ્ધાર કર્યો. ૧૮ કોટિ સુવર્ણવ્યયથી સરસ્વતી ભાંડાગારો ત્રણ સ્થાને ભર્યા, ૫૦૦ બ્રાહ્મણોનો વેદપાઠ કરતો હતો. વર્ષ મધ્યે ત્રણ સંઘપૂજા કરતો. તેના ગૃહે ૧૫૦૦ શ્રમણો નિત્ય વિહાર કરતા. હમેશાં દોઢ સહસ્ર તટિક કાર્પટિકો ભોજન કરતા. ૧૩ તીર્થયાત્રા સંઘપતિ બનીને કરી, તેમાં પ્રથમ યાત્રામાં ૪ સહસ્ર ૫ સો ગાડાં શય્યાપાલકો સહિત, ૭૦૦ સુખાસનો, ૧૮૦૦ વાહિની-પાલખી,

૧૯૦૦ હાથીઓ, ૨૧૦૦ શ્વેતાંબરો, ૧૧૦૦ દિગંબરો, ૪૫૦ જૈન ગાયકો, ૩૩૦૦ બંદિજનો હતાં. ૮૪ તળાવો બંધાવ્યાં; ૪૬૪ થી અધિક વાપિ–વાવ, ૩૨ પાષાણમય દુર્ગ–કિલ્લાઓ, ૨૪ દંતમય જૈન-રથો, ૨૦૦૦ શાકઘટિત–સાગના બનાવેલા (રથો) કરાવ્યા. વસ્તુપાલને સરસ્વતી કંઠાભરણ આદિ ૨૪ બિરૂદો હતાં. ૬૪ મસીત (મસ્જીદ–મુસલમાનોનાં ધર્મસ્થાનો) બંધાવી. દક્ષિણમાં શ્રી પર્વત સુધી, પશ્ચિમમાં પ્રભાસ સુધી, ઉત્તરમાં કેદાર સુધી, પૂર્વમાં વારાણસી સુધી તેનાં કીર્ત્તનો થતાં. સર્વ મળી ૩૦૦ ક્રોડ ૧૪ લાખ ૧૮ સહસ્ર ને ૮ સો લૌકિક ત્રિતયોનાનિ દ્રવ્ય-વ્યય કર્યો. ૬૩ વાર સંગ્રામમાં જૈનપત્ર મેળવ્યું." (આજ પ્રમાણે ચ૦ પ્ર. માં છે) તેનાં ૨૪ બિરૂદની આવલી એ છે કે પ્રાગ્વાટ જ્ઞાતિ અલંકરણ, સરસ્વતી કંઠાભરણ, સચિવ ચૂડામણિ, કૂર્ચાલ સરસ્વતી, સરસ્વતિ ધર્મપુત્ર, લઘુ ભોજરાજ, ખંડેરા, દાતારચક્રવર્ત્તિ, બુદ્ધિ અભયકુમાર, રૂપે કંદર્પ, ચતુરીમાં ચાણાક્ય, જ્ઞાતિગોવાલ, સઈયદવંશક્ષયકાળ, શંખલરાયમાનમર્દન, મંત્રીજા જૈન, ગંભીર, ધીર, ઉદાર, નિર્વિકાર, ઉત્તમજનમાનનીય. સર્વજનશ્લાઘનીય, શાંત, ઋષિપુત્ર, પરનારીસહોદર.

પ૨૬ **લૂણીગવસહિ–લૂણવસહિ.**—તેજપાલે પોતાના પુત્ર લૂણ (લાવણ્ય) સિંહ અને સ્ત્રી અનુપમાદેવીના પુણ્યાર્થે૩૮૭ ભીમદેવ (બીજા) ના મહામંડલેશ્વર આબૂના પરમાર રાજા સોમસિંહ (ઉક્ત-

૩૮૭. अभूदनुपमा पत्नी तेजःपालस्य मंत्रिणः ।
लावण्यसिंह नामायमायुष्मानेतयोः सुतः ॥५९॥
तेजःपालेन पुण्यार्थं तयोः पुत्रकलत्रयोः ।
हर्म्यं श्री नेमिनाथस्य तेने तेनेदमर्बुदे ॥६०॥
—સોમેશ્વરકૃત તે મંદિરનો પ્રશસ્તિ લેખ જિ. ૨, ૮૩.

પરંતુ મેરૂતુંગ પ્ર. ચિં. માં તથા રાજશેખર ચ. પ્ર૦ માં જણાવે છે કે તેમના પૂર્વના સ્વર્ગસ્થ ભાઇ લૂણિગના શ્રેય માટે તે કરાવ્યું તે હકીકત ઉપરની મૂલ પ્રશસ્તિ જોતાં યથાર્થ નથી.

ધારાવર્ષના પુત્ર) ની અનુમતિ લઇ, તે આબૂ ગિરિપરના દેલવાડા ગામમાં વિમલવસહિ પાસે જ તેના જેવી જ ઉત્તમ પ્રકારની કોરણીવાળા આરસપાણનું, મૂલ ગભારો—ગૂઢમંડપ—નવચોકીઓ—રંગમંડપ—બલાનક (દ્વારમંડપ)—ખત્તક (ગોખલા), જગતિ (ભમતી) ની દેરીઓ અને હસ્તિશાલા વગેરેથી સુશોભિત, કરોડો રૂપીઆ ખર્ચીને લૂણસિંહ (લૂણીગ) વસહિકા નામનું નેમિનાથ પ્રભુનું ભવ્ય મંદિર કરાવ્યું. સં. ૧૨૮૮. તેમાં સ્તંભતીર્થમાં અંજનશલાકા કરાવેલું એવું કસોટીના પથ્થરનું બિંબ સ્થાપિત કર્યું.૩૮૮ અને તેની પ્રતિષ્ઠા (પોતાના પિતૃ પક્ષના ગુરૂ) નાગેન્દ્રગચ્છના મહેન્દ્રસૂરિ—શાન્તિસૂરિ—આનંદ અને અમરસૂરિ—હરિભદ્રસૂરિના શિષ્ય વિજયસેનસૂરિ પાસે સં. ૧૨૮૭ના (ગૂ.) ફાગણ (મારૂ) ચૈત્ર વદિ ૩ રવિવારે બહુ આડંબર ને ધામધૂમથી કરાવી. તે મંદિરના ગૂઢમંડપના મુખ્ય દ્વારની બહાર નવ ચોકીઓમાં દરવાજાની બંને બાજુમાં ઉત્તમ પ્રકારની કોરણીવાળા બે ગોખલા પોતાની બીજી સ્ત્રી સુહડાદેવીના કલ્યાણ માટે કરાવ્યા (કે જેને લોકો 'દેરાણી જેઠાણીના ગોખલા' કહે છે), અને ભમતીની દેરીઓમાંની ઘણીખરી દેરીઓ પોતાના ભાઇઓ, ભોજાઇઓ, બહેનો, પોતાના તથા ભાઇઓના પુત્રો, પુત્રવધૂઓ તથા પુત્રીઓ વગેરે પોતાના સમસ્ત કુટુંબના કલ્યાણાર્થે કરાવી, જ્યારે થોડી દેરીઓ પોતાના વેવાઇઓ અને બીજા પરિચિત સંબંધીઓએ કરાવી. બધી દેરીઓની પ્રતિષ્ઠા વિ. સં. ૧૨૮૭ થી લઇને ૧૨૯૩ સુધીમાં થઈ ગઈ હતી અને ઉક્ત બે ગોખલાની સં. ૧૨૯૭ માં થઈ. આ મંદિરનો બાંધનાર શોભનદેવ નામનો સૂત્રકાર હતો. તેની પૂજા આદિને માટે આબૂના

૩૮૮. वैक्रमे वसु वस्वर्क मितेऽब्दे नेमिमंदिरम् ।
निर्ममे लूणीगवसत्याह्व यं सचिवेन्दुना ॥
कषोपलमयं बिंबं श्री तेजःपाल मंत्रिराट् ।
तत्र न्यास्थरस्तंभतीर्थे निष्पन्नं दृक् सुधांजनम् ॥
—જિનપ્રભસૂરિકૃત અર્બુદકલ્પ.

(પારા ૫૦૧માં ઉક્ત ધારાવર્ષના પુત્ર) પરમારરાજા સોમસિંહે બારઠ પરગણાનું ડબાણી ગામ ઉક્તમંદિરને ભેટ કર્યું. એ. ઇ. વૉ. ૮ પૃ. ૨૨૨ (ઓઝા રા. ઇ. ૧-૧૭૯). વળી મંત્રીએ તેની વિશેષ સુવ્યવસ્થા કરી.[૩૮૯] આ મંદિર સ્થાપત્યના અદ્દ્ભુત કૌશલનાં નમુના રૂપે જગતમાં પંકાયેલ છે. 'મધ્યયુગમાં ભારતનું શિલ્પ જૈનસંઘે જાળવ્યું' એ કથન આ બંને ભાઇઓ તથા પૂર્વે વિમલશાહનાં આબૂપરનાં જૈન મંદિરોના પ્રતાપેજ સત્ય થયું છે.[૩૯૦] આ મંદિરને હાલ લોકો 'તેજપાલનું મંદિર' પણ કહે છે અને અંગ્રેજો Delwara Temples કહે છે.

---

૩૮૯. આ મંદિરની રક્ષા માટે તથા વાર્ષિક પર્વોને દિવસે પૂજા-મહોત્સવ વગેરે કાયમ ચાલુ રહે તે માટે કાળજીભરી સુવ્યવસ્થા તેજપાલે કરી હતી તે તેના શિલાલેખો પરથી જણાય છે, પોતાના વારસો તથા ભાઇ ભોઇઓના વંશવારસો સર્વ પ્રકારની દેખરેખ રાખે તથા પૂજાદિ હમેશાં કરે કરાવે ચાલુ રાખે, મંદિરની વર્ષગાંઠ પ્રસંગે આઠ દિનના—ફા૦ વદ ૩ થી તે ફા૦ વદ ૧૦ અમુક અમુક ગામના મહાજનજનો ઉત્સવ કરે અને નેમિનાથ ભ૦ ના પાંચે કલ્યાણકના દિને દેઉલવાડાના શ્રાવકો મહોત્સવ કરે એમ ઠરાવ્યું હતું. આ મંદિરના પ્રતિષ્ઠા મહોત્સવ વખતે ઉક્ત ચંદ્રાવતીના રાજા સોમસિંહ, તેના યુવરાજ કાન્હડ (કૃષ્ણરાજ) તથા બીજા કુમારો, રાજ્યના અધિકારીઓ, ચંદ્રાવતીના સ્થાનપતિ ભટ્ટારક આદિ, ગૂગલી બ્રાહ્મણ, સમસ્ત મહાજન, તથા આબૂ ઉપરના બધાં ગામોમાં રહેનારા સ્થાનપતિ, તપોધન, ગૂગલી બ્રાહ્મણ રાઠિય આદિ તમામ લોકો અને બીજા ગામના પ્રતિહાર-વંશી રાજપૂતો હાજર હતા તે વખતે ઉક્ત વ્યવસ્થા કરવામાં આવી, અને તે પ્રસંગે તે રાજા સોમસિંહે બારઠ પરગણાનું ડબાણી ગામ બજવાનની પૂજા આદિને માટે ઉક્ત મંદિરને અર્પણ કર્યું અને તે હમેશાં કબજે રાખવા માટે પરમારવંશના રાજાઓને વિનતિપૂર્વક તેમણે ફરમાન કર્યું હતું.

૩૯૦. આ લૂણવસહિના સંબંધે ભારતીય શિલ્પના પ્રસિદ્ધ જ્ઞાતા મિ. ફર્ગ્યુસને પોતાના 'Pictures and Illustrations of Ancient Architecture in Hindustan' નામના ગ્રંથમાં લખ્યું છે કે 'આ મંદિર કે જે સંગેમરમરનું બનેલું છે, તેમાં અત્યંત પરિશ્રમ સહન કરનાર

૫૨૭. જે જે સુકૃત્યોની સાલવાર નોંધ શિલાલેખો આદિથી મળે છે તે એ છે કે સં. ૧૨૪૯–૫૦ માં સંઘપતિ તરીકે અશ્વરાજ (પોતાના પિતા) સાથે વસ્તુપાલે શત્રુંજય અને ગિરનારની યાત્રા કર્યા પછી પોતાને મંત્રીપદ મળ્યું. ત્યારબાદ પોતે સંઘાધિપતિ તરીકે થઇ સં. ૧૨૭૭માં વસ્તુપાલે શત્રુંજય અને ગિરનારની યાત્રાઓ કરી. ૧૨૭૮માં આબુ પર્વતપર વિમલવસતિમાં મલ્લદેવના પુણ્યાર્થે મલ્લિનાથનો ગોખલો બંધાવ્યો. ૧૨૮૩–૯૩માં શત્રુંજયની અગિયાર યાત્રાઓ કરી. ૧૨૮૪ માં તારંગા પર્વત પરના અજિતનાથના મંદિરમાં પદ્માવતીની મૂર્તિ કરાવી અને સં. ૧૨૮૫ માં ત્યાં બે ગોખલા બંધાવ્યા. ૧૨૮૫ (૮ ?) માં સેરીસામાં નેમનાથ અને મહાવીરના બે ગોખ બંધાવ્યા. ૧૨૮૬ માં આબુ પર મંદિર બાંધવાનો આરંભ કર્યો, અને ૧૨૮૭ માં તે આબુના મંદિરમાં પ્રતિષ્ઠાની ક્રિયાઓ કરી. ૧૨૮૮ માં ગિરનાર પર્વત પર પ્રતિમાપ્રતિષ્ઠા, ૧૨૮૯ માં ખંભાતમાં પૌષધશાળા, (ના. ૨ નં. ૧૭૯૩) ૧૨૮૯ થી ૯૩ માં આબુ પર કેટલીક દેવકુલિકાઓ બંધાવી. ૧૨૯૨ માં આબુના મંદિરોનું કામ પૂરૂં થયું. ૧૨૯૨ માં ખંભાત પાસેના (? મારવાડના) ગામ નગરામાં સૂર્યના

હિંદુઓના ટાંકણાથી 'ફીતે' જેવી બારીકીસહિત એવી મનોહર આકૃતિઓ બનાવવામાં આવી છે કે તેની નકલ કાગળ પર બનાવવામાં પણ કેટલોયે સમય અને પરિશ્રમ લેતાં છતાં હું સફલ થઇ શક્યો નથી.'–ઓઝાજી રા. ઇ. ૧ પૃ. ૨૩–૨૪. વસ્તુપાલચરિતમાં જિનહર્ષ જણાવે છે કે અહીં આવી પ્રશસ્તિ લખાયેલી છે: 'શ્રી તેજપાલ મંત્રીએ શંખ સમાન ઉજ્જવળ એવી શિલાઓથી સ્ફુરાયમાન ચંદ્ર તથા કુંદપુષ્પસમાન વિશદ એવો આગળના ભાગમાં ઉંચો મંડપ, પાર્શ્વભાગમાં બાવન જિનાલયો અને સામે બલાનક છે એવું શ્રી નેમિપ્રભુનું મંદિર કરાવ્યું. શ્રી અર્બુદાચલ પર તેજપાલ મંત્રીએ કરાવેલા શ્રી નેમિચૈત્યમાં શોભીતાં તોરણો, બેઠકના ઓટલા, વિચિત્ર કોરણી તથા ચંદ્રસમાન વિશુદ્ધ પાષાણના વિવિધ મંડપોની રચનાને જોઇને લોકો પોતાની દૃષ્ટિ સદાને માટે સફળ માનવા લાગ્યા.' ગૂ. ભા. પૃ. ૨૭૯

મંદિરમાં રત્નાદેવીની બે પ્રતિમાઓની સ્થાપના (ના. ૨, નં. ૧૭૧૩-૪) અને સં. ૧૨૯૭ માં આબુ પર તેજપાલે બે દેવકુલિકાઓ બંધાવી. (આ સર્વ શિલાલેખો મળવાથી સાલવાર મુખ્યત્વે જૈનધર્મનાં સુકૃત્યો છે, (વસન્તવિલાસ પ્રસ્તાવના.)

૫૨૭. પરંતુ તે સિવાયનાં તે ધર્મનાં તેમજ અન્ય ધર્મનાં સ્થલવાર સુકૃત્યો આ પ્રમાણે છેઃ—અણહિલવાડ પાટણમાં વનરાજના પંચાસરા પાર્શ્વનાથના મંદિરનો પુનરૂદ્ધાર. ખંભાતમાં ભીમેશના મંદિરમાં સુવર્ણ દંડ તથા કળશ ચડાવ્યાં, ભટ્ટાદિત્ય પાસે ઉત્તાનપટ્ટનું ઉભું કરવું અને તેના મસ્તકે સુવર્ણહાર ચઢાવ્યો, ભટ્ટાર્કવહક નામે વનમંદિરમાં કૂવો ખોદાવ્યો, સૂર્યદેવ બકુલના મંદિર પાસે મંડપ કરાવ્યો, વૈદ્યનાથના મંદિર અને તેના મંડપને સમરાવ્યાં, છાશ તથા દહીંના વિક્રયસ્થળે તેમાં જીવજંતુ પડતાં બચે તે સારૂ ઉંચા દિવાલની વાડો બાંધી આપી, બે ઉપાશ્રય, તથા ગવાક્ષો સહિત પાણીની પરબ બંધાવ્યાં. ધોલકામાં આદિનાથનું મંદિર, બે ઉપાશ્રય, વાવ ને પાણીની પરબ એટલાં બંધાવ્યાં અને ભટ્ટાર્ક રાણક નામે મંદિરને સમરાવ્યું. શત્રુંજય પર્વતપર, આદિનાથના મંદિર આગળ ઇંદ્રમંડપ, નેમિનાથ ને સ્તંભન પાર્શ્વનાથના મંદિર બંધાવ્યાં તથા સરસ્વતી દેવીની પોતાના બાપદાદાઓની તથા હાથી ઉપરની પોતે બે ભાઇઓ તથા વીરધવળની મૂર્તિઓ કરાવી; વળી ત્યાં ગિરનારનાં ચાર શિખરો નામે અવલોકન અંબા, શાંબ, અને પ્રદ્યુમ્નની શિલ્પમય રચનાઓ, આદિનાથ મંદિર પાસે તોરણ તથા આદિનાથની મૂર્તિ આગળ સુવર્ણ અને રત્નમય પૂર્વપટ્ટ અને સુવર્ણ તોરણ બનાવ્યા, તથા ત્યાં ભરૂચના સુવ્રતસ્વામી અને સાચોરના વીર મંદિરના અવતારરૂપે મંદિરો ચણાવ્યાં. પાલીતાણાની નજીકમાં એક મોટું તળાવ, (વસ્તુપાલનું લલિતા સરોવર) અને બીજું (તેજપાલનું), અનુપમા સરોવર), એક ઉપાશ્રય અને એક પાણીની પરબ કરાવ્યો. અંકેવાલીયા ગામમાં એક તળાવ કરાવ્યું. ગિરનાર પર્વતપર સ્તંભન પાર્શ્વ અને શત્રુંજયના આદીશ્વરનાં મંદિર

બંધાવ્યાં. સ્તંભનમાં (ઉમરેઠ પાસેના થામણામાં) પાર્શ્વનાથનું મંદિર સમરાવ્યું અને તેની પાસે બે પરબ બંધાવી, ડભોઇમાં વૈદ્યનાથના શૈવમંદિર ઉપરથી માલવાના રાજાએ જૂનાં સુવર્ણનાં શિખરો ઉપાડી જવાથી નવાં સુવર્ણ શિખર ચડાવ્યાં અને સૂર્યદેવની નવી મૂર્ત્તિ પધરાવી. આબુ પર્વત પર પોતાના મોટાભાઇ મલ્લદેવના ધર્મકલ્યાણ માટે મલ્લીદેવનો ગોખલો બંધાવ્યો. [આ સુકૃત સંકીર્ત્તનમાંથી લખ્યું છે. વિશેષ જિનપ્રભના તીર્થકલ્પમાંથી અને વધુ વિસ્તારમાં જિનહર્ષના વસ્તુપાલ ચરિતમાંથી જોઈ લેવું.] જુવો ના. ૨, નં. ૧૭૮૮–૧૭૯૨.

૫૨૮. ભરૂચમાં ત્યાંના પ્રસિદ્ધ શકુનિકા વિહાર નામના મુનિસુવ્રત સ્વામીના મંદિરની યાત્રાએ એક વખત તેજપાલ ગયો ત્યારે તે મંદિરના આચાર્ય વીરસૂરિના શિષ્ય જયસિંહસૂરિએ તેની સ્તુતિ કરી આંબડના (પારા ૩૮૫) ઉદ્ધરેલા શકુનિકા વિહારમાંની પચીસ દેવકુલિકા માટે સુવર્ણધ્વજ બનાવરાવવા કહેતાં વસ્તુપાલની સંમતિથી તેજપાલે પચીસ સુવર્ણધ્વજ દંડ કરાવી આપ્યા. તેથી તે દાન માટે ઉક્ત જયસિંહસૂરિએ એક સુંદર લાંબું પ્રશસ્તિકાવ્ય રચ્યું અને તે મંદિરની ભીંતમાં કોતરવામાં આવ્યું. (જોકે તે શકુનિકા વિહારની મસ્જીદ પછી મુસલમાનોએ બનાવી, છતાં તેની નકલ હમ્મીરમદ મર્દનકાવ્યની પ્રતને અંતે સચવાઇ રહેલી મળેલી છે જુઓ પારા ૫૫૨.)

૫૨૯. મહાયાત્રા—સર્વ મળી વસ્તુપાલે ૧૩ યાત્રા કરી. પોતાના પિતા સંઘપતિ આશરાજ સાથે સં. ૧૨૪૯ અને સં. ૧૨૫૦ માં શત્રુંજય અને ગિરિનારની યાત્રા કરી. પોતે સંઘપતિ બની સપરિવાર તે બંનેની યાત્રા સં. ૧૨૭૭, ૧૨૯૦, ૧૨૯૧, ૧૨૯૨ અને ૧૨૯૩ માં કરી અને તે ઉપરાંત એકલા શત્રુંજયની સાત યાત્રા સપરિવાર સં. ૧૨૮૩, ૮૪, ૮૫, ૮૬, ૮૭, ૮૮, અને ૮૯ માં કરી. પોતાના મરણ પહેલાં જે શત્રુંજયની મહાયાત્રા કરી તેનું વર્ણન વસંતવિલાસના ૧૩મા સર્ગમાં કરેલું છે ને છેવટની ૧૩ મી યાત્રા–પ્રયાણનું ટુંક વર્ણન તેના છેલ્લા સર્ગમાં આપ્યું છે; માર્ગમાં સં.

૧૨૯૬ ના માઘ માસની પંચમી તિથિ રવિવારે સ્વર્ગગમન કર્યું. યાત્રાનું સવિસ્તર વર્ણન ઉદયપ્રભસૂરિના ધર્માભ્યુદય કાવ્ય અપરનામ સંઘપતિ ચરિતમાં મળશે.

૫૩૦. એમ કહેવાય છે કે એક સમયે બંને ભાઇઓ એવું વિચારી રહ્યા હતા કે આપણા ધનનો શું ઉપયોગ કરીએ? ત્યારે તેમને એક સાધુ કવિએ અન્યોક્તિરૂપે નીચેનો શ્લોક સંભળાવ્યોઃ—

कोशं विकाशय कुशेशय संश्रितालौ
प्रीतिं कुरुष्व यदयं दिवसस्तवास्ते ।
दोपोदये निबिडराजकरप्रतापे
ध्वान्तोदये तव समेष्यति कः समीपम् ॥

આશય—હે કમલ ! અત્યારે દિવસ છે, તો તું તારી કળીને ખીલવ અને તારો આશ્રય લેનાર ભ્રમર પર પ્રેમ કર. અરે ! જ્યારે રાત થઇ જશે અને અંધારૂં ફેલાઇ જશે અથવા ચંદ્રમાનાં કિરણો તને દુખદાયી કરશે ત્યારે ભલા તારી પાસે કોણ આવશે?

એટલે કે, તું તારા કોશ-ખજાનાને પ્રકાશિત કર, તારા આશ્રિતોમાં ધનને વહેંચ, અત્યારે તારા સમૃદ્ધ દિવસ છે. જ્યારે તારા દોષનો ઉદય થશે અને રાજાની ક્રૂર દૃષ્ટિ થશે ત્યારે કોણ તારી પાસે આવશે?



પ્રકરણ ૪ થું.

વસ્તુ–તેજયુગમાં સાહિત્યપ્રવૃત્તિ

[સં. ૧૨૭૫ થી સં. ૧૩૦૩]

पीयूषादपि पेशलाः शशधरज्योत्स्नाकलापादपि
स्वच्छा नूतनचूतमंजरिभरादप्युल्लसत्सौरभाः ।
वाग्देवीमुखसामसूक्त विशदोद्गारादपि पांजलाः
केषां न प्रथयन्ति चेतसि मुदं श्री वस्तुपालोक्तयः ॥

—અમૃતથી પણ મધુર, ચંદ્રમાની ચાંદનીના સમૂહથી પણ સ્વચ્છ, નૂતન આમ્રમંજરીના ઢગથી પણ વિશેષ ઉઠતી સુગંધવાળી અને સરસ્વતીના મુખના સામસૂક્તિઓના શુદ્ધ ઉદ્ગારો કરતાં પણ મનોરમ એવી શ્રી વસ્તુપાલની ઉક્તિઓ કેના ચિત્તમાં પ્રમોદ પ્રસારતી નથી?

—રાજશેખર પૃ. ૯૨, જિનહર્ષ પૃ. ૮૩, ઉપદેશતરંગિણી પૃ. ૭૦.

૫૩૧. વસ્તુપાલ વીર પુરૂષ હતો એટલુંજ નહિ પરંતુ પ્રસિદ્ધ વિદ્વાન પણ હતો–કવિ હતો. તેણે **નરનારાયણાનંદ** નામનું કાવ્ય (પ્ર. ગા. ઓ. સી. નં. ૨) ૧૬ સર્ગમાં રચ્યું, તેમાં પોતાનું નામ કર્તા તરીકે કવિ હરહર અને **સોમેશ્વરે** આપેલ 'વસન્તપાલ' રાખેલ છે (જુઓ સર્ગ ૧૬–૩૮) અને તેજ નામ પરથી **બાલચંદ્રસૂરિએ** તેના ચરિત્રરૂપ 'વસંતવિલાસ' નામનું મહાકાવ્ય રચ્યું. આ **નરનારાયણાનંદ** કાવ્યમાં કૃષ્ણ અને **અર્જુનની** મિત્રતા, બંનેનો ગિરિનારપર આનંદવિહાર, **અર્જુનદ્વારા** સુભદ્રાનું કૃષ્ણે કરાવેલું હરણ–એ **મહાભારતમાંથી** લીધેલ વિષય છે, અને તેમાં મહાકાવ્યનાં બધાં લક્ષણો કવિ **માઘકૃત શિશુપાલવધના** નમુના પ્રમાણે સમાવ્યાં છે. તેનો રચનાકાળ સં. ૧૨૭૭ થી ૧૨૮૭ ની મધ્યમાં અનુમાનાય છે; આની પહેલાં સંસ્કૃતમાં **આદિજિનેશ્વર** મનોરથમય સ્તોત્ર રચ્યું હતું. (જુઓ નરનારાયણાનંદ ૧૬–૨૯. તેની પરિશિષ્ટમાં મુદ્રિત) તથા

અંબિકાસ્તવન રચ્યું (જુઓ જૈનસ્તોત્ર સમુચ્ચય પૃ. ૧૪૩) તેણે અનેક સૂક્તિઓ બનાવી હતી કે જે પૈકી કેટલીકનાં અવતરણ યાદવ રાજા કૃષ્ણના સૈન્યના અને હાથીઓના ઉપરી જહ્લણે પોતાના સૂક્તિમુક્તાવલી નામના ગ્રંથ કે જેમાં હેમચંદ્ર, સિદ્ધરાજ, શ્રીપાલ, સોમપ્રભ, અરસિં (અરિસિંહ) ઠક્કુર, વિજયપાલ વગેરે ઘણા કવિઓનાં કાવ્યોને સ્થાન મળ્યું છે તેમાં, પ્રબંધચિંતામણિ, ચતુર્વિંશતિ પ્રબંધ, સારંગધર પદ્ધતિમાં લેવાયાં છે. સોમેશ્વરના ઉલ્લાસરાઘવ-પરથી[૩૯૧] જણાય છે કે વસ્તુપાલને સૂક્તિઓ રચવાનો શોખ હતો; અને વિશેષમાં વસ્તુપાલની કવિ તરિકેની ખ્યાતિ ફક્ત ગૂજરાતમાંજ નહીં પણ ચારે દિશાએ પ્રસરવા પામી હતી. તેનાં બિરૂદો પણ તે વાત સિદ્ધ કરે છે. પોતે પોતાને સરસ્વતીપુત્ર-વાગ્દેવીસૂનુ (સરખાવો શારદા પ્રતિપન્નાપત્ય-ગિરનારપ્રશસ્તિ), જણાવે છે. બીજાં બિરૂદો કાવ્યદેવી પુત્ર (ગિરનાર પ્રશસ્તિ) 'કવિકુંજર' 'કવિચક્રવર્તિ' 'મહાકવિ વગેરે હતાં અને આબૂની પ્રશસ્તિમાં સોમેશ્વરે તેને 'શ્રેષ્ઠ કવિ' વર્ણવેલો છે. એક કવિએ पीयूषादपि पेशला એ શ્લોકથી તેની સૂક્તિઓનું વર્ણન કર્યું છે. તે આ પ્રકરણની આદિમાં મૂકેલ છે.

૫૩૨. વસ્તુપાલ મહાકવિ હતો છતાં તેનામાં તે માટે અભિમાન ન્હોતું; એ વાત પોતાના નરનારાયણાનંદમાં છેવટે આપેલ નમ્રતાભર્યા શ્લોકપરથી સ્પષ્ટ જણાય છે.

उद्भास्वद् विश्वविद्यालयमयमनसः कोविदेन्द्रा वितन्द्रा
मन्त्री बद्धांजलि र्वो विनयनतशिरा याचते वस्तुपालः।
अल्पप्रज्ञाप्रबोदादपि सपदि मया कल्पितेऽस्मिन्प्रबन्धे
भूयो भूयोऽपि यूयं जनयत नयनक्षेपतो दोषमोषम्॥

—પ્રકાશવન્તા વિશ્વવિદ્યાનાં સ્થાનરૂપ જેનાં મન છે એવા હે વિતન્દ્ર કોવિદો! આપને હસ્તાંજલિ જોડી વિનયથી શિર નમાવી વસ્તુપાલ મંત્રી

૩૯૧. अंभोजसंभवसुता वक्त्रांभोजेऽस्ति वस्तुपालस्य।
यद्वीणारणितानि श्रूयन्ते सूक्तिदंमेन॥ ઉ० રા० ૮ મો સર્ગ.

યાચના કરે છે કે અલ્પમતિજ્ઞાનથી પણ એકદમ મેં કલ્પેલા આ પ્રબંધમાં આપ વારંવાર દૃષ્ટિક્ષેપ કરી દોષને દૂર કરશો.

૫૩૩. તેનામાં ટીકાકારની-સમાલોચકની, કાવ્યના ગુણ દોષ પારખવાની અને બીજાઓનાં કાવ્યોની ભૂલો શોધી કાઢવાની વિવેચક શક્તિ હતી. સુંદર કાવ્યકલાને તે હમેશાં પ્રશંસતો, જ્ઞાનના પ્રચાર અને ઉદ્ધાર માટે બહુ ચીવટ રાખતો. અઢાર કરોડ રૂપીઆના મોટા ખર્ચે ત્રણ પુસ્તકાલયો (ભંડાર) કરાવ્યાં હતાં.[૩૯૨]

૫૩૪. તે કવિઓનો આશ્રયદાતા હતો. રાજપુરોહિત **સોમેશ્વર** આદિ કવિઓને ભૂમિ આદિ દાનથી પુષ્કળ આજીવિકા કરી આપી હતી તે કૃતજ્ઞતા પ્રકાશવા માટે **સોમેશ્વરે** એક શ્લોક કહ્યો હતો કેઃ-

सूत्रे वृत्तिः कृता पूर्वं दुर्गसिंहेन धीमता ।
विसूत्रे तु कृता तेषां वस्तुपालेन मंत्रिणा ॥

આશય-પૂર્વકાલમાં બુદ્ધિમાન્ દુર્ગસિંહે સૂત્રોમાં (વ્યાકરણનાં સૂત્રોમાં) વૃત્તિ (વ્યાખ્યા) કરી, પરંતુ અદ્‌ભુત તો એ છે કે **વસ્તુપાલે** વિસૂત્રોમાં (સૂત્રોની રચના કર્યા વગર પણ) વૃત્તિ (આજીવિકા) કરી આપી.

૫૩૫. **સોમેશ્વર**-પોતાના **સુરથોત્સવ** કાવ્યમાં પોતાનો પરિચય આપતો કવિપ્રશસ્તિવર્ણન નામનો સર્ગ છે તે પરથી જણાય છે કે તેના પૂર્વજો ચૌલુક્ય **મૂલરાજ**થી રાજપુરોહિત તરીકે કામ કરતા

---

૩૯૨. अष्टादश कोटिसुवर्णव्ययेन सरस्वतीभाण्डागाराणां स्थानत्रये भरणं कृतम् ।-જિનપ્રભસૂરિના તીર્થકલ્પમાંના વસ્તુપાલ સંકીર્તનમાંથી. સ્વ૦ ચી૦ દલાલે 'પાટણના ભંડારો' નામના લેખમાં જણાવ્યું છે કે 'વસ્તુપાલના સ્થાપેલા ભંડારોનો નાશ મુસલમાનોના હાથે થયો જણાય છે. શેઠ હાલાભાઇના તાડપત્રના સંગ્રહમાં શ્રી ચંદ્રસૂરિની બનાવેલી જીતકલ્પવૃત્તિની સંવત્ ૧૨૮૪માં ઉતારેલી પ્રત મળી આવે છે તેને છેવટે વસ્તુપાલની સ્તુતિમાં બનાવેલ શ્લોકો મળી આવે છે; તેથી આ વસ્તુપાલના ભંડારમાંની એક પ્રત હોય એમ ધારી શકાય છે.'

વંશપરંપરા ચાલ્યા આવ્યા છે. મૂળ પુરૂષ સોલ તે ગુલેવા કુલનો બ્રાહ્મણ, તે દ્વિજોના 'નગર' (આનંદપુર-વડનગર) માં રહેતો તે મૂલરાજનો પુરોહિત થયો. તેનો પુત્ર લલ્લશર્મા ચામુંડરાજનો, અને તેનો પુત્ર મુંજ દુર્લભરાજનો પુરોહિત હતો. તેનો પુત્ર સોમ-તેનો પુત્ર આમશર્મા કર્ણનો પુરોહિત હતો. તેનો પુત્ર કુમાર સિદ્ધરાજનો પુરોહિત હતો અને તેનો પુત્ર વિષ્ણુનો ઉપાસક સર્વદેવ (૧)-તેનો આમિગ ને તેનો સર્વદેવ (૨જો) એ કુમારપાલનાં ફૂલ ગંગાજીમાં નાંખ્યા. સર્વદેવ (૨) ના નાનાભાઇ કુમાર (બીજા) એ ઘવાયેલ અજયપાલની વ્યથા દૂર કરી. તે રાષ્ટ્રકૂટ વંશના પ્રતાપમલ્લનો પ્રધાન બન્યો ને પછી ચૌલુક્ય રાજાનો સેનાપતિ પણ થયો હતો. તેને લક્ષ્મી નામની સ્ત્રીથી ત્રણ પુત્ર નામે મહાદેવ, સોમેશ્વર અને વિજય થયા તે પૈકી સોમેશ્વરે યામાર્ધ (દોઢ કલાક) માં એક નાટક અને એક સુંદર ભાવપૂર્ણ કાવ્યની રચના કરીને ભીમ (ભોળાભીમ) ની સભાના સભ્યોને પ્રસન્ન કર્યા. (આ કાવ્યનું શું નામ હતું તે જણાતું નથી) ત્યાર પછી તે વીરધવલનો રાજપુરોહિત થયો. તે વસ્તુપાલનો આશ્રિત કવિ હતો. વસ્તુપાલે અનેક વખત જાગીર વગેરે બક્ષીસ તેને આપી હતી. તેના ગ્રંથો ૧ સુરથોત્સવ-૧૫ સર્ગનું ૧૧૮૭ શ્લોકનું કાવ્ય. આનો વિષય માર્કંડેય પુરાણના દેવીમાહાત્મ્ય યા સપ્તશતી ચંડી આખ્યાનમાંથી લીધો છે અને તેની શૈલીપર લખાયું છે (ગ્ર૦ કાવ્યમાલા નિ. પ્રેસ.) ૨. રામશતક-(તેની ડા. ભાંડારકરને ૧૨ પત્રની પ્રતિ પ્રાપ્ત થઇ છે) ૩ ઉલ્લાઘરાઘવ-નાટક કે જેના દરેક અંકને અંતે એક શ્લોક વસ્તુપાલની પ્રશંસાનો લખ્યો છે. ૪ કીર્તિકૌમુદી-૯ સર્ગનું ૭૨૨ શ્લોકનું મહાકાવ્ય તેમાં વસ્તુપાલની કીર્તિકૌમુદીનું પ્રધાનતઃ વર્ણન છે અને તે આપતાં આદિના શ્લોકોમાં વાલ્મીકિ, વ્યાસ, કાલિદાસ, માઘ, ભારવિ, બાણ, ધનપાલ, બિલ્હણ, હેમસૂરિ, નીલકંઠ, પ્રલ્હાદનદેવ, નરચંદ્ર, વિજયસિંહ, સુભટ, યશોવીર અને વસ્તુપાલની પ્રશંસાના ચમત્કૃત શ્લોક લખ્યા

છે. વિશેષમાં મૂલરાજથી લઇ વીરધવલ સુધીનું વૃત્તાંત છે. આથી આ એક ઐતિહાસિક કાવ્ય છે. તે લગભગ સં. ૧૨૮૨ માં રચાયું લાગે છે. (ગૂ. ભા. સ્વ. વલ્લભજી હરિદત્ત આચાર્યકૃત ગુ. વ. સો. એ પ્રકટ કર્યું છે.)

૫૩૬ આ ઉપરાંત સં. ૧૨૮૭ માં આબૂના 'લૂણવસહી' મંદિરમાં લગાવેલી પ્રશસ્તિ, સં. ૧૨૮૮ માં ગિરિનાર પર્વતપર વસ્તુપાલ તેજપાલે જીર્ણોદ્ધૃત મંદિરપર લગાવેલી ગદ્યપદ્ય પ્રશસ્તિ, સોમેશ્વરે રચી છે. વળી વીરનારાયણ નામનો પ્રાસાદ વીરધવલે પાટણમાં કરાવ્યો હતો તેમાં સોમેશ્વરે ૧૦૮ શ્લોકની પ્રશસ્તિ રચી હતી એમ ચતુર્વિંશતિ પ્રબંધમાં હરિહર પ્રબંધ પરથી જણાય છે પણ તે હાલ ઉપલબ્ધ નથી. સોમેશ્વરે પોતાની કવિતાની પ્રશંસા કરતાં સુરથોત્સવમાં જણાવ્યું છે કે વસ્તુપાલ, હરિહર, સુભટ આદિ કવિપ્રવરો પોતાની કવિતાની ઘણી પ્રશંસા કર્યા કરતા હતા.

૫૩૭ હરિહર—ગૌડદેશી પંડિત હતો. તેણે ગૂજરાતમાં આવી સોમેશ્વરનો દ્વેષ છતાં રાજસભામાં આદર પામ્યો. પછી તેને અને સોમેશ્વર વચ્ચે સારો મેળ થયો હતો. હરિહરની 'નૈષધીય' ની પ્રત પોતે ચતુરાઈથી ઉતારી વસ્તુપાલે પોતાના પુસ્તકાલયમાં રાખી હતી. [વધુ માટે જુઓ ચતુર્વિંશતિ પ્રબંધમાં હરિહર પ્રબંધ]

૫૩૮ સુભટ—તેમનું રચેલું દૂતાંગદ નામે એક અતિ લઘુ નાટક છે. દેવશ્રી કુમારપાલદેવના મેળામાં મહારાજાધિરાજ ત્રિભુવનપાલની પરિષદ્‌ની આજ્ઞાથી આ નાટક ભજવાય છે એમ આરંભમાં સૂત્રધાર જાહેર કરે છે. માત્ર એકજ અંકનું આ નાટક છે, અને તેમાં પણ રાજશેખર ભર્તૃહરિ આદિ પૂર્વના કવિઓમાંથી કાંઇક કાંઇક લીધું છે—છતાં આ કવિ માટે સોમેશ્વર કહે છે કેઃ—

'सुभटेन पदन्यासः स कोऽपि समितौ कृतः ।
येनाधुनाऽपि धीराणां रोमांचो नापचीयते ॥'

દૂતાંગદમાંના કેટલાક શ્લોકને આ પ્રશંસા લાગુ પાડી શકાય એવી છે ખરી, પરંતુ અત્રે તેમજ અન્યત્ર પણ 'કવિપ્રવર' માં એમની ગણના થઇ છે તે માટે તો આ લઘુ નાટક કરતાં કાંઈક વધારે મહત્વની કૃતિ તેણે રચેલી હોવી જોઇએ એમ લાગે છે.

૫૩૯. **નાનાકપંડિત**—તે પણ તેજ સમયના બીજા એક સંસ્કૃત કવિ હતા. વડનગર પાસેના એક ગામમાં કપિષ્ઠલ ગોત્રના એક કુળમાં એ જન્મ્યા હતા. એ કવિપંડિત જ્ઞાતિએ નાગર, શ્રીમાન્ અને વેદ રામાયણ ભરત નાટક અલંકાર આદિ વિષયોમાં ઘણા નિપુણ હતા. એમનું એકે કાવ્ય ઉપલબ્ધ થતું નથી.

૫૪૦. આ સર્વ સોમેશ્વરથી માંડી નાનાક પંડિત સુધીના સર્વ કવિઓ જૈનેતર હતા. અરિસિંહ જૈન હતો કે શૈવ તે ખાત્રીથી કહી શકાતું નથી. સોમેશ્વરના પોતાના સમયમાં કેટલાક નવીન કવિઓની કદર થવા માંડી હતી એમ તેણે તેની યાદી પોતાના ગ્રંથમાં આપેલી છે તે પરથી જણાય છે. જૈન-બ્રાહ્મણ વચ્ચેનો ભેદ ભૂલાઈ જઇ હેમચંદ્રની વાણી કેવી લોકપ્રિય થઇ હશે એ પણ એમના વિષેના શ્લોક થકી જણાય છે. વળી જૈન મન્ત્રી પણ બ્રાહ્મણોને દાન આપતા એવો એ બે ધર્મના અનુયાયીઓનો પરસ્પર પ્રીતિભર્યો સંબંધ હતો એમ દેખાય છે.

૫૪૧. "ગૂજરાતમાં જૈનધર્મની સાથે બ્રાહ્મણધર્મનો શૈવસંપ્રદાય પ્રચલિત હતો અને વિષ્ણુભક્તિ પણ અજ્ઞાત ન હતી. સોમેશ્વરની કીર્તિકૌમુદીમાં વસ્તુપાલ સંબંધે શ્લોક આ પણ છે કેઃ—

(૧) नानर्च भक्तिमान्नेमौ नेमौ शंकरकेशवौ ।
जैनोऽपि यः सवेदानां दानाम्भः कुरुते करे ॥

—નેમિ ભગવાનમાં ભક્તિવાળા આ વસ્તુપાલે શંકર અને કેશવનું પૂજન ન કર્યું એમ ન સમજવું; જૈન છતાં વેદધર્મીઓના હાથમાં પણ એ દાનનું પાણી આપે છે.

એટલુંજ નહીં પણ કેટલેક ઠેકાણે એ કાવ્યમાં શંખપૂજાનો ઉલ્લેખ જોઈએ છીએ, અને એ કાવ્યના પહેલાજ શ્લોકમાં ચતુર્ભુજ ભગવાનની (કૃષ્ણની) પ્રાર્થના છે; તેજ સમયનો એક બીજો કવિ-નામે સુભટ-દૂતાંગદ એટલે કે 'અંગદવિષ્ટિ' નામના એક નાટકમાં લખે છે:—

'भूयाद् भूत्यै जनानां जगति रघुपतेर्वैष्णवः कोऽपि भावः'

(રઘુપતિનો અવર્ણ્ય વૈષ્ણવભાવ જગતમાં લોકનું કલ્યાણ કરો.)

(૨) વિષ્ણુભક્તિ ગ્રંથો જેવા કે શ્રીમદ્ભાગવત, રામાયણ, મહાભારત અને હરિવંશ ગુજરાતમાં જાણીતા હતા. (સોમેશ્વરના સુરથોત્સવ, કીર્તિકૌમુદિ ગ્રંથ પરથી જણાય છે.)

(૩) કૃષ્ણલીલા-બાલક્રીડા અને કૃષ્ણરાધાની લીલા પણ હતી. જુઓ સુરથોત્સવમાંનો એક શ્લોક:—

"स पातु गोवर्धनभारखिन्न-यदंगसंवाहनकैतवेन
गोप्यो गुरूणां पुरतोऽप्यशंकमवापुराश्लेषसुखं स्मरार्त्ताः
राधाऽस्तु सिध्यै रतिविग्रहे या..."

—એ કૃષ્ણ તમારું રક્ષણ કરો-ગોવર્ધન પર્વત ઉપાડવાથી થાકેલાં જેનાં અંગ ચાંપવાને બહાને, કામથી પીડાએલી ગોપીઓએ, મોટેરાંની સમક્ષ પણ નિઃશંક રીતે, આલિંગનનું સુખ મેળવ્યું, અને રાધા પણ તમારી મનવાંછના પુરી કરો—"રતિકલહમાં."

(૩) વળી સિદ્ધરાજ અને કુમારપાળના સમયનો સર્વોત્તમ જૈન વિદ્વાન્ હેમચંદ્ર, પોતાના 'કાવ્યાનુશાસન' નામના ગ્રંથમાં નીચે મુજબ બે શ્લોકો ટાંકે છે:—

"कृष्णेनाम्ब ! गतेन रन्तुमधुना मृद्भक्षिता स्वेच्छया
सत्यं कृष्ण ! क एवमाह ? मुसली, मिथ्याम्ब ! पश्याननम् ।
व्यादेहीति विकाशिते शिशुमुखे माता समग्रं जगद्
दृष्ट्वा यस्य जगाम विस्मयपदं पायात् स वः केशवः ॥
कनककलशस्वच्छे राधापयोधरमंडले

नवजलधरश्यामामात्मद्युतिं प्रतिबिम्बिताम् ।
असितसिचयभ्रान्तिभ्रान्त्या मुहुर्मुहुरुत्क्षिप-
ञ्जयति जनितव्रीडाहासः प्रियाहसितो हरिः ॥

—"બા, કૃષ્ણ રમવા ગયો હતો ત્યાં એણે હમણાં જ ફાવે તેટલી માટી ખાધી;' 'કૃષ્ણ, ખરી વાત કે?' 'કોણે કહ્યું?' 'બળદેવે કહ્યું;' 'બા, એ ખોટું કહે છે-જો મારું મોં.' 'ઉઘાડ, જોઇએ.'—એમ કહેતાં વેંત બાળકે મોં ઉઘાડ્યું અને એ મોંમાં સમસ્ત જગત્ જોઇ એની મા વિસ્મય પામી-એ કૃષ્ણ તમારું રક્ષણ કરો.

—કનકકલશ જેવા સ્વચ્છ રાધાના સ્તનમંડળમાં કૃષ્ણની નવજલધર જેવી શ્યામ કાન્તિનું પ્રતિબિમ્બ પડ્યું. એને કાળું લુગડું સમજી કૃષ્ણ વારંવાર ખસેડવા જાય છે! એ જોઇ રાધા હસી. અને કૃષ્ણ પણ એ વિસ્મયકારક ભૂલ માટે શરમાયા અને હસ્યા—એ કૃષ્ણને જય હો!

આટલા ઉતારાઓથી સ્પષ્ટ જણાઈ આવશે કે સિદ્ધરાજ કુમારપાળથી માંડી લવણપ્રસાદ વીરધવલ અને વસ્તુપાલના સમય સુધીમાં પણ શ્રીમદ્ ભાગવત તેમજ રામાયણ મહાભારત અને હરિવંશ ગૂજરાતમાં જાણીતાં હતાં, એટલુંજ નહીં પણ કૃષ્ણ અને રાધાની લીલા પણ પ્રસિદ્ધ હતી."—વસન્તઃ ભાદ્રપદ ૧૯૬૧.

૫૪૨ **અરિસિંહ**—તેના પિતાનું નામ લવણસિંહ હતું. તે પણ વસ્તુપાલનો આશ્રિત હતો. તેણે સુકૃતસંકીર્તન નામનું ૧૧ સર્ગનું ૫૫૫ શ્લોકનું મહાકાવ્ય વસ્તુપાલે કરેલાં સુકૃત્યોના વર્ણન રૂપે બનાવ્યું. (વે. નં. ૧૭૮૬; વિપયવર્ણન ઈ. એ. ૨૩, પૃ. ૪૭૭-૪૯૫; પ્ર૦ આ. સભા નં. ૫૧) તેમાં વનરાજથી સામંતસિંહ ચાવડાની વંશાવલી તથા મૂળરાજથી ભીમદેવ અને અર્ણોરાજથી વીરધવલનો સંક્ષિપ્ત વૃત્તાંત આપી વસ્તુપાળનું વિસ્તૃત ચરિત્ર આપેલું છે. તેના દરેક સર્ગની અંતે અમર પંડિતે બનાવેલા પાંચ પાંચ શ્લોકો લગાડેલા છે; તે પાંચ શ્લોકો પૈકી પ્રથમના ત્રણ વસ્તુપાલની પ્રશંસાના, ચોથો અરિસિંહ અને તેની કવિચાતુરીની પ્રશંસાનો છે અને પાંચમો શ્લોક ઉપરના ચાર શ્લોક અમર પંડિતે રચેલ છે તે જણાવે છે.

ઉપદેશતરંગિણીના આધારે અરિસિંહને પણ કીર્તિકૌમુદીના કર્ત્તા સોમેશ્વરની માફક વસ્તુપાલે ગામ ગિરાસ તથા બીજાં દાન યાવજ્જીવ આપ્યાં હતાં.

૫૪૩. તેને 'ઠક્કુર' પદ લાગેલું છે તેથી તે વણિક કે બારોટ હશે તેની શંકા થાય, પરંતુ ઠક્કુર પદ વણિક કોમમાં પણ સાધારણ હતું. તેનો ધર્મ જૈન કે શૈવ હતો તે સંદેહવાળી વાત છે, છતાં કુમારપાળના આત્માને બોલાવી તેની પાસે ભીમદેવને આજ્ઞા કરાવે છે કે જૈન ધર્મનું માહાત્મ્ય તારે ફરીથી સજીવન કરવું, તે બિના તેમજ ગ્રંથની આદિમાં દેખાતી બ્રહ્માની સ્તુતિ ખરી રીતે નાભિભૂ-ઋષભદેવની સ્તુતિ છે, તે તેને જૈન હોવાનું પૂરવાર કરે છે. વસ્તુપાલની માતા કુમારદેવી જૈન ધર્મ પાળનારામાં એક અગ્રગણ્ય હતી છતાં તેને શૈવ ધર્મમાં પણ શ્રદ્ધા હતી તે વાત તેણેજ આપેલી હોવાથી તે આપણને તે શૈવ હોવાનું કારણ આપે. સૂક્ત મુક્તાવલી નામના ગ્રંથમાં જહ્લણેજ અરસી ઠકકુરના ચાર શ્લોક આપેલ છે તે અરસી ઘણે ભાગે આ અરિસિંહજ જણાય છે. ઉક્ત અમરચંદ્ર તે અરિસિંહને 'સારસ્વતામૃત-મહાર્ણવપૂર્ણિમેન્દુ જેવો સુકવિ' જણાવે છે.

૫૪૪. **અમરચંદ્રસૂરિ**—એ સંસ્કૃત સાહિત્યમાં એક નામાંકિત વ્યક્તિ છે. તેના ગ્રંથોની કીર્ત્તિ માત્ર જૈન સમાજમાંજ નહિ પરન્તુ બ્રાહ્મણોમાં પણ વિસ્તરેલી હતી. બ્રાહ્મણોમાં તેના ગ્રંથો બાલભારત તથા કવિકલ્પલતા વિશેષ પ્રખ્યાત હતા. બાલભારત તેણે બ્રાહ્મણોની પ્રેરણાથી અદ્ભુત કાવ્યોની રચનાપૂર્વક સંસ્કૃત મહાકાવ્ય વિશલદેવના રાજ્યમાં રચ્યું. (ભાં. ૪, ૬; વે૦ નં. ૧૭૫૯ પ્ર૦ પંડિત વૉ૦ ૪-૬ અને નિ. પ્રેસની કાવ્યમાલા સન ૧૮૯૪). કવિકલ્પલતા પર પોતે કવિશિક્ષાવૃત્તિ નામની ટીકા પણ રચી છે (વે. નં. ૧૩૧) કે જેમાં પોતાના ગ્રંથો નામે છંદોરત્નાવલિ; મંજરી નામની ટીકાસહિત કાવ્યકલ્પલતાપરિમલ, અલંકારપ્રબોધનો ઉલ્લેખ કરેલ છે. (વે. નં. ૬૦) તેના હાલમાં ઉપલબ્ધ થતા બીજા ગ્રંથોમાં

છન્દોરત્નાવલી, સ્યાદિસમુચ્ચય (બુહ. ૪, નં. ૨૮૭, પ્ર. ૫૦ ગ્રં.) અને પદ્માનંદકાવ્ય મુખ્ય છે. પદ્માનંદકાવ્ય પાટણના એક વાયડા વાણીઆ નામે કોષ્ઠાગારિક પદ્મની પ્રાર્થનાથી રચવામાં આવ્યું તેથી એ નામ આપેલું છે, ને તે 'વીરાંક'થી અંકિત છે, તેમાં ૨૪ તીર્થંકરોનાં ચરિત્રો આપ્યાં છે. (કાં. વડો. પી. ૨, ૨.) તેથી તેનું બીજું નામ ચતુર્વિંશતિ જિનચરિત્ર–જિનેંદ્રચરિત્ર છે. પ્રબંધકોશમાં તેના બીજા જે બે ગ્રંથોનાં નામ પણ આપ્યાં છે તે સૂક્તાવલી તથા કલાકલાપ નામનાં છે.

૫૪૫. તેણે બાલભારતમાં એક જગ્યાએ પ્રભાતવર્ણનના એક શ્લોકમાં વેણી–અંબોડાનું વર્ણન કરતાં તેની કૃપાણ–તરવાર (કામદેવની) સાથે સરખામણી કરી છે તેથી તેને 'वेणीकृपाणोऽमरः' પણ કહેતા હતા. અમરચંદ્ર તે વિવેકવિલાસના કર્તા [૩૯૩]વાયડગચ્છીય જિનદત્તસૂરિ(જુઓ પારા ૪૯૬)ના શિષ્યહતા. પ્રબંધકોશમાં રાજશેખર જણાવે છે કે જિનદત્તસૂરિના શિષ્ય અરિસિંહ કવિરાજ પાસેથી અમરચંદ્રને સિદ્ધ સારસ્વત મંત્ર મળ્યો. તે મંત્રને ૨૧ દિવસ જપવાથી સરસ્વતીએ પ્રત્યક્ષ થઈ વર આપ્યો કે તું એક સિદ્ધ કવિ થઇશ અને બધા રાજાઓ તને માન આપશે. તેજ પ્રબંધકોશ તેને વીસલદેવના દરબારમાં પ્રવેશ તથા તેની દ્વારા તેના ગુરૂ અરિસિંહનો પ્રવેશ કેમ થયો તેનું વર્ણન કરે છે. પ્રબંધચિંતામણિ જણાવે છે કે અમરચંદ્રે વસ્તુપાલના વખતમાં ધોલકાના દરબારમાં પ્રવેશ કર્યો હતો અને ત્યાં શક્તિશાલી તથા કીર્તિવંત કવિ તરીકે તે સન્માનિત હતો.

---

૩૯૩. વાયડગચ્છમાં સૂરિપરંપરામાં જિનદત્ત, રાશિલ્લ અને જીવદેવ-સૂરિ વારંવાર આવ્યાં કરે છેઃ—

अमीभिस्त्रिभिरेव श्री जिनदत्तादिनामभिः ।
सूरयो भूरयोऽभूवन् तत्प्रभावास्तदन्वये ॥

—પદ્માનંદકાવ્ય પ્રશસ્તિ શ્લોક ૩૫.

અમરચંદ્ર પોતે અરિસિંહનો શિષ્ય હતો એવું પોતાના એક પણ ગ્રંથમાં જણાવતો નથી, પણ ગ્રંથો પરથી એટલું જણાય છે તે પોતે અરિસિંહ અને તેની કવિતાને બહુજ માન દૃષ્ટિથી જોતો હતો. અરિસિંહદ્વારા અમરચંદ્રને સિદ્ધસારસ્વત મંત્ર મળવાની બિના તથા વિશલદેવના દરબારમાં અરિસિંહનો અમરચંદ્ર દ્વારા થયેલ પ્રવેશ—એ બંને બાબતો સત્ય હોય એ બાહુ વિચારણીય છે, પણ એક વસ્તુ સ્પષ્ટ છે કે વિશલદેવના દરબારમાં અરિસિંહ અને અમરચંદ્ર એ બંને કવિ તરીકે નામાંકિત દરજ્જો ભોગવતા હતા. જેમ સુકૃતસંકીર્ત્તનમાં અમરચંદ્રે ચાર શ્લોકો રચ્યા છે તેવી જ રીતે અમરચંદ્રની કાવ્યકલ્પલતામાં કેટલાંક સૂત્રો અરિસિંહે અને કેટલાંક સૂત્રો અમરે બનાવ્યાં છે; [૩૯૪] વળી તેમાં અમરચંદ્રે જણાવ્યું છે કે અરિસિંહે કવિતારહસ્ય નામનો એક વધુ ગ્રંથ પણ રચ્યો છે અને સુકૃત સંકીર્તનમાં અરિસિંહને એક શક્તિસંપન્ન તાર્કિક તરીકે અમરચંદ્રે જણાવ્યો છે.

૫૪૬. અમરચંદ્રના[૩૯૫] શીઘ્રકવિત્વનો એક રમુજ પ્રસંગ એક સ્થળે નોંધાયો છે. એકદા તેણે વ્યાખ્યાન કરતાં એક શ્લોકાર્ધ કહ્યો:—

अस्मिन्नसारे संसारे सारं सारंगलोचनाः ।

—"આ અસાર સંસારમાં મૃગનયની (સ્ત્રીઓ) સારરૂપ છે."

---

૩૯૪. सारस्वतामृतमहार्णवपूर्णिमेन्दोऽर्मत्वाऽरिसिंहसुकवेः कवितारहस्यं ।
किंचिच्च तद्रचितमात्मकृतं च किंचिद् व्याख्यासते त्वरित
काव्यकृतेऽत्र सूत्रं ॥
—काव्यकल्पलता वृत्ति १–१.

૩૯૫. આવો ઉલ્લેખ ઉપદેશતરંગિણીમાં છે પરન્તુ રાજશેખરના ચ૦ પ્ર. માં પૃ. ૨૨૯ તેમજ જિનહર્ષના વ. ચ. માં ગૂ. ભા. પૃ. ૧૨૬–૧૩૫. સ્તંભતીર્થમાં સ્તંભનપાર્શ્વનાથના ચૈત્યના અધ્યક્ષ કવીશ્વર મલ્લવાદીના સંબંધમાં આ પ્રસંગ વર્ણવાયો છે.

આ વખતે વંદના કરવાને મંત્રી વસ્તુપાલ આવ્યો હતો. તેણે બારણામાં આવતાં આ શ્લોકાર્ધ સાંભળતાં વિચાર્યું 'અહો! આ મુનિ તો સ્ત્રીકથામાં આસક્ત થયેલ છે.' તેથી તેણે નમન કર્યું નહિ. તેનો અભિપ્રાય જાણી તે આચાર્યે ઉત્તરાર્ધ કહ્યો કે:–

यत्कुक्षिप्रभवा एते वस्तुपाल ! भवादृशाः ॥

—કે જેની કુખમાંથી હે વસ્તુપાલ ! તમારા જેવા જન્મ્યા છે.''

આ સાંભળીને વસ્તુપાલે આચાર્યના પગમાં પોતાનું શિર ઝુકાવ્યું.

"એમ કહેવાય છે કે આ અમરચંદ્ર વીશલદેવ રાજાની સભામાં આવ્યા તે વખતે ગુર્જરેશ્વર પુરોહિત સોમેશ્વરદેવ, વામનસ્થલીના કવિ સોમાદિત્ય, કૃષ્ણનગરના કમલાદિત્ય તથા વીસલનગરના–મહાનગરના નાનક પંડિત બેઠા હતા. તેમાં જુદા જુદા કવિઓએ અમરચંદ્રને જે સમસ્યા પૂછી તેમાં નાનાક પંડિતની 'गीतं न गायतितरां युवति र्निशासु'ની પૂર્તિમાં અમરચંદ્રે કહ્યું:–

श्रुत्वा ध्वनेर्मधुरतां सहसावतीर्णे भूमौ मृगे विगतलांछन एव चन्द्रः ।
मागान् मदीयवदनस्य तुल्यामतीव गीतं न गायतितरां युवति र्निशासु ॥

તાત્પર્ય કે—હું ગાઇશ તો આ ચન્દ્રમાંનો મૃગ તે સાંભળવા નીચે ઉતરી આવશે અને આમ મૃગલાંછનથી મુક્ત થઇને ચન્દ્ર મારા મુખની બરોબરી કરી શકશે: તેથી એ સ્ત્રી રાત્રે ગાતી નથી!

આ પ્રસંગે અમરચંદ્રસૂરિએ કુલ ૧૦૮ સમસ્યા પૂર્યાનું કહેવાય છે.

૫૪૭. વસ્તુપાલની કવિઓ તરફ દાન–વીરતા એટલી બધી હતી કે તેને 'લઘુ ભોજરાજ' કહેવામાં આવતો. સોમેશ્વર, હરિહર, અરિસિંહનો તે ખાસ આશ્રયદાતા હતો અને દામોદર, નાનાક, જયદેવ, મદન, વિકલ, કૃષ્ણસિંહ, શંકર સ્વામી, સોમાદિત્ય કમલાદિત્ય અને તે ઉપરાંત ભાટ ચારણો અને અન્ય કવિઓને તેણે ધનવાન્ બનાવ્યા હતા.

બાલચંદ્રસૂરિ.

बहुप्रबन्धकर्तुः श्री बालचन्द्रस्य का स्तुतिः ।
मन्त्रीशवस्तुपालेन यः स्तुतः कविताग्रुणात् ॥
—પ્રદ્યુમ્નસૂરિકૃત સમરાદિત્યસંક્ષેપ સં. ૧૩૨૪

—બહુ પ્રબન્ધ કરનાર બાલચંદ્ર કે જેની સ્તુતિ કવિતાના ગુણને માટે મંત્રીશ્વર વસ્તુપાલે કરી હતી તેની શું સ્તુતિ કરવી?

૫૪૮ પ્રબંધ ચિંતામણીમાં વસ્તુપાલ મંત્રી પ્રત્યે આ બાલચંદ્ર પંડિતે એક સ્તુતિશ્લોક ૩૯૯ કહ્યો હતો તેનો ઉલ્લેખ છેઃ-

गौरी रागवती त्वयि त्वयि वृषो बद्धादरस्त्वं युतो
भूत्या त्वं च लसद्गुणः शुभगणः किं वा बहु ब्रूमहे ।
श्री मंत्रीश्वर! नूनमीश्वरकलायुक्तस्य ते युज्यते
बालेन्दुं चिरमुच्चकै रचयितुं त्वत्तोऽपरः कः प्रभुः ॥

—હે મંત્રિ! તારામાં અને શિવમાં હવે કંઇ ફેર રહ્યો દેખાતો નથી, કેમકે શિવને ગૌરી (પાર્વતી) જેમ વ્હાલી સ્ત્રી છે તેમ તને ગૌરી-ગૌર અંગવાળી વ્હાલી સ્ત્રી છે, જેમ શિવમાં વૃષને-નંદીને ઘણો આદર છે તેમ તારામાં વૃષ-ધર્મનો આદર છે, જેમ શિવ ભૂતિ-ભસ્મથી યુક્ત છે, તેમ તું પણ ભૂતિ-સમૃદ્ધિથી યુક્ત છે. જેમ શિવ ગુણથી શોભે છે તેમ તું પણ ગુણથી શોભે છે, જેમ શિવને શુભ ગણ છે તેમ તને શુભ ગણ-સેવકો છે એથી તું ઈશ્વરની-શિવની કલાયુક્ત છો. શિવને (ભાલમાં) બાલેન્દુ છે તે રચવાનું-આ બાલચંદ્રને સ્વીકારવાનું તને યોગ્ય છે. તારા કરતાં બીજો કયો પ્રભુ છે?

આ કહેનાર બાલચંદ્રને તેની આચાર્યપદ સ્થાપનામાં વસ્તુપાલે એક હજાર દ્રામ ખર્ચ્યાં.

૫૪૯. આ કર્ત્તાએ પોતાની હકીકત પોતાના વસંતવિલાસ કાવ્યના પ્રથમ સર્ગમાં આપી છે કેઃ-મોઢેરક નામના શહેરમાં (ગાય-

---

૩૯૯. આ શ્લોકને લગભગ મળતો શ્લોક બાલચંદ્રે જૈત્રસિંહ સંબંધે કહ્યો છે તે માટે જુઓ વસંતવિલાસ ૩ જા સર્ગને અંતે મૂકેલો શ્લોક પૃ. ૧૬.

ગુજરાત રાજ્યના કડી પ્રાંતમાં આવેલું મોઢેરા) ધરાદેવ નામનો પ્રસિદ્ધ મોઢ બ્રાહ્મણ હતો. તે દીન જનોને રક્ષતો અને જિનપ્રણીત શાસ્ત્રના રહસ્યને જાણનાર હતો. તેને વિદ્યુત્ (વીજળી) નામની પત્નિથી મુંજાલ નામનો પુત્ર થયો. તે પિતાના ઘરમાં રહેતો હોવા છતાં સંસારને જાલ સ્વરૂપ સમજતો હતો. હરિભદ્રસૂરિની વાણી સાંભળી વિવેકરૂપી સંપત્ મેળવી માબાપની અનુમતિથી જૈનમતનું વ્રત અભ્યાસ્યું-ક્રમે ક્રમે સમગ્ર કલામાં ગુરૂ પાસેથી નિપુણ થઇ દીક્ષા લીધી અને બાલચંદ્ર નામ રાખ્યું.હરિભદ્ર સૂરિએ પોતાના આયુષ્યને અંતે બાલચંદ્રને પોતાના પદમાં સ્થાપ્યા. ટુંકમાં તેના ધર્માચાર્ય અને સૂરિપદપ્રદાતા હરિભદ્ર સૂરિ હતા. રત્નશ્રી ગણિનીના તે ધર્મપુત્ર હતા. ચૌલુક્ય ભૂપાલો જેના ચરણમાં નમતા અને જે સરસ્વતીના નિવાસ સ્થાન રૂપ હતા એવા ચૌલુક્ય રાજગુરૂ પદ્માદિત્ય તેના અધ્યાપક હતા. વાદિદેવસૂરિ ગચ્છના આચાર્ય ઉદયસૂરિએ તેને સારસ્વત મંત્ર આપ્યો હતો. એક વખત તેણે સરસ્વતીનું ધ્યાન કરતાં યોગનિદ્રામાં એક મુહૂર્ત્ત આવી શારદાએ કહ્યું 'વત્સ ! તારા બાલ્યકાળથી સારસ્વત કલ્પથી કરેલા મારા ધ્યાનથી હું તારા પર પ્રસન્ન થઈ છું અને જેમ પૂર્વે કાલીદાસ આદિ બુદ્ધિવાળા મારી ભક્તિથી કવીન્દ્રો થયા તેમ વત્સ ! તું પણ થશે.' આ સરસ્વતીના પ્રસાદથી જેણે મહાકવિત્વ-રીતિ મેળવી છે એવો હું આ વસન્તવિલાસ કાવ્ય રચું છું.' તેણે પોતાને 'વાગ્દેવીપ્રતિપન્નસૂનુ' તરીકે ઓળખાવેલ છે. (પી. ૩, ૧૦૦; પી. ૫, ૪૮).

૫૫૦. પોતાની ગચ્છ પરંપરા પોતે ઉપદેશ કંદલી વૃત્તિમાં આપી છે કે:-ચંદ્ર ગચ્છમાં પ્રદ્યુમ્ન સૂરિ થયા કે જેણે તલવાટકના રાજાને પ્રબોધ્યો હતો, તેની પછી ચંદ્રપ્રભ સૂરિ થયા કે જેણે જિનની પ્રાભાતિક સ્તુતિ રચી હતી, તેના ધનેશ્વરસૂરિ થયા કે જેણે પોતાના સ્વગચ્છીય ગુરૂ પાસેથી મંત્ર પ્રાપ્ત કર્યો હતો અને સમયુ નામના નગરના દેવતા-પુરદેવતાને પ્રબોધ્યો હતો. તેને સરસ્વતીના ચાર હસ્ત જેવા

ચાર શિષ્ય નામે વીરભદ્ર, દેવસૂરિ, દેવપ્રભ અને દેવેન્દ્રસૂરિ થયા, તે પૈકી છેલ્લા દેવેન્દ્રસૂરિએ જિન પ્રાસાદો જ્યાં પુષ્કળ હતાં એવી મંડલી (માંડલ) નામની નગરીમાં મહાવીર ચૈત્યની પ્રતિષ્ઠા કરી. તેના ભદ્રેશ્વર સૂરિ અને તેના અભયદેવસૂરિ થયા કે જેનું ધર્મોપદેશામૃત પીને આસડે પોતાની વિવેકમંજરી અને ઉપદેશકંદલી રચી. તેના શિષ્ય હરિભદ્ર સૂરિ પડ્દર્શનો અને સાહિત્યમાં નિષ્ણાત થયા; અને તેના શિષ્ય તે બાલચંદ્ર. સમરાદિત્યસંક્ષેપાદિના કર્ત્તા અને અનેક ગ્રંથોના સંશોધક પ્રસિદ્ધ પ્રદ્યુમ્નસૂરિને પદપ્રતિષ્ઠાપ્રાપ્તિ આ સુકવિ બાલચંદ્ર દ્વારા થઈ હતી.

૫૫૧ આ બાલચંદ્રસૂરિએ કરૂણાવજ્રાયુધ (પ્ર૦ આ. સભા) એ નામનું પંચાંકી નાટક રચ્યું, તે વીરધવલના મંત્રી વસ્તુપાલની આજ્ઞાથી શત્રુંજયમંડન પ્રથમ તીર્થંકર (ઋષભદેવ) ના ઉત્સવમાં ભજવાયું હતું તે પરથી જણાય છે કે તે મંત્રી શત્રુંજયની યાત્રાએ ગયા (સં. ૧૨૭૭) ત્યારે રચ્યું. તેમાં વજ્રાયુધ ચક્રવર્ત્તિએ પોતાના પ્રાણના ભોગે પણ પારેવાનું રક્ષણ કર્યું તે પ્રસિદ્ધ વસ્તુને અવલં-બીને આ નાટક રચાયેલું છે. પોતાના સમકાલીન મહાકવિ આસડે રચેલા ગ્રંથો નામે વિવેકમંજરી અને ઉપદેશકંદલી ઉપર ટીકાઓ તેણે રચી, વિવેકમંજરી ટીકા સં. ૧૨૪(૭)૮ માં રચી (કી. ૨, ૫; પી. ૩, ૧૦૦), કે જે નાગેંદ્ર ગચ્છના વિજયસેનસૂરિએ અને બૃહદ્‌ગચ્છના શ્રી પદ્મસૂરિએ શોધી તથા તેમાં દેવાનંદગચ્છના કનકપ્રભસૂરિ શિષ્ય પ્રદ્યુમ્નસૂરિએ સહાય કરી; અને ઉપદેશકંદલી પર વૃત્તિ રચી કે જેની તાડપત્રની સં. ૧૨૯૬ની પ્રત પાટણના ભંડા-રમાં છે. (પી, ૫,૪૨). અને તે ઉપરાંત વસન્તવિલાસ નામનું મહાકાવ્ય (ગા. ઓ. સી. નં. ૭) બનાવ્યું છે, તેમાં કીર્ત્તિકૌમુદીની પેઠે વસ્તુપાલનાં પરાક્રમો વર્ણવેલાં છે. વસ્તુપાલ સોમશર્મા અને હરિહરાદિ કવિઓથી વસંતપાલ કહેવાતો હતો તેથી તે નામ પરથી કાવ્યનું નામ વસન્તવિલાસ રાખ્યું છે. આમાં વસ્તુપાલના મૃત્યુનો ઉલ્લેખ હોવાથી તે મૃત્યુ સંવત્ ૧૨૯૬ પછી અને તે વસ્તુપાલના



પુત્ર જૈત્રસિંહના વિનોદ માટે રચાયું તેથી તે ગ્રંથનો રચનાસમય વિક્રમ તેરમા સૈકાની આખરનો અથવા ચૌદમા સૈકાની શરૂઆતના આશરાનો છે એ ચોક્કસ છે. તેમાં ૧૪ સર્ગ છે અને તેમાં ગૂજરાતના ઇતિહાસ માટે કેટલીક સામગ્રી મળી આવે છે.[૩૯૭]

૫૫૨ જયસિંહસૂરિ—તે વીરસૂરિના શિષ્ય અને ભરૂચના મુનિસુવ્રત સ્વામીના મંદિરના આચાર્ય હતા. તેજપાલ મંત્રી એકદા મંદિરની યાત્રાએ આવતાં તે આચાર્યે કાવ્યથી તેની સ્તુતિ કરી અને અંબડના શકુનિકાવિહારમાંની ૨૫ દેવકુલિકા માટે સુવર્ણ-ધ્વજ દંડ બનાવી આપવા કહ્યું. વસ્તુપાલની સંમતિથી તેજપાલે કરાવી આપ્યા તેની સ્મૃતિમાં આ સૂરિએ બંને ભાઇઓના આ દાન માટે એક સુંદર લાંબું પ્રશસ્તિકાવ્ય રચ્યું, કે જેમાં મૂળરાજથી વીરધવલ સુધીના રાજાઓની વંશાવલીએ ટુંક વર્ણન પણ આવેલ છે. અને તે ઉક્ત મંદિરની ભીંતના પથ્થરમાં કોતરવામાં આવ્યું હતું તેમ લાગે છે. જો કે શકુનિકા વિહારની મસ્જીદ બનાવવામાં આવી છે, છતાં તે તેના અન્ય નાટક ગ્રંથ હમ્મીરમદમર્દનકાવ્યની પ્રતની અંતે લખાયેલ મળી આવ્યું છે. (જુઓ પારા ૫૨૮) બીજો ગ્રંથ નામે ઉક્ત હમ્મીરમદ મર્દન (ગા. ઓ. સી. નં. ૧૦)તે ગૂજરાત ઉપર મુસલમાનોએ કરેલો હુમલો બંને ભાઇઓએ પાછો હઠાવ્યો એ ગૂજરાતના ઇતિહાસમાંના એક અગત્યના બનાવને નાટકના રૂપમાં રજુ કરતું કાવ્ય છે; અને તે નાટક વસ્તુપાલના પુત્ર જયન્તસિંહની આજ્ઞાથી (ખંભાતના) ભીમેશ્વર[૩૯૮] ભગવાનની યાત્રાના ઉત્સવ

૩૯૭. જુઓ તેના પર સ્વ૦ સાંક્ષર ચિમનલાલ દલાલની અંગ્રેજી પ્રસ્તાવના, કે જેના ગૂ૦ ભાષાન્તર માટે જુઓ જૈનયુગ સં. ૧૯૮૩ ભાદ્ર૦ આશ્વિન ને સં. ૧૯૮૪ ના અંકો.

૩૯૮. આ ભીમેશ—ભીમેશ્વરના ખંભાતના મંદિરમાં સોનાના કલશ અને ધ્વજદંડ વસ્તુપાલે કરાવ્યા હતા—જુઓ જિનહર્ષકૃત વસ્તુપાલચરિત ૪-૭૨૦, અને સુકૃતસંકીર્તન ૧-૩.

પ્રસંગે ખંભાતમાં પહેલ વહેલું ભજવાયું હતું. આમાં પાંચ અંક છે. તેની તાડપત્રની સં. ૧૨૮૬ ની લિખિત પ્રત મળી આવે છે તેથી તે પહેલાં અને વસ્તુપાલનો કારભાર સં. ૧૨૭૬ માં થયો ત્યાર પછી રચાયેલું છે.

૫૫૩ ઉદયપ્રભસૂરિ—આ વસ્તુપાલના ગુરૂ ઉપર્યુક્ત વિજયસેનસૂરિના શિષ્ય હતા. તેને વસ્તુપાલ મંત્રીએ સૂરિપદથી સમલંકૃત કરાવેલ હતા. તેણે સુકૃતકલ્લોલિની (કાં. છાણી) નામનું પ્રશસ્તિકાવ્ય રચ્યું (પ્ર૦ હમીરમદમર્દન પરિ૦ ૩ ગા. ઓ. સી.) તેમાં વસ્તુપાલ અને તેજપાલનાં સુકૃત્યો–ધાર્મિક કાર્યો અને યશનો ગુણાનુવાદ બતાવેલ છે. વસ્તુપાલે શત્રુંજયની યાત્રા કરી (સં. ૧૨૭૭) તે પ્રસંગે આ કાવ્ય રચાયું લાગે છે, અને વસ્તુપાલે પોતે બંધાવેલા ઇંદ્રમંડપના એક મોટા પથ્થરની તખતી ઉપર તે કોતરાવ્યું હતું. આમાં કાવ્યત્વના ઉંચા ગુણો હોવા ઉપરાંત ઐતિહાસિક દૃષ્ટિએ આપણને ઘણી માહિતી મળે છે. અરિસિંહના સુકૃતસંકીર્ત્તન કાવ્યની માફક આમાં પણ વસ્તુપાલની વંશાવલી આપેલી છે અને ચાપોત્કટ (ચાવડા) અને ચૌલુક્ય વંશના રાજાઓનું વર્ણન આપ્યું છે. વિશેષમાં બહુ મોટા ગ્રંથો ઉક્ત સૂરિએ રચ્યા છેઃ–૧ ધર્માભ્યુદય મહાકાવ્ય વસ્તુપાલના યાત્રા પ્રસંગે 'લક્ષ્મ્યંક' રચ્યું છે. (પી. ૨, ૩૩ પી. ૩, ૧૬) તેનું બીજું નામ સંઘાધિપતિ ચરિત્ર મહાકાવ્ય છે. તેમાં પ્રથમ તથા છેલ્લા સર્ગમાં વસ્તુપાલ તથા તેના ગુરૂ અને બીજા જૈનાચાર્યો સંબંધી ઐતિહાસિક વૃત્તાંત છે. બાકીનો ભાગ આદિનાથ અને નેમિનાથ વગેરે તીર્થંકરોનાં ચરિત્રોનો છે. તેને મલધારી નરચંદ્રસૂરિએ સંશોધ્યું. (પા. ભં. તાડપત્ર) ૨ જ્યોતિષનો ગ્રંથ નામે આરંભસિદ્ધિ (પ્ર૦ પુરૂષોત્તમ ગીગાભાઇ ભાવ૦) ૩ સંસ્કૃત નેમિનાથચરિત, ૪–૫ ષડશીતિ અને કર્મસ્તવ એ બે કર્મગ્રંથોપર ટિપ્પન, તથા ૬ સં. ૧૨૯૯ માં ધર્મદાસ ગણિકૃત ઉપદેશમાલા પર ઉપદેશમાલાકર્ણિકા નામની ટીકા ધોળકામાં રચી પૂર્ણ કરેલ છે.

૫૫૪ વસ્તુપાલનો પોતાનો પુસ્તકભાંડાગાર જબરો હતો અને તેમાં સર્વ જાતના કિંમતી અને અલભ્ય ગ્રંથોનો અપૂર્વ સંગ્રહ એકત્રિત કર્યો હતો (હરિહર પ્રબંધ). પ્રસિદ્ધ આલંકારિક માણિક્યચંદ્રસૂરિ કાવ્યપ્રકાશ પરની ટીકા નામે કાવ્યપ્રકાશ સંકેત રચવામાં વ્યગ્ર હોવાથી વસ્તુપાલે તીર્થયાત્રામાં સાથ આપવા બોલાવ્યા છતાં આવી શક્યા નહોતા, તેમને પોતાના પુસ્તકાલયની સર્વ ધાર્મિક ગ્રંથોની પ્રતો આપવાની આજ્ઞા કરી હતી. તે સૂરિએ તે મંત્રીને 'સર્વ ધર્મશાસ્ત્રોના એક આદર્શ' એવું બિરૂદ આપ્યું હતું. (જિનહર્ષકૃત વ. ચ.)

૫૫૫ વસ્તુપાલ કાવ્યશક્તિની કદર કરતો એટલું જ નહિ પરંતુ ગ્રંથકારોને ધાર્મિક તેમજ સાહિત્યના ગ્રંથો રચવાને પોતાના બોધ અને આનંદ માટે વિનવતો-પ્રેરતો; તેના ઉદાહરણ તરીકે નીચે જણાવવામાં આવ્યું છે.

૫૫૬. નરચંદ્રસૂરિ કે જે હર્ષપુરીય ગચ્છના જયસિંહસૂરિ-અભય દેવસૂરિ (મલધારી)-હેમચંદ્ર સૂરિ-શ્રીચંદ્રસૂરિ-મુનિચંદ્ર સૂરિના શિષ્યો દેવાનંદ અને યશોભદ્ર,-તેમના શિષ્ય દેવપ્રભસૂરિના શિષ્ય હતા તે વસ્તુપાલની સંઘયાત્રામાં ગયા હતા ને તેની સાથે ઘણો પરિચય ધરાવતા હતા. તેમને એકદા વસ્તુપાલે વિજ્ઞપ્તિ કરી કે 'આપે મારા શિર પર હાથ મૂકવાથી હું સંઘાતિપત્ય પામ્યો, સેંકડો ધર્મસ્થાનો અને દાનવિધિઓ કર્યાં, અને હવે જૈનશાસનકથાઓ સાંભળવા મારૂં ચિત્ત ઉત્કંઠ છે' તેથી તેમણે ૧૫ તરંગોમાં કથારત્નસાગર રચ્યો. (સં. ૧૩૧૯ની તાડપત્રની પ્રત પા. સૂચિ) વિશેષમાં એક વિજ્ઞપ્તિ કરી કે 'અતિ વિસ્તૃત અને અતિ સંક્ષિપ્ત એવા ગ્રંથો છે તે ક્લેશથી સમજાય છે અને કાવ્યરહસ્યનો નિર્ણય તેથી થઈ શકતો નથી તો અતિ વિસ્તૃત નહિ પણ કવિ કલાનું સર્વસ્વ જેમાં આવી જાય અને દુર્મેધને પણ બોધક થાય એવું અનન્યસદૃશ શાસ્ત્ર કહો,' આથી તે સૂરિએ પોતાના શિષ્ય નરેન્દ્રપ્રભ સૂરિને તેવો ગ્રંથ રચવાની આજ્ઞા કરતાં વસ્તુપાલના આ-

નં ૬ માટે નરેંદ્રપ્રભે આઠ પ્રકરણમાં અલંકારમહોદધિ નામનો ગ્રંથ રચ્યો.

૫૫૭ નરચંદ્રસૂરિએ વળી ૩૯૯મુરારિકૃત અનર્ઘરાઘવ પર ૨૩૫૦ શ્લોક પ્રમાણ ટિપ્પન (જે. નં. ૨૨૦), શ્રીધરકૃત ન્યાયકંદલી પર ટીકા (કે જેમાં વિમલસૂરિએ સહાય આપી હતી જે. ૪), જ્યોતિઃસાર (વે. નં. ૩૧૧; પી. ૩, ૨૭૫) કે જે નારચન્દ્ર જ્યોતિષ સાર કહેવાય છે, પ્રાકૃત દીપિકા-પ્રબોધ કે જેમાં હેમાચાર્યના અષ્ટમાધ્યાયના આખ્યાનોની રૂપસિદ્ધિ છે. (બુહ્. ૭ નં. ૮; પા૦ ભં.), ચતુર્વિંશતિજિન સ્તોત્ર (પી. ૫, ૯૬) ઇત્યાદિ અનેક ગ્રંથો રચ્યા છે.૪૦૦ તેમજ સ્વગુરૂ દેવપ્રભસૂરિનું પાંડવચરિત અને ઉદય પ્રભસૂરિનું ધર્માભ્યુદય કાવ્ય સંશોધ્યાં છે. તેમના આદેશથી ગુણવલ્લભે વ્યાકરણ ચતુષ્કાવચૂરિ સં, ૧૨૭૧ માં રચી. સં. ૧૨૮૮ માં તેમણે રચેલા વસ્તુપાલની પ્રશસ્તિરૂપ સ્તુતિકાવ્યો ગિરનાર પર શિલાલેખમાં મોજૂદ છે. (જે. પૃ. ૩૨ અને ૬૫) તેમણે સમરાદિત્યસંક્ષેપના કર્તા પ્રદ્યુમ્નસૂરિને ઉત્તરાધ્યયનસૂત્રની વાચના આપી હતી.૪૦૧

૩૯૯. 'મુરારિનું અનર્ઘરાઘવ ગૂજરાતમાં ઘણું પ્રિય થએલું માલૂમ પડે છે, કારણકે તેના ઉપર મલધારી દેવપ્રભાચાર્યનો અનર્ઘરાઘવ રહસ્યાદર્શ (ગ્રંથ ૭૫૦૦), તેમના શિષ્ય નરચંદ્રાચાર્યનું મુરારિ ટિપ્પન (ગ્રંથ ૨૫૦૦) અને તપાગચ્છના જયચંદ્રસૂરિના શિષ્ય જિનહર્ષની અનર્ઘરાઘવવૃત્તિ એમ ત્રણ ટીકાઓ છે.'–સ્વ૦ દલાલ.

૪૦૦. આ નરચંદ્રસૂરિના વંશમાં પદ્મદેવસૂરિ-શ્રીતિલકસૂરિશિષ્ય રાજશેખરસૂરિએ શ્રીધરકૃત ન્યાયકંદલિ પર પંજિકા (પી. ૩, ૨૭૨-૨૭૫) રચી છે તેમાં નરચંદ્રસૂરિના ગ્રંથો જણાવેલા છે કેઃ—

टिप्पनमनर्घ्यराघवशास्त्रे किल टिप्पनं च कंदल्यां
सारं ज्योतिषमद्दभयः प्राकृतदीपिकामपि च ॥१५॥

४०१. श्रीमते नरचन्द्राय नमोऽस्तु मलधारिणे ।
ददे मेऽनुत्तरा येनोत्तराध्ययनवाचना ॥२३॥

૫૫૮ નરચંદ્રસૂરિના ગુરૂ દેવપ્રભસૂરિએ સં. ૧૨૭૦ લગભગ 'છઠ્ઠા અંગોપનિષદ્-જ્ઞાતા ધર્મકથા અને ત્રિષષ્ટિશલાકા પુરૂષચરિત્ર ઇત્યાદિ જોઇને કૌતુહલથી પાંડવોના ચરિત્ર રૂપે' ૧૮ સર્ગનું ૮૦૦૦ શ્લોક પ્રમાણ પાંડવ ચરિત્ર મહાકાવ્ય રચ્યું તેનું યશોભદ્રસૂરિ રત્નચંદ્રસૂરિ અને નરચંદ્રસૂરિએ સંશોધન કર્યું હતું. (પી. ૩, ૧૩૨; વે૦ નં. ૧૭૪૮ પ્ર૦ કાવ્યમાલા સન ૧૯૧૧. તેનું ગૂ. ભા. બી. આ. તરફથી મુદ્રિત); વળી દેવપ્રભે ધર્મસારશાસ્ત્ર[૪૦૨]-અપરનામ મૃગાવતી ચરિત્ર પાંચ વિશ્રામમાં (જેસ. પૃ. ૫૨) તથા મુરારિના અનર્ઘરાઘવ પર અનર્ઘરાઘવકાવ્યાદર્શ (ગ્રંથ ૭૫૦૦) રચ્યાં. ઉક્ત નરેંદ્રપ્રભે અલંકાર મહોદધિ ઉપરાંત કાકુત્સ્થકેલિ નામનો ગ્રંથ રચ્યો હતો.[૪૦૩]

૫૫૯. આ સમયે 'કવીન્દ્રબન્ધુ' નામનું બિરૂદ ધરાવનાર યશોવીર તે જાબાલિપુરમાં ચાહમાન રાજા ઉદયસિંહનો મંત્રી હતો. એ બહુશ્રુત વિદ્વાન્ અને રાજનીતિનિપુણ પ્રધાન હતો. મહામાત્ય વસ્તુપાલ તથા તેજપાલની સાથે આની ગાઢ મૈત્રી હતી. તેજપાલના બનાવેલા આબુ પરના નેમિનાથ ચૈત્યના શિલ્પકામમાં એણે કેટલાક દોષો બતાવ્યા હતા. (જુઓ જિનહર્ષનું વ૦ ચ૦). તેણે માદ્દડીમાં સં. ૧૨૮૮માં બિંબ પ્રતિષ્ઠા તથા સં. ૧૨૯૧માં આબુ પર દેવકુલિકા કરાવી હતી[૪૦૪]

૪૦૨. तत्क्रमिको देवप्रभसूरिः किल पांडवायनचरित्रं ।
श्री धर्मसारशास्त्रं च निर्ममे सुकविकुलतिलकः ॥१३॥
—રાજશેખરકૃત ન્યાયકંદલિપંજિકા પી. ૩, ૨૭૫.

૪૦૩. तस्य गुरोः प्रियशिष्यः प्रभु नरेंद्रप्रभः प्रभावाढ्यः ।
योऽलंकारमहोदधिमकरोत्काकुत्स्थकेलिं च ॥१६॥
—એજન.

૪૦૪. માદ્દડી તે હાલનું માદ્રી કે જે એરનપુરારોડથી ૩૦ મૈલ પશ્ચિમ જોધપુર રાજ્યમાં આવેલું નાનું ગામ છે, તે તે વખતે મોટું શહેર હશે.

૫૬૦. આ સમયે અનેક પુસ્તકોની તાડપત્ર પર પ્રતિઓ લખાઈ હતી. તે પૈકી કેટલીકનો ઉલ્લેખ ઉપલબ્ધ થાય છે તે આ પ્રમાણેઃ— સં. ૧૨૭૪માં સિદ્ધસૂરિએ જિનભદ્ર ગણિકૃત ક્ષેત્રસમાસ પર રચેલી ટીકાની (પા. સૂચિ નં. ૪૪) સં. ૧૨૭૫માં તાડપત્ર પર કર્મવિપાક ટીકાની (પા. સૂચિ નં. ૨૦), સં. ૧૨૮૪માં તાડપત્ર પર શ્રીચંદ્રસૂરિકૃત જીતકલ્પચૂર્ણિ (પા. ભં. પી. ૫, ૧૨૯), ની પ્રતો લખાઇ; તથા આઘાટદુર્ગમાં જૈત્રસિંહના રાજ્યમાં ને જગતસિંહના મહામાત્યપણામાં હેમચંદ્ર નામના શ્રાવકે સમસ્ત સિદ્ધાંતોનો ઉદ્ધાર કર્યો એટલે કે સર્વ સૂત્રો તેણે તાડપત્ર પર લખ્યાં-લખાવ્યાં. આ પૈકી દશવૈકાલિક, પાક્ષિક સૂત્ર અને ઓઘનિર્યુક્તિની પ્રતો ખંભાત શાંતિનાથના ભં. માં વિદ્યમાન છે (પી. ૩,૫૨). સં. ૧૨૮૬માં જયસિંહ સૂરિકૃત હમ્મીર મદમર્દનની તાડપત્ર પર લખાયેલી પ્રત હાલ જે. ભં. માં છે. સં. ૧૨૮૮માં ગોવિન્દ ગણિકૃત કર્મસ્તવ ટીકાની પ્રત ગુરૂ દેવનાગની આજ્ઞાથી શીલચંદ્રે જિનસુંદરી નામની ગણિનીને માટે તાડપત્ર પર લખી (પા. ભં., ડી. ૩ નં. ૧૪૮) ગર્ગ ઋષિકૃત

ત્યાંના બે શિલાલેખો સં. ૧૨૮૮ના 'જૈન' તા. ૧૩-૧૧-૨૭ પૃ. ૭૯૭ માં પ્રકટ થયા છે તે પરથી જણાય છે કે તે વર્ષમાં ખંડેરક ગચ્છાચાર્યોના ચરણોના ઉપાસક શુદ્ધવંશી સમસ્ત રાજાઓમાં જાગૃત યશવાલા અને ઉદયસિંહના પુત્ર યશોવીર મંત્રીએ સ્વમાતા ઉદયશ્રીના કલ્યાણાર્થે પોતે કરાવેલા ચૈત્યમાં જેઠ શુદ ૧૩ બુધે શાંતિનાથનું બિંબ તથા જિનયુગલની કાયોત્સર્ગસ્થ મૂર્ત્તિઓ શાંતિસૂરિએ પ્રતિષ્ઠિત કરી; અને સં. ૧૨૯૦ના લેખ માટે જુઓ જિ૦ ૨, નં. ૧૦૮-૭૯-તેમાં જણાવેલ છે કે તેના પિતાનું નામ મંત્રી શ્રી ઉદયસિંહ હતું કે જે વિપુલ ધનનું દાન કરવાથી દાનવીર, ગિરનાર આદિ તીર્થોની મહાન્ આડંબર સાથે યાત્રા વગેરે ધર્મકૃત્યો કરવાથી ધર્મવીર અને રાજા-મહારાજાઓનું પણ માનમર્દન કરવાથી યુદ્ધવીર-એમ ત્રિવિધવીર ચૂડામણી કહેવાતો હતો. તે પિતાના પુણ્યાર્થે આ યશોવીર કે જેને સરસ્વતી અને લક્ષ્મીએ એકીસાથે અંગીકાર કર્યો છે તેણે સુમતિનાથની પ્રતિમાયુક્ત એક, અને પોતાની માતા અર્થે પદ્મપ્રભની પ્રતિમાવાળી બીજી, એમ બે દેવકુલિકાઓ કરાવી.

કર્મવિપાક પરની પરમાનન્દ સૂરિકૃત ટીકા અને બૃહદ્ ગચ્છીય હરિભદ્ર સૂરિકૃત આગમિકવસ્તુવિચારસારવૃત્તિ લખાઈ (પા. સૂચિ નં. ૧૯) સં. ૧૨૮૯માં દ્રોણાચાર્ય કૃત ઓઘનિર્યુક્તિ વૃત્તિ, મલયગિરિકૃત પિંડનિર્યુક્તિવૃત્તિ, દશવૈકાલિક, તે પરની નિર્યુક્તિ તથા હરિભદ્રસૂરિકૃત ટીકા તાડપત્ર પર લખાઇ (જે. ૪૧) સં. ૧૨૯૧માં લખાયેલા એક તાડપત્રના પુસ્તકમાં (પા. ભં.) સિદ્ધસેન, પાદલિપ્ત, મલ્લવાદિ અને બપ્પભટ્ટિનાં પ્રાકૃત પદ્યમાં ચરિત્રો છે. બપ્પભટ્ટિ ચરિત્રમાં ગૌડવહોના કર્ત્તા બપ્પઇરાયને બપ્પભટ્ટિએ જૈન બનાવ્યો એ વાત વર્ણવેલી છે. આ પ્રાકૃતચરિત્રો પ્રાચીન હોવાથી સંસ્કૃત કરતાં વધારે વિશ્વસનીય છે (સ્વ. દલાલ) સં. ૧૨૯૨માં વીજાપુરમાં દેવભદ્રગણિ, પં. મલયકીર્ત્તિ, પં. અજિતપ્રભગણિ વગેરેનાં વ્યાખ્યાનથી સમસ્ત શ્રાવકોએ સંઘના પઠન-વાચનાર્થે મલયગિરિકૃત નંદીટીકા તાડપત્ર પર લખાવી. (પી. ૩, ૩૬) સં. ૧૨૯૪માં સ્તંભતીર્થવાસી શ્રીમાલવંશીય ઠ. સાઢાસુત ઠ૦ કુમરસીહે નિશીથચૂર્ણિની પ્રત તાડપત્ર પર લખી (કી. નં. ૩૮) સં. ૧૨૯૫માં શ્રીમન્ નલકમાં મહારાજા જયતુગિદેવના રાજ્યમાં મહાપ્રધાન ધર્મદેવના સમયમાં ઉપકેશ વંશના ચિત્રકૂટવાસી સા૦ સાલ્હાકે કર્મસ્તવ તથા કર્મવિપાકની ટીકાની તાડપત્ર પર પ્રત લખી (જે. પૃ. ૨૬) અને તેજ વર્ષમાં વીસલદેવરાજ્યે દંડાધિપતિ વિજસિંહના વારામાં સંડેરગચ્છીય ગણિ આસચંદ્ર શિ૦ પંડિત ગુણાકરે ષડ્વિધાવશ્યક વિવરણ (યોગ શાસ્ત્રમાંથી) ની તાડપત્ર પર પ્રત લખી (પા. સૂચિ નં. ૩૭) સં. ૧૨૯૬માં ત. દેવેન્દ્રસૂરિ, વિજયચંદ્રસૂરિ, ઉપા. દેવભદ્રગણિના વ્યાખ્યાનની અસરથી વીજાપુરમાં નાગપુરીય શ્રાવકોએ પાક્ષિક પ્રતિક્રમણની ચૂર્ણિ અને વૃત્તિ તાડપત્રપર લખાવી (પી. ૧, ૩૫; ખં. શાંતિ. ભં.) અને તે વર્ષમાં મહારાજા ભીમદેવના રાજ્યમાં મહામંડલેશ્વર રાણક વીરમદેવની રાજધાનીમાં વિદ્યુતપુર (વીજાપુર)માં રહીને મલયગિરિકૃત સંગ્રહિણી ટીકા તાડપત્ર પર લખાઇ (જે. ૩૫.)

૫૬૧ આ સમયમાં (સં. ૧૨૯૦ પછી) વિશેષાવશ્યક પર **શિષ્યહિતા** નામની ટીકાની તાડપત્ર પરની પ્રત **આશાદિત્ય** નામના દ્વિજે લખી તે લેખકે ખ૦ જિનપતિસૂરિના પરમભક્ત **મોઢવંશીય શાંતિ** નામના શ્રાવકને **યશોમતિ** નામની ભાર્યાથી થયેલ **પ્રદ્યુમ્ન** નામના પુત્રની ભાર્યા **લક્ષ્મી** માટે પ્રશસ્તિ રચી પ્રાંતે મૂકી છે. તે લક્ષ્મીએ **વર્દ્ધમાન** (વઢવાણ) નામના પુરમાં **દેવભદ્રસૂરિ**નાં વ્યાખ્યાન સાંભળી આ પ્રત લખાવી તેજ સૂરિને અર્પણ કરી તે ભાં. ઇ. માં મોજૂદ છે.

૫૬૨ આ વસ્તુ-તેજ-યુગમાં બીજા ઘણા ગ્રંથકારો થયાઃ- સં. ૧૨૭૬માં રાજગચ્છના અભયદેવસૂરિ (સંમતિ ટીકાકાર)-ધનેશ્વર -અજિતસિંહ-વર્ધમાન-શાતિભદ્ર-ભરતેશ્વર-વૈરસ્વામી-નેમિચંદ્ર-સાગરેન્દુસૂરિ શિષ્ય) **માણિક્યચંદ્રસૂરિ** કે જેમણે સં. ૧૨૧ (૪) ૬ માં કાવ્યપ્રકાશસંકેત રચ્યો હતો તેમણે **પાર્શ્વચરિત** (પી. ૩, ૧૫૭; જે. ૫) ભિન્નમાલવંશીય શ્રેષ્ઠિ દેહડની પ્રાર્થનાથી સં. ૧૨૭૬માં દિવાળી દિને વેલાકૂલ શ્રીદેવકૂપકમાં પૂર્ણ કર્યું; અને **શાંતિનાથ ચરિતાદિ** (જે. પ્ર. ૪૯) ગ્રંથો રચ્યા. સં. ૧૨૭૭માં મૂલ **ચંદ્રપ્રભ**સૂરિકૃત પ્રાકૃત **સમ્યકત્વપ્રકરણ=દર્શનશુદ્ધિ** પર **ચક્રેશ્વરસૂરિ**એ અધૂરી ટીકા મૂકી સ્વર્ગે જતાં તેના પ્રશિષ્ય પૂર્વોક્ત **તિલકાચાર્યે** પૂરી કરી; (કાં. વડો. નં. ૧૬૯) અને તેમણે સં. ૧૨૯૬માં **આવશ્યક** નિર્યુક્તિ-લઘુવૃત્તિ (પી. ૨, ૬; પી, ૪, ૭૪) તેમજ દશવૈકાલિક ટીકા (પી. ૫, ૬-૫૨) તથા બીજા સામાચારી-જૈન સાધુ શ્રાવકોના આચાર-સંબંધી સં. ૧૩૦૪માં અનેક ગ્રંથો પર વૃત્તિઓ જેવી કે શ્રાવક પ્રાયશ્ચિત્ત સામાચારી-પૌષધિક પ્રાયશ્ચિત્ત સામાચારી-ચૈત્યવંદના-વંદનક-પ્રત્યાખ્યાન લઘુવૃત્તિ-શ્રાવક પ્રતિક્રમણ સૂત્રવૃત્તિ-સાધુ પ્રતિક્રમણસૂત્ર લઘુવૃત્તિ (પી. ૪, ૧૦૮), પાક્ષિકસૂત્ર-પાક્ષિકક્ષામણકાવચૂરિ આદિ રચી. (જેસ. પ્ર. ૨૦, ૩૬) તેઓ સં. ૧૩૦૪ સુધી વિદ્યમાન હતા.

૫૬૩. વળી સં. ૧૨૭૮માં **ચંદ્રકુલ**ના **વર્ધમાનસૂરિ**-જિનેશ્વર-

નવાંગીવૃત્તિકાર અભયદેવ-જિનવલ્લભ-જિનશેખર-પદ્મેન્દુ શિષ્ય અભયદેવસૂરિ (બીજા) એ 'શ્રી' એ શબ્દથી અંકિત જયન્તવિજયં કાવ્ય (પ્ર. કાવ્યમાલા નં. ૭૫), સં. ૧૨૮૦માં શ્રીપ્રભસૂરિએ હેમચંદ્રના કારકસમુચ્ચયોધિકારત્રયમાંથી પહેલા બે અધિકાર પર વૃત્તિ, સં. ૧૨૮૧માં લક્ષ્મીધરે તિલકમંજરીકથાસાર, સં. ૧૨૮૨માં (ખ૦ જિનપતિસૂરિ શિ૦) ઉક્ત પૂર્ણભદ્ર ગણિએ સ્થાનાંગ-ભગવતી-ઋષિસ્તવમાંથી ઉદ્ધરી અતિમુક્તચરિત્ર પાલણપુરમાં, અને તેણેજ સં. ૧૨૮૫માં જેસલમેરમાં ૭ પરિચ્છેદવાળું ધન્યશાલિભદ્રચરિત તેમજ જેસલમેરમાં સં. ૧૩૦૫ (બાણધ્યાનાનલઔ ?) કૃતપુણ્યચરિત્ર (મોટી ટોલી ભં. પાલીતાણા) આદિ રચ્યાં. આ ધન્યશાલિભદ્રચરિતમાં સર્વદેવસૂરિએ સહાય આપી છે અને તેના સંશોધક સૂરપ્રભવાચક હતા કે જેમણે વાદિ યમદંડ નામના દિગંબરને ખંભાતમાં જીત્યો હતો, કાલસ્વરૂપકુલક વૃત્તિ રચી હતી અને જેમણે ચંદ્રતિલક ઉપાધ્યાય અને વિદ્યાનંદને અભ્યાસ કરાવ્યો હતો.

૫૬૪. સં. ૧૨૮૫ના અરસામાં પાર્શ્વનાથ ચરિત્રાદિ વિંશતિ (૨૦) પ્રબંધના કર્તા આચાર્ય વિનયચંદ્ર વિદ્યમાન હતા. તેમનો કવિશિક્ષા નામનો કાવ્યસાહિત્ય પર રચેલ (વિનયાંક) ગ્રંથ તાડપત્ર પર પાટણ ભંડારમાં વિદ્યમાન છે. (પા. સૂચિ નં. ૫૯) તે કવિ તેમાં કહે છે કે બપ્પભટ્ટી ગુરુની વાણીમાં કવિશિક્ષા કહીશ (**नत्वा श्री भारतीं देवीं बप्पभट्टिगुरोर्गिरा । काव्यशिक्षां प्रवक्ष्यामि नानाशास्त्रनिरीक्षणात् ।**) બપ્પભટ્ટી કાવ્યશિક્ષ કહેવાતા હતા; અને તેમની રચેલી કાવ્યશિક્ષાનો વિનયચંદ્રે પોતાના ગ્રંથમાં ઉપયોગ કરેલો હશે. પ્રસ્તુત શિક્ષામાં તે વખતના ૮૪ દેશોની ૪૫૦માહિતી

૪૦૫. ચોરાશી દેશોનાં નામ નીચે પ્રમાણે ગણાવેલાં છેઃ— 'चतुरशीतिर्देशाः गौडकन्यकुब्ज कौशाक कलिंग अंग वंग कुरंग आचाल्य कामाक्ष ओष्ट्र पुंड्रवदीश मालवलोहित पश्चिम काछवालम सौराष्ट्र कुंकण लाट श्रीमाल अर्बुदमेदपाट मरुवरेन्द्र यमुनागंगातीरअंतर्वेदि

પર વિવરણ, સં. ૧૨૯૩માં જિનવલ્લભસૂરિકૃત દ્વાદશ કુલક પર વિવરણ અને પંચલિંગી વિવરણ-ટિપ્પન, સં. ૧૨૯૮માં જિનદત્ત-સૂરિકૃત ચર્ચરી નામના અપભ્રંશ કાવ્ય પર વિવરણ, (પ્ર. ગા. ઓ. સી.) તથા તે ઉપરાંત સ્વપ્નવિચારભાષ્યાદિ રચ્યાં. (અપભ્રંશ કાવ્યત્રયી. પ્રસ્તાવના પૃ. ૬૫-૭૦, જેસ. પ્ર. ૪૧. વે૦ નં. ૧૬૨૩)

૫૬૮. સં. ૧૨૯૨માં દિગંબરી પંડિત આશાધરે ત્રિષષ્ટિસ્મૃતિ માલવાના પરમાર દેવપાલના રાજ્યમાં અને સં. ૧૩૦૦માં જયતુગિ દેવ (જયસિંહ)ના રાજ્યમાં ધર્મામૃત શાસ્ત્રની રચના કરી. આ ઉપ-રાંત તેણે અનેક ગ્રંથો રચ્યા છે.

૫૬૯. સં. ૧૨૯૪માં આ. ધર્મઘોષ સૂરિના શિષ્ય અને પટ્ટધર મહેન્દ્રસૂરિએ ઉક્ત ધર્મઘોષની શતપદીમાં કેટલાક પ્રશ્નો ઉમેરી, ઉદ્ધરી, ક્રમરચનામાં ક્વચિત્ ફેરફાર કરી તે શતપદી-પ્રશ્નોત્તર પદ્ધતિનો સમુદ્ધાર કર્યો (પી. ૧, ૧૨; પી. ૫, ૬૭). કે જેની સં. ૧૩૦૦ માં લખાયેલી પ્રત પા. ભં. માં છે. વળી તેણે ૧૧૧ ગાથાનું તીર્થ-માલા સ્તોત્ર-પ્રતિમા સ્તુતિ પ્રાકૃતમાં સટીક રચ્યું (બુહ્. ૮ નં. ૪૧૮ મુ૦ વિધિપક્ષ પ્રતિક્રમણ. ભી. મા.) જીરાવલ્લી પાર્શ્વનાથ સ્તોત્ર (પી. ૧ નં. ૩૧૬)ના રચનાર મહેંદ્રસૂરિ આ હશે. આ મહેંદ્રસૂરિના શિષ્ય (પ્રાયઃ ભુવનતુંગસૂરિએ) ચતુઃશરણાવચૂરિ રચી (લીં.)

૫૬૯. વળી સં. ૧૨૯૪માં ચંદ્ર કુલના વિબુધપ્રભસૂરિ શિષ્ય પદ્મપ્રભસૂરિએ મુનિસુવ્રતચરિત (પી.૩, ૩૦૨) અને કુંથુચરિત (કે જેની સં. ૧૩૦૪ની પ્રત જેસ. ભં. માં છે) રચ્યાં. પાર્શ્વસ્તવ ભુવનદીપક આદિના ગ્રંથકાર આ પદ્મપ્રભ છે કે બીજા તેનો નિશ્ચય થયો નથી.

૫૭૦. સં. ૧૨૯૫માં ખ. જિનપતિસૂરિ શિષ્ય સુમતિ ગણિએ મૂલ જિનદત્તસૂરિકૃત ગણધરસાર્ધશતક પર બૃહદ્વૃત્તિ રચી. તે વૃત્તિ પહેલાં ખંભાતમાં આરંભીને ધારાપુરી-નલ કચ્છકાદિ વિહાર કરતાં

કરતાં છેવટે મંડપદુર્ગ–માંડવગઢમાં પૂરી કરી, અને તેને જૈન વિદ્વાન્ જલ્હણે લખી; અને તેનો પ્રથમાદર્શ ખ. જિનેશ્વરસૂરિ શિષ્ય કનકચંદ્રે લખ્યો. (જેસ. ૩૯, જે. પ્ર. ૫૦; ભાંડા. રી. ૧૮૮૨–૮૩ પૃ. ૪૮). આજ વર્ષમાં ઉદયસિંહસૂરિએ જિનવલ્લભની પિંડવિશુદ્ધિ પર સૂત્ર સહિત ૭૦૩ શ્લોક પ્રમાણ દીપિકા રચી. (પા. સૂચિ)

૫૭૧ સં. ૧૨૯૬માં ગુણાકરસૂરિએ નાગાર્જુન કૃત યોગરત્નમાલા પર વૃત્તિ કરી; સં. ૧૨૯૮માં ચંદ્રગચ્છમાં (ભદ્રેશ્વરસૂરિ–હરિભદ્ર–શાન્તિસૂરિ–અભયદેવ–પ્રસન્નચંદ્ર–મુનિરત્ન–શ્રીચંદ્રસૂરિશિષ્ય) દેવેન્દ્રસૂરિએ ૫૭૩૦ શ્લોક પ્રમાણ ઉપમિતિભવપ્રપંચકથા સારોદ્ધાર (પી. ૬, ૪૦) રચ્યો કે જેનું સંશોધન પ્રસિદ્ધ સંશોધક પ્રદ્યુમ્નસૂરિએ કર્યું હતું, આ દેવેન્દ્રસૂરિને સૂરિપદ તેના ગુરૂ શ્રીચંદ્રસૂરિના પટ્ટધર યશોદેવસૂરિએ આપ્યું હતું.

૫૭૨. 'ગૂર્જરેશ્વર **ભીમદેવ** અને મહારાણા **વીરધવલ**ના મહામાત્ય, ગૂજરાતના ગૌરવને વિસ્તારનાર, પ્રૌઢપ્રતિભાસંપન્ન, લક્ષ્મી અને સરસ્વતીના લાડીલા ધર્મપુત્ર, તેજપાલના જ્યેષ્ઠ બંધુ, પોતાના પ્રચંડ બાહુબલથી વૈરીઓના વિક્રમને પરાસ્ત કરનાર યુદ્ધવીર, દિલ્હીના સુલતાન મોજદીન પાદશાહને વિચક્ષણતાથી ગૂર્જરભૂમિ સાથે સંધિ કરાવનાર, મહારાણા **વીરધવલ** દ્વારા શત્રુંજયની પૂજા માટે અંકેવાલિય ગામ શાસનમાં અપાવનાર, શત્રુંજય–ગિરનાર–આબુ વગેરે અનેક તીર્થસ્થાનોમાં–દેવમંદિરોમાં–સંઘયાત્રા મહોત્સવોમાં તથા સેંકડો અન્ય ધર્મસ્થાનકોમાં કરોડો અને અબ્જોની સંખ્યામાં લક્ષ્મીનો સદ્વ્યય કરનાર ધર્મવીર, ચતુરતાપૂર્વક નિર્દોષ ધર્માચરણો આચરી કલિયુગમાં પણ કૃતયુગને ઉતારનાર સર્વ દર્શનોને સન્માન અને સમભાવથી જોનાર, કવિઓના આશ્રયદાતા, સુવર્ણધારાધર વરસાવી સમસ્ત યાચકોને સંતુષ્ટ કરનાર દાનવીર, નરનારાયણાનંદ મહાકાવ્ય આદીશ્વર મનોરથમય સ્તોત્ર સૂક્તિઓ વગેરે રચનાર, વિચારચતુર,

વિવેકવાચસ્પતિ વિખ્યાત મંત્રીશ્વર વસ્તુપાલનું[૪૦૭] શત્રુંજયની તેરમી યાત્રા માટે પ્રયાણ કરતાં માર્ગમાં વિ. સં. ૧૨૯૬માં માઘમાસની પંચમી તિથિએ રવિવારના પ્રથમ પહોરમાં ધર્મરાજ-પુત્રી સદ્ગતિ સાથે પાણિગ્રહણ થયું-સ્વર્ગમન થયું. (વ૦ વિ૦). મંત્રી તેજપાલ સં. ૧૩૦૪માં સ્વર્ગસ્થ થયો. [૪૦૮]

૫૭૩ વસ્તુપાલના મુખથી મૃત્યુ પહેલાં જે પદ્યો નીકળેલાં રાજશેખર જણાવે છે તેથી તેની અંતર્ગત ભાવનાનું સ્વરૂપ સમજાય છે.

शास्त्राभ्यासो जिनपदनतिः संगतिः सर्वदार्यैः
सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम् ।
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे
सम्पद्यन्तां मम भवभवे यावदाप्तोऽपवर्गः ॥

૫૭૪. 'ઇ. સ. ૧૩મો સૈકો સોમેશ્વરદેવ, નાનાક પંડિત, સુભટ, અરિસિંહ, અમરચંદ્રસૂરિ વગેરે સમકાલીન કવિઓના તેજથી ઉજ્જ્વળ દીપે છે. આ યુગ સાહિત્યના વિલાસનો હતો. કુમારપાળ, ભીમદેવ, લવણપ્રસાદ, વીરધવલ, વીશળદેવ, વસ્તુપાળ, તેજપાળ વગેરે સાહિત્યના શોખીન ઉત્તેજકો હતા. ભોજ અને વિક્રમરાજાની સભામાં જેમ કવિમંડળો મળતાં, તેમ આ સમયમાં ગૂજરાતના રાજાઓની સભાઓ પણ વિવિધ દેશના કવિઓની ચાતુરી બતાવવાનું સ્થાન હતું. અનેક નાના મોટા કવિઓ ત્યાં એકઠા થતા, પરસ્પર સ્પર્ધા

---

૪૦૭. પંડિત લાલચંદનો લેખ 'સિદ્ધરાજ અને જૈનો.'

૪૦૮ સ્વ. ત૦ મ૦ ત્રિપાઠીને એક જીર્ણ પ્રતના પાનામાં પણ લખેલું મળ્યું હતું કે

'सं. १२९६ महं० वस्तुपालो दिवं गतः ।
सं. १३०४ महं० तेजःपालो दिवं गतः ॥'

જ્યારે ચ૦ પ્ર. માં વસ્તુપાલનું અને તેજપાલનું મૃત્યુ સં. ૧૨૯૮ અને ૧૩૦૮ માં અનુક્રમે થયેલું જણાવેલું છે, તે ઠીક નથી.

કરતા, અને જ્યાં કવિતા અઢળક દ્રવ્ય પ્રાપ્ત કરવાનું સાધન હતું ત્યાં 'કાવ્યચૌરનો અભાવ ન હોય તે સ્વાભાવિક છે.'[૪૦૯]

૫૭૫ 'પાટણના ગૂર્જર રાજ્યની સ્થાપના જૈનોથી થયેલી છે; અને વનરાજના સમયથી પાટણ જૈનોના મધ્યબિન્દુ તરીકે પ્રસિદ્ધ થયેલ છે. જૈન ધર્મ તથા તેના આચાર્યોને મળતા રાજ્યાશ્રયથી ૧૦ થી ૧૩ મા શતક સુધીમાં જૈન આચાર્યોએ ગૂજરાતના પાટનગરમાં તથા અન્ય સ્થળોએ રહીને ઘણા અગત્યના ગ્રન્થો રચીને ગૂજરાતનું સાહિત્ય ઉત્પન્ન કરેલું છે. જૈન આચાર્યોએ રચેલું સાહિત્ય બાદ કરીએ તો ગૂજરાતનું સાહિત્ય અત્યંત ક્ષુદ્ર દેખાશે. સાહિત્યની પ્રવૃત્તિ પુસ્તકોના સંગ્રહ વગર અશક્ય છે અને તેથી જૈનોએ પોતાના ધાર્મિક સાહિત્ય ઉપરાન્ત બૌદ્ધ તથા બ્રાહ્મણ ગ્રંથો પાટણ, ખંભાત વગેરેના સ્થળોના ભંડારોમાં સંગ્રહેલા હતા; અને આ ભંડારોના લીધેજ બૌદ્ધો તથા બ્રાહ્મણોના પ્રાચીન ગ્રંથો જે કોઇ પણ ઠેકાણેથી મળે નહીં તેવા અહિંયા ઉપલબ્ધ થયેલા છે.'[૪૧૦]

---

૪૦૯. પ્રો૦ આનન્દશંકરનો લેખ 'ગુજરાતનું સંસ્કૃત સાહિત્યઃ એ વિષયનું થોડુંક રેખાદર્શન.' (ત્રીજી ગૂ. સા. પરિષદ્‌નો અહેવાલ).

૪૧૦. સ્વ. ચીમનલાલ દલાલનો લેખ 'પાટણના ભંડારો અને ખાસ કરીને તેમાં રહેલું અપભ્રંશ તથા પ્રાચીન ગૂજરાતી સાહિત્ય' (સુરત ગૂ. સા. પરિષદ્‌નો અહેવાલ) તેમજ તેમનો લેખ નામે 'પાટણના ભંડારો'—લાયબ્રેરી મિસેલેની-જુલાઈથી અકટોબર સને ૧૯૧૫.

પ્રકરણ ૫ મું.

વાઘેલા વંશનો સમય.

[સં. ૧૩૦૦ થી ૧૩૫૬.]

जीए पसायाउ नरा सुकईसरसत्थवल्लहा हुंति ।
सा सरसई य पउमावई य मे दिन्तु सुयरिद्धिम् ॥

—જેના પ્રસાદથી મનુષ્યો સુકવિ અને સરસાર્થના વલ્લભ થાય છે તે સરસ્વતી અને પદ્માવતી મને શ્રુતની ઋદ્ધિ આપો.

—જિનપ્રભસૂરિકૃત વિધિપ્રપા.

૫૭૬. વસ્તુપાલ–તેજપાલે ગૂજરાત નવેસર રચ્યું. સર્વ જાતિની પ્રજાના હિતનાં કાર્યો કરી તેઓમાં એકતા સાધી. જૈન શાસનને ઉજ્વલ અને દૃઢ બનાવ્યું. વિશલદેવે સં. ૧૩૦૦માં સોલંકી ત્રિભુવનપાલ પાસેથી ગૂજરાતનું રાજ્ય લઇ સં. ૧૩૧૮ સુધી રાજ્ય કર્યું.

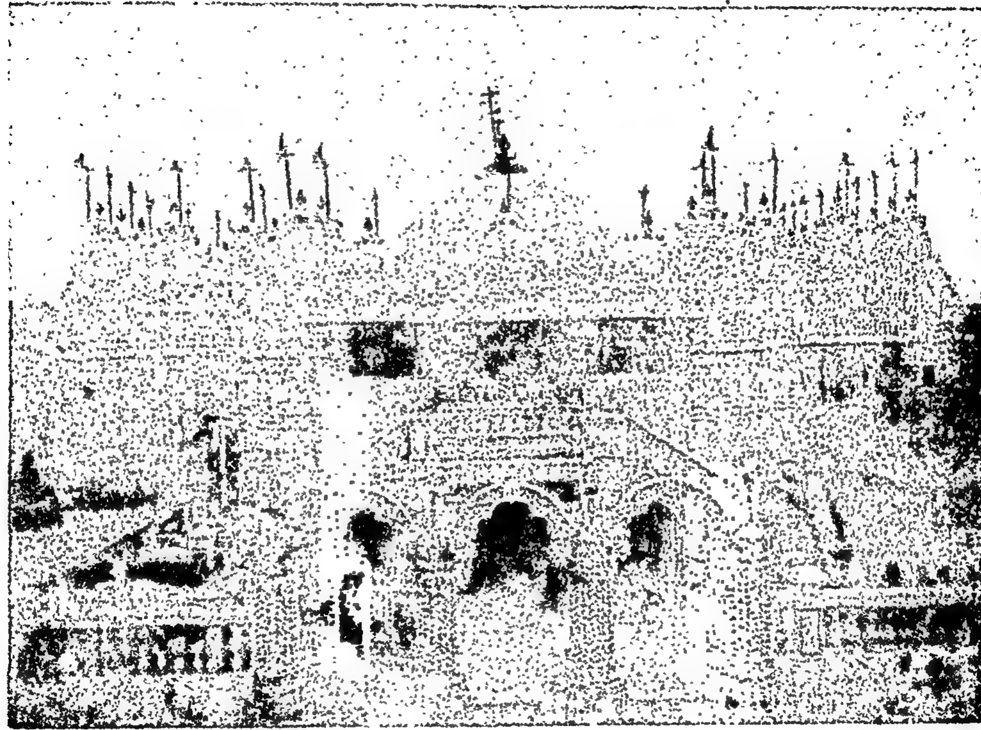
આ સમયમાં કૃષ્ણર્ષિના સંતાનીય જયસિંહસૂરિ થયા તેમણે સં. ૧૩૦૧માં મંત્રવાસિતજલથી મરૂભૂમિમાં સંઘને જીવાડયો હતો.૪૧૧

૫૭૭ આ સમયમાં તપાગચ્છના દેવેન્દ્રસૂરિ અને તેમના ગુરૂભ્રાતા વિજયચંદ્ર સૂરિ વચ્ચે મતભેદ થયો હતો; ખંભાતમાં વિજયચંદ્રે એકી સાથે ઘણાં ચોમાસાં વૃદ્ધશાલામાં–મોટા ઉપાશ્રયમાં ગાળ્યાં, અને તેથી ત્યારપછી તેમના અનુયાયીઓનો પક્ષ 'વૃદ્ધશાલિક' કહેવાયો ને દેવેંદ્રસૂરિનો પક્ષ તેઓને વિહાર કરી આવતાં લઘુશાલામાં રહેવું પડતું

૪૧૧ तस्माद् विस्मयनीयचारुचरिते श्रीसूरिचक्रे क्रमा-
ज्जाते श्री जयसिंहसूरिरुदभून्निर्ग्रन्थचूडामणिः ।
संवद् विक्रमतस्त्रयोदशशतेष्वेकोत्तरेष्व(१३०१) र्करुक्
क्लान्तं संघमजीजिवज्जलभरैर्यो मंत्रकृष्टै र्मरौ ॥
—જયસિંહસૂરિ (ઉકત જયસિંહસૂરિના સંતાનીય)કૃત કુમારપાલ ચરિત્ર પ્રશસ્તિ. સં. ૧૪૨૨.



મહામાત્ય વસ્તુપાલ તેજપાલનું મંદિર–ગિરનાર પારા ૫૨૭
[જૈન સસ્તી વાંચનમાળાના સૌજન્યથી]



કચ્છ-ભદ્રેશ્વરનું પ્રસિદ્ધ મંદિર-(જગડુશાનું પૃ. ૪૦૧)
[જૈન સસ્તી વાંચનમાળાના સૌજન્યથી]

તેથી 'લઘુશાલિક' કહેવાયો. વિજયચંદ્ર સૂરિએ કડક આચારમાં થોડો ઘણો શિથિલ માર્ગ દાખલ કર્યો કે 'ગીતાર્થો (મુનિઓ) વસ્ત્રની પોટલીઓ રાખી શકે, હમેશાં ઘી દૂધ વગેરે ખાઇ શકે, કપડાં ધોઇ શકે, ફળ અને શાક લઇ શકે, સાધ્વીઓએ આણેલું ભોજન જમી શકે, અને શ્રાવકોને પ્રસન્ન રાખવા તેઓની સાથે બેસી પ્રતિક્રમણ પણ કરી શકે' (ધર્મસાગરકૃત પટ્ટાવલી)

૫૭૮. વીસલદેવના વારામાં સં. ૧૩૧૨ થી ૧૩૧૫માં જબરો દુકાળ પડયો, તે વખતે કચ્છના ભદ્રેશ્વરના શ્રીમાળી જૈન જગડુશાહે સિંધ, કાશી, ગૂજરાત વગેરે દેશમાં પુષ્કળ અનાજ આપી દાનશાળાઓ ખોલી અને ત્રણ વર્ષના દુષ્કાળનું સંકટ નિવાર્યું. તેણે આર્દ્રપુર-(એડન) સુધી વેપાર ખેડયો હતો. આમ વ્યાપારનિપુણ, અતિ ધનાઢય હોવા ઉપરાંત સાહસી વીર, ધર્મનિષ્ઠ અને દીન દુઃખીઆંને ઘણી સહાય આપનાર તે હતો. શત્રુંજય અને ગિરિનારના સંઘ કાઢી જૈનમંદિરો બંધાવી, જીર્ણ મંદિરોનો ઉદ્ધાર કરી જૈનધર્મની સેવા કરી. જૈન હોવા છતાં બીજા ધર્મો પર તેને જરાપણ દ્વેપ ન હતો, તેથી તેણે શિવ અને વિષ્ણુનાં મંદિરોનો જીર્ણોદ્ધાર કરાવ્યો અને મુસલમાનોને માટે મસજીદ બંધાવી હતી. તેના વિચાર સુધારક હતા. તેણે પોતાની વિધવા પુત્રીનું પુનર્લગ્ન કરવાનો વિચાર કરી તેને માટે પોતાની જ્ઞાતિની આજ્ઞા પણ તે પ્રાપ્ત કરી ચૂક્યો હતો. પરન્તુ પોતાના કુટુમ્બની બે વૃદ્ધ સ્ત્રીઓના વિરોધથી તે તેમ કરતાં અટકયો હતો.૪૧૨

૪૧૨. જુઓ ધનપ્રભસૂરિ શિ૦ સર્વાનન્દસૂરિકૃત જગડૂચરિત. મૂળ તેમજ ગૂ૦ ભાષાંતર ટીકાસહિત રા. મગનલાલ દલપતરામ ખખરે પ્રકટ કર્યું છે. (જુઓ ૨ નં. ૨૮૪) નાગરી પ્રચારિણી પત્રિકામાં લેખ તથા વસંતમાં આવેલ રા. કૃષ્ણલાલ મોહનલાલ ઝવેરીનો લેખ. 'સર્વાનન્દ-સૂરિનું' શ્રી જગડૂચરિત એક કાવ્ય-ચરિત પુસ્તક છે. આ કાવ્યગ્રંથ છે એટલે તેમાં અલંકાર અને અતિશયોક્તિ હોય તે સ્વાભાવિક જ છે, પરન્તુ એ અતિશયોક્તિ અને અલંકાર છતાં પણ તેમાંથી ઇતિહાસને

૫૭૯. ઉદયન મંત્રીના પુત્ર ચાહડના પુત્ર પદ્મસિંહના પુત્ર સલક્ષ (સલખણુ) ને વીસલદેવે પ્રથમ સૌરાષ્ટ્ર (કાઠિયાવાડનો મોટો ભાગ)નો અધિકારી કર્યો હતો, અને પછી લાટ (ભરૂચ આદિ) દેશનો અધિકારી બનાવ્યો હતો કે જ્યાં નર્મદા તીરે તેનો દેહાન્ત થયો હતો. (સં. ૧૩૨૦ પૂર્વે) તેના શ્રેય સારૂ તેના ભાઈ સામંત (સિંહ) મંત્રીએ 'સલક્ષનારાયણુ' નામે હરિ (વિષ્ણુ)ની પ્રતિમા સ્થાપી. ઉક્ત સામંતસિંહ સચિવ (મંત્રી)ને વીસલદેવે સુરાષ્ટ્રનો અધિકાર સોંપ્યો હતો, તેમજ અર્જુન (દેવ) રાજાએ પણ સોંપ્યો. તેણે સમુદ્રતીરે દ્વારકાપતિના માર્ગમાં જર્જર (જીર્ણ) થયેલા રેવતીકુંડને પોતાની માતાના શ્રેય સારૂ નવા પત્થરનાં પગથીઆંથી (બંધાવી) વાવ સમાન કર્યો ને ત્યાં ગણેશ, ક્ષેત્રપાલ, સૂર્ય અને ચંડિકાદિ માતાઓ સહિત મહાદેવ અને જલશાયી (વિષ્ણુ) કરાવ્યા ને રેવતી તથા

યોગ્ય ઘણાં બિન્દુઓ મળી આવે છે. જગડૂશાહના વૃત્તાંતની સાથે સંબંધ રાખતાં બીજા બનાવોને નોંધતાં સર્વાનન્દસૂરિએ આ કાવ્ય-પુસ્તકમાં પણ ઐતિહાસિક બિંદુ લક્ષમાં લીધેલાં હોય એમ લાગે છે. લોકની રીતભાત, દેશની સ્થિતિ અને નાયકના વૃત્તાંતનું વર્ણન તે કાળનું વાચકને યથાર્થ દર્શન કરાવે છે. કંથકોટ, ભદ્રેશ્વર વગેરે નગરોનાં વર્ણનો તે તે સ્થાનની વિભૂતિથી તે કાળે, તે કેવાં સમૃદ્ધિવાન્ હતાં તે સ્પષ્ટ દેખાડે છે. × × ગૂજરાત, સિંધ, થરપારકર, કચ્છ, કાઠિઆવાડ વગેરેમાં રાજ્ય કરતા રાજાઓના સંબંધમાં પણ કેટલાક પ્રસંગ જાણવા જેવા આવે છે. પારકર-થરપારકરના રાજા પીઠદેવના સંબંધમાં જગડૂશાહે ગૂજરાતના રાજાની મદદ મેળવી હતી. મોટા રાજાઓની સાથે પણ તે કાળના વ્યાપારીઓ કેવા મમતથી કામ લેતા હતા તે તથા દરબારમાં જગડૂશાહ જેવા માતબર વ્યાપારીઓનું કેવું માન હતું વગેરે બીના જગડૂશાહ ગૂજરાતના રાજદરબારમાં ગયો તે વેળાએ તેને મળેલા માનપરથી જણાઇ આવે છે. તે કાળે ગૂજરાત અને કચ્છ કાઠીઆવાડના વેપારીઓ સમુદ્ર માર્ગે વેપાર ચલાવતા હતા અને ખંભાતમાં તુર્ક લોકોનું રાજ્ય હતું વગેરે બીના જેતસી નામના જગડૂશાહના એક વહાણવટે ગયેલા ગુમાસ્તાના વૃત્તાંત પરથી સ્પષ્ટ થાય છે.'—ગુજરાતી. ૨૪-૬-૧૮૯૬ પૃ. ૬૪૫.

-અલ્લદેવની એ મૂર્ત્તિ સ્થાપી. તે કુંડ સંબંધીના લેખની પ્રશસ્તિ-સામંત મંત્રિના ગોત્રે (કુલે-વંશે) પૂજાયેલા એવા બુદ્ધિમાન મોક્ષાર્ક (મોક્ષાદિત્ય)ના પુત્ર હરિહર કવિએ રચી હતી ને તેની પ્રતિષ્ઠા સં. ૧૩૨૦ જ્યેષ્ઠ સુદિ ૪ બુધે થઈ.૪૧૩ અને રૈવતાચલના શિખર ઉપર નેમિનાથના મંદિર પાસે એક ઉચ્ચ પ્રાસાદ અને પાર્શ્વનાથનું બિંબ (પ્રતિમા) સ્થાપ્યાં.

---

૪૧૩. જુઓ આ સંબંધીનો 'શ્રી પોરબંદર રાજ્યમાં કાંટેલા ગામમાં મહાકાલેશ્વર મંદિરનો સં. ૧૩૨૦ નો શિલાલેખ'—લેખક સ્વ. શ્રી તનસુખરામ મનઃસુખરામ ત્રિપાઠી. બુદ્ધિપ્રકાશ સન ૧૯૧૫ પુ. ૬૨, પૃ. ૮ થી ૧૮, ૪૫ થી ૪૯, અને ૭૬ થી ૮૨. પાર્શ્વનાથ બિંબ સ્થાપ્યાનું વર્ષ સં. ૧૩૦૫ છે. ગિરનાર પર વસ્તુપાલનાં મંદિરોમાં મધ્ય મંદિરમાં એક પાર્શ્વનાથ બિંબ છે. તેના તલે આ પ્રમાણે લેખ છે—'સંવત્ ૧૩૦૫ વર્ષે વૈશાખ શુદિ ૩ શનૌ શ્રી પત્તનવાસ્તવ્ય શ્રીમાલ જ્ઞાતીય ઠ૦ વા (ચા ?) ઙડ સુત મહ. પદ્મસિંહ પુત્ર ઠ૦ પથિમિદેવી અંગજ (મહણસિંહા)નુજ મહં શ્રી સામતસિંહ તથા મહામાત્ય શ્રી સલખણસિંહાભ્યાં શ્રીપાર્શ્વનાથ બિંબં પિત્રોઃ શ્રેયસેઽત્ર કારિતં તતો બૃહદ્ગચ્છે શ્રી પ્રદ્યુમ્નસૂરિ પટ્ટોદ્ધરણ શ્રીમાનદેવસૂરિ શિષ્ય શ્રી જયાનંદિસૂરિભિઃ) પ્રતિષ્ઠિતમ્।'—આ વખતે સલખણ જીવતો હતો એમ જણાય છે. સામંતસિંહ ચુસ્ત જૈન હતો છતાં તેણે વિષ્ણુપ્રતિમા સ્થાપી એ સંબંધમાં ઉક્ત સાક્ષર શ્રી ત્રિપાઠી જણાવે છે કે 'જૈનો-પણ શિવ, વિષ્ણુ, અંબા આદિનાં મંદિરો બંધાવતા. પૂર્વકાલમાં ધર્મભેદ હોવા છતાં હાલના કાલમાં જણાય છે તેવો દેવદ્વેષ ન હતો. એવી રીતિએ વસ્તુપાલ હેમચંદ્ર આદિ ઘણાં જૈનોએ શિવાદિ દેવો પ્રતિ પોતાનો અવિરોધ દર્શાવ્યો છે. ગમેતે રૂપમાં પરમાત્માજ પૂજ્ય છે એમ તેઓની શુદ્ધ અને સત્ય મતિ હતી........ પૂર્વના જૈનો બહુધા અપરદેવદ્વેષી ન હતા. વસ્તુપાલ સંબંધમાં પણ સોમેશ્વર (કી. કૌ. ૪-૪૦) લખે છે—नानर्च भक्तिमात्रेमौ नेमौ शंकरकेशवौ। નેમિ જિનમાં ભક્તિમાન એ વસ્તુપાલ શંકર અને કેશવની પૂજા કરતો ન હતો એમ ન હતું. વસ્તુપાલે પુનઃ ખંભાતમાં શ્રી વૈદ્યનાથનું શિવાલય બંધાવ્યું હતું (સુ. સં. ૧૧-૭)"

૫૮૦. સં. ૧૩૨૦ આસપાસ ઇતિહાસ પ્રસિદ્ધ **માંડવગઢના** પેથડકુમારે ભિન્ન ભિન્ન ૮૦ સ્થળોમાં જિનમંદિરો બંધાવ્યાં.

આ પેથડકુમારનો ઇતિહાસ જાણવા જેવો છેઃ—અવન્તિ દેશના એક ભાગ **નમ્યાટ** નામના દેશમાં **નાન્દુરી** નામની પુરીમાં ઊકેશ વંશનો દેદ નામના દરિદ્ર વાણીઆને એકદા યોગીએ સુવર્ણરસસિદ્ધિ કરી તેને તે આપતાં તે શ્રીમંત થયો. રાજાને કોઈએ તેને નિધિ પ્રાપ્ત થયો છે એવી ચાડી કરતાં રાજાએ તેને કેદમાં નાંખ્યો. ત્યાંથી સ્તંભન પાર્શ્વનાથની પ્રાર્થનાથી છૂટી તેને છોડી વિદ્યાપુર (વીજાપુર) જઈ ત્યાં વાસ કર્યો, ત્યાંથી ખંભાત જઈ તે પાર્શ્વનાથની પૂજા કરી સુવર્ણદાન કરતાં લોકોમાં 'કનકગિરિ'નું બિરુદ મેળવ્યું. પછી ત્યાંથી કાર્યવશાત્ દેવગિરિ જઈ ત્યાં મહા વિશાલ ધર્મશાલા–પૌષધશાલા બંધાવી. ત્યારપછી **પેથડ** (પૃથ્વીધર) નામનો પુત્ર થયો. તે પેથડને ઝાંઝણ નામનો પુત્ર થયો, ને દેદ સ્વર્ગસ્થ થયો. પેથડના સમયમાં તપાગચ્છના ધર્મઘોષસૂરિ હતા. ગૂર્જરાધીશ તેમનો મિત્ર હતો, અને તેમણે દેવપત્તનમાં કપર્દિયક્ષને પ્રતિબોધી જિનબિંબનો અધિષ્ઠાયક કર્યો હતો, ઉજ્જયંતમાં મોહનવેલીથી ભ્રમિત થયેલ શિષ્યને સરખો કર્યો, ઉજ્જયિનીમાં કોઈ યોગીને મંત્રથી વશ કર્યો અને સર્વ વિકૃતિનો ત્યાગ કરી જૈન ધર્મની ઉન્નતિ કરી હતી. તે વિદ્યાપુરમાં ચાતુર્માસ કરવા આવ્યા. તેના ઉપદેશથી પેથડે પરિગ્રહપ્રમાણ વ્રત લીધું. માલવદેશમાં ભાગ્યોદય છે એમ ગુરુપાસેથી જાણી લઈ તે મંડપદુર્ગમાં ગયો. ત્યાં પરમાર **જયસિંહ**ના રાજ્યમાં લવણ વેચનારની દુકાન માંડી, ત્યાં એક આભીરી ઘી વેચવા આવી ને તેના ઘડાંની નીચેથી ચિત્રકવેલી સાંપડી, રાજાની કૃપા થઈ. જબરો વેપારી થયો. ઝાંઝણની સાથે દિલ્લીના શ્રેષ્ઠી ભીમે પોતાની સૌભાગ્યદેવી નામની પુત્રી પરણાવી. ત્યાંના રાજાનો માંડલીક **શાકંભરી**નો રાજા ચાહમાન ગોગાદે હતો. તેની શિખવણીથી પેથડને બોલાવી તેની પાસેથી ચિત્રવેલી માંગી તે તેણે રાજાને આપી, પણ તે તેની પાસેથી ચાલી ગઈ. રાજાએ

પેથડને બહુ માન આપી છત્રચામર આદિ રાજ્યાધિકાર ચિન્હો આપ્યાં. પછી અર્બુદ (આબુ) ની યાત્રા કરવા પેથડ ચાલ્યો. જીરાપલ્લી પાર્શ્વનાથના દર્શન કર્યા ને પછી આબુની યાત્રા કરી.

૫૮૧. ધર્મઘોષસૂરિ મંડપદુર્ગમાં આવ્યા. ચૈત્યનિર્માણનાં ફલ બતાવતાં પેથડે જુદાં જુદાં સ્થળે એમ ૮૪ પ્રાસાદ કરાવ્યા. મંડપદુર્ગમાં ૭૨ જિનાલયવાળો આદ્ય તીર્થંકરનો શત્રુંજયાવતાર નામનો પ્રાસાદ સુવર્ણદંડ કલશવાળો ૧૮ લક્ષ દ્રમ્મ ખર્ચી કરાવ્યો. શત્રુંજયમાં શાન્તિનાથ ચૈત્ય, બંધાવ્યું. બીજાં સ્થળોનાં નામ નીચે પ્રમાણે છેઃ—

भारतीपत्तने तारापुरे दर्भावतीपुरे। सोमेशपत्तने वांकिमान्धातृपुरधारयोः ॥
नागह्रदे नागपुरे नासिक्ययटपद्रयोः। सोपारके रत्नपुरे कोरंटे करहेटके ॥
चंद्रावती चित्रकूट चारूपैन्द्रीपु चिक्खले। विहारवामनस्थल्यां ज्यापुरोज्जयिनिपुरोः ॥
जालन्धरे सेतुबन्धे देशे च पशुसागरे। प्रतिष्ठाने वर्धमानपुर पर्णविहारयोः ॥
हस्तिनापुर देपालपुर गोगपुरेषु च। जयसिंहपुरे निम्नस्थूराद्रौ तदधोभुवि ॥
सलक्षणपुरे जीर्णदुर्गे च धवलक्कके। मकुड्यां विक्रमपुरे दुर्गे मंगलतः पुरे ॥
इत्याद्यनेक स्थानेषु रैदंडकलशान्विताः। चतुरंकाधिकाशीतिः प्रासादास्तेन कारिताः ॥

દેવગિરિમાં શ્રી રામ નામનો રાજા હતો તેને હેમાદ્રિ (દ્રિ) નામનો સચિવ હતો. દ્વિજોનું ત્યાં સામ્રાજ્ય પ્રવર્તતું હતું ત્યાં પણ તે પ્રધાનના નામેથી સદાવ્રત કાઢી તેને પ્રસન્ન કર્યો અને પછી પેથડે મોટું જૈનચૈત્ય કરાવ્યું. તે સં. ૧૩૩૫ માં પૂર્ણ થયું. ત્યાં વીરબિંબ પ્રતિષ્ઠિત થયું. તેનું નામ 'અમૂલ્યપ્રાસાદ' પાડવામાં આવ્યું. ઓંકારનગરમાં સત્રાગાર (સદાવ્રતસ્થાન) બંધાવ્યું.

ધર્માભિમુખ થઇ શેત્રુંજય અને રૈવતક પર્વતની યાત્રા કરી. રૈવતકમાં (ગિરિનારમાં) યોગિનીપુર (દિલ્હી) વાસી અગરવાલ પૂર્ણ નામનો દિગંબર શ્રીમંત સંઘલઇને આવેલ હતો. તે અલ્લાવદીન

શાખાનો માન્ય હતો. બંને સંઘ વચ્ચે તકરાર થઈ; આખરે પેથડે ઈંદ્રમાલા પહેરી.

પેથડે ઘણું દ્રવ્ય ખર્ચી મોટા સાત ભારતી-સરસ્વતી ભંડારો ભરૂચ (દેવગિરિ, માંડવગઢ, આબૂ) આદિ શહેરોમાં ભરાવ્યા અને પુસ્તકોની સાચવણ માટે પુંઠા બંધન વગેરે સર્વ સામગ્રી કરાવી.

धनेनानिधनेनाढ्यो भृगुकच्छादिपूर्षु च ।
प्रौढानि सप्तभारत्या भाण्डागाराण्यबीभरत ॥ ६३ ॥
पट्टसूत्रगुणक्षौमवेष्टन स्वर्णचातिकाः ।
निर्माप्य पुस्तकेषु स्वं कृतार्थ्यकृत धीसखः ॥ ६४ ॥

(ઉપદેશતરંગિણીમાં કહેલ છે કે ધર્મઘોષસૂરિના ઉપદેશથી પેથડે અગ્યારે અંગો સાંભળવા માંડયાં:-પાંચમા ભગવતી અંગમાં જ્યાં જ્યાં 'ગોયમાએ' (ગૌતમ) શબ્દ આવતો ગયો ત્યાં ત્યાં એક એક સોના-મહોર મૂકી અને એ રીતે થયેલ ૩૬ હજાર સોનામહોરોથી તે આગમની પૂજા કરી અને તે દ્રવ્યથી તેણે સર્વ શાસ્ત્રો લખાવીને ભૃગુકચ્છાદિક દરેક શહેરોના ભંડારમાં રાખ્યાં.)

૫૮૨. પેથડનો પુત્ર ઝાંઝણ પણ તેવો દાની અને ધર્મરાગી થયો. તેણે મંડપદુર્ગમાંથી સંઘ લઈ તીર્થયાત્રા સં. ૧૩૪૦ ની માઘ શુદ પંચમીને દિને શરૂ કરી. ધર્મઘોષ ગુરૂને સાથે રાખ્યાઃ બાલપુરમાં જઈ ૨૪ જિનબિંબો સ્થાપી ચિત્રકૂટ જઇ ત્યાં ચૈત્ય પરિપાટી કરી કરહેટકમાં આવી ત્યાંના પાર્શ્વનાથ માટે ગુરૂની આજ્ઞાથી મોટું મંદિર ૭ ભૂમિવાળું મંડપોથી યુક્ત બંધાવ્યું. ત્યાંથી આઘાટપુર, નાગહૃદ, જીરાપલ્લિ, અર્બુદગિરિ, ચંદ્રાવતી પછી આરાસણ જતાં મુંજાલ ભિલ્લને વશ કરી આરાસણ જઈ ત્યાંથી તારણગિરિ, પ્રલ્હાદનપુર, અણહિલપુર, પછી શેત્રુંજય તીર્થની યાત્રા કરી. ત્યાં સ્થિરાપદ્ર (થરાદ) ના શ્રીમાલ જ્ઞાતિના આભૂ નામનો ધનિક મોટો સંઘ લઈ આવેલ હતો. તેનું બિરૂદ 'પશ્ચિમ માંડલિક' હતું અને તેના સંઘને 'લઘુ-કાશ્મીર' એ નામ લોકોએ આપ્યું હતું. ઝાંઝણે પછી રૈવતક તીર્થની

યાત્રા કરી. વામનસ્થલી, પ્રભાસ, થઇને કર્ણાવતી આવ્યા. ત્યાં સારંગદેવ રાજાના એક માગધને તેના કાવ્યથી પ્રસન્ન થઈ દાન આપ્યું; ત્યાં ૯૬ રાજબંદીને છોડાવ્યા. સારંગદેવ સાથે રાજભોજન કર્યું. પછી મંડપદુર્ગ આવ્યા. (જુઓ રત્નમંડન ગણિકૃત સુકૃતસાગર કાવ્ય તથા ઉપદેશતરંગિણી)

૫૮૩ તપાગચ્છ સ્થાપક જગચ્ચંદ્રસૂરિના પટ્ટધર દેવેન્દ્ર નામના સૂરિ થયા; તેમનું વ્યાખ્યાનકૌશલ વિશેષ પ્રશસ્ત હતું. એમના વ્યાખ્યાનમાં ખંભાતમાં (કુમાર પ્રાસાદમાં) અઢારસો મનુષ્યો તો સામાયિક કરીનેજ બેસતા, શ્રી વસ્તુપાલ મંત્રી પણ એમના શ્રોતાઓમાંના એક હતા. તેમણે પાંચ નવ્ય કર્મ ગ્રંથ (જૂના કર્મગ્રંથ હતા તેને તેનાંજ નામ રાખી નવા સ્વરૂપમાં ઉદ્ધાર્યા માટે 'નવ્ય') નામે કર્મવિપાક, કર્મસ્તવ, બંધસ્વામિત્વ, ષડશીતિ, અને શતક રચ્યાં.[૪૧૪] ને તે પર સ્વોપજ્ઞ ટીકા બનાવી. તે ટીકાઓમાં હરિભદ્ર કૃત નંદી સૂત્ર ટીકા, મલયગિરિકૃત સપ્તતિકા ટીકા, શતકચૂર્ણિ, ધર્મરત્નટીકાના ઉલ્લેખ છે. આ ટીકા દેવેન્દ્રસૂરિના મિત્રો ધર્મકીર્તિ (ધર્મઘોષસૂરિ) અને વિદ્યાનંદ સૂરિએ સંશોધેલ છે. આ ઉપરાંત સિદ્ધપંચાશિકા, ત્રણ ભાષ્યો નામે દેવવંદન, ગુરૂવંદન અને પ્રત્યાખ્યાન ભાષ્ય (વે. નં. ૧૬૦૧ પ્ર. જૈ. ધ. સભા અને બી. મા.), (પ્રા૦) સુદર્શનાચરિત્ર કે જેમાં સહકર્તા તેમના ગુરૂભ્રાતા વિજયચંદ્રસૂરિ હતા [પી. ૩, ૨૮૯; પી. ૪, ૮૧; કાં. વડો. નં. ૧૩૬],

---

૪૧૪. મૂળ ને ગૂ૦ ભાષાંતર પ્રકરણ રત્નાકર ભાગ ૪ થામાં શ્રી. માણેક પ્રકટ કર્યાં [illegible] મૂળ અને ટીકા જૈ. ધ. સભાએ સં. ૧૯૬૬ માં પ્રસિદ્ધ કરેલ છે. વે નં. ૧૫૭૬ થી ૧૫૮૪. આ પાંચ કર્મગ્રંથમાં છઠ્ઠો કર્મગ્રંથ ચંદ્રર્ષિમહત્તરનો સપ્તતિકા ઉમેરવાથી કુલ [illegible] કર્મગ્રંથ થાય છે. આનું શ્વેતામ્બર સમાજમાં બહુમાન છે, અને દરેક જૈન અભ્યાસી તેનું પઠનપાઠન કરે છે. જૂના કર્મગ્રંથ (શતક) ના કર્તા શિવશર્મ સ્વામી છે. છઠા કર્મગ્રંથમાં મૂળ ગાથા ૭૦ [illegible] તેથી તે 'સપ્તતિકા' કહેવાય છે; તેમાં ૧૯ ગાથા દેવેન્દ્રસૂરિએ ઉમેરી કુલ ગાથા ૮૯ કરી છે.

શ્રાવકદિનકૃત્ય સવૃત્તિ (જે. પ્ર. ૩૬; પી. ૨, ૪૧, કાં. વડો.) કે જેની વૃત્તિ તેમના ગુરૂભ્રાતા **વિજયચંદ્રસૂરિએ** સુધારી, ધર્મરત્નટીકા, દાનાદિકુલક તેમજ અનેક સ્તવન પ્રકરણાદિ રચ્યાં. તેઓ સં. ૧૩૨૭ માં સ્વર્ગસ્થ થયા. (જુઓ મુનિસુંદરકૃત ગુર્વાવલિ શ્લો. ૧૦૮ થી ૧૨૦–૧૬૮ ય. ગ્રં.)

૫૮૪ સં. ૧૩૦૧ માં વીજાપુરમાં ઉપાસકાદિ વિપાકાન્ત પાંચ સૂત્રો અભયદેવસૂરિની ટીકા સહિત ઠ. અરસીંહે તાડપત્રપર લખ્યાં અને તે ઉક્ત દેવેંદ્રસૂરિ, વિજયચંદ્રસૂરિ, ઉ૦ દેવભદ્રગણિના વ્યાખ્યાનથી પ્રલ્હાદનપુરમાં નાગપુરીય શ્રાવક આદિએ ચતુર્વિધ સંઘ પઠનાર્થે વાચનાર્થે આત્મશ્રેયાર્થે લખાવ્યાં. (પી. ૩, ૭૩), અને તેજ વર્ષમાં અનુયોગદ્વારસૂત્ર તાડપત્રપર લખાવ્યું (પી. ૩, ૩૭). સં. ૧૩૦૩ માં અણહિલપાટકે **વીસલદેવ** રાજ્યે મહામાત્ય શ્રી **તેજઃપાલ**ના સમયમાં **શીલાંક આચારાંગવૃત્તિ** તાડપત્રપર લખાઈ તે ખંભાત શાં. ભં. માં છે (પી. ૧, ૪૦).

૫૮૫. આ સિવાય બીજી અનેક પ્રતિઓ તાડપત્ર લખાઈ તેમાંની ઉપલબ્ધ થયેલી અને નિર્દિષ્ટ સંવતવાળી નીચે પ્રમાણે છેઃ—

સં. ૧૩૦૬ માં (જાલોરના) રાજા ઉદયસિંહરાજ્યે **રામચંદ્રસૂરિકૃત નીર્ભય ભીમવ્યાયોગની** (પી. ૧, ૮૧), સં. ૧૩૦૯ માં મેવાડના આઘાટ (આહાડ) માં જયતસિંહરાજ્યે **પાક્ષિકવૃત્તિની** (પી. ૩, ૧૩૦), ધવલક્ક (ધોલકા) માં શ્રે૦ સહજલના હાથથી **શાંતિસૂરિ** વિરચિત ધર્મરત્ન લઘુવૃત્તિની (જે. ૫૨), અને **વ્યવહારસૂત્રપર મલયગિરિકૃત** ટીકાની (પી. ૧, ૧૩), સં. ૧૩૧૩ માં **વીસલદેવરાજ્યે** તન્નિયુક્ત **નાગડ**ના મહામાત્યપણામાં **મહેશ્વરસૂરિકૃત જ્ઞાનપંચમી કહાની** (પા. સૂચિ નં. ૪૦ સંઘવી ભંડાર), સં. ૧૩૧૭માં મેવાડના આહાડમાં **તેજસિંહ** રાજ્યે **સમુદ્ધર**ના મહામાત્યપણામાં **વિજયસિંહસૂરિકૃત શ્રાવકપ્રતિક્રમણસૂત્ર ચૂર્ણિની** (પી. ૫, ૨૩), સં. ૧૩૧૮ માં હેમાચાર્યકૃત ત્રિ૦ શ. પુ. ચરિત્રના સાતમા પર્વની (પી.

૧, ૨૪), ન્યાયાવતારવૃત્તિ ટિપ્પનની (પી. ૧, ૮૧), હરિભદ્રકૃત ન્યાયપ્રવેશ ટીકા પર પાર્શ્વદેવગણિની પંજિકાની (પી. ૧, ૮૨), સં. ૧૩૨૪ નાં ઉજ્જયિનીમાં હેમાચાર્યકૃત ત્રિ. શ. પુ. ચરિત્રની (પી. ૧, ૩૫), સં. ૧૩૨૭ માં વીજાપુરમાં શીલાંકસૂરિકૃત સૂયગડાંગવૃત્તિ નિર્યુક્તિ સહિતની (પી. ૧, ૩૮), સં. ૧૩૩૨ માં ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રની (કી. ૨, ૨), સં. ૧૩૩૪ માં દેવપત્તનમાં સાત ગ્રંથો નામે ધર્મદાસ કૃત ઉપદેશમાલા, મલધારી હેમસૂરિકૃત ઉપદેશમાલા-ભવભાવના-સંગ્રહણી, હેમાચાર્યકૃત યોગશાસ્ત્ર, નરચંદ્રકૃત ચતુર્વિંશતિસ્તોત્ર અને મલધારી ચંદ્રસૂરિકૃત સંગ્રહણીરત્નની (પી. ૫, ૯૬), સં. ૧૩૩૬ માં સારંગદેવરાજ્યે પર્યુષણ કલ્પની (પી. ૫, ૫૩), સં. ૧૩૩૮ માં મુનિદેવસૂરિકૃત શાંતિનાથ ચરિત્રની (પી. ૧, ૬), સં. ૧૩૪૦ માં પદ્મચંદ્રે લખેલી ધંધુકપુત્ર મહાદેવકૃત દુર્ગસિંહની કાતંત્ર ટીકા પરની શબ્દસિદ્ધિ વૃત્તિની (ભાં. ૪), સં. ૧૩૪૨માં ઉત્તરાધ્યયન સૂત્ર પરની સુખબોધા વૃત્તિની, સં. ૧૩૪૩માં સારંગદેવરાજ્યે તન્નિયુક્ત મહામાત્ય શ્રી મધુસૂદને સતિ તેણે નીમેલા મહં. સોમની પ્રતિપત્તિમાં વીજાપુરમાં ઉત્તરાધ્યયનસૂત્ર, તે પરની નિર્યુક્તિ, તથા તે પર શાંત્યાચાર્યની ટીકાની (પી. ૫, ૫૦), અને સં. ૧૩૪૪ માં કલ્પસૂત્ર અને કાલિકાચાર્ય કથાની (પી. ૫, ૧૧૦) પ્રતો તાડપત્ર પર લખાઈ.

૫૮૬ સં. ૧૩૦૨ માં સર્વાનન્દે સંસ્કૃતમાં ચંદ્રપ્રભચરિત રચ્યું. સં. ૧૩૦૪માં (બૃ૦ ટિ.) નવાંગી વૃત્તિકાર અભયદેવસૂરિ શિ. દેવભદ્રસૂરિ શિષ્ય પરમાનન્દસૂરિએ 'હિતોપદેશમાલાવૃત્તિ-હિતોપદેશમાલા પ્રકરણ (જે. ૩૭, જે. પ્ર. ૪૧) રચ્યું. (કે જેની તાડપત્રની સં. ૧૩૧૦ની આ વિશ્વલદેવના રાજ્યમાં નાગડના મહામાત્યપણામાં લખાયેલી પ્રત જે. ભં. માં છે, (જે. નં. ૩૦૧) ૧૩૦૫માં યશોદેવે મૂલ પ્રાકૃત ધર્મોપદેશ પ્રકરણ-બહુકથાસંગ્રહવાળું રચ્યું.

૫૮૭ સં. ૧૩૦૬માં 'વાગ્દેવતા ભાંડાગાર' કરવા માટે મધુમ-

તિમાં દેવેન્દ્ર અને વિજયચન્દ્રસૂરિની સદ્દેશનાથી અનેક શ્રાવકો-ધવલક્ક દ્વીપ મધુમતિ ટિંવાણુક દેવપત્તનના વાસી-શ્રાવકોએ મળી સર્વજ્ઞાગમ સૂત્ર ચૂર્ણિ નિર્યુક્તિ ભાષ્ય ટિપ્પનક ચારિત્ર પ્રકરણ આદિ વસુદેવ હિંડિ પ્રભૃતિ સમસ્ત કથા લક્ષણ સાહિત્ય તર્કાદિ સમસ્ત ગ્રંથ લખવા માટે પ્રારંભેલાં પુસ્તકોમાં **પ્રવચનસારોદ્ધારવૃત્તિ** તૃતીયખંડ પુસ્તક તાડપત્રપર લખાયું. (પા૦ સૂચિ નં. ૬૩) સં. ૧૩૦૭ માં ચૌ૦ ચંદ્રસૂરિ-દેવ-તિલકપ્રભ-વીરપ્રભ શિષ્ય **અજિતપ્રભસૂરિએ** **શાંતિનાથ** ચરિત રચ્યું. (પી. ૫, ૧૨૧; વે૦ નં. ૧૭૭૮; પ્ર. જૈ. ધ. સભા સં. ૧૯૭૩ અને બિ૦ ઇ.) આ સૂરિએ **ભાવનાસાર** નામનો ગ્રંથ પણ ઉક્ત ચરિતની પહેલાં રચ્યો હતો.

૫૮૮ સં. ૧૩૦૭માં ખ. જિનેશ્વરસૂરિ શિષ્ય **પૂર્ણકલશે** **હેમચંદ્રકૃત** પ્રાકૃત દ્વયાશ્રય પર વૃત્તિ રચી. (પ્ર૦ મુંબઇ સંસ્કૃત સીરીઝ સને ૧૯૦૦) કે જે તેમના ગુરૂભાઈ **લક્ષ્મીતિલકે** સંશોધી. તે **લક્ષ્મીતિલકે** સં. ૧૩૧૧માં ૧૭ સર્ગવાળું પ્રત્યેકબુદ્ધ ચરિત્ર નામનું સંસ્કૃતમાં 'જિનલક્ષ્મી' અંકવાળું મહાકાવ્ય રચ્યું. આ ચરિતમાં કરકંડુ, દ્વિમુખ, **નમિ** અને **નગ્ગતિ** એ નામના ચાર પ્રત્યેકબુદ્ધ મહારાજર્ષિઓનાં ચરિત્ર છે. (જૈ. પ્ર. ૫૧), લક્ષ્મીતિલકના વિદ્યાગુરૂ **જિનરત્નસૂરિ** હતા.

૫૮૯ આ **લક્ષ્મીતિલક** પાસે **અભયતિલક** ઉપાધ્યાયે ન્યાયશાસ્ત્રનું અધ્યયન કર્યું હતું. તે **અભયતિલકે** સં. ૧૩૧૨માં **હેમચંદ્રના** ૨૦ સર્ગાત્મક સંસ્કૃત દ્વયાશ્રય કાવ્ય પર વૃત્તિ રચીને **પાલણપુરમાં** પૂર્ણ કરી. (તે દશસર્ગ સુધીની પ્રસિદ્ધ થઇ છે, અને એનું ગૂજરાતી ભાષાંતર સ્વ. મણિભાઇ નભુભાઇએ કરેલું પ્રસિદ્ધ થયું છે, ગાયકવાડ કેળવણી ખાતા તરફથી જેસ૦ પ્ર. ૬૦); વળી તેમણે **ન્યાયાલંકાર** ટિપ્પન અપરનામ પંચપ્રસ્થન્યાયતર્કવ્યાખ્યા રચી; (જેસ. પ્ર. ૩૧) તે વ્યાખ્યાના સંશોધક ઉપરોક્ત **લક્ષ્મીતિલક** ઉપાધ્યાય પોતાના વિદ્યાગુરૂ હતા અને પોતાના દીક્ષાગુરૂ **જિનેશ્વરસૂરિ** હતા. **અક્ષપાદનું** ન્યાયતર્ક સૂત્ર, તે પર **વાત્સાયનનું** ભાષ્ય,

ભારદ્વાજનું વાર્તિક, વાચસ્પતિની તાત્પર્ય ટીકા, ઉદયનની તે તાત્પર્ય ટીકા પર–તત્પરિશુદ્ધિ–ન્યાયતાત્પર્યપરિશુદ્ધિ અને તેપર શ્રીકંઠની ન્યાયાલંકારવૃત્તિ અને તે કંઠવૃત્તિપર આ અભયતિલકે પંચપ્રસ્થ-ન્યાયતર્ક નામની વ્યાખ્યા રચી.

૫૯૦ સં. ૧૩૧૨માં ખ. જિનેશ્વરસૂરિશિષ્ય ચન્દ્રતિલક ઉપાધ્યાયે ૯૦૩૬ શ્લોક પ્રમાણુ અભયકુમાર ચરિત વાગ્ભટમેરૂ (બાહડમેર)માં શરૂ કરીને દિવાળીને દિને વીશલદેવના રાજ્યમાં ખંભાતમાં રચી પૂર્ણ કર્યું. તે ઉપરોક્ત લક્ષ્મીતિલકે તેમજ અભયતિલકે સંશોધિત કર્યું. (પ્ર. હી. હં; જે. ૪) તેમાં કર્તા પોતાના વિદ્યાગુરૂઓનાં નામ જણાવે છે કે તપસ્વી નેમિચંદ્ર ગણીએ તેને સામાયિક શ્રુતાદિ ભણાવી પાળ્યો, સિદ્ધસેન મુનિએ 'પ્રભાણિ' શીખવ્યાં, જિનચંદ્રસૂરિના મોટા શિષ્ય અને વાચનાચાર્ય ગુણભદ્રસૂરિએ 'પંચિકા' ભણાવી, (જિનપતિસૂરિના શિષ્ય) સુરપ્રભ કે જેણે સ્તંભતીર્થમાં પોતાના જલ્પ–વાણીને દિગંબરવાદિ યમદંડને જીત્યો હતો અને જેણે બ્રહ્મકલ્પ કવિતામાં રચ્યો હતો તેણે 'વિદ્યાનંદ' (નામનું વ્યાકરણ) ભણાવ્યું, ત્રૈવિદ્ય એવા વિજયદેવસૂરિએ પ્રમાણુ સાહિત્ય શીખવ્યું, જિનપાલ ઉપાધ્યાયે નંદ્યાદિ મૂલાગમની અંગવાચના આપી. આ ગ્રંથલેખનની પ્રશસ્તિ જિનેશ્વરસૂરિના શિષ્ય કુમાર કવિએ રચી (પ્ર. વીજાપુર વૃત્તાંત). આ રીતે ખ. જિનેશ્વરસૂરિના શિષ્યો ઉપરોક્ત પૂર્ણકલશ, લક્ષ્મીતિલક, અભયતિલક અને ચંદ્રતિલક બધા સમર્થ વિદ્વાનો હતા, ને બીજા શિષ્યો નામે જિનપ્રબોધસૂરિ–જિનરત્નસૂરિ, દેવમૂર્તિઉ., વિવેકસમુદ્ર ગણિ, સર્વરાજગણિ આદિ અનેક વિદ્વાન ગ્રંથકારો હતા.

૫૯૧. આ સમય લગભગ વિદ્યાનંદસૂરિ કે જે મૂલ ઉજ્જયિનિના જિનચંદ્રના પુત્ર વીરધવળ હતા ને જેમણે લગ્ન ન કરતાં તપા દેવેંદ્રસૂરિ પાસે પોતાના બંધુ સહિત સં. ૧૩૦૨માં દીક્ષા લીધી તેમણે 'વિદ્યાનંદ' નામનું નવું વ્યાકરણ બનાવ્યું. (ગુર્વાવલી શ્લો: ૧૫૨–૧૭૨).

૫૯૨. સં. ૧૩૧૩માં ઉપરોક્ત ખ. જિનેશ્વરસૂરિએ (સૂરિપદ સં. ૧૨૭૮ સ્વ. ૧૩૩૧) **શ્રાવકધર્મવિધિ** સંસ્કૃતમાં **પાલણપુરમાં** રચી (જે સ. પ્ર. ૩૬) અને તેના પર બૃહદ્ વૃત્તિ સં. ૧૩૧૭માં પોતે જાવાલીપુરમાં (જાલોરમાં) રચી સંભળાય છે જ્યારે તેમના શિષ્ય ઉપરોક્ત **લક્ષ્મીતિલકે** પણ વૃત્તિ રચી (કાં. વડો. નં. ૨૧૪). સં. ૧૩૧૯ માં વાદિદેવસૂરિના શિષ્ય રામચંદ્રસૂરિના શિષ્ય જયમંગલસૂરિએ સૂંધા પહાડ પરના **ચાચિગદેવના** લેખની પ્રશસ્તિ રચી (એ. ઇ. સને ૧૯૦૭, જૈન સાહિત્ય સંમેલન વિવરણ) તેમણે કવિશિક્ષા રચી (પી. ૧, ૮૦) આ **ચાચિગદેવે** ૧૩૨૦માં કરહેડા ગામના **પાર્શ્વ**-નાથની પૂજા અર્થે દાનલેખ કરી આપ્યો હતો.[૪૧૫]

૫૯૩. (વરકર શિખિરૂપ મિતે) સં. ૧૩૨(૦)૧માં (ખ૦ જિન-પતિસૂરિ–જિનેશ્વરસૂરિ શિષ્ય) પ્રબોધચંદ્ર ગણિએ સંદેહદોલાવલી પર બૃહદ્ વૃત્તિ રચી. તે કર્તા પોતે લક્ષણ અને સાહિત્ય **પદ્મદેવ** ગણિ પાસેથી, કાતંત્રપંજિકા જિનચંદ્રસૂરિ શિષ્ય ગુણભદ્ર વાચના-ચાર્ય પાસેથી, તર્કશાસ્ત્ર વિજયદેવસૂરિ પાસેથી અને આગમ જિન-પાલ ઉપાધ્યાય પાસેથી શીખ્યા હતા. આ વૃત્તિ ઉપરોક્ત **લક્ષ્મીતિ**-લક ઉ૦, જિનરત્ન, અને **ચંદ્રતિલક** ઉ. એ શોધી હતી (લીં; કાં. વડો. નં. ૨૫૦).

૫૯૪ સં. ૧૩૨૨માં ખ. જિનેશ્વરસૂરિ શિ. ધર્મતિલકે ઉલ્લા-સિક સ્મરણટીકા–અજિતશાંતિ જિન સ્તવ ટીકા (કે જે મૂળ સ્તવન જિનવલ્લભસૂરિકૃત છે) રચી ને તેને ઉપરોક્ત **લક્ષ્મીતિલક** ઉપાધ્યાયે શોધી (વેબર નં. ૧૯૬૫, વિવેક. ઉદે; કાં. છાણી.) આ વર્ષમાં વાદિદેવસૂરિ વંશે **મદનચંદ્રસૂરિ** શિષ્ય મુનિદેવસૂરિએ[૪૧૬] સંસ્કૃતમાં **શાન્તિનાથ**

---

૪૧૫. શિલાલેખ નં. ૩૩૦ પ્રાચીન જૈનલેખ સંગ્રહ ભાગ ૨. જિન-વિજયજી સંપાદિત.

૪૧૬ આ મુનિદેવસૂરિએ પ્રદ્યુમ્નસૂરિની પ્રવ્રજ્યાવિધાન વૃત્તિનો પ્રથ-માદર્શ લખ્યો હતો (બુહ. ૩ નં. ૧૦૭)